समकालीन पाश्चात्य दर्शन



डॉ० लक्ष्मी सक्सेना

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

3·2

समकालीन पाश्चात्य-दर्शन

ग्रन्थमाला संख्या–122

समकालीन पाश्चात्य-दर्शन

सम्पादक

डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना

●

डॉ० सभाजीत मिश्र
गोरखपुर विश्वविद्यालय

●

श्री शिवानन्द शर्मा
सेण्ट एन्ड्रूज कालेज, गोरखपुर

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक :
सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

ISBN : 978-81-89989-31-6

चतुर्थ संस्करण : 2009

प्रतियाँ : 1100

मूल्य : रु० 130=00

मुद्रक :
अवध पब्लिशिंग हाउस
नव ज्योति प्रेस
पानदरीबा, लखनऊ
फोन : 2450768

निवेदन

'दर्शन' का स्थूल अर्थ भले ही मात्र देखने तक सीमित हो, जब वह अंग्रेजी शब्द 'फिलासफी' के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो ज्ञान के प्रति प्रेम के अनेक अर्थ-संकेतों सहित चिंतन की अनन्त ऊँचाइयों का पर्याय बन जाता है। वस्तुतः दर्शनशास्त्र जीवन का कहीं अधिक व्यापक, रहस्यमय तथा प्रखर क्षेत्र है एवं यह मानव अस्तित्व के कारणों से लेकर अनन्त की खोज और उसके स्वरूप की व्याख्या-जैसे अनेकानेक प्रश्नों से निरंतर जूझ रहा है। भारतीय दर्शन-परम्परा में इसे 'सत्य की खोज' कहा गया है जो आज भी जारी है। भारतीय उपनिषदों और शास्त्रों में इसका विशद् विवरण मिलता है। इसी दर्शन-परम्परा की पृष्ठभूमि में हमारे देश में विचार-वैषम्य को हमेशा सम्मान मिलता रहा है। कौन जाने कि विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और संस्कृतियों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की वर्तमान अवधारणा के मूल में यहीं महान भारतीय दार्शनिक परम्परा प्रमुख उत्प्रेरक की भूमिका निभा रही हो।

फिर भी, यह महान चिंतन परम्परा, जिसे हम 'दर्शन' शब्द से अभिहित करते हैं, समग्र मानव जाति की धरोहर है। निरंतर नये-से-नये प्रश्नों से जूझना इसकी प्रकृति में है। काल के प्रवाह में पश्चिमी देशों में भी समय-समय पर अनेक दार्शनिक हुए हैं और उन्होंने भी जीव, जगत और प्रकृति के अस्तित्व से जुड़े प्रश्नों के अतिरिक्त अन्य अनेकानेक सुसंगत प्रश्नों के अपने-अपने ढंग से उत्तर दिये हैं। इन विचारों से गुजरना हमें न केवल मानवीय चिंतन को नये धरातलों से जोड़ता है, अपितु मानवीय मेधा की असाधारण बौद्धिक और तार्किक क्षमताओं से भी परिचित कराता है। पश्चिमी परम्परा में सर्वप्रथम दार्शनिक चिंतन का प्रारम्भ थेलेज से माना जाता है जो शाक्यमुनि गौतम बुद्ध के परवर्ती काल में हुए थे। इनके बाद तो पश्चिमी देशों विशेषकर यूनान आदि में दार्शनिकों की लम्बी और गौरवपूर्ण परम्परा चल निकली। हेराक्लेटस, लियूसिफस, पाइथागोरस, सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जैसे महान पश्चिमी दार्शनिकों की यह प्राचीन परम्परा वर्तमान युग तक आते-आते आज हीगल, कार्लमार्क्स, बर्टेड रसेल, कामू और ज्याँपाल सात्र आदि से गौरवान्वित होती है।

यदि हमें विश्वदर्शन को समग्रता में समझना है, तो पश्चिमी दर्शन की मूल्यवान परम्परा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना, डॉ० समाजीत मिश्र और श्री शिवानन्द शर्मा द्वारा प्रस्तुत यह पुस्तक "समकालीन पाश्चात्य दर्शन" इस आवश्यकता की कसौटी पर पूरी तरह खरी उतरती है। विद्वान लेखक त्रयी व कुछ-अध्यायों के अन्य लेखकगण अपने क्षेत्र के प्रतिनिधि हस्ताक्षर हैं और उन्होंने कई दशक पूर्व यह पुस्तक इस आशय के साथ लिखी थी या इसमें लेखकीय सहयोग दिया था कि हिन्दी में भी उन पश्चिमी दार्शनिकों का अधिकृत परिचय के साथ उनके विचारों को भी प्रामाणिक रूप में उपलब्ध कराया जा सके, जो हिन्दी भाषी क्षेत्रों में काफी समय तक अल्पज्ञात रहे हैं और जिनके विषय में विस्तृत विवरण मूलतः अंग्रेजी व अन्य यूरोपीय भाषाओं में ही उपलब्ध रहा है। शोध-छात्रों और जागरूक पाठकों के बीच जिस रीति से यह पुस्तक लोकप्रिय रही है, वह लेखक त्रयी की विषय और प्रस्तुति पर असाधारण अधिकार को परिलक्षित करती है। समय-समय पर इसके परिवर्द्धित संस्करणों में उन्होंने नवीनतम पश्चिमी दार्शनिक विचारों को स्थान देकर इसे जो समग्रता प्रदान की है, उसके परिणामतः इस पुस्तक की लोकप्रियता और उपयोगिता आज भी अक्षुण्ण है। इस महत्वपूर्ण प्रकाशन का यह चौथा संस्करण इस गौरवपूर्ण परम्परा को आगे बढ़ायेगा, ऐसी आशा है।

डॉ० (शंभु नाथ)
कार्यकारी अध्यक्ष

प्रकाशकीय

मानवीय मेधा की ऊचाइयाँ अनन्त हैं। संसार का कोई किनारा अथवा कालखण्ड रहा हो, वह निरंतर अपने अस्तित्व और प्रकृति के मूल को भिन्न-भिन्न कोणों से तलाशती रही है। यह खोज आज भी निरंतर जारी है और इसकी अब तक की उपलब्धियों में अवगाहन हमें अधिक चिंतनशील और मानवीय बनाता है। 'हम कहाँ से आये हैं और हमे कहाँ जाना है', और 'प्रकृति क्या है और उसके मूल में सर्वप्रमुख प्रेरक तत्व कौन है', 'ईश्वर व आत्मा आदि हैं या नहीं' और 'हमारे अस्तित्व और चिंतन प्रक्रिया को कौन से कारण सर्वाधिक प्रभावित करते हैं' सरीखे प्रश्नों पर जितना विचार हुआ, वह और अधिक प्रश्नों के साथ सामने आते रहे हैं। दार्शनिक प्रश्नों और उसके उत्तर की खोज का यह क्रम आज भी निरंतर जारी है।

विभिन्न दार्शनिक विचारों को समग्रता में आत्मसात् करना यदि असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। इसलिए इन्हें भारतीय, यूनानी और पश्चिमी आदि चिंतन पद्धतियों के रूप में प्रायः अलग-अलग परिदृश्य में भी देखा जाता रहा है। इससे सम्पूर्ण विषय को समग्रता में देखने में असाधारण मदद तो मिलती ही है, क्षेत्र विशेष के दार्शनिक विचारों को भी प्रभावी ढंग से समझने में सहायता मिलती है। गौरवपूर्ण भारतीय दार्शनिक परम्परा पर न ग्रन्थों एवं पुस्तकों की कमी है और न विवरण की, परन्तु यूनानी व पश्चिमी चिंतन परम्परा के बारे में हम यह दावा नहीं कर सकते। हिन्दी में वर्षो यह अभाव बना रहा है और यह पुस्तक "समकालीन पाश्चात्य दर्शन" इसी अभाव की स्तरीय पूर्ति का एक स्तुत्य प्रयास है। डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना, डॉ० सभाजीत मिश्र व श्री शिवानन्द शर्मा प्रभृति विद्वानों ने विश्वविद्यालय स्तर की पाठ्य पुस्तकों की संरचना सम्बन्धी केन्द्र सरकार की नीतियों के अन्तर्गत कई दशक पूर्व इसकी संरचना की थी। कुछ अन्य विद्वानों का भी सहयोग इस बहुमूल्य कार्य में लिया गया, फलस्वरूप सम्पूर्ण प्रस्तुति को काफी सीमा तक सम्पूर्णता मिल सकी। इसके तीन संस्करण हाथों-हाथ बिक चुके हैं और अब यह चौथा संस्करण आपके समक्ष है। इसमें प्राचीन यूनानी व पश्चिमी दार्शनिकों के मतमतान्तरों को तो स्थान दिया ही गया है, समय-समय पर मार्क्स-एंजिल्स व सार्त्र सरीखे अत्यंत प्रखर आधुनिक दार्शनिकों

के विचारों को भी शामिल कर इसे पूर्णता प्रदान की गई है। सम्पूर्ण पुस्तक 11 अध्यायों में विभक्त है, जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं– नव आंग्ल निरपेक्षवाद, आंग्ल निरपेक्षवाद, तर्कीय प्रत्यक्षवाद, साधारण भाषा दर्शन, विज्ञान दर्शन, सृजनात्मक विकासवाद, फेनॉमेनॉलॉजी, अस्तित्ववाद, अर्थक्रियावाद व कार्लमार्क्स आदि। पुस्तक के अन्त में दी गयी सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची इसे और उपयोगी बनाती है।

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग के इस गौरवपूर्ण प्रकाशन का चौथा संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यंत हर्ष का अनुभव हो रहा है। आशा है, शोध छात्रों और जागरूक पाठकों के बीच इस पुस्तक "समकालीन पाश्चात्य दर्शन" की लोकप्रियता अक्षुण्ण रहेगी। दार्शनिक चिंतन हम और हमारे परिवेश के अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्नों से ही नहीं जूझता, विविध समकालीन प्रश्नों के अन्तर्सम्बन्धों की भी गहन पड़ताल करता है। इन अर्थों में यह पुस्तक सभी के लिए उपयोगी है। विश्वास है, इस गौरवपूर्ण प्रकाशन का यह चौथा संस्करण भी सभी पाठक वर्गों में समादृत होगा।

डॉ० (सुधाकर अदीब)
निदेशक

प्रथम संस्करण का आमुख

पाठकों के समक्ष समकालीन दर्शन से सम्बन्धित यह दूसरी पुस्तक प्रस्तुत करने में मैं विशेष हर्ष का अनुभव कर रही हूँ। प्रथम पुस्तक में समकालीन भारतीय दर्शन की विभिन्न प्रवृत्तियों को उनका प्रतिनिधित्व करने वाले दार्शनिकों के विचारों के माध्यम से, अंकित करने की चेष्टा की गयी थी। इस पुस्तक में समकालीन पाश्चात्य दर्शन की प्रमुख प्रवृत्तियों को उनके प्रमुख प्रतिनिधि दार्शनिकों के माध्यम से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। ये दोनों पुस्तकें सम्मिलित रूप से समकालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों को न केवल अंकित करने में सफल होंगी, बल्कि दर्शन की समस्याओं के प्रति एक समन्वयात्मक अन्तर्दृष्टि विकसित करने में भी सफल होंगी, मैं ऐसी आशा करती हूँ।

समकालीन पाश्चात्य दर्शन एक अत्यन्त रुचिकर तथा वैविध्यपूर्ण प्रदेश है और जिन दार्शनिक प्रवृत्तियों का समय-समय पर विकास हुआ है, वे विभिन्न सन्दर्भों से नियन्त्रित हैं। चूँकि इन प्रवृत्तियों के स्वरूप को इनके सन्दर्भों से मुक्त करके निर्धारित करना मेरी अपनी दृष्टि में अनुचित होगा, इसलिये इन सारी प्रवृत्तियों को उनके सन्दर्भों में ही प्रस्तुत करने का इस पुस्तक में प्रयास किया गया है।

यद्यपि परिचय की दृष्टि से सभी महत्त्वपूर्ण हैं पर भारतीय विद्यार्थियों की दृष्टि से और सार्थकता की दृष्टि से, इनमें से कुछ प्रवृत्तियाँ और उनके प्रणेता विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अतएव उन्हीं प्रवृत्तियों और उनके दार्शनिकों का अध्ययन भारतीय विद्यार्थियों के लिए विशेष हितकर होगा।

इनमें सर्वप्रथम नव्य आंग्ल निरपेक्षवाद है, जिसने अनुभवातीत विषयिनिष्ठता के प्रश्न को एक गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान की है। अपनी डी० फिल० की थीसिस 'मानिस्टिक टेण्डेन्सीज इन कंटेम्पोरेरी फिलासफी' में मैंने इस दृष्टिकोण की महत्ता को स्पष्ट शब्दों में सिद्ध करने की चेष्टा की है। यही नहीं, इस ओर संकेत भी किया है कि यह अन्तर्दृष्टि भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टियों के बीच समन्वय का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। पर मेरी यह आशा अभी पूरी होने को है, क्योंकि स्वयं भारतवर्ष में जहाँ एक ओर भारतीय

दर्शन का अध्ययन हो रहा है, वहीं आधुनिकता के नाम पर हम पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन में निरपेक्षवाद को, जो नव्य हेगलवाद के रूप में इस शती के प्रथम दशक में प्रतिपादित हुआ, एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तन के रूप में स्वीकार करने में संकोच का अनुभव करते हैं। दर्शन के क्षेत्र में भारतवर्ष की वर्त्तमान मानसिक स्थिति में अध्यात्मवादी होना या अध्यात्मवादी दृष्टिकोण में आस्था रखना 'दार्शनिक' होना नहीं है। आजकल विश्वविद्यालयों में 'लैंग्वेज गेम' को प्रत्येक प्रश्न के समाधान में बरबस प्रयुक्त करने का हास्यास्पद प्रयास हो रहा है। हम दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार के 'बौद्धिक खेल' को, जिसे कौतूहलवश हम सीख सकते हैं, मन बहलाव के लिए खेल भी सकते हैं, प्राथमिकता देने की भूल कर बैठे हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि दर्शन के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति मुक्त चिन्तन की दिशा में किसी प्रकार की ठोस प्रगति करने की दृष्टि से निश्चित ही बाधक होगी।

मेरी समझ से निरपेक्षवादी अन्तर्दृष्टि दार्शनिक दृष्टि में प्रौढ़ता को सूचक है और इसमें अनास्था कभी भी दर्शन के क्षेत्र में और व्यापक रूप से जीवन के क्षेत्र में लाभकारी नहीं हो सकती।

इस युग के चिन्तन में दूसरा जीवन्त दृष्टिकोण फेनॉमिनॉलॉजी है, जिसने 'अनुभवातीत विषयिनिष्ठता' सम्बन्धी दार्शनिक दृष्टि को एक अधिक गहरा और मुखर आयाम देने की चेष्टा की है। साथ ही उसने उस दार्शनिक पद्धति की ओर भी संकेत किया है, जिसके माध्यम से हम 'अनुभवातीत विषयिनिष्ठता' को उसके विशुद्ध रूप में अनावृत्त कर सकते हैं। जिस 'सम्भावना' की ओर ब्रैडले ने अपने लेख 'अवर नॉलेज ऑफ इमीडियेट एक्सपीरियेन्स' में संकेत किया है, उसे पर्याप्त स्पष्टता के साथ हुसर्ल ने अपनी पुस्तकों में अनेक सन्दर्भों में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। हुसर्ल के 'ब्रेकेटिंग्' और 'रिडक्शन' के प्रत्यय विशेष रूप से सार्थक हैं और ये हमें नितान्त सहजता के साथ भारतीय दार्शनिक कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के दार्शनिक चिन्तन के धरातल पर ला देते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हुसर्ल ने अस्तित्ववादी चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रभावित किया। सार्त्र ने हुसर्ल के अनुभवातीत विषयिनिष्ठता के प्रत्यय को अस्वीकार किया और उसके विरोध में 'पोरसाय' के प्रत्यय को विकसित किया। पर मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'पोरसाय' के प्रत्यय के माध्यम से सार्त्र बराबर एक अत्यन्त ही सूक्ष्म और सरलता से अभिव्यक्त न होने वाली कल्पना को शब्दबद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, जो कम से कम हुसर्ल की कल्पना के विरोध में नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि हुसर्ल की

विषयिनिष्ठता सम्बन्धी कल्पना को सार्त्र ने अपने तरीके से प्रस्तुत करके ही उसका निरसन किया है, जो सर्वथा अनुचित है। मेरे विचार से दोनों अन्तर्दृष्टियाँ एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं।

ईश्वरवादी अस्तित्ववादी चिन्तन यद्यपि अपनी प्रमुख ध्वनि में अनीश्वरवादी चिन्तन से भिन्न है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उसने ईश्वर की कल्पना का एक नवीन आयाम देने की चेष्टा की है। और वह एक ऐसा आयाम है जो ईश्वर सम्बन्धी सामान्य, और कहीं-कहीं तो दार्शनिकों की कल्पना से भी, भिन्न है। अतएव, ईश्वर का जो रूप और उसके प्रति जो आस्था इन लेखकों की रचनाओं के माध्यम से हमें देखने को मिलती है, उसमें यद्यपि सतही तौर से देखने पर संवेगात्मक दृष्टिकोण की ही प्राथमिकता दिखाई देती है, तथापि संवेगात्मक पक्ष का यह धरातल निश्चित ही सामान्य से भिन्न है। यह एक ऐसा धरातल है, जिस पर अवस्थित मानव अपने जीवन को आमूल रूप से परिवर्तित पाता है। एक सार्वभौम चेतना से आप्लावित व्यक्ति की वैयक्तिक चेतना दिव्य, पावन और मंगलमयी हो जाती है। उससे संयुक्त एवं प्रेरित होकर वह अद्भुत प्रदेश की वासिनी हो जाती है और जीवन सौम्य, मधुर संघर्षविहीन हो जाता है। इसी जीवन को उन्होंने 'आथेण्टिक' शब्द से व्यक्त किया है। श्रीअरविन्द से परिचित विद्यार्थी उनके विचारों की प्रतिध्वनि इन लेखकों की रचनाओं में पायेंगे। ये लेखक योगी की कोटि में आयेंगे, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर जीवन के एक उन्नत आयाम की झांकी और उस तक पहुँचने की एक ललक और उस मंजिल तक पहुँचने के रास्ते को विभिन्न मनोदशाओं का सूक्ष्मतम अंकन अवश्य ही हमें उनकी रचनाओं में मिलता है।

अतः, स्पष्ट है कि आत्मा और विशुद्ध आत्मिक जीवन की वास्तविक कल्पना को साकार करने में इन सभी प्रवृत्तियों का अपूर्व योगदान है। यही कारण है कि भारतीय विद्यार्थियों के लिए ये अन्तर्दृष्टियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं, क्योंकि इनमें उन्हें भारतीय दृष्टिकोण से अत्यधिक सामीप्य की अनुभूति होती है। इसलिए, मेरा विश्वास है कि इन अन्तर्दृष्टियों के माध्यम से पूर्व तथा पाश्चात्य अन्तर्दृष्टियाँ एक दूसरे को आत्मसात् करने में सफल होंगी और एक उन्नत दार्शनिक दृष्टिकोण के विकास में योगदान करेंगी।

यथार्थवादी प्रवृत्ति के महत्त्व की चर्चा करते हुए यहाँ इतना ही कहना चाहूँगी कि यह मन की एक सहज प्रवृत्ति है। इससे दार्शनिक चिन्तन का प्रारंभ होता है पर इसे दार्शनिक दृष्टि के रूप में प्रस्तुत करना अनुचित है। दार्शनिक

दृष्टि—जो सहज तथा प्राकृतिक है, और जिस पर हम सहज अविश्वास नहीं कर पाते, उसके आलोचनात्मक परीक्षण से प्रारम्भ होती है। इसलिए, प्रत्येक युग में इस दृष्टिकोण की आलोचना हुई है। फिर भी, क्योंकि यह मन की सहज गति है, इसलिए मन बार-बार इसकी ओर प्रत्यावर्तन करता दिखाई पड़ता है।

वर्तमान शताब्दी में नव्य-हेगेलवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप जैसे अन्य प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ वैसे ही इस प्रवृत्ति का भी हुआ है। अतः उन प्रवृत्तियों की भाँति ही इसके बारे में भी कहा जा सकता है कि नव्य हेगेलवाद की इसकी आलोचना अन्ततः एक काल्पनिक, स्वतः रचित सिद्धान्त की ही आलोचना है। वस्तुतः, अध्यात्मवाद का खण्डन यथार्थवादी दृष्टि के आधार पर असम्भव है, क्योंकि यथार्थवादी दृष्टि को वह एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में सम्पूर्णता प्रदान करने वाली दार्शनिक दृष्टि है। दोनों में कोई आत्यतिक विरोध है, ऐसा मैं नहीं मानती। पहला, दूसरे के लिए प्रारम्भबिन्दु प्रस्तुत करता है, और दूसरा वह निष्पत्ति है, जिसको ओर प्रथम स्वतः पूर्वनियत है।

हेनरी बर्गसां का सर्जनात्मक विकासवाद यद्यपि अब एक ऐतिहासिक महत्त्व ही रखता है, तथापि इधर हाल के कुछ दशकों में उसमें विद्यमान कतिपय अन्तर्दृष्टियों को फेनॉमेनॉलॉजी और अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि का निर्माण करनेवाला माना गया। उसे इसी रूप में इस पुस्तक में प्रस्तुत भी किया गया है।

प्रैगमेटिज्म और विज्ञान-दर्शन का अपना सामयिक महत्त्व है, इसलिए इनकी अवहेलना किसी भी समकालीन पाश्चात्य दर्शन की पुस्तक में असम्भव है। विज्ञान-दर्शन एक विधि के रूप में तो महत्त्वपूर्ण है ही, वैज्ञानिक दार्शनिकों ने अपनी अन्तर्दृष्टियों के आधार पर महत्त्वपूर्ण दार्शनिक निष्कर्षों को भी प्रस्तुत किया है। पुस्तक के आकार को दृष्टि में रखते हुए इस पक्ष को विशेष स्थान नहीं दिया जा सका है, तथापि उसके इस पक्ष का महत्त्व कुछ कम नहीं है।

इन अध्यायों के लेखन में जिन व्यक्तियों का सहयोग मुझे मिला है, उन सभी के बारे में क्या कहूँ ? सभी ने अपूर्व धैर्य, योग्यता और निष्ठा के साथ अपना कार्य सम्पन्न किया है। इन सभी के सहयोग के बिना तो यह पुस्तक आपके सामने आ ही नहीं सकती थी।

सर्वप्रथम मैं प्रयाग विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष और अपने गुरु प्रो० शशधर दत्त के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करना चाहूँगी, जिन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार करके यथार्थवाद पर अध्याय लिखने के लिए अपना अमूल्य समय

देने का निश्चय किया। उनकी इस अनुकम्पा के बिना पुस्तक का पूरा होना कठिन दिखायी दे रहा था। उनके लेख के मूल्य के विषय में कुछ कहना मेरे लिए एक दुस्साहस होगा।

प्रयाग विश्वविद्यालय के अन्य सहयोगियों में श्री संगमलाल पाण्डेय, डॉ० देवकी नन्दन द्विवेदी तथा डॉ० रामलाल सिंह की मैं आभारी हूँ जिन्होंने बड़ी लगन से समय के भीतर अपने कार्य को सम्पन्न कर इस पुस्तक के निर्माण में मेरी मदद की है। प्रथम दो तो समकालीन भारतीय दर्शन में भी मेरे सहयोगी रहे हैं और भविष्य में भी मुझे आशा है कि जब मैं कुछ लिखने को कहूँगी, ये सभी मेरी योजनाओं को सफल बनाने में अपना अमूल्य योगदान अवश्य करेंगे।

साधारण भाषा दर्शन एक अत्यन्त रुचिकर विषय है और इस लेख को बड़ी योग्यता से डा० द्विवेदी ने लिखा है। यह विषय इनके शोध प्रबन्ध से भी सम्बन्धित है, इसलिए इसकी उत्कृष्टता में सन्देह नहीं किया जा सकता। विज्ञान-दर्शन भी आधुनिकतम दार्शनिक रुचियों का परिणाम है, और यद्यपि लघुतम है फिर भी महत्त्व एवं लिखने की योग्यता की दृष्टि से यह किसी भी अध्याय से कम नहीं है। डा० रामलाल सिंह का 'यास्पर्स' पर लेख उनके अथक परिश्रम एवं लगन का परिचायक है। इस लेख के विविध सन्दर्भ स्वयं इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने विषय से सम्बन्धित प्रदेश का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया है। उनका प्रयास सर्वथा सराहनीय है।

विभागीय सहयोगियों में सर्वप्रथम मैं डा० सभाजीत मिश्र के प्रति आभार व्यक्त करना चाहती हूँ, क्योंकि अपने शोध के साथ समय निकाल कर उन्होंने ये अध्याय लिखे हैं। इसलिए उनके योगदान की माप केवल उन पृष्ठों से नहीं की जा सकती जो इस पुस्तक में सम्मिलित हैं। फेनोमेनोलॉजी तथा सार्त्र दोनों ही दुरूह विषय हैं और दोनों की प्रस्तुति में उन्होंने जिस अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है, वह अपूर्व है। वे इन पृष्ठों के लेखन के लिए बधाई के पात्र हैं। डॉ० रेवतीरमण पाण्डेय ने विदेश से जिस प्रकार तर्कीय प्रत्यक्षवाद पर अपना लेख भेजा है, उसके लिए क्या कहूँ? प्रथम पुस्तक यानी समकालीन भारतीय दर्शन की ही भाँति इस ग्रन्थ में भी जिस तत्परता से उन्होंने अपने दायित्व का निर्वाह किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय तो है ही, अविस्मरणीय भी रहेगा।

विभाग की शोध-छात्रा कु० कंचन पाण्डेय का प्रयास सर्वथा सराहनीय है, क्योंकि बहुत थोड़े समय में मूल लेखों के आधार पर उन्होंने मूर पर ये

पृष्ठ लिखे हैं। साथ ही पुस्तक की अनुक्रमणिका तैयार करने का कार्य भी पूरा किया है।

अन्त में मैं सेंट ऐण्ड्रूज कालेज के श्री शिवानन्द शर्मा के प्रति भी हृदय से आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिन्होंने 'अर्थक्रियावाद' पर लेख लिखकर इस पुस्तक को सम्पूर्णता दी है। शोध में इनकी विशेष रुचि है और इससे अधिक लेखन में, इसलिए सहर्ष इन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लिया। पुस्तक की टंकित प्रति सम्पादन में भी—डॉ० सभाजीत मिश्र तथा श्री शिवानंद शर्मा—का अमूल्य सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है।

"समकालीन पाश्चात्य दर्शन" इन अनेक योग्य हाथों द्वारा तैयार हुई है और जैसी भी है वह अब विद्यार्थियों के सामने है। वे ही निर्णय देंगे कि यह कैसी है और उनके स्वागत द्वारा इस प्रयास की सार्थकता का प्रमाण मिलेगा। यह पुस्तक विशेष रूप से उन्हीं के हित को, उनके पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर तैयार की गयी है। यह केवल एक टेक्स्ट बुक है, ऐसा कहना सर्वथा अनुचित होगा। यदि इस पुस्तक के अध्ययन के उपरान्त पाठकों में दार्शनिक प्रश्नों को समझने की जिज्ञासा विकसित हो सकी और वे शोधकार्य में प्रवृत्त होने की इच्छा अपने में विकसित कर सके तो मैं समझूंगी कि मेरा यह प्रयास सार्थक है।

अन्त में यह पुस्तक क्योंकि विद्यार्थियों की पठन-पाठन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने की दृष्टि से ही लिखी गयी है, अतएव यह प्रयास भी उन्हीं को समर्पित है।

लक्ष्मी सक्सेना
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
विश्वविद्यालय, गोरखपुर

अनुक्रम

●

1. नव्य आंग्ल निरपेक्षवाद[1]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आंग्ल दर्शन को हेगल के प्रभाव द्वारा एक नवीन मोड़ मिला। यही कारण है कि मूल प्रेरणा के स्रोत के सन्दर्भ में परिभाषित करते हुए इस दर्शन को नव्य हेगलवादी निरपेक्षवाद के नाम से प्रस्तुत किया गया। चिंतन की यह धारा आंग्ल दर्शन के लिए एक नयी बात थी और इसलिए, इस दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ ही, इसने आंग्ल दर्शन को जो दिशा दी उससे उसे निश्चित ही लाभान्वित होना चाहिए था। आंग्ल देश की दार्शनिक चेतना ने इसके द्वारा जो अपूर्व अन्तर्दृष्टि प्राप्त की, वह उसके इतिहास में अविस्मरणीय रहेगी, किंतु आंग्ल चिंतन इस धारा की दृष्टिकोणगत विशेषता को पूर्णरूपेण आत्मसात् नहीं कर पाया। यही कारण है कि आंग्ल निरपेक्षवाद एक विदेशीय चिंतनधारा के रूप में अपनी गरिमा के साथ प्रतिपादित होता हुआ भी, क्रमशः मंद होता गया और ऐसा प्रतीत होता है कि अन्ततः सर्वदा के लिए विलीन हो गया।

"हण्ड्रेड इयर्स ऑव् ब्रिटिश फिलॉसफी" नामक पुस्तक में, इस विचारधारा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, रुडोल्फ मेट्स ने कहा है कि इसके द्वारा आंग्ल दर्शन के दृष्टिकोण में एक आमूल परिवर्तन का प्रारम्भ हुआ। इस दर्शन द्वारा आंग्ल चिंतन को नितान्त नवीन प्रत्ययों का एक ऐसा अज्ञात भंडार उपलब्ध हुआ, जिससे उसे नवीन स्फूर्ति और नयी दिशा मिली। अतः नव्य निरपेक्षवाद द्वारा आंग्ल दार्शनिक चेतना केवल विकसित एवं समृद्ध ही नहीं हुई, उसने चिंतन की परम्परागत विधि का सम्पूर्ण रूप से बहिष्कार भी किया।[2]

---

1. नियो ब्रिटिश आइडिऐलिज्म। नव्य आंग्ल निरपेक्षवाद के अतिरिक्त इस शब्द के लिए नव्य आंग्ल प्रत्ययवाद का भी प्रयोग किया जाता है।
2. "The significance of the new movement is precisely that with it a complete change set in., entirely new forms and contents of thought being seized and held fast, and a foreign and hitherto unknown stock of ideas being added to the store of British thought; Neo-idealism, making its way

इसके ठीक विपरीत म्यूरहेड का विश्वास है कि नव्य आंग्ल निरपेक्षवाद परम्परागत आंग्ल दार्शनिक विचारधारा के लिए विदेशीय नहीं। वह यहीं के चिंतन से उपजा है और सर्वथा उसके अनुरूप है। म्यूरहेड के उक्त विचार का खंडन करते हुए, रुडोल्फ मेट्ज कहते हैं कि इतनी प्रभावशाली विचारधारा कतिपय बिखरे हुए, यत्रतत्र प्राप्त लेखों से, अपनी प्रेरणा कभी नहीं प्राप्त कर सकती है। आंग्ल देश में निरपेक्षवादी दृष्टिकोण का समर्थन सर्वप्रथम १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसका सम्पूर्ण श्रेय जर्मन निरपेक्षवाद को है, जिसकी चरम निष्पत्ति हेगल के प्रत्ययवाद में हुई थी।[1]

आंग्ल निरपेक्षवाद के प्रेरणास्रोतों से सम्बद्ध वाद-विवाद में पड़ना वर्तमान प्रयोजन की दृष्टि से बहुत आवश्यक नहीं है, फिर भी इतना तो सत्य

---

into England at an important turning point, thereby stands not merely for an immense widening, enrichment and deepening of doctrinal content, but also and fundamentally for a complete recoil from the old ways, a turning of the philosophical rudder in an entirely new direction."—p. 237.

1. "This movement expressly linked itself with German philosophy from Kant to Hegel, and never harked back to any earlier British heritage, and that it could not have sprung directly from a native tradition is proved by the entire absence cf any continuing idealistic current in the development of English Philosophy, at any rate in the century immediately preceding the movement, that is, from about the death of Berkeley (1753) to the appearance of Stirling's work on Hegel (1865). It is just of this period that one can at least allege an idealistic trend in Great Britain, nor can it be claimed that so powerful a movement as the one we are considering could have been kindled and made so mightily effective through the influence of a few scanty and scattered essays."—Rudolf Metz, *A Hundred Years of British Philosophy*, (Second impression), London, 1950, pp. 237-38

हैं कि निरपेक्षवाद परम्परागत आंग्ल दार्शनिक विचारधारा के बहुत अनुकूल नहीं है। यही कारण है कि निरपेक्षवाद का समर्थन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिस उत्साह से हुआ उसमें शीघ्र ही कमी आती गयी; यहाँ तक कि इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया का आरम्भ हुआ और दार्शनिक चिंतन पुन: अनुभववाद के समर्थन में दुगुने उत्साह से प्रवृत्त हुआ। रसेल, मूर, एयर के नाम और उनके सिद्धान्त इस कथन के निश्चित प्रमाण हैं। आज आंग्ल दर्शन में निरपेक्षवाद के समर्थक इने-गिने ही लोग हैं।

किंतु आंग्ल देश में निरपेक्षवाद के उद्भव एवं विकास के लिए उस समय की स्थिति सर्वथा अनुकूल थी। आंग्ल देश के तत्कालीन इतिहास का यदि हम निरीक्षण करें तो देखेंगे कि दार्शनिक चिंतन के केन्द्रों को प्रभावित करने के पूर्व इस विचारधारा ने सर्वप्रथम साहित्यकारों को प्रभावित किया। इस सन्दर्भ में कोलरिज तथा कार्लाइल के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। कोलरिज तथा कार्लाइल दोनों जर्मन दर्शन से प्रभावित थे और इनकी कृतियों के माध्यम से उक्त दर्शन का प्रभाव आंग्ल जन-मानस पर पड़ रहा था।

इसके अतिरिक्त डार्विन के विकासवादी सिद्धांत से परम्परागत धार्मिक विश्वासों को निश्चित ठेस पहुँची थी। इन विश्वासों को ठोस संबल की आवश्यकता थी और जर्मन निरपेक्षवाद से उन विश्वासों को जीवन और प्रेरणा की उपलब्धि हो सकती थी। यही नहीं, ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज ने भी अपने तरीके से उस ग्राहिता का पोषण किया जो निरपेक्षवाद की स्वीकृति एवं विकास के लिए नितान्त आवश्यक थी। पुनः, जर्मन तथा यूनानी चिंतन में पर्याप्त सदृशता होने के कारण कुछ विद्वानों ने यह भी चाहा कि आंग्ल चिंतन इन स्रोतों से भी प्रभावित हो। इस दिशा में जिस विद्वान् का नाम महत्त्वपूर्ण है, वे हैं बैंजमन जोयट। उनका दृढ़ विश्वास था कि चिरकाल से अनुभववादियों के बंदीगृह में बंद दार्शनिक प्रवृत्ति को मुक्त करना ही है और उसे मुक्त करने की दिशा में उन्होंने पर्याप्त प्रयास भी किया।

अतः, निरपेक्ष सत् के स्वागत के लिए आंग्ल चिंतन प्रस्तुत था। उसमें उचित ग्राहिता का विकास हो चुका था। यही कारण है कि जब दार्शनिक केन्द्रों में उसका प्रभाव अनुभूत हुआ तो विलक्षण परिणाम प्राप्त हुआ। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में निरपेक्षवाद का समर्थन इतने उत्साह एवं विश्वास के साथ और इतने अधिक समय के लिए जर्मनी के अतिरिक्त यहीं पर हुआ।

जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इस विचारधारा का आविर्भाव हुआ उसे संक्षेप में अंकित करने के पश्चात्, क्रम से उन अवस्थाओं का वर्णन किया

जायगा जिनके माध्यम से वह विकसित हुआ और अपने भव्यतम रूप को प्राप्त करते हुए नितान्त सहजता के साथ वियोजित भी हो गया। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे तीन अवस्थाओं में विभाजित करना उचित है :

(क) 1870 में स्टर्लिंग की 'द सीक्रेट आव् हेगल' नामक पुस्तक के प्रकाशन से इस विचारधारा का प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व भी इस दिशा में कुछ प्रयास हुए थे, किंतु वे सभी हेगल के दर्शन को स्वीकार्य रूप में प्रस्तुत करने में असफल रहे थे। इस विचारधारा की प्रथम अवस्था के वरिष्ठ प्रतिनिधि के रूप में ग्रीन एवं ब्रैडले के नाम महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त केयर्ड तथा वालेस के नाम भी उल्लेखनीय हैं। सर्जनात्मक युग न होने के बावजूद, इसमें होनेवाले प्रयासों द्वारा आगे के चिंतन की भूमि प्रशस्त हुई। ग्रीन द्वारा लिखित 'इंट्रोडक्शन टु ह्यूम' तथा ब्रैडले की पुस्तक 'एथिकल स्टडीज़' इस युग के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिन्होंने आंग्ल चिंतन को अपने-अपने क्षेत्रों में एक नवीन मोड़ देने का प्रयास किया। दोनों ग्रंथों की सामान्य विशेषता यही है कि उनमें हमें अनुभववादी दृष्टिकोण से सम्बद्ध मूल विश्वासों का खंडन मिलता है।

(ख) ग्रीन तथा ब्रैडले के इस प्रारम्भिक योगदान के पश्चात्, 1880 के लगभग, हम इस विचारधारा की सर्जनात्मक अवस्था में प्रविष्ट होते हैं। वरिष्ठ प्रतिनिधियों ने इस क्षेत्र में जो सराहनीय कार्य किया था, उसे उस समय के सभी जागरूक व्यक्तियों ने केवल सराहा ही नहीं, बल्कि इसकी पुष्टि भी की। 'एसेज इन फिलॉसॉफिकल क्रिटिसिज्म' शीर्षक पुस्तक में सभी ने अपने-अपने विचारों को प्रस्तुत किया। इस सन्दर्भ में सेठ, हाल्डेन सोरले तथा जोंस के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त, ब्रैडले तथा मैक्टगार्ट भी स्मरणीय हैं। इनका योगदान सर्जनात्मक है। ब्रैडले के अतिरिक्त बोसांक्वे, प्रिंगल पैटीसन तथा हाल्डेन भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

नव्य आंग्ल निरपेक्षवाद के समर्थन की दृष्टि से ब्रैडले को 'अपियरेंस ऐण्ड रियेलिटी', बोसांक्वे की 'प्रिंसिपल आव् इंडिविजुएलिटी ऐण्ड वैल्यू', 'वैल्यू ऐण्ड डेस्टिनी आव् दि इंडिविजुएल' और हाल्डेन की 'रेन आव् रेलेटिविटी' आदि पुस्तकें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

(ग) 19वीं शताब्दी की समाप्ति के साथ-साथ इस विचारधारा को हम अपने सर्वाधिक समृद्धिशाली रूप में देखते हैं, किन्तु साथ ही इसमें विघटन की प्रवृत्तियाँ भी उभरने लगती हैं। इस सन्दर्भ में एडेमसन तथा कुकविल्सन के नाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों प्रारम्भ में निरपेक्षवाद का समर्थन करते हैं, किंतु बाद में, विपरीत दिशा में बढ़ते चले जाते हैं।

जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हुई उसके संक्षिप्त विवरण के उपरान्त अब इस सिद्धान्त की कतिपय प्रमुख विशेषताओं को प्रस्तुत किया जायगा।

नव्य निरपेक्षवाद के सभी समर्थकों में अनुभववाद के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया मिलती है। उन्होंने अनुभववाद की मूल स्वीकृतियों के खोखलेपन को अदम्य उत्साह से अनावृत करने की कोशिश की है। अनुभववादी दृष्टिकोण तर्कबुद्धि के स्तर पर किये हुए दार्शनिक चिन्तन का परिणाम है और सत् के स्वरूप को ग्रहण करने के प्रयास में तर्कबुद्धि उसे कृत्रिम इकाइयों में वितरित कर देती है तथा पुनः उन्हें कृत्रिम सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध करने की भी चेष्टा करती है। अतएव, कृत्रिम इकाइयों एवं कृत्रिम सम्बन्धों द्वारा पुनर्निर्मित सत् का यह रूप अन्ततः न तो सत् ही हो सकता है और न सन्तोषप्रद ही। ब्रैडले के 'आभास और सत्' की प्रथम 'पुस्तक' का यही निष्कर्ष है और इस निष्कर्ष को प्रायः इसी रूप में विभिन्न सन्दर्भों में सभी दार्शनिकों ने व्यक्त करने की कोशिश की है।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का प्रारम्भ रेने देकार्त से होता है और ह्यूम में उसका अवसान हो जाता है। ह्यूम का सन्देहवाद स्वतः हमारे समक्ष एक प्रश्नवाचक चिह्न प्रस्तुत करता है। क्या जिन मूल स्वीकृतियों के आधार पर अब तक हम सत् के विषय में चिन्तन करते रहे हैं, वे उचित हैं? क्या उनके आधार पर दार्शनिक निष्कर्षों का स्थापन हो सकता है?

रेने देकार्त बुद्धिवादी दृष्टिकोण के समर्थक हैं और क्रम से उक्त दृष्टिकोण के अन्तर्गत स्पिनोजः एवं लाइबनिज आते हैं। इसके विपरीत लॉक अनुभववाद के समर्थक हैं और इस दृष्टिकोण की तार्किक परिणति ह्यूम के संशयवाद में होती है, किन्तु दो विपरीत दार्शनिक दृष्टिकोणों का समर्थन करते हुए भी इन दार्शनिकों के चिन्तन में कुछ मूल समानता है। दोनों ही दृष्टिकोण सत् को दो पृथक् खण्डों में विभाजित कर देते हैं और पुनः कृत्रिम सम्बन्धों के माध्यम से उन्हें सम्बद्ध करने की चेष्टा करते हैं। एक ओर चेतना अपनी समस्त विशिष्टताओं से युक्त है। उसका अपना विश्व है और दूसरी ओर, भौतिक जगत् है—चेतना से भिन्न तथा विपरीत विशेषताओं से युक्त। देकार्त के दर्शन की प्रमुख समस्या—शरीर और मन के सम्बन्ध की समस्या—इसी कृत्रिम विभाजन का परिणाम है और इस विभाजन के मूल में वही भ्रामक दृष्टि है, जो सत् को ग्रहण करने की प्रक्रिया में ही उसे कृत्रिम सतों में विभक्त कर देती है।

निरपेक्षवाद के समर्थक इस दृष्टि को पूर्णतः भ्रामक मानते हैं। चेतना एवं भौतिक जगत् सापेक्ष सत्ताएँ हैं। इनमें से कोई भी अपने में निरपेक्ष सत्

नहीं हो सकता और इनकी सापेक्षता इस बात का प्रमाण है कि वे किसी निरपेक्ष की अपेक्षा करते हैं। इस निरपेक्ष की अवहेलना ही आधुनिक दृष्टि की अनेक भ्रांतियों के मूल में है और वही हेगल के दर्शन का स्थायी सन्देश है। दर्शन के क्षेत्र में यह दृष्टिकोण एक क्रांति के रूप में आया और इसका श्रेय एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में कांट को ही है। किन्तु कांट के चिन्तन में कुछ विसंगतियाँ थीं, जिनके निराकरण द्वारा ही हेगल ने 'निरपेक्ष' को दार्शनिक सत् के रूप में प्रस्तुत किया।

अपनी पुस्तक 'माडर्न फिलासफी' में रुजिरो, बुद्धिवादी-अनुभववादी दृष्टिकोण की भ्रामकता को और हेगल के दृष्टिकोण की विशेषता को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि विश्व एवं जगत्, विषयी एवं विषय, दोनों ही समान रूप से एक ही प्रक्रिया के परिणाम हैं। जिस अनुपात में बुद्धि विकसित होती है, उसी अनुपात में बाह्य जगत् भी विस्तारित होता है। सत्ता के जगत् से विचार के जगत् में प्रविष्ट होने में जो कठिनाई होती है, वह स्वतः हमारी अपनी ही सृष्टि है। जब मात्र सत्ता एवं मात्र विचार को निरपेक्ष इकाइयों के रूप में हम स्वीकार कर लेते हैं तो उन्हें सम्बद्ध भी करना पड़ता है। किन्तु, उनमें पुनः सम्बन्ध स्थापित करना कठिन है। अतः, स्वतन्त्र अस्तित्वों के रूप में मात्र सत्ता एवं मात्र विचार को स्वीकार करना ही भ्रामक है।[1] हेगल के दृष्टिकोण की यही विशेषता है कि वे इन दोनों को सापेक्ष मानते हुए निरपेक्ष की कल्पना करते हैं और उसी के सन्दर्भ में सामान्यतः स्वीकृत इन तथाकथित निरपेक्ष अस्तित्वों का स्पष्टीकरण करते हैं। सत्ता एक मूर्त-

---

1. "Thought does not come forth to conquer the world, nor is the world waiting prepared to accept thought. Thought and the World, the subject and the object, are equally the result of a process. In proportion as the intellect grows, the limits of the external world extend also. The difficulty of passing from the world of being to that of thought is a difficulty created by ourselves as a result of analysing mere thought and mere being. The great merit of Hegel, on the other hand, less in having demonstrated that the real aim of Philosophy is God, the absolute, as a synthetic unity from which the external world and the ego have issued by differentiation and in which they return to unity"—*Modern Philosophy*, Ruggiero, p. 205.

सामान्य है[1], जो अपने में विश्व के नानात्व को समन्वित रूप से समाविष्ट किये हुए है।

इस प्रकार अनन्त एवं सान्त, एक एवं अनेक के संबंध को यह दृष्टिकोण एक नवीन प्रकार से प्रस्तुत करता है। ब्रैडले, ग्रीन, बोसांक्वे, हाल्डेन—सभी व्यक्तिगत विशिष्टताओं के बावजूद एक 'अंतर्वर्ती निरपेक्ष'[2] में विश्वास करते हैं जो सभी नानात्व को अपने में समाविष्ट करता हुआ, उनका अतिक्रमण भी करता है। आंग्ल एवं अमेरिकी निरपेक्षवाद की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए डॉ॰ वाट्स कनिंग्हेम कहते हैं कि इन निरपेक्षवादियों के अनुसार परम सत् हमसे पृथक् एवं भिन्न कोई 'सत्' नहीं—वह सभी में व्याप्त है और प्रज्ञा से संबद्ध सभी विशिष्ट प्रक्रियाओं में वह एक मूल प्रेरणा के रूप में अनिवार्यतः विद्यमान है।[3]

परमसत् के अंतर्वर्ती स्वरूप की स्वीकृति इस दृष्टिकोण की अपनी विशिष्टता है और इसका समर्थन सभी समर्थकों की कृतियों में हुआ है। परमसत् सभी बौद्धिक प्रक्रियाओं में अंतर्व्याप्त तो है ही, वह अन्य प्रक्रियाओं में भी मूल प्रेरणा के रूप में व्याप्त है। अतः, हमारी सभी छोटी-बड़ी अनुभूतियाँ उसकी उपस्थिति का विशिष्ट अर्थों में द्योतन करती हैं, कुछ में अधिक और कुछ में कम स्पष्टता के साथ वे अपनी उपस्थिति की सूचना देती हैं। अनुभूतियों का महत्व भी उसी अनुपात में होता है, जिस अनुपात में वे उस परमसत् को व्यंजित करती हैं। इस दृष्टि से हमारी सभी अनुभूतियाँ—बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक एवं सौंदर्यबोध विषयक—महत्वपूर्ण हैं। किंतु इनमें व्याप्त मूल प्रेरणा की स्पष्टता की दृष्टि से आत्मबोध-सम्पन्न चेतना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और आत्मबोध-युक्त

1. Concrete Universal.
2. "Immanent Absolute."
3. "The Absolute is not far removed from us, on the contrary, it is everywhere present to us, the all encompassing totality with which we are constantly in all of our intellectual activities and which as Bosanquet says, persistently drives us from pillar to post It is not, as William James mistakenly supposed, 'a marble temple shining on the hill''; it is, rather, as James would have it, inextricably involved in the dust and dirt of things."—*A History of Philosophical Systems*, Ch. 25, "English and American Absolute Idealism", p. 317.

चेतना के इस रूप का यदि हम अध्ययन करें तो उसके संबंध में कतिपय बातें स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं—

(क) उक्त चेतना अपने सत् का समर्थन निषेध की मध्यस्थता से करती है।

(ख) अपने समर्थन में निषेध के विरोध को वह पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लेती है, और

(ग) निषेधात्मक तत्व के आत्मसात् द्वारा ही वह विस्तारित होती है।

आत्म-चेतना की इन्हीं विशेषताओं को ये निरपेक्षवादी विशेष महत्व देते हैं और उसके इसी रूप के माध्यम से वे परम चेतना के स्वरूप की एक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह उसका संपूर्ण चित्र तो नहीं हो सकता, फिर भी इसके माध्यम से हम उसकी प्रकृति के विषय में थोड़ा-बहुत अनुमान तो कर ही सकते हैं। आत्म-चेतना के महत्व को व्यक्त करते हुए बोसांक्वे कहते हैं कि विस्तारित होती हुई आत्मा का अनात्मा में समर्थन, आत्म-चेतना की विशिष्टता को विश्व के तात्त्विक स्वरूप के अनावरण में हमें पर्याप्त महत्व देना चाहिए; क्योंकि हमने सदैव इस बात पर पर्याप्त बल दिया है कि अपनी उच्चतम अनुभूतियों में ही हमें परमसत् के स्वरूप का साक्षात् करना चाहिए और इस दृष्टि से इतना और स्पष्ट हो जाता है कि हमें अपने सीमित व्यक्तित्व का न्यूनतम बोध होता है। अपनी सीमाओं का उत्तरोत्तर समर्पण करने में, अथवा दूसरी दृष्टि से यूँ कहें, उसे विस्तारित करने में, ही आत्म-चेतना क्रमशः तीव्रतम होती जाती है।[1]

---

1. The positive affirmation of the expanding self in its not self which we have seen to be thereally essential element of self-consciousness, though not perhaps the limiting factor, gives an indication that cannot be disregarded either for the self in the Absolute, or for the Absolute if we attempt to regard it as a self, we have urged throughout that it is in the highest of our own experiences that we must seek for the clues to the fullest reality. And that we experience our self most completely just when we are least aware of its finite selfness is a clue which must not be forgotten."—*Principle of Individuality and Value*, p. 250.

उक्त स्वीकृति के आधार पर दो निष्कर्ष निकलते दिखलायी देते हैं—

(क) परम सत् के स्वरूप को व्यंजित करने की दृष्टि से न्यूनतम अनुभूति का न्यूनतम महत्व ही है। अन्य शब्दों में, उसका महत्व नगण्य ही है। अतः, जो सिद्धान्त 'न्यूनतम' के आधार पर विश्व के तात्विक स्वरूप को परिभाषित करते हैं, वे कभी भी अपने प्रयास में सफल नहीं हो सकते।

(ख) न्यूनतम से उच्चतम की ओर बढ़ने में उनके परस्पर संबंध का जो चित्र हमारे मस्तिष्क में उभरता है, उससे उक्त निरपेक्ष चेतना के स्वरूप के विषय में भी हमारी दृष्टि स्पष्ट हो जाती है और उनके विषय में सन्देह करने की संभावना स्वयमेव नष्ट हो जाती है।[1]

इस प्रकार जीवन के अध्ययन द्वारा, जीवन की उच्चतम अनुभूतियों को केंद्रीय मानते हुए, इस सिद्धान्त के समर्थक परमसत् का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि तत्व-मीमांसा से पृथक् जीवन को उसके विशुद्धतम रूप में हम देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि तत्व-मीमांसा जिन सत्ताओं को यथार्थ मानकर चलती है; उनका जीवन में हमें साक्षात् नहीं होता, न ही हम उनमें विश्वास करते हैं; जिन सीमाओं का हम तत्व-मीमांसीय चिन्तन के स्तर पर निर्माण करते हैं और जिन्हें सोत्साह बनाये रखते हैं, वे कृत्रिम हैं और सामान्य जीवन उन स्वीकृतियों से नियन्त्रित नहीं दिखाई देता।[2] अतः, ये निरपेक्षवादी स्वयं

---

1. "A comparison of the higher regions of experience with each other and with those that are less complete enables us in principle to understand the relation of the less to the more inclusive and perfect conditions of mind as world, and thus to meet one of the fundamental difficulties in the conception of an absolute experience."

   आगे वे कहते हैं—"The clue to the nature of individuality lies in the contrast between the forms of mental life in which self-transcendence is at its minimum with those in which it approaches its maximum."—*Principle of Individuality and Value*, pp. 271-74.

2. "We never do realize in actual living the dissolution which we postulate alike for purposes of theoretical analysis and in the rough nomenclature of every day life. We never are purely intellectual without volition, nor moral apart from

जीवन से अपने दृष्टिकोण का समर्थन प्राप्त करते हैं। 'सापेक्षता के प्रत्यय' का तथा निरपेक्ष चेतना के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए, हाल्डेन कहते हैं कि कलाकार की प्रतिभा में सर्वप्रथम हमें उसका स्पष्ट बोध होता है, किन्तु वहाँ भी एक क्षणविशेष के लिए ही हमें उसकी अनुभूति होती है। किन्तु, इन कतिपय क्षणों में भी हमें इस बात का अहसास होता है कि सीमित ज्ञान का तल एक ऐसी चेतना से निर्मित है जो विशेष अर्थ में उसमें अन्तर्व्याप्त होते हुए भी उसका अतिक्रमण करती है। अनुभूति का यह पक्ष सामान्यतः हमारी दृष्टि के समक्ष नहीं आता।[1] किन्तु, यही एक ऐसा पक्ष है, जो मानव जीवन को उसकी सम्पूर्ण गरिमा प्रदान करता है; उसके व्यक्तित्व को पावन, दिव्य और उच्च बनाता है। अनुभूति की अनंतता ही हमारी अनुभूति का सर्वाधिक सार्थक पक्ष है, किन्तु उसकी ही हम सामान्यतः उपेक्षा करते हैं।

कलात्मक अनुभूति के अतिरिक्त उस जैसी अन्य अनुभूतियों में भी हमें अनुभूति की उक्त अनन्तता का बोध होता है। अनुभूतियों के सत् प्रकाशन

---

being religious, nor aesthetic without practical or theoretical interest. Each of these attitudes, indeed, is in and by itself an instance and example of all the others as well as of itself, although their central characteristics are not its central characteristics. This familiar fact is highly significant of the inherent unity of all experiences which our impotence merely disguises, and the problem is to give it its value without making it into a ground of failure to recognize plain distinctions."—Ibid., pp. 280-81.

1. "It is an ideal which appears "with a compelling sence of actuality, realized, for instance, in the experience of the artist of genius. Even then it is only momentarily that this level is touched. Yet at such moments we sense that the foundation of finite knowledge lies in what is beyond and yet immanent in it, a standpoint at which reality assumes a deeper and wider meaning than that which we form in daily practice and to which our place in nature binds us."—*Contemporary British Philosophy*, pp. 140-41.

सामर्थ्य को इस युग के सभी निरपेक्षवादी समान रूप से स्वीकार करते हैं। ब्रैंडले ही अपनी पुस्तक के प्रथम खंड के निष्कर्षों की दृष्टि से अपवाद रूप प्रतीत होते हैं। 'एपियरेन्स ऐण्ड रियेलिटी' के प्रथम खण्ड में ब्रैडले स्थापित करते हैं कि प्रज्ञा जिस विश्व को स्वीकार करती है, जिसे वह सत्य मानती है और जिसके निर्माण में स्वतः उसका अपना हाथ है, वह मूलतः विसंगतियों से पूरित है और इसलिए सत् हो ही नहीं सकता। जिस प्रतिमान के अधीन प्रज्ञा कार्य करती है उसके आधार पर वह स्वयं अपने द्वारा निर्मित विश्व का अन्तिम दृष्टि से समर्थन नहीं कर पाती। अतः, प्रज्ञा द्वारा निर्मित जगत् हमारा अति परिचित, सामान्यतः स्वीकृत तथा व्यावहारिक दृष्टि से सत् होते हुए भी तात्विक दृष्टि से आभास ही है। और क्योंकि इस जगत् के भीतर आत्म-चेतना भी आती है, इसलिए अन्ततः आत्म-चेतना भी आभास ही है।

स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रैडले का दृष्टिकोण हेगल के दृष्टिकोण से संगति स्थापित नहीं कर पाता, क्योंकि हेगल और उसके दृष्टिकोण के समर्थक आत्म-चेतना को सत्ता के प्रकाशन का पर्याप्त ही नहीं प्रत्युत सर्वाधिक उत्कृष्ट माध्यम मानते हैं। उनके अनुसार आत्म-चेतना की प्रकृति के आधार पर ही निरपेक्ष अनुभूति की एक सार्थक कल्पना सम्भव है। वह अन्तिम न होते हुए भी उसकी ओर स्पष्ट संकेत करती है। अपनी विशेषताओं में वह उसकी विशेषताओं की ओर संकेत करती है—यदि परम निरपेक्ष के सन्दर्भ में विशिष्टता अथवा विशिष्टताओं आदि शब्दों का प्रयोग सार्थक रूप से किया जा सकता है।

किन्तु, ब्रैडले के बुद्धि द्वारा रचित विश्व-विषयक निष्कर्ष अन्तिम नहीं हैं। प्रथम खण्ड का निष्कर्ष सत्ता विषयक भावात्मक स्वीकृतियों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। निषेध मात्र निषेध नहीं होता, उसमें सदैव पृष्ठभूमि के रूप में एक भावात्मक स्वीकृति विद्यमान रहती है। जब प्रज्ञा अपने द्वारा निर्मित विश्व का खण्डन करती है तो परोक्ष रूप से अपने विषय में और जगत् के विषय में एक निश्चित स्वीकृति के आधार पर ही ऐसा करती है। उक्त स्वीकृति का अनावरण उनकी पुस्तक के द्वितीय खण्ड का विषय है। वे कहते हैं कि निषेधात्मक निष्कर्ष के बावजूद बुद्धि में स्वयं एक ऐसा प्रतिमान विद्यमान है, जो सत्ता के स्वरूप को प्रकाशित करता है, भले ही वह न्यूनतम बोध क्यों न हो, क्योंकि न्यूनतम होने के साथ ही वह सुनिश्चित है। उसके विषय में सन्देह किया ही नहीं जा सकता। इस 'प्रतिमान' का स्पष्टीकरण करते हुए, ब्रैडले कहते हैं कि उसके अनुसार सत् वह है, जिसमें 'विसंगतियों का निषेध' हो। बुद्धि

की वर्तमान स्थिति के आधार पर केवल इतना ही उसके विषय में कहा जा सकता है। भावात्मक रूप से वे यह नहीं कहते कि सत् वह है जो 'संगतिपूर्ण' हो।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि निषेधात्मक निष्कर्ष के बावजूद ब्रैडले ने सामान्य अनुभूतियों के सत् प्रकाशन सामर्थ्य के विषय में कभी भी सन्देह नहीं किया। विपरीततः, विचार की सत् प्रकाशन सामर्थ्य की स्वीकृति ही उनकी तत्व मीमांसा का एकमात्र आधार है।

आंग्ल निरपेक्षवाद के दृष्टिकोण की इस विशेषता को स्पष्ट करने के पश्चात् इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करनेवाले दार्शनिकों के विचारों को प्रस्तुत किया जायेगा ताकि इस सिद्धान्त के मूल निष्कर्षों को उनकी सम्पूर्ण सार्थकता के साथ समझा जा सके और उनके साथ न्याय हो सके। इस विचारधारा के विकसित होने में टामस हिल ग्रीन के विचारों का सर्वाधिक योगदान है। अतः सर्वप्रथम उनके विचारों को प्रस्तुत किया जायेगा।

(क) टॉमस हिल ग्रीन

जैसा पहले ही कहा जा चुका है, ग्रीन नव्य हेगलवादी निरपेक्षवाद के समर्थक हैं, किन्तु उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करना शायद उनके साथ न्याय करना न होगा। हेगल के निरपेक्षवाद से ग्रीन प्रभावित तो थे, किन्तु उनके दर्शन में उनके निजी व्यक्तित्व की, चिन्तन की, और सबसे अधिक उस ऐतिहासिक सन्दर्भ की विशेष छाप देखने को मिलती है, जिसके अन्तर्गत उनका चिन्तन विकसित हुआ। वे यह भली-भाँति जानते थे कि आंग्ल चिन्तन को उसके पूर्वाग्रहों से मुक्त किये बिना निरपेक्षवाद का समर्थन और उसकी स्वीकृति सम्भव न थी, इसलिए इस दिशा में उन्होंने अपने प्रयास निरन्तर जारी रखे। उनका 'इण्ट्रोडक्शन टु ह्यूम' इस बात का स्पष्ट प्रमाण है।

अपनी सभी पुस्तकों में ग्रीन इस निष्कर्ष को स्थापित करने की कोशिश करते हैं कि 'ज्ञान एवं नैतिकता में मानवीय दृष्टिकोण मानव-केन्द्रीय नहीं, प्रत्युत विश्व-केन्द्रीय अथवा ईश्वर-केन्द्रीय है।'[1] 'प्रोलेगोमेना' की भूमिका में

---

1. In knowledge and morality man's point of view is not anthropocentric but cosmocentric or theocentric."—E. Caird in Preface to *Prolegomena to Ethics*. p. VII.

ग्रीन के विचारों को व्यक्त करते हुए केयर्ड[1] कहते हैं कि उनके चिंतन का प्रमुख उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि सामान्य अनुभव में तथा प्राकृतिक विज्ञान में हम सामान्यतः एक ऐसे तत्व की उपेक्षा करते हैं जो उनमें सर्वदा स्वीकृत रहता है। इसकी उपेक्षा के कारण विश्व एवं ज्ञान का जो स्वरूप हमारे सामने आता है, वह आंशिक सत्य हीं हो सकता है, संपूर्ण नहीं। और आंशिक सत्य की संपूर्ण सत्य के रूप में स्वीकृति और प्रस्तुति निश्चित ही भ्रामक होती है।

अतः संपूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम सामान्य ज्ञान एवं वैज्ञानिक ज्ञान को तथा उनकी उपलब्धियों को उस सत् के संदर्भ में प्रस्तुत करें जो उन्हें उनकी संपर्णता एवं सार्थकता प्रदान करता है। इस प्रकार सामान्य ज्ञान तथा वैज्ञानिक ज्ञान की अपर्याप्तता का बोध ही नहीं होता, बल्कि उनके तात्विक स्वरूप की प्राप्ति होती है। दार्शनिक चिंतन का प्रमुख ध्येय यह है कि वह हमें पूर्वाग्रहों से मुक्त कराते हुए सत् का उसकी संपूर्णता में साक्षात् कराये और सत् के साक्षात् के उपरांत विज्ञान एवं ज्ञान का समर्थन तो होता ही है साथ ही अनानुभविक अतींद्रिय सत् के आधार पर नैतिकता एवं धर्म का भी समर्थन होता है। अतएव उक्त विचार के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रीन के दर्शन का प्रमुख उद्देश्य सामान्य ज्ञान के स्वरूप का अन्वेषण एवं समर्थन तो था ही, साथ ही, उसका उद्देश्य आलोचनात्मक विमर्श द्वारा ज्ञान

---

1. "Green's objective was to show that in ordinary experience and in Physical Science we usually ignore or abstract from a principle which, nevertheless, is always present in all our knowledge and that, therefore, such science does not deal with the ultimate reality of things, but only with phenomena i. e. with things partially understood or not apprehended in their whole reality. When, however, we detect this principle in relation to which all phenomena exist and are known, the result is both to vindicate the ways of knowing that characterize science and ordinary experience within their proper sphere, and at the same time to establish our right to apply the principles of morality and religion to the absolute reality."—Ibid., p. IV.

में जिस अनानुभविक अतींद्रिय सत् का प्रकाशन होता है, उसके आधार पर विश्व के और अंततः मानव जीवन के एक नूतन आयाम को, जो मूल्यों, धर्म और नैतिकता से संबद्ध है, अनावृत करना था। उक्त विमर्श इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इंद्रियानुभविक ज्ञान के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए ग्रीन कहते हैं कि उसमें अनेक तत्वों का समन्वय मिलता है। यदि ज्ञान वास्तव में ऐसा ही है तो उसकी पृष्ठभूमि में उक्त समन्वय को संभव बनानेवाला निश्चय ही कोई ऐसा सत् विद्यमान होना चाहिए, जो समन्वय के मूल में होते हुए भी समन्वित तत्वों से और संबद्धता स्थापित करनेवाले संबंधों से भिन्न हो।

कांट की प्रथम क्रिटीक से विद्यार्थी परिचित ही होंगे। अतः ग्रीन की इस युक्ति में उनके लिए कोई नवीनता नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः, कांट तथा ग्रीन दोनों ही 'चेतना के लिए एक विषयनिष्ठ विश्व के अस्तित्व' की अंतिम स्थितियों को अनावृत करना चाहते हैं, जिनकी सामान्य चिंतन में हम उपेक्षा करते हैं। दोनों का उत्तर एक ही है। सामान्य ज्ञान की संभावना को स्वीकारने के साथ ही हमें, उक्त ज्ञान की पृष्ठभूमि में विद्यमान, एक अन्य सत् का बोध होता है जो सामान्य अनुभव द्वारा ज्ञेय न होते हुए भी उसके अस्तित्व को संभव बनाता है। क्योंकि वह सामान्य ज्ञान के माध्यम से ज्ञेय नहीं, इसलिए उसे अनुभवातीत सत् की संज्ञा दी गयी है। अनुभवातीत होने के बावजूद वह ज्ञान को संभव और सार्थक बनानेवाला आधारभूत सत् है।

अनुभववाद की सीमाओं का अनावरण तथा अनुभवातीत चेतना का समर्थन

इस प्रश्न पर अपने विचारों को व्यक्त करते हुए और अनुभववादी दृष्टिकोण की सीमाओं को प्रकाशित करते हुए, ग्रीन अनुभव विषयक दो पद-समूहों का अन्तर स्पष्ट करते हैं :

(क) 'संस्कारों के क्रम के रूप में अनुभव'[1] तथा

(ख) तथ्यात्मक जगत् के तथ्यों की अन्तंसंबद्ध चेतना के रूप में अनुभव'।[2]

---

1 "Experience as a sequence of impressions."

2. "Experience as the connected consciousness of one world of facts."

अनुभववादियों ने, विशेष रूप से ह्यूम ने, अनुभव के प्रथम रूप को ही अन्तिम मान लिया था। ह्यूम स्पष्ट कहते हैं कि यदि मैं अपने मन का अध्ययन करूँ तो उसमें मुझे विशिष्ट चित्त-वृत्तियों का अनवरत प्रवाह ही मिलेगा। अन्तः-निरीक्षण के समक्ष प्रत्यक्ष, कल्पना, स्मृति—इन सभी से सम्बद्ध विशेष वृत्तियाँ ही क्रम में आती दिखायी देती हैं। इनके अतिरिक्त स्थायी अपरिवर्तनीय पदार्थ रूप में 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ कहीं भी दिखलायी नहीं पड़ता। अतः, जिसका प्रत्यक्ष न हो उसके अस्तित्व को, अथवा अस्तित्व से संबद्ध संभावनाओं को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है ?

किन्तु 'अनुभव' का एक और पक्ष है। इस द्वितीय अर्थ में हमें तथ्यों के संबद्ध स्वरूप का—उनका विश्वरूप में, बोध होता है और तथ्यों के संबद्ध स्वरूप के बोध के स्पष्टीकरण के लिए अनुभवातीत सत् की स्वीकृति आवश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि उसके अभाव में तथ्यों का वैविध्य असंबद्ध ही रह जायेगा। अन्य शब्दों में, विश्व के बोध में तथ्यों का एक क्रम है और प्रत्येक तथ्य का उक्त क्रम में एक निर्धारित स्थान भी है। अतः, 'सुव्यवस्था' के स्पष्टीकरण के लिए, उक्त सत् की स्वीकृति नितान्त आवश्यक है।

पुनः ग्रीन कहते हैं : यह सत् चेतन स्वरूप है—चेतना स्वयं है। किन्तु, वस्तुनिष्ठ विश्व की प्रतोति को संभव बनानेवाली यह चेतना स्वयं वस्तुनिष्ठ तथ्य के रूप में अथवा उनकी परस्पर संबद्धता के रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकती। वह अद्वैत की भाषा में विषयी है और तथ्य रूप में, यानी विषय रूप में, उसे प्रस्तुत करना निश्चित ही भ्रामक है।

इस विषय पर अपने विचारों को विकसित करते हुए ग्रीन कहते हैं कि यह सत् के विषय रूप में प्रस्तुत हो ही नहीं सकता और न ही वह विषयों की भाँति विशेष सम्बन्धों द्वारा अन्य किसी से सम्बन्वित ही हो सकता है। अन्य शब्दों में, जिन सम्बन्धों के माध्यम से चेतना सुसंबंधित तथ्यों के विश्व का हमें बोध कराती है, उसे संभव बनाती है, उन सम्बन्धों से वह स्वयं नियन्त्रित नहीं हो सकती। इसी अर्थ में वह मुक्त है[1] यानी कोटियों के माध्यम से व्यंजित नहीं हो सकती। कारण तथा कार्य का द्वैत, पुनः द्रव्य तथा गुण का द्वैत, तथ्यों के सम्बन्धों के रूप में ही सार्थक है, किन्तु जिस चेतना की स्वीकृति उक्त तथ्यात्मक विश्व की स्वीकृति के साथ अनिवार्यतः संबद्ध है, उसे इस द्वैत की परिधि में किस प्रकार लाया जा सकता है ?

1. 'मुक्त' शब्द का प्रयोग बड़े सार्थक अर्थ में आत्मा के लिए कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने किया है। वे अद्वैत वेदान्त के समर्थक हैं।—देखिये, उनकी पुस्तक 'सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम'।

चेतना के अनानुभविक स्वरूप के स्पष्टीकरण के साथ ही ग्रीन कोटियों के अनानुभविक स्वरूप को भी प्रस्तुत करते हैं। अनुभववादी दृष्टिकोण की यह बहुत बड़ी भूल थी कि उसने कोटियों के उद्भव को अनुभव के आधार पर सिद्ध करना चाहा जबकि ये सभी तथ्यात्मक जगत् से संबद्ध उक्त अनुभव के मूल में विद्यमान हैं, जिनसे सामान्यतः उनकी उत्पत्ति को जीवक्रिया विज्ञान के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। अनुभव के मूल में विद्यमान, अनुभव को सम्भव बनानेवाले जो अनानुभविक तत्व हैं, उन्हें किस प्रकार अनुभवाश्रित तत्वों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है? किन्तु अनुभववाद ने ऐसा ही करना चाहा और यह सर्वथा अनुचित है।

अतः, ज्ञानमीमांसा के प्रश्नों को जीव-क्रिया विज्ञान हल नहीं कर सकता। ग्रीन कहते हैं, ज्ञानमीमांसा का कार्य ज्ञान के आधारभूत प्रत्ययों को अनावृत करना है और यह कार्य किसी विशिष्ट विज्ञान के आधार पर संभव नहीं है। वे कहते हैं, "शरीरशास्त्री तो जैविक संरचना के तथ्यों के आधार पर इन विशुद्ध आकारिक प्रत्ययों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है, पर ये प्रत्यय तो उपर्युक्त तथ्यों को रचना में ही विद्यमान हैं। अतएव, इन प्रत्ययों को इन तथ्यों से आविर्भूत मान लेना, जिनके अस्तित्व में ये पूर्व-अस्तित्ववान हैं, अनुचित है।[1]

---

1. "The Physiologist accounts for the formal conceptions in question—in other words for thought as it is common to all the sciences, as sequent upon the antecedent facts which his science ascertains—the facts of the animal organization. But these conceptions—the relations of cause and effect etc., are necessary to constitute the facts. They are not an ex-post-facto interpretation of them but an interpretation without which there would be no ascertainable facts at all. To account for them, therefore, as the result of the facts is to proceed as a geologist would do, who should treat the present conformation of the earth as the result of a certain series of past events, and yet in describing these; should assume the present conformation as a determining element in each."—Green, *Works*, Vol. I., p. 165.

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मस्तिष्क एवं विचार की सापेक्षता निःसन्देह विशेष अर्थ में महत्वपूर्ण है, फिर भी इस सापेक्षता के आधार पर विचार के सामान्य स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। सापेक्षता का स्पष्टीकरण करनेवाला सिद्धान्त स्वयं जिस ज्ञान पर आधारित है, जिस ज्ञान की वह अपेक्षा करता है, उसका स्पष्टीकरण अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कैसे कर सकता है ? इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए ग्रीन कहते हैं : 'सम्बद्धता के प्रत्येक सिद्धान्त को, पृष्ठभूमि के रूप में अनिवार्यतः ज्ञान की प्रक्रिया के बोध को, स्वीकार करना पड़ेगा और इस स्वीकृति के कारण, अपने क्षेत्र में अन्य विज्ञानों की भाँति मूल्यवान होने के बावजूद, यह विज्ञान भी उस सत्य को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है, जिसका ज्ञान-मीमांसीय सिद्धान्त के रूप में दर्शन स्पष्टीकरण करना चाहता है।'[1]

कोटियों के अनानुभविक स्वरूप की स्वीकृति के साथ अनुभववाद की सीमाएँ स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान अथवा अनुभव का जो विश्लेषण अनुभववाद प्रस्तुत करता है, वह अपूर्ण है। अनुभव के क्रमिक स्वरूप को अन्तिम नहीं माना जा सकता। बुद्धि वृत्तियों के क्रम का हमें बोध होता है और उस बोध के साथ ही एक अनानुभविक के सत् की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है।

अतः, कांट की भाँति, ग्रीन उक्त अतीन्द्रिय, अनानुभविक सत् की उपस्थिति का समर्थन करते हैं। इसी सम्बन्ध में वे उसके अनाक्रमिक स्वरूप[2] की भी चर्चा करते हैं जिसके कारण वह, संवेदनाओं के वैविध्य को कायम रखते हुए, उन्हें संबद्ध करता है।

---

1. "Every theory of correlation" must presuppose a knowledge of the processes, and leave that knowledge exactly where it was before, that thus their science, valuable like every other science within its own department, takes for granted just what metaphysics, as a theory of knowledge seeks to explain."—Ibid., p. 164.
2. A non-successional principle "to which all events and facts are equally present and relative, but which distinguishes itself from them all and can thus unite them in their severality."—*Prolegomena* p. 86.

'प्रकृति' के माध्यम से अनुभवातीत चेतना का समर्थन

ज्ञान के आधारभूत तत्त्व के रूप में अनानुक्रमिक चेतना को अनावृत करने के पश्चात् ग्रीन अपनी युक्ति के द्वितीय खण्ड में सिद्ध करना चाहते हैं कि प्रकृति में भी ठीक वैसी ही एक अनानुभविक चेतना विद्यमान है।

अपनी युक्ति को प्रस्तुत करते हुए वे सर्वप्रथम 'प्रकृति' शब्द का सामान्य अर्थ स्पष्ट करते हैं। सामान्य चिन्तन के स्तर पर हम विषयनिष्ठ संवेदनाओं के अन्तर को स्वीकार करते हैं और इस अन्तर की पृष्ठभूमि में विषयनिष्ठ सत्ता के विषय में एक निश्चित प्रत्यय सक्रिय रहता है। यह प्रत्यय नियामक[1] का कार्य करता है। अन्य शब्दों में, इसी के आधार पर हम संवेदनाओं की, अन्ततः अनुभव की, तथ्यता निर्धारित करते हैं। इस अर्थ में 'प्रकृति' शब्द 'सम्बन्धों की एक अपरिवर्तनीय व्यवस्था'[2] व्यंजित करता है।

यदि प्रकृति का यथार्थ में यही स्वरूप है, तो युक्ति के प्रथम खण्ड के निष्कर्षों का यहाँ भी उन्हीं कारणों से समर्थन हो सकता है। 'सम्बन्धों की एक अपरिवर्तनीय व्यवस्था' के रूप में प्रकृति वैविध्य का एक समन्वित स्वरूप है और समन्वय के साथ ही इस वैविध्य की विविधता का उसमें समर्पण नहीं होता। अतः पूर्व खण्ड के निष्कर्षों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उक्त समन्वय को सम्भव बनानेवाला, साथ ही उससे अपने पार्थक्य को कायम रखनेवाला, सत् अनिवार्यतः इसमें भी पूर्वस्वीकृत है और साम्यानुमान के आधार पर उसे भी एक अनानुभविक अनानुक्रमिक आध्यात्मिक चेतना ही होना चाहिए। ग्रीन कहते हैं : 'परस्पर संबद्ध आभासों का तंत्र ही प्रकृति है और इस प्रकार सम्बद्ध ये आभास चेतना की क्रिया के अभाव में असम्भव हैं। ये न चेतना में और न चेतना इनमें विघटित हो सकती है, पर चेतना के बिना इनका अपना अस्तित्व सम्भव नहीं।'[3]

पुनः, अपने निष्कर्षों के समर्थन में वे कहते हैं कि वैविध्य स्वतः सम्बद्ध नहीं हो सकता और न ही कोई एक वस्तु स्वतः अपने को विविध सम्बन्धों में अन्य से सम्बन्धित कर सकती है। निष्कर्ष स्पष्ट है। विविध संबंधों की उपस्थिति

---

1. We test the reality of an interpretation of facts by "testing the unalterableness of the qualities which we ascribe to it, or which forms its apparent nature."—*Prolegomena*, p. 29.
2. "Unalterable system of relations."
3. Ibid., p. 40.

स्वतः इस बात का प्रमाण है कि इस संबद्धता को सम्भव बनाने के लिए, संबंधों से भिन्न तथा सम्बन्धित इकाइयों से भी भिन्न, कोई ऐसी इकाई विद्यमान होनी चाहिए जो उनकी सम्बद्धता को सम्भव बनाती है।[1] और क्योंकि सम्बन्धों को वह सम्भव बनाती है, निश्चित ही वह सम्बन्धों का अतिक्रमण करनेवाली सत्ता होगी। इसे यदि 'अननुबंधित सत्ता'[2] कहें तो उसमें कोई विसंगति नहीं होगी।[3]

प्रकृति के अधिष्ठान के रूप में, उसे सम्भव बनानेवाले सत् के रूप में, आध्यात्मिक सत्ता की स्वीकृति के लिए ग्रीन अनुभववादी दृष्टिकोण के मूल में विद्यमान पूर्वाग्रहों का निराकरण तथा कांट के दृष्टिकोण की विसंगतियों का खण्डन आवश्यक समझते हैं।

विचार-निरपेक्ष अस्तित्व का निराकरण : यथार्थवादी दृष्टिकोण में विद्यमान मूल विश्वास का खण्डन

सामान्य चिन्तन में हम 'विचार' तथा 'विचार-निरपेक्ष सत्ता' यानी 'विश्व' के बीच भेद करते हैं। अनुभववादी दृष्टिकोण इस अन्तर को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेता है और इसी स्वीकृति के आधार पर अपने दर्शन का निर्माण करता है।[4]

---

1. "A plurality of things cannot of themselves unite in one relation, nor can a single thing of itself bring itself into a multitude of relations."—Ibid., p. 33.
2. Unconditioned reality.
3. There would be no contradiction in admitting a principle which renders all relations possible, and is itself determined by none of them, if, on consideration of what is needed to constitute a system of relations, we found such a principle to be requisite."—Ibid., p. 32.
4. अनुभववादी दृष्टिकोण की मूल स्वीकृति को, जो ग्रीन के विचार में निश्चित ही भ्रामक है, प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं :
   It is governed throughout by the antithesis between what is given to consciousness—that in regard to which the mind is passive as on the one side and what is 'invented, created', 'superinduced' by the mind on the other."—Works, Vol I, p. 93.

ग्रीन इस मूल स्वीकृति को ही भ्रामक मानते हैं। इसके अनुसार विश्व दो असम्बद्ध खण्डों में विभाजित है। 'विचार' में सर्जना का अभाव है, वह प्राप्त उपादान को केवल सम्बन्धित तथा सुव्यवस्थित कर सकता है, पर किसी नितान्त नवीन वस्तु की सर्जना नहीं कर सकता। अन्य शब्दों में, अपने उपादान को वह एक ऐसे स्रोत से प्राप्त करता है, जो उससे स्वतंत्र एवं पृथक् है और, किसी भी अर्थ में, उसपर आश्रित नहीं है। इसी विशेषता को 'विचार-निरपेक्ष' शब्द व्यंजित करता है। इस विचार-निरपेक्ष सत् का साक्षात् संवेदना में होता है, जो ज्ञान का उपादान प्रस्तुत करता है। कांट के दर्शन के सन्दर्भ में इसे 'विशुद्ध संवेदना'[1] कहते हैं। अतएव, यथार्थ जगत् विचार-निरपेक्ष है, उसका साक्षात् विशुद्ध नानात्व में होता है तथा विचार में यथार्थ-सर्जन का अभाव है—ये दोनों ही स्वीकृतियाँ अनुभववादी दृष्टिकोण के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु वस्तुतः भ्रामक हैं। ये स्वीकृतियाँ विचार सम्बन्धी हमारे सामान्य विश्वास के साथ संगति स्थापित करने में असमर्थ हैं और साथ ही दार्शनिक चिंतन की कसौटी पर भी खरी नहीं उतरती हैं। जहाँ तक हमारे सामान्य विश्वास का प्रश्न है, हम सभी यह स्वीकार करते हैं कि सत्ता विचार के माध्यम से ज्ञेय है, यानी विषयों की जिन विशेषताओं को सामान्य ज्ञान अनावृत करता है और जिन सम्बन्धों से उन्हें सम्बद्ध करता है, वे सभी वस्तुनिष्ठ हैं। उनके माध्यम से सत्ता का यथार्थ स्वरूप व्यंजित होता है।

अतः, अनुभववादी दृष्टिकोण की स्वीकृति की ओर यदि हम ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायेगा कि विचार-निरपेक्ष सत्ता का प्रत्यय निश्चित ही भ्रामक है। दो सिद्धान्ततः नितान्त असम्बद्ध निरपेक्ष सत्ताएँ कैसे और किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करती हैं? यह समस्या देकार्त के समय से दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में कितनी महत्वपूर्ण रही है, इसे दर्शन के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं। ये दोनों सत्ताएँ सम्बद्ध हैं, इसका समर्थन जीवन के अनेक तथ्य करते हैं। दार्शनिक भी इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकता। वस्तुतः, देकार्त का दर्शन इसी विसंगति के दूर करने के लिए 'पिनियल-ग्रन्थि' की कल्पना करता है, किन्तु पदार्थ विषयक मूल स्वीकृति में संशोधन लाने का प्रयास वह कहीं भी नहीं करता। लॉक भी देकार्त के पदार्थ विषयक द्वैत का समर्थन करते हैं और उनके दर्शन की विसंगतियों के मूल में भी वही भ्रांति है, जिसका निराकरण ग्रीन करना चाहते हैं।

---

1. Pure manifold

वर्तमान संदर्भ में लॉक के विचारों की अपर्याप्तता प्रकाशित करते हुए, ग्रीन कहते हैं कि 'यदि संबंध मन के कार्य हैं और वे सत्ता के सार को भी प्रस्तुत करते हैं तो मन और बाह्य सत्ता का विरोध स्वघाती है और ठीक इसी बात को हम स्वीकार कर लेते हैं जब हम ज्ञान के प्रतिरूपक रूप को स्वीकार करते हैं।'[1]

पुनः, ग्रीन कहते हैं कि विशुद्ध संवेदना, अंततः विचार-निरपेक्ष विश्व के प्रत्यय, का यदि हम अध्ययन करें तो उनका आत्म-विरोधी स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जायेगा। विशुद्ध संवेदना संबंधों से शून्य इकाई का प्रत्यय है। यदि अपकर्षण की प्रक्रिया द्वारा उक्त 'संवेदना' को हम यथार्थ में संबंधविहीन भी कर दें तो फिर किसी अन्य से उसके पार्थक्य को बनाये रखना हमारे लिए किस प्रकार संभव होगा और यही नहीं, इस न्यूनतम विशेषता के अभाव में, उसके लिए अपने निजी अस्तित्व को बनाये रखना किस प्रकार संभव होगा? पुनः, सभी संबंधों से वियुक्त होकर किस प्रकार वह उस 'मूल रूप' से, भौतिक 'आर्कीटाइप' से, संबंध स्थापित कर पायेगी जिसका उक्त सिद्धांत के अंतर्गत वह एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रतिनिधित्व करती है?

अतएव, विशुद्ध संवेदना का रूप यदि वही है, जिसे अनुभववाद स्वीकार करता है, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो यथार्थ है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता और जिसके बारे में कुछ भी कहा जा सकता है, वह यथार्थ हो ही नहीं सकता। फलतः, संवेदना के बारे में न्यूनतम यदि कुछ कहा जा सकता है और कुछ कहा जा सकता है, इस संभावना को इस सिद्धांत के अंतर्गत स्वीकार किया गया है तो वह विचार-निरपेक्ष कैसे हो सकता है।[2]

---

1. "The Lockean antithesis is self-destructive, if relations are the work of the mind and yet are the essence of reality and yet this is exactly what we do concede when we admit the representative character of knowledge."
2. "If we take him at his word and exclude from what we have considered real all qualities constituted by relation, we find that no more are left. Without relation any simple idea would be undistinguished from other simple ideas, undetermined by its surroundings in the cosmos of experience. It would thus be unqualified itself, and consequently could afford no qualification of the material archtype,

कांट के अज्ञेय परमार्थ की आलोचना

अनुभववाद की मूल भ्रांति का निराकरण करने के पश्चात् ग्रीन कांट के दृष्टिकोण में विद्यमान भ्रांति का खण्डन करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कांट का दृष्टिकोण अनुभववाद के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया का परिणाम था। किन्तु, इसके बावजूद अनुभववादी चिन्तन के अवशेष हमें कांट के दर्शन के अज्ञेय परमार्थ सत् के प्रत्यय में मिलते हैं। इस प्रश्न पर ग्रीन के विचार जी० आर० जी० म्योर[1] के विचारों से पर्याप्त सदृशता रखते हैं। कांट के 'अज्ञेय' परमार्थ सत् को अनुभववादी विचारधारा के अवशेष के रूप में प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं : उनके मस्तिष्क में सत् एवं विचार के कार्यों के विरोध का इतना प्रबल प्रभाव था कि अपने सिद्धान्त में विश्व के निर्माण में, यानी उसमें जो कुछ भी स्पष्ट एवं सुनिश्चित है, उसके निर्माण में, विचार के स्पष्ट योगदान को स्वीकार करने के बाद भी, उन्होंने इस विश्व को एक अज्ञेय सत् से सम्बद्ध माना, जो सम्बद्धता, यदि है तो, उनके अपने ही सिद्धान्त के अनुसार उस अज्ञेय को अनिवार्यतः विचार की परिधि में समेट लेगी।[2]

---

which yet according to Locke we only know through it or if otherwise, as the subject of those 'primary qualities' which demonstrably consist in relations. In short, the admission of the antithesis between the real and the work of the mind, put together, involve the conclusion that nothing is real of which anything can be said."

1. G. R. G. Mure, *Introduction to Hegel*, pp. 95-96.
2. "The antithesis between the real and the work of thought had still such command over him that, after he had himself traced the agency of thought in all that gives the world of experience a definite character, he still could not help ascribing to this world, in terms of the knowable, a relation to an unknowable opposite, though that very relation if it existed, would according to his own showing bring the unknowable opposite within that world (dependent on an intelligent subject) from which it is expressly excluded'. —*Prolegomena*, p. 48.

कांट स्वयं 'प्रकृति' के निर्माण के विचार के योग को स्वीकार करते हैं। उनके कथन—'बोध प्रकृति का निर्माण करता है[1]—का समर्थन ग्रीन स्वयं अपनी युक्ति के प्रथम खंड में करते हैं। किन्तु, कांट ने उस कथन को जिन सीमाओं के भीतर प्रस्तुत किया है, उससे उन्हें आपत्ति है। ज्ञान के अनुभव-निरपेक्ष तथा अनुभव-सापेक्ष तत्त्वों के द्वैत को जिस प्रकार कांट प्रस्तुत करते हैं, वह उनकी दृष्टि में अनुचित है। जिस प्रकार संवृत्ति सत् दो परस्पर असम्बद्ध स्रोतों से नियंत्रित होता है[2], वह उसकी एकता के लिए घातक है। इस स्वीकृति के अनुसार मानव जिस विश्व की रचना करता है, वह नितान्त काल्पनिक हो सकता है और तब यह प्रश्न स्वाभाविक होगा कि इस प्रकार के विश्व का व्यावहारिक दृष्टि से क्या महत्व है ?

पुनः, ग्रीन कहते हैं कि परमार्थ सत् की अज्ञेयता का समर्थन भी असंगतिपूर्ण है। परमार्थ सत् अज्ञेय है, किन्तु कांट द्वारा उसे सम्वेदनाओं के स्रोत के रूप में, उसके कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। जो 'कारण' है, वह अज्ञेय कैसे हो सकता है ? परमार्थ सत् विषयक कांट के निष्कर्ष की विसंगति को अनावृत करते हुए ग्रीन कहते हैं कि 'कारणता' संवृत्ति जगत् के अन्तर्गत स्वीकृत तथ्यों के स्थायी सम्बन्ध को व्यंजित करती है और इस सम्बन्ध को स्वीकार करने के साथ विषयी से उसकी सम्बद्धता स्वीकार करना अनिवार्य है। अतः यदि परमार्थ

---

1. Understanding maketh nature.
2. संवृत्ति जगत् के दो नितान्त असम्बद्ध निरपेक्ष स्रोतों की चर्चा करते हुए ग्रीन कहते हैं : "We have asserted the unity of our world of experience only to transfer that world to a larger chaos.... the cosmos of our experience, and the order of things-in-themselves, will be two wholly unrelated worlds of which, however, each determines the same sensations. If this be so, the conception of a universe is delusive. Man weaves a web of his own and calls it a universe; but if the principle of this universe is neither one with, nor dependent on, tha of things-in-themselves, there is in truth on universe, at all, nor does there seem to any reason why there should not be any number of such independent operations."—*Prolegomena*, p. 45.

सत् अज्ञेय है तो वह 'कारण' नहीं हो सकता और यदि वह 'कारण' है, तो वह संवृत्ति जगत् के अन्तर्गत तत्त्व-विशेष ही है और इस नाते 'विषयी' से अनिवार्यतः सम्बद्ध भी है।[1]

कांट के दृष्टिकोण में विद्यमान भ्रांतियों के खण्डन के उपरान्त प्रकृति विषयक द्वैत स्वयमेव नष्ट हो जाता है और आध्यात्मिक चेतना विश्व के अधिष्ठान रूप में स्थापित हो जाती है।

इस निरपेक्ष चेतना को कोटियों के माध्यम से व्यंजित नहीं किया जा सकता, क्योंकि कोटियों की वैधता व्यावहारिक जगत् में ही है। प्रत्ययों के माध्यम से आध्यात्मिक चेतना की अवाच्यात्मकता ग्रीन में एक महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है। किन्तु, कांट की भांति, वे इस सीमित अर्थ में उसकी अज्ञेयता का ही समर्थन नहीं करते, बल्कि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि निषेधात्मक कथनों के माध्यम से उसकी उपस्थिति का हमें बोध हो सकता है।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि बोध के वर्तमान स्तर पर उस समय चेतना का सम्पूर्ण भावात्मक बोध हमारे लिए सम्भव नहीं है। इस प्रश्न पर ग्रीन के विचार समकालीन भारतीय दार्शनिक

---

1. कारणता के प्रश्न पर विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं:

"Causation has no meaning except as an unalterable connexion between changes in the world of our experience an unalterableness of which the basic is the relation of that world throughout, with all its changes, to a single subject. That sensations, therefore, the matter of our experience should be connected as effects with things-in-themselves, of which all that can be said is that they belong to a world other than the world of experience and are not relative to the subject to which it is relative, is a statement self contradictory or at best unmeaning."—Ibid., pp. 47-48.

2. "That there is such a consciousness is implied in the existence of a world; but what it is we only know through its so far acting in us to enable us, however partially and interruptedly, to have knowledge of a world or an intelligent experience. As to what that consciousness is in itself or in its completeness, we can only make negative statements."—Ibid., p. 58.

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के विचार से सदृशता रखते हैं। उन्होंने भी कांट के अज्ञेयवाद का समर्थन किया है। उनका निर्विशेष विषयक सिद्धान्त बोध की उन सम्भावनाओं को प्रस्तुत करता है, जिनकी मध्यस्थता से गुजरते हुए निर्विशेष के स्वरूप का साक्षात् हो सकता है। वे अद्वैत वेदान्ती हैं और निर्विशेष परम सत् के साक्षात् की सम्भावना में विश्वास करते हैं। उनका निर्विशेष, विषयनिष्ठ चेतना से भिन्न, एक मुक्त चेतना है। इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'सब्जेक्ट ऐज फ्रीडम' में उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

ग्रीन तथा हेगल के विचारों की तुलना

उपर्युक्त तुलना किंचित् अप्रासंगिक प्रतीत हो सकती है, किन्तु अनावश्यक नहीं है। वर्तमान सन्दर्भ में, ग्रीन के विचारों की ओर पुनरावर्तन करते हुए हम इतना ही कहना चाहेंगे कि ग्रीन की अन्तर्दृष्टि सही दिशा में थी, किन्तु, हेगल के 'सापेक्षता' के प्रत्यय से वे अनेक स्थल पर प्रभावित दीखते हैं। ऐसे अवसरों पर वे अनुभवातीत निरपेक्ष चेतना के विषयी स्वरूप को भुलाकर विषयों से उसकी 'सापेक्षता' की चर्चा करते हैं। हेनरी सिजविक ने अपने लेख 'द फिलॉसाफी आव् टी० एच० ग्रीन'[1] में इसकी चर्चा की है।

हेगल निरपेक्ष चेतना को एक 'मूर्त सामान्य' के रूप में प्रस्तुत करते हैं और 'मूर्त सामान्य' के प्रत्यय में 'वैविध्य' की एक महत्त्वपूर्ण सार्थकता है। 'वैविध्य' के माध्यम से उक्त चेतना व्यंजित होती है और इस प्रकार की अभिव्यक्ति द्वारा वह एक विशेष सार्थकता प्राप्त करती है। और ठीक इसी प्रकार 'वैविध्य' के बारे में भी कहा जा सकता है कि वह भी, उसके सन्दर्भ में प्रस्तुत होने पर ही, एक नवीन अर्थ एवं सार्थकता प्राप्त करता है। इस दृष्टि से 'वैविध्य' एवं 'एकता' दोनों एक-दूसरे के अस्तित्व एवं सार्थकता के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

निरपेक्ष चेतना के इस स्वरूप का साक्षात् हमें 'आत्म-चेतना' के अध्ययन से प्राप्त होता है। आत्म-बोध-सम्पन्न मानवीय चेतना अन्य तत्त्वों को अपने में आत्मसात् करते हुए किस प्रकार अपने आपको विकसित करती हैं, इससे हम सब भली भाँति परिचित हैं। और क्योंकि विषयों की मध्यस्थता से ही वह मूर्त हो पाती है, इसीलिए उसे 'व्यवहित चेतना'[2] कहते हैं।

---

1. Sidgwick, The Philosophy of T. H. Green, Mind, Vol. X, 1901, pp. 24-27.
2. Mediated consciousness.

हेगल से प्रभावित ग्रीन भी अनेक स्थलों पर आत्म-बोध-सम्पन्न चेतना को अन्तिम मान लेते हैं और इस कारण वे विषयों से उसकी 'सापेक्षता' की चर्चा करते हैं। किन्तु, आलोचकों की दृष्टि में इस प्रश्न पर हेगल की अपेक्षा कांट की दृष्टि अधिक ठीक है। कांट अनुभवातीत निरपेक्ष चेतना को कोटियों की परिधि से बाहर मानते हैं। अतः कोटियों के माध्यम से उसे प्रस्तुत करना उनकी दृष्टि में अनुचित है। 'सापेक्षता' भी एक प्रकार का सम्बन्ध है, इसलिए सम्बन्धों के मूल में विद्यमान, उसे सम्भव बनानेवाली चेतना स्वयं एक सापेक्ष इकाई नहीं हो सकती। इस दृष्टि से निरपेक्ष चेतना अपरिभाष्य और एक महत्वपूर्ण अर्थ में अज्ञेय है एवं निषेधात्मक कथनों के माध्यम से उसकी ओर केवल संकेत किया जा सकता है।

कभी-कभी ग्रीन, और स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों पर वे कांट से प्रभावित प्रतीत होते हैं, उसके इस स्वरूप का भी समर्थन करते हैं। उनके इस आशय के कथन उन्हें अद्वैत वेदांत के काफी नजदीक ले आते हैं।

अनानुभविक निरपेक्ष चेतना के विषयी स्वरूप की प्रस्तुति के पश्चात् ग्रीन उक्त चेतना के दो प्रारूपों के तादात्म्य की चर्चा करते हैं। अभी तक विश्व के दो खण्डों—ज्ञान तथा वस्तुनिष्ठ जगत्—के सन्दर्भ में पृथक्-पृथक् उसकी अनिवार्य स्वीकृति को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, वस्तुतः वह एक ही चेतना की दो विभिन्न सन्दर्भों में पृथक्-पृथक् स्वीकृति है। अन्य शब्दों में, ज्ञान के अधिष्ठान के रूप में जिस चेतना की उपस्थिति को अपरिहार्य माना गया है, वही चेतना विश्व के अधिष्ठान रूप में भी अवस्थित है।

अनुभवातीत चेतना एवं जगत् का सम्बन्ध

ऐसी स्थिति में फिर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि वह चेतना, जो शाश्वत है, निर्विशेष है, और सम्बन्धों की अपेक्षा नहीं करती, देश-काल में अवस्थित विश्व से किस प्रकार सम्बन्धित होती है? अन्य शब्दों में, उसका इस वैविध्यपूर्ण जगत् से क्या सम्बन्ध है?

इस प्रश्न के उत्तर में ग्रीन मानवीय व्यक्तित्व के दो पक्षों की चर्चा करते हैं। एक पक्ष की दृष्टि से मानवीय व्यक्तित्व सनातन है, दूसरे के अनुसार वह काल से नियंत्रित है। सामान्यतः चेतना के जिस रूप की ओर हमारी दृष्टि जाती है, और जिसे मनोविज्ञान अन्तिम मानता है, वह तो विकासोन्मुखी चेतना है, जो शैशवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक विकसित होती रहती है। किन्तु, इस चेतना की पृष्ठभूमि में, उसी के अधिष्ठान के रूप में, एक अनानुभविक

चेतना विद्यमान है, जो इस विकासोन्मुखी चेतना के बोध को सम्भव बनाती है और हमें परिवर्तन तथा प्रवाह के बीच एकता प्रदान करती है।[1]

इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा करते हुए, ग्रीन कहते हैं कि ज्ञान के विकास में एक जैविक व्यक्तित्व, जो काल के अधीन है, यानी उससे नियंत्रित है और वह क्रमशः एक शाश्वत सम्पूर्ण चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है। जिसे हम अपने मानसिक जीवन का इतिहास कहते हैं, वस्तुतः वह उक्त चेतना का इतिहास नहीं है, क्योंकि देश-काल का अतिक्रमण करनेवाली इस सत्ता का इतिहास तो हो नहीं सकता। वह तो वस्तुतः उस प्रक्रिया का इतिहास है जिससे जैविक यक्ति उसकी आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बनता है।[2]

इस उत्तर की अपनी कठिनाइयाँ हैं। मन में सहज रूप स यह प्रश्न उठ सकता है कि शाश्वत चेतना को पुनरभिव्यक्ति की आवश्यकता ही क्या थी ? और यदि आवश्यकता थी भी तो ऐसे असंतोषपूर्ण, कष्टप्रद विधि से अभिव्यक्त होने का उसने निर्णय ही क्यों लिया ? पुनः, क्या इस प्रकार की अभिव्यक्ति से उसकी शाश्वतता बाधित होती है ? यदि नहीं, तो क्या यह अभिव्यक्ति आकस्मिक है और उसके सार से सम्बन्ध नहीं है ? किन्तु, इन प्रश्नों के रूप का यदि हम अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि शाश्वत, निरपेक्ष चेतना को इस रूप में प्रस्तुत करने से निश्चित ही उसका विशुद्ध 'विषयी' स्वरूप आवृत हो जाता है। अन्य शब्दों में, इन प्रश्नों की पृष्ठभूमि में मानवीय व्यक्तित्व तथा उसकी सर्जन-सामर्थ्य की कल्पना मॉडल रूप में कार्य कर रही है और हम इसका प्रयोग करते हुए यह भूल जाते हैं कि कोई भी 'कल्पना' सम्पूर्ण रूप से

---

1. इस प्रश्न पर अनेक अन्य मत हैं, जो अनानुभविक चेतना की स्वीकृति अनावश्यक मानते हैं, किन्तु इस विवाद में जाना वर्तमान प्रयोजन की दृष्टि से अनावश्यक है।
2. "In the growth of our experience in the process of our learning to know the world, an animal organism which has its history in time, gradually becomes the vehicle of an eternally complete consciousness. What we call our mental history is not a history of this consciousness which in itself can have no history but a history of the process by which the animal organism becomes its vehicle."— *Prolegomena*, p. 77.

निरपेक्ष चेतना के स्वरूप को व्यंजित नहीं कर पाती और यह भी कि वर्तमान प्रश्न पर भावात्मक कथनों की अपेक्षा निषेधात्मक कथन अधिक सार्थक हैं ।

इस प्रश्न पर जो कुछ भी ऊपर कहा जा चुका है उसे ध्यान में रखते हुए, यदि हम विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि 'सम्बन्ध' का प्रश्न केवल व्यावहारिक जगत् में ही वैधता रखता है और उसी अर्थ में अनानुभविक चेतना, जो उक्त जगत् की संभावना की स्वीकृति के मूल में है, तथा जगत् के सम्बन्ध की चर्चा करना निश्चित ही भ्रामक है । उपर्युक्त प्रश्न के मूल में संभवतः यही भ्रान्ति विद्यमान है और एक अनुचित प्रश्न का हल किसी भी प्रकार संभव नहीं ।

अतः, दार्शनिक सच्चाई इस बात की अपेक्षा करती है कि इस प्रश्न के अनौचित्य को हम समझें और स्वीकार करें । अद्वैत वेदान्त ने इस प्रश्न के अनौचित्य को 'माया' शब्द से व्यंजित किया है । वस्तुतः, दो समस्तरीय सत्ताओं के बीच ही सम्बन्ध का प्रश्न उठाया जा सकता है । जो व्यावहारिक दृष्टि से सत् है उसका निषेध पारमार्थिक सत् में होता है, इसलिए समान अर्थ में वे दोनों अस्तित्ववान् नहीं हैं और न ही उनके सम्बन्ध का प्रश्न उचित है ।[1] ग्रीन के विचारों, उनकी प्रमुख युक्तियों एवं निष्कर्षों की प्रस्तुति के उपरान्त उनके विरुद्ध लायी हुई कुछ प्रमुख आपत्तियों की चर्चा आवश्यक है ।

कतिपय आलोचनाओं पर विचार

ग्रीन के दर्शन की कुछ दार्शनिकों द्वारा तीव्र आलोचना हुई है, जिनमें बेल्फ्यूर एवं कनिंगहम महत्त्वपूर्ण हैं । उनके विचार में 'अनुभव' के स्पष्टीकरण में अनुभव-निरपेक्ष तथा अनुभव-सापेक्ष तत्वों का समान महत्व है । इनमें से किसी भी एक तत्त्व का समर्थन और दूसरे का निषेध अनुचित है और ग्रीन ने संभवतः ऐसा ही किया है । उन्होंने अनुभव को सम्पूर्ण रूप से अनुभव-निरपेक्ष तत्त्वों पर ही आश्रित मान लिया है । अनुभवातीत इकाई इस विश्व की रचना 'सम्बन्धों' के आधार पर करती है । किन्तु, 'सम्बन्धों' की कल्पना के साथ-साथ उन विभिन्न इकाइयों को भी स्वीकार करना आवश्यक है, जिनके बीच सम्बन्धों को स्थापित किया जाता है । इन इकाइयों के अभाव में

---

1. अद्वैत वेदान्ती तीन स्तरों पर 'अस्तित्व' का समर्थन करते हैं और उसके अन्तिम रूप को ही सत् में स्वीकार करते हैं । जो त्रिकालाबाधित हो वही सत् है । जागृत जीवन और स्वप्न बाधित अस्तित्व हैं, इसलिए ये अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में सत् नहीं हैं ।

मात्र सम्बन्धों की स्वीकृति उचित नहीं है। अतः, आलोचकों के अनुसार ग्रीन द्वारा यह विश्व शाश्वत मनस् से समर्थित 'सम्बन्धों की राशि' में घटित हो जाता है, किन्तु 'जगत्' मात्र इतना ही नहीं है। उसमें अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त निश्चित इकाइयाँ हैं। पर, ग्रीन विषयीनिष्ठ निरपेक्षवादी हैं और अपने दर्शन में उन्होंने, बर्कले की ही भाँति, स्पष्टतः विश्व की वस्तुनिष्ठता का निषेध किया है। यह अनुचित है। ग्रीन की एकांतिक ज्ञान मीमांसा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, बेल्फ्यूर कहते हैं, "यदि अनुभूति के इस जगत् में केवल सम्बन्ध ही सम्बन्ध का प्रसार है तो फिर हमारे समक्ष सहज प्रश्न उठता है कि ये सम्बन्ध किनके बीच हैं ? इन सम्बन्धों को सम्भव बनानेवाली इकाइयाँ भी तो होनी चाहिए....संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सम्बन्धों के अभाव में यदि ये इकाइयाँ अपकर्षण मात्र हैं तो उसी प्रकार इकाइयों के अभाव में ये सम्बन्ध भी अपकर्षण ही हैं।"[1]

इस कारण बेल्फ्यूर कांट के अनुयायियों की अपेक्षा कांट को अधिक तर्कसम्मत मानते हैं, क्योंकि कांट 'सम्बन्धों' के साथ ज्ञान के 'उपादान' के महत्व का भी समर्थन करते हैं और उसके अनुभव-निरपेक्ष स्रोत की कल्पना करते हैं।

बेल्फ्यूर की भाँति कनिंग्हम भी ग्रीन की आलोचना करते हुए कहते हैं :

---

1. 'If the world of experience consists solely of relations what are these relations between ? Let it be conceded for the sake of argument that however for we carry back the analysis of what constitutes an object, we still find ourselves dealing with relations; are we not still compelled to believe that there cannot be relations, unless something other than relations exists to be related, even though this 'something' (apart from its relations) is 'nothing for us as thinking beings'—?....In short, if that which is related is, apart from its relations, an unthinkable and therefore, nonexistent abstraction, not less unthinkable and, therefore, equally non-existent must be relations apart from that which is related, and if relations require a source, so must that which relations qualify"—A. J. Balfour, "Green's Metaphysics of Knowledge," Mind, Vol. 9, 1884, pp. 77-78.

'संज्ञानात्मक अनुभव में भी ऐसे पद मिलते हैं जो सम्बन्धों के साथ पर्याप्त निकटता के साथ सम्बन्धित होते हैं। यह तथ्य न केवल सम्पूर्ण चर्चा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि इसलिए भी कि प्रायः ग्रीन इसकी अवहेलना करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसको अस्वीकार नहीं करते, किन्तु अपनी युक्ति प्रस्तुत करते हुए, अनेक महत्वपूर्ण स्थलों पर वे इसकी उपेक्षा करते हैं, जिसके कारण उनकी युक्तियाँ सहज एवं ग्राह्य प्रतीत होती हैं। पदों एवं सम्बन्धों की सापेक्षता के महत्व की न तो अवहेलना होनी चाहिए और न ही उसके महत्व को कम किया जाना चाहिए।[1]

बेल्फ़्यूर तथा कनिंग्हम दोनों ही ज्ञान के 'उपादान' के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, साथ ही, उक्त तत्व के स्रोत के रूप में वे एक विचार-निरपेक्ष जगत् की सत्ता का भी समर्थन करते हैं। यही नहीं, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि ग्रीन ने इस तत्व की और उससे सम्बन्धित सत्ता की स्पष्ट उपेक्षा की है। उसके अनुसार ग्रीन का मत एकांतिक है, क्योंकि वे ज्ञान के अनुभव-निरपेक्ष तत्त्व को ही महत्वपूर्ण मानते हैं और द्वितीय तत्व को उसी में समाविष्ट कर लेते हैं। विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में दोनों तत्व सापेक्ष हैं। उनमें से केवल एक का समर्थन और द्वितीय का निषेध उचित नहीं है।

यदि यह सत्य है, और ग्रीन ने सचमुच दोनों तत्वों की सापेक्षता की अवज्ञा कर, केवल एक ही तत्व का समर्थन किया है तो निश्चित ही बेल्फ्यूर तथा कनिंग्हम के विचार सही हैं। यानी ग्रीन का दृष्टिकोण एकांतिक और तार्किक दृष्टि से असन्तोषप्रद है। किन्तु, ग्रीन के विचारों की प्रस्तुति से स्पष्ट हो गया होगा कि ग्रीन, 'सम्बन्धात्मक जगत्' का उसकी सम्पर्ण यथार्थता में समर्थन

1. "Cognitive experience also involves terms which are intimately bound up with relations. This seems wise, not only because it is a fact which is important for the entire discussion but also and primarily because Green not infrequently tends to overlook it. Of course he does not deny it, but at crucial steps in his argument his neglect of it makes his transitions appear much more smoother and more plausible than would be the case if the existence of terms in experience were explicitly recognized. The importance of the fact of terms and relations as apparently logical correlatives must not be overlooked or minimised."—G. W. Cunningham, Idealistic Arguments.

करते हुए, उसको सम्भव बनानेवाले अनुभवातीत तत्वों को और अंततः अनुभवातीत चेतन इकाई को अनावृत करते हैं। इकाइयों का वैविध्य एवं उनकी सापेक्षता—यह सभी संबंधात्मक जगत् की विशेषता है। ग्रीन इनकी यथार्थता से इनकार नहीं करते किन्तु, इन्हें तात्विक दृष्टि से, अंतिमता नहीं प्रदान करते।

उक्त विश्व के अन्तर्गत 'संवेदना' तथा 'विचार' दोनों ही सापेक्ष इकाइयाँ हैं और इनमें से किसी भी एक का समर्थन और दूसरे का निषेध सम्भव नहीं है। ग्रीन ऐसा नहीं करते। वे तो पृथक्-पृथक् इकाइयों के रूप में समर्थित इनकी निरपेक्षता को ही भ्रामक मानते हैं।

पूर्व पृष्ठों से स्पष्ट हो चुका है कि ग्रीन निरपेक्ष का समर्थन अनुभववादी दृष्टिकोण के खण्डन द्वारा करते हैं। फलतः, वे उक्त दृष्टिकोण के मूल में विद्यमान स्वीकृतियों को अनावृत कर उनकी भ्रामकता सिद्ध करते हैं। विचार-निरपेक्ष सत्ता का प्रत्यय इस दृष्टिकोण के लिए केन्द्रीय है और ग्रीन इस मूल प्रत्यय को ही अस्वीकार करते हैं।

तथाकथित विचार-निरपेक्ष सत्ता और फलस्वरूप विचार-निरपेक्ष विशुद्ध संवेदना की भ्रामकता को दृष्टि में रखते हुए, वे उस दृष्टिकोण की अपर्याप्तता भी सिद्ध करते हैं जो संवेदना की उपेक्षा कर केवल 'सम्बन्धों' को ही महत्वपूर्ण मानता है। 'प्रोलेगोमेना' में, उक्त प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, ग्रीन कहते हैं कि "हम संवेदना की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम इस आनुभविक जगत् को मात्र सम्बन्धों के जाल में, जिसमें कोई भी पद सम्बन्वित न हो, विघटित नहीं कर सकते। प्रश्न है कि क्या द्वैतवाद के विरुद्ध अपने सम्पूर्ण विरोध के बावजूद हम यहाँ पर किसी ऐसे अवशेष का अनिवार्यतः साक्षात् नहीं करते जिसका स्पष्टीकरण समन्वयात्मक चेतना के आधार पर सम्भव नहीं है पर जो विश्व के निर्माण के लिए उतना ही अनिवार्य है जितना कि उपर्युक्त समन्वयात्मक तत्त्व अनिवार्य है।"[1]

---

1. "We cannot ignore sensation. We cannot reduce the world of experience to a web of relations in which nothing is related, as it would be if everything were erased from it which we cannot refer to the action of combining intelligence. After all our protests against dualism then, are we not at last left with an unaccountable residuum—an essential element of the real world of experience which we cannot trace to what we regard as the organising principle of that world but which is as necessary to make the world what it is as that principle itself."—*Prolegomena*, pp. 48-49.

ग्रीन दोनों तत्त्वों की सापेक्षता का समर्थन करते हैं। अतः उनके विरुद्ध लायी हुई बेल्फ्यूर तथा कनिगृहम की आपत्ति अनुचित है। स्पष्ट है कि वे ग्रीन के दर्शन के साथ न्याय नही कर सके हैं।

ग्रीन 'उपादान' तथा 'आकार' के भेद को अन्तिम नहीं मानते। उपादान रूप में समर्थित 'विशुद्ध संवेदना' का अपना कोई निजी अस्तित्व नहीं है; वह अपकर्षण की प्रक्रिया का ही परिणाम हैं। वे कहते हैं कि इस तथाकथित विशुद्ध 'संवेदना' के स्वरूप का यदि हम विश्लेषण करें, तो देखेंगे कि वह 'सम्बन्धों' से ही शत-प्रतिशत निर्मित है। अतएव, उसे यदि अपकर्षण की प्रक्रिया द्वारा हम बिल्कुल सम्बन्धों से खाली कर दें तो वह शून्यप्राय हो जायगा। फिर भी, अपनी सुविधा के लिए, सम्बन्धों को प्रक्रिया के आरम्भ-बिन्दु के रूप में, हम उसके विचार-निरपेक्ष अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं, और प्रच्छन्न रूप से पुनः उसे उन सभी सम्बन्धों से पूरित कर देते हैं, जिनसे पहले हम उसे मुक्त करते हैं। 'प्रोलेगोमेना' में 'विशुद्ध संवेदना' की भ्रामकता स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं : 'विशुद्ध संवेदना एक ऐसा पद-समूह है जो किसी भी सत्ता को व्यंजित नहीं करता। वह अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम है पर इस पदसमूह को प्राप्त करने के पश्चात् हम उसे पुनः अव्यवस्थित रूप से पूरित कर देते हैं.........हम, अन्य शब्दों में, मात्र संवेदनों को उन सम्बन्धों से नियंत्रित मान लेते हैं, जो उस समन्वयात्मक प्रक्रिया के अभाव में सम्भव ही नहीं है जिनका उन्हें संवेदन कहने में हम निषेध करते हैं।"[1]

---

1. "Mere sensation is in truth a phrase that represents no reality. It is the result of a process of abstraction; but having got the phrase we give a confused meaning to it, we fill up the shell which our abstraction has left, by reintroducing the qualification which we assumed ourselves to have got rid off; we present the mere sensations to ourselves as determined by relation in a way that would be impossible in the absence of that connecting action which we assume to be absent in designating them mere sensations."—*Prolegomena*, pp. 51-52.

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'विशुद्ध संवेदन' स्वतः उन सम्बन्धों से नियन्त्रित हैं, जिनको अनुभववाद अस्वीकार करता है और उसमें, इन सम्बन्धों की स्वीकृति के साथ ही हमें अनानुभविक निरपेक्ष सत्ता को भी अनिवार्यतः स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्य शब्दों में, तथ्यात्मक जगत् के घटकों के रूप में 'विशुद्ध संवेदना' का कोई भी अस्तित्व नहीं है।[1]

उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं कि ग्रीन के दर्शन के सम्बन्ध में उक्त 'आपत्ति' बिल्कुल निराधार है। कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रीन ठीक उन्हीं विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनके विरुद्ध यह आपत्ति लायी गई है। 'सम्बन्धों' के महत्व को प्रस्तुत करते समय कभी-कभी वे 'संवेदना' के महत्व की स्पष्ट उपेक्षा करते दिखायी देते हैं। किन्तु, ऐसा विशेष सन्दर्भों में ही सही है। जब ग्रीन अनुभववाद की विचार-निरपेक्ष विश्व-सम्बन्धी मूल स्वीकृति की भ्रामकता सिद्ध करना चाहते हैं, तभी ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'संवेदना' की उपेक्षा कर रहे हैं और 'सम्बन्धों' को अन्ततः 'विचार' को ही सब कुछ मान लेने के लिए कटिबद्ध हैं। कभी-कभी भाषा की असावधानी भी इस भ्रांति के मूल में रहती है। सहानुभूतिपूर्ण आलोचनाओं से ग्रीन की रक्षा करते हुए, भारतीय हेगलवादी हालदर कहते हैं कि विवादास्पद सन्दर्भों में ही प्रतीत होता है कि ग्रीन उस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं जिसके लिए आलोचक वर्ग उन्हें दोषी ठहराते हैं। वे कहते हैं : "बैल्फ्यूर जैसे आलोचकों की आलोचनाओं के लिए ग्रीन के लेखक कोई आधार प्रस्तुत नहीं करते। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि अनुभववाद के विरुद्ध अपने विरोध के उत्साह में, कभी-कभी असावधानी बरतते हुए, वे ऐसी भाषा का प्रयोग कर देते हैं जिससे यह ध्वनि निकलती है कि केवल सम्बन्ध ही सत् है।"[2]

---

1. "Thought is the necessary condition of the existence of sensible facts, and that mere sensation, in the sense supposed, is not a possible constituent in the realm of facts." —*Prolegomena*.
2. "Green s writings cannot fairly be regarded as justifying the sirictures of critics like Lord Balfour. All that can be said is that in the zeal of his crusade against empiricism, he sometimes uses incautious language which seems to suggest that relations alone constitute reality."—Haldar, ***Neo-Hegetialism*, pp. 31-32.**

जिस सिद्धान्त का ग्रीन समर्थन करते हैं वह स्पष्टतः वह नहीं है, जिसको आलोचक उनके नाम से प्रस्तुत करते हैं। हाल्दार के विचार में 'आकार' एवं 'उत्पादन' सम्बन्धी कांटीय द्वैत का ग्रीन विरोध करते हैं। अतः प्रश्न स्वाभाविक है कि वे स्वयं उस सिद्धान्त का समर्थन कैसे कर सकते हैं जो उस द्वैत को स्वीकार करता है ? जिन सन्दर्भों में ऐसा प्रतीत होता है, वे वस्तुतः प्रत्यक्षीकृत तथ्यों तथा कल्पित सम्बन्धों की सापेक्षता तथा आत्मचेतननियम से उनकी अनिवार्य सम्बद्धता को व्यंजित करते हैं।[1]

कठिन विचारों को स्पष्ट शब्दों में व्यंजित करने का कार्य सरल नहीं है। 'संवेदनाओं के मूल में कौन सी स्वीकृतियाँ विद्यमान हैं, जिन्हें अनावृत करने के प्रयास में अनेक स्थलों पर ग्रीन ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे प्रतीत होता है कि 'निरपेक्ष सत्ता', तथ्यों पर कोई बाहर से जोड़ी हुई सत्ता है। वस्तुतः, उनका यह अभिप्राय नहीं है। ग्रीन के विचारों के औचित्य का समर्थन करते हुए हाल्दर कहते हैं कि : "संवेदनों की पूर्वमान्यताओं की ओर ध्यान देते हुए (जिन्हें ह्यूम तथा उनके अनुयायियों ने मुक्त एवं असम्बद्ध मान लिया था), ग्रीन अनिवार्यतः कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिससे यह अर्थ निकलता है कि ये उनसे अतिरिक्त हैं और बाहर से उनसे संयुक्त हैं। पर, सचाई तो यह है कि आत्मा और विषयों की अन्तर्सबद्धता विषयों के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध है।"[2]

जी० वाट्स कनिंगहम का भी यही विचार है कि ग्रीन 'अनुभव-निरपेक्ष आकार' तथा 'अनुभव-सापेक्ष उपादान' का द्वैत नहीं मानते, किन्तु अपने उक्त

---

1. "The correlativity of perceived facts and conceived relations and their necessary reference to a self conscious principle that makes such correlation possible."—Ibid., p.32.
2. "In calling attention to the presupposition of sensations, supposed by Hume and his followers to be discrete and unrelated, Green inevitably uses expressions which seem to imply that the presupposition is something added to them. But what is really meant is that the self and the world of inter-related objects mutually imply each other. Neither precedes the other in time. Relations and the self which is their centre and source belong to things and are inseparable from them."—Ibid., p. 32.

कथन के साथ वे यह भी जोड़ देते हैं कि यह विशेष प्रसंगों में ही सही है, विशेष रूप से उन स्थलों पर जहाँ कि वे कांट की आलोचना प्रस्तुत करते हैं। अपने मत की भावात्मक प्रस्तुति में वे पुनः उसी द्वैत का समर्थन करते प्रतीत होते हैं।

ग्रीन के निष्कर्षों की हेगलवादी आलोचना

उक्त आपत्ति की प्रस्तुति के पश्चात् एक द्वितीय आपत्ति की चर्चा की जायगी। हेगलवादी होने के बावजूद हेगलवादी दृष्टिकोण से भी ग्रीन की आलोचना हुई है। इन आलोचकों की दृष्टि में ग्रीन का 'परमतत्त्व' 'कालातीत तथा स्थैतिक रूप से पूर्ण'[1] है। ये आलोचक उनकी युक्ति के प्रथम खण्ड के निष्कर्ष से सहमत हैं। 'अनुभव' को सम्भव बनानेवाले एक अनुभवातीत नियम की स्वीकृति आवश्यक है, किन्तु यह नियम विश्व का अधिष्ठान नहीं हो सकता। उनके विचार में ऐसी अन्तर्विषय शून्य तथा अनुर्वर इकाई[2] के आधार पर विश्व का स्पष्टीकरण कैसे संभव है? वह 'अनुर्वर' इसलिए है कि यह निर्विशेष है यानी भावात्मक प्रत्ययों के माध्यम से उसका स्वरूप व्यंजित नहीं हो सकता और जो अन्तर्विषय-रहित विशुद्ध आकारिक एकता है, उसके आधार पर विश्व के वैविध्य का स्पष्टीकरण कैसे हो सकता है?

इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए, रुजिरो कहते हैं कि उक्त दृष्टिकोण के अन्तर्गत 'आत्मा' मात्र एक आकारिक इकाई ही रह जाती है। अतएव, विश्व की प्रगति तथा वैविध्य के कारण के रूप में उस एकता को स्वीकार करना उचित नहीं। वह अपने भीतर सर्जना की सामर्थ्य नहीं रखती और ऐसा इसलिए कि उसे बिल्कुल गतिहीन बना दिया गया है।[3]

---

1. "Timeless and statically perfect."—Haldar, Neo—Hegelianism, p. 34.
2. "Contentless and barren unity."
3. "The spirit.........remains a mere formal identity which does not explain reality does explain the progress, the differentiation of the unity, it resolves in short, but does not create. And it does not create because it is already rendered motionless and transformed into nature, divine indeed but still a nature."—*Modern Philosophy*, p. 271.

रुजिरो की ही भाँति हाल्दर भी इस प्रश्न पर ग्रीन के विचार की आलोचना करते हैं।[1] किसी भी सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक है कि वह परिवर्तन, नवीनताओं तथा नूतन विकास के लिए गुंजाइश रखे—अन्य शब्दों में, केवल इतना ही पर्याप्त नहीं कि विश्व के वैविध्य का किसी एकता के सन्दर्भ में स्पष्टीकरण हो। उस एकता की अभिव्यक्ति भी विश्व के नानात्व के माध्यम से होनी चाहिए।

पुनः, हाल्दर कहते हैं कि ग्रीन इस बात से इनकार नहीं करते, फिर भी उनके सिद्धान्त का मुख्य आशय 'परम' को 'कालातीत तथा स्थैतिक रूप से सम्पूर्ण' ही प्रस्तुत करना है। अतः, हाल्दर ग्रीन की अपेक्षा केयर्ड के मत को अधिक युक्त मानते हैं।[2]

इस प्रश्न पर ग्रीन के दर्शन की सबसे सशक्त आलोचना बेल्फ़ूर द्वारा हुई है। उनके अनुसार ग्रीन के निष्कर्ष एक अवैध अपकर्षण का[3] परिणाम हैं। मानवीय व्यक्तित्व की सम्पूर्णता को दृष्टि में रखते हुए, उसे मात्र एक आकारिक एकता के रूप में प्रस्तुत करना सर्वथा अनुचित है। ऐसी 'एकता' प्रेम, श्रद्धा अथवा उस जैसे किसी अन्य संवेग की पात्र नहीं हो सकती। और यदि हमारे बन्धु हममें उष्णता या बन्धुत्व की भावना का संचार करते हैं, तो स्पष्टतः इसलिए कि वे उस सार्वभौम तर्कबुद्धि[4] से भिन्न हैं, जिस रूप में ग्रीन उन्हें प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त आलोचना से स्पष्ट है कि हाल्दर तथा बेल्फ़ूर[5] दोनों 'मूर्त सामान्य' के मॉडल पर निरपेक्ष सत्ता की कल्पना करना चाहते हैं। उनका

---

1. If Idealism is to be a tenable theory it must make room for movement and change, novelties and fresh developments in the universe as it exists not merely for us but for God. It is not enough to trace the differences of the world upto an ultimate principle of unity. The principle of unity must be seen to be realized in the changes and differences of the world."—*Neo-Hegelianism*, p. 34.
2. Ibid., p. 78.
3. Illegitimate abstraction.
4. Universal Reason.
5. Green's metaphysics is "an illegitimate abstraction." "We are essentially more than mere 'principles of unity.'" "Such

विश्वास है कि परम सत्ता 'वैविध्य' को केवल सूत्रबद्ध ही नहीं करती, वह 'वैविध्य' के माध्यम से व्यंजित भी होती है; उसके माध्यम से मूर्तता प्राप्त करती है। किन्तु, पूर्वपृष्ठों में जिसे सिद्धांत की कमजोरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है, लेखिका की दृष्टि में वस्तुतः वही उसकी शक्ति है। 'एकता के नियम' के रूप में समर्थित निरपेक्ष सत् का स्वरूप ही उसका यथार्थ तत्व-मीमांसीय स्वरूप है। सत् 'विषयी' है वह विषय रूप में प्रस्तुत हो ही नहीं सकता, ऐसा कांट का और ग्रीन का भी, मत है। किन्तु जब हम विश्व के नानात्व में उसकी अभिव्यक्ति की कल्पना करते हैं, तो स्पष्ट है कि हम इंद्रियानुभविक कोटियों के माध्यम से उसे व्यंजित करने की भूल करते हैं। यदि 'कारण', 'द्रव्य' आदि कोटियों की मध्यस्थता से उसे व्यंजित करने में हम उसके स्वरूप के साथ अन्याय करते हैं, तो किसी सम्बन्धात्मक कोटि के माध्यम से उसे व्यंजित करना उतना ही अनुचित होगा। जिस तर्क-दोष से हम यहाँ भ्रमित होते हैं, उसकी चर्चा करते हुए ग्रीन कहते हैं : "वह एक ऐसा तर्कदोष है जिसमें हम चिन्तन करनेवाले अहं को उन प्रत्ययों के अधीन प्रस्तुत करते हैं, जिनका वह स्वयं उस समय निर्माण करता है, जब काल के माध्यम से प्रस्तुत घटनाएँ उसके समक्ष आती हैं।"[1]

एकता का नियम निरपेक्ष है और उसके निःसम्बन्ध स्वरूप की उपेक्षा उचित नहीं है। वर्तमान प्रश्न पर ग्रीन के निष्कर्ष अद्वैत वेदान्त में समर्थित

---

a 'principle of unity' can never be a fitting object of love, reverence, or indeed of any emotion whatsoever but philosophical curiosity, and if our fellow men excite in us any warmer feeling than this, it must be because they differ from, not because they resemble, that universal reason of which according to Green, they are, though partially and inadequately, the manifestation "—A. J. Balfour, 'Green's Metaphysics of Knowledge', Mind (old series), Vol. 9, 1884, pp. 89-90.

1. It is the fallacy of the "application to the thinking ego itself of conceptions, which it does indeed constitute in virtue of its pres nce to phenomena given under conditions of time but under which for that very reason it cannot itself be known."—Works, Vol. 1, p. 112.

सत्ता के 'विषयी' रूप का स्मरण कराते हैं। अतः, स्पष्ट है कि रुजिरो, बेल्फ्यूर आदि द्वारा लायी हुई आपत्तियाँ सर्वथा निराधार हैं। 'निःसम्बन्ध' शब्द उस सत्ता के स्थैतिक स्वरूप का समर्थन नहीं करता। 'गति' एवं 'स्थायित्व' दोनों ही इंद्रियानुभविक जगत् की कोटियाँ हैं, अतः दोनों ही सापेक्ष हैं। यही कारण है कि सामान्य अर्थ एवं सन्दर्भ में एक की स्वीकृति और दूसरे का निषेध किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, यानी सत्ता को निःसम्बन्ध कहने में दोनों का ही समान रूप से निषेध किया जाता है।

अस्तु, ग्रीन के विरुद्ध बेल्फ्यूर एवं हाल्दर द्वारा लायी गयी आपत्ति की सीमाएँ स्वतः स्पष्ट हैं। किन्तु, ग्रीन के प्रमुख निष्कर्षों की पुष्टि का यह अभिप्राय नहीं कि उन्होंने असंदिग्ध रूप से अननुबन्धित[1] के दर्शन का समर्थन किया है। अनेक स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'परमसत्ता' के रूप में हेगल के 'मूर्त सामान्य' का तथा विषयी-विषय-सापेक्षता का समर्थन करते हैं। पर, उनके विचार का विशेष संकेत 'निःसम्बन्ध'[2] की दिशा में ही है और वही भावी दर्शन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

(ख) एफ० एच० ब्रैडले

परिकल्पनात्मक दर्शन की विधि का परित्याग : नवीन तर्कशास्त्र का सूत्रपात

नव्य आंग्ल निरपेक्षवाद के सबसे महत्वपूर्ण समर्थकों में ग्रीन के पश्चात् ब्रैडले आते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में, जिस उत्साह के साथ इनके हाथों निरपेक्षवाद का समर्थन हुआ, वह सम्भवतः आंग्ल देश के दर्शन के इतिहास में अपूर्व है। किन्तु, ब्रैडले के पश्चात् आंग्ल दर्शन पुनः नितान्त सहजता के साथ यथार्थवादी परम्परा की ओर प्रत्यावर्तन करता हुआ दिखायी देता है। यह आश्चर्य की बात है, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है। स्पष्ट है कि 'निरपेक्षवाद' यहाँ की दार्शनिक परम्परा के अनुकूल न था, इसलिए उसका स्थायी प्रभाव यहाँ की विचारधारा पर न पड़ सका। किन्तु, आंग्ल देश के लिए विदेशीय होने के बावजूद समकालीन दर्शन के अध्ययन के लिए, उसकी विविध दिशाओं में सक्रिय आंतरिक प्रेरणाओं को समझने के लिए, ब्रैडले के दर्शन का महत्व स्थायी ही रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। निरपेक्ष का

---

1. Unconditioned. निरुपाधिक शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
2. Cookwilson, "Statement and Inference", p. 39.

समर्थन और उसका विघटन[1], इन दोनों का ही समान रूप से श्रेय ब्रैडले को है।

ब्रैडले के विचारों के साथ न्याय करने के लिए यथार्थवाद तथा निरपेक्षवाद के दृष्टिकोण सम्बन्धी अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है। सामान्यतः, यह सोच लिया जाता है कि ये दोनों दृष्टिकोण एकान्तिक तथा परस्पर विरोधी हैं। कभी-कभी यह सोच लिया जाता है कि यथार्थवाद सही दृष्टि प्रदान करनेवाला और निरपेक्षवाद उन सभी का निषेध करनेवाला है, जिनका यथार्थवाद समर्थन करता है। यानी अपने समस्त वैविध्य एवं वैभव से पूर्ण इस विश्व को उसकी सम्पूर्णता में यथार्थवाद स्वीकार करता है, किन्तु निरपेक्षवाद इस विश्व की सत्ता का निषेध करता है और इसके स्थान पर एक काल्पनिक अतीन्द्रिय सत्ता का समर्थन करता है।

अतएव, यदि निरपेक्षवादी दृष्टि के साथ न्याय करना है, तो हमें इन भ्रांतियों से ऊपर उठना होगा। यह सही है कि विश्व के वैविध्य का जिस रूप में यथार्थवाद समर्थन करता है, उस रूप में निरपेक्षवादी उसे 'अंतिमता' नहीं प्रदान करता। विश्व की विविध इकाइयां अपने मूल रूप में परस्पर असंबद्ध हैं, उनका सम्बन्धित होना आकस्मिक है और इस सम्बन्धित होने से उनकी मूल प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं आता—यह यथार्थवाद की महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है, जिसे निरपेक्षवाद ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर पाता। वैविध्य की प्रतीति की यथार्थता के बावजूद इस 'वैविध्य' की स्वपर्याप्तता सम्बन्धी भ्रामकता को अनावृत करना निरपेक्षवाद का उद्देश्य है। जो विविध एवं पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है; वह वस्तुतः आंतरिक रूप से संयुक्त है और समवेत रूप से एक 'सम्पूर्णता' का निर्माण करता है—यह निरपेक्षवाद की प्रमुख स्वीकृति है। पुनः, वैविध्य का समर्थन एवं उसकी प्रतीति 'प्रज्ञा' की विशेषता है; प्रज्ञा के स्तर पर ही यह प्रतीति यथार्थ है और व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी भी है, किन्तु इस दृष्टि को और उससे सम्बद्ध सत्य को 'अंतिमता' देना उचित नहीं, क्योंकि प्रज्ञा की

---

1. "Even for understanding such anti-Hegelian contemporary movements as realism and pragmatism one has to understand the problems raised by Bradley and the solutions he offers."

—Datta, D. M., *Chief Currents of Contemporary Philosophy*, Second Edition, p. 44.

अपनी सीमाएँ हैं और उस सीमा के बोध के साथ यथार्थवादी दृष्टि की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। साथ ही; हमें एक ऐसे बोध की सम्भावना उभरती दिखलायी देती है, जो मानवीय दृष्टि को सम्पूर्णता प्रदान करती है। अन्य शब्दों में, चेतना के अति-प्राज्ञ रूप का समर्थन और प्रज्ञात्मक चेतना की सीमाओं का अनावरण, दोनों ही निरपेक्षवाद के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

अतएव, निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यथार्थवाद एक संकुचित दृष्टि का परिणाम है। अन्य शब्दों में, सम्पूर्ण सत् को उसकी सम्पूर्णता में आत्मसात् न कर सकने के कारण ही समय-समय पर उसका समर्थन किया गया है। अतएव, इस दृष्टि की सीमाओं का स्पष्टीकरण तथा उसके परित्याग की बात निरपेक्षवाद करता है। ब्रैडले की 'ऍपियरेन्स ऐण्ड रिऐलिटी' के प्रथम खण्ड में, 'सम्बन्धात्मक चेतना' द्वारा प्रस्तुत विश्व की अन्तिमता सम्बन्धी भ्रामकता को स्थापित करने का प्रयास किया गया है, तत्पश्चात् द्वितीय खण्ड में 'सत्ता' का तात्त्विक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। प्रथम दृष्टि में तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों खण्ड परस्पर असम्बद्ध हैं। 'प्रज्ञा' तथा उसके विश्व के निषेध के पश्चात् कोई भी ऐसा भावात्मक धरातल नजर नहीं आता जिसके आधार पर सत् के स्वरूप का प्रकाशन हो सकें। किन्तु, बड़ी सहजता के साथ 'विध्वंस' के बीच ही ब्रैडले सत्ता सम्बन्धी एक भावात्मक निष्कर्ष स्थापित कर लेते हैं, जिसे वे भावात्मक दर्शन की प्रारम्भिक कड़ी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह प्रारम्भिक कड़ी सत्ता का न्यूनतम बोध हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है, किन्तु न्यूनतम होते हुए भी वह स्वतः सिद्ध सत्यों की श्रेणी में आती है। और उसी आधार पर नितान्त सहजता के साथ वे आगामी कड़ियों को जोड़ते चले जाते हैं।

इससे पूर्व कि ब्रैडले के दर्शन की प्रमुख युक्तियों को प्रस्तुत किया जाय, एक और बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। ब्रैडले के दर्शन के प्रमुख निष्कर्षों का स्रोत जीवन स्वयं है। उन्होंने अपने दर्शन में परिकल्पनात्मक विधि का सर्वथा परित्याग किया है और दर्शन को जीवन की ठोस अनुभूतियों के धरातल पर खड़ा करने की कोशिश की है। उनका विश्वास है कि जिस 'सत्' का समर्थन दर्शन करता है, वह जीवन का ही सत् है और जीवन से ही एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्राप्त होता है। जिस नवीन तर्कशास्त्र के अधीन ब्रैडले अपने चिन्तन को समर्पित करते हैं उसकी चर्चा करते हुए, वे उसे एक 'अपरोक्ष आदर्श प्रयोग'[1] के रूप में प्रस्तुत करते हैं। जीवन की विभिन्न

---

1. "Direct ideal experiment made on reality." "It is not a lesser or a weaker logic, it is fuller and a better logic. It

छोटी-बड़ी अनुभूतियों के स्वरूप का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि वे सभी अपने प्रत्यक्ष रूप से भिन्न एक नवीन दिशा की ओर इंगित करती हैं। वे सभी स्वातिक्रमणीय इकाइयाँ हैं और उनकी इस प्रकृति की ओर ध्यान देने से उनके स्वरूप के बारे में जो कुछ भी पता चलता है, वही ब्रैडले के निष्कर्षों का आधार है। इन सभी अनुभूतियों की मध्यस्थता से परम सत् के जिस क्रमशः स्पष्ट होते हुए चित्र को वे प्राप्त करते हैं, और अपनी सशक्त भाषा में अंकित करते हैं, वह अपूर्व है। इस सत् को ही उन्होंने 'परम अनुभूति'[2] की संज्ञा दी है।

तत्वमीमांसीय दृष्टि से 'विचार' की श्रेष्ठता का समर्थन

यद्यपि, जैसा अभी कहा गया है, जीवन की सभी अनुभूतियाँ, बड़ी तथा छोटी, अपनी विशिष्ट शैली में उस परम अनुभूति को व्यंजित करती हैं। उच्चतम यथा, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक तथा धार्मिक अनुभूतियों में वे अपने स्पष्टतम रूप में व्यंजित होती हैं। अतएव, उच्चतम अनुभूतियों का अध्ययन उस 'परम' को अनावृत करने के लिए नितान्त आवश्यक है। कोई भी चित्र, जिसमें किसी एक की भी उपेक्षा हो, अपने में सम्पूर्ण नहीं हो सकता। परन्तु, ब्रैडले कहते हैं कि तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से 'सम्बन्धात्मक चेतना' का अध्ययन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।[3]

अतः 'सम्बन्धात्मक चेतना' की मध्यस्थता से ब्रैडले 'परम अनुभूति' के स्वरूप को, यानी सत् को, प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। उनकी दृष्टि

---

is examining on all sides the unities and discrepancies of man's concrete experience, and discerning the conclusions towards which these index-characters inevitably point."
—Bosanquet, Preface to "*The Meeting of Extremes in Contemporary Philosophy*."

2. Absolute experience.
3. "It is only that which for thought is compulsory and irresistible—only that which thought must assert in attempting to deny it—which is a valid foundation for metaphysical truth."
—*Appearance and Reality*, p. 133.

में चेतना के अन्य प्ररूपों को उसके निर्णयों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है।[1]

किन्तु, सम्बन्धात्मक चेतना के आधार पर जिस 'परम अनुभूति' का वे समर्थन करते हैं, वह अन्ततः चेतना के सभी प्ररूपों से सम्बन्धित हैं और सभी को सन्तोष एवं परिपूर्णता प्रदान करनेवाली है, इसे ब्रैडले स्वीकार करते हैं।

'विचार' की 'सहज विस्तारिता' के माध्यम से सत् का प्रकाशन

उस 'परम अनुभूति' का स्वरूप क्या है? प्रत्युत्तर में ब्रैडले, सम्बन्धात्मक चेतना, यानी विचार की प्रकृति, का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि देखने में वह 'विशिष्ट' ही है। उसकी अपनी प्रकृतिगत विशेषता है और इस दृष्टि से वह चेतना के अन्य प्ररूपों, यथा—संकल्प एवं भावना, से भिन्न है। किन्तु, अन्तस् में व्याप्त 'प्रेरणा' की दृष्टि से यदि उसे देखें तो स्पष्ट है कि अपने को निरन्तर विस्तारित करनेवाली एक स्वातिक्रमणीय इकाई के रूप में ही हमें उसका बोध होता है। ब्लांशर्ड 'विचार' की इस प्रवृत्ति को 'अन्तर्वर्ती विस्तारिता'[2] शब्द से व्यक्त करते हैं। 'विचार' की इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए, वे कहते हैं कि एक उद्देश्य-परिपूरित प्रक्रिया के रूप में ही उसे प्रस्तुत करना उचित है। उसे उद्देश्य-शून्य, मात्र वृत्तियों के क्रम के रूप में और केवल क्रम सम्बन्धी कतिपय यांत्रिक नियमों से ही नियंत्रित मान लेना सर्वथा अनुचित है।[3]

बोसांक्वे भी 'विचार' की इस प्रकृति का समर्थन करते हैं। निरन्तर विस्तारित होने की एक आन्तरिक प्रेरणा से 'विचार' नियन्त्रित है। यह

---

1. "The intellect is not to be dictated to; that conclusion is irrefragable."—Ibid., p. 137.
2. Inherent expansiveness.
3. It is a teleological process in which the chief determining factor is, not a step in the series at all, but an end or value........a self development of ideal content under the control of an immanent and a restless seeking for a satisfaction of its own, and it is only when we stand inside it and see things through its own eyes that we begin to understand what business it is about."—B. Blanshard *The Nature of Thought*, Vol. I, pp. 458-59.

आन्तरिक प्रेरणा अन्ततः विरोधों एवं विसंगतियों से मुक्त होने की प्रेरणा है। इस 'प्रेरणा' को यदि भिन्न रूप में प्रस्तुत करें, तो यह कहा जा सकता है कि यह 'परिपूर्णता' प्राप्त करने की प्रेरणा है। विरोधों से मुक्ति की यह स्थिति कैसी होगी ? इसकी भावात्मक कल्पना सम्भव नहीं; किन्तु इतना तो उसके विषय में निषेधात्मक रूप से कहा ही जा सकता है कि उसमें विसंगतियों का सर्वथा अभाव होगा। बोसांक्वे ने उक्त 'प्रेरणा' को 'सम्पूर्ण की ओर प्रवृत्ति'[1] पद-समूह से व्यक्त किया है। यह 'प्रेरणा' आन्तरिक है और विचार के अन्तर्वर्ती आदर्श को व्यंजित करनेवाली है। इस प्रेरणा के परम निरपेक्ष स्वतःसिद्ध स्वरूप को व्यंजित करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि स्वतःसिद्धता केवल इस बात में सिद्ध हो जाती है कि इसके प्रति सन्देह व्यक्त करने में, अथवा इसका निषेध करने में, हम इसे पुनः स्वीकार कर लेते हैं। कारण स्पष्ट करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि 'संदेह' तथा 'निषेध' दोनों विचार की ही प्रक्रियाएँ हैं और 'संगति' के प्रतिमान से नियन्त्रित हैं। अतः, जिस प्रतिमान को ये प्रक्रियाएँ स्वयं स्वीकार करती हैं, जिससे नियन्त्रित होकर ये कार्य करती हैं, उसे ही किस प्रकार ये अस्वीकार कर सकती हैं ?[2] स्पष्ट है कि जब तक हम विचार का सम्पूर्ण रूप से परित्याग नहीं कर देते, इस 'प्रतिमान' को अस्वीकार करना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

अन्तर्वर्ती प्रतिमान के विरुद्ध सम्भव आपत्तियाँ एवं निराकरण

'प्रतिमान' की निरपेक्षता के विरुद्ध सम्भव आपत्तियों की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि यह अनुभव-सापेक्ष तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिस भी ज्ञान से इसे निष्कर्षित किया जायगा, वह स्वयं 'ज्ञान' होने के नाते इसकी अपेक्षा करेगा। ज्ञान की सम्भावना में ही स्वीकृत 'नियम' ज्ञानाश्रित कैसे हो सकता है ?

पुनः, एक से अधिक प्रतिमानों की संभावना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि विचार जिस 'प्रतिमान' से नियन्त्रित होता है, वह एक नहीं

---

1. Nisus for whole.
2. "What can be more irrational, than to try to prove that a principle is doubtful, when the proof through every step rests on its unconditional truth."—*Appearance and Reality*, p. 120.

हैं, तो भी, ऐसी स्थिति में, यह स्वाभाविक है कि हम प्रश्न करें कि यदि वे एक से अधिक हैं तो फिर वे परस्पर सम्बद्ध हैं अथवा असम्बद्ध ? प्रत्युत्तर में यदि हम स्वीकार करते हैं कि वे सम्बद्ध हैं, तो हम परोक्ष रूप में पुनः 'संगति' के मानदण्ड को ही 'अन्तिमता' मान लेते हैं। ऐसी स्थिति में अनेक प्रतिमानों की कल्पना निरर्थक है, क्योंकि वे सभी पुनः 'संगति' के व्यापक मानदण्ड के अन्तर्गत सम्मिलित हो जायेंगे, अन्यथा उन्हें सम्मिलित करने की हमारी चेष्टा उस समय तक कायम रहेगी, जब तक हमें अपने प्रयास में सफलता नहीं मिलती और हमारा यह प्रयास स्वतः इस बात का प्रमाण है कि विचार के स्तर पर 'संगति' ही मानदण्ड के रूप में अन्तिमता रखती है।[1]

'प्रतिमान' को निरपेक्षता तथा उसकी अन्तिमता स्थापित करने के उपरान्त, ब्रैडले कुछ सम्बद्ध भ्रांतियों का भी निराकरण करते हैं। निरपेक्ष एवं अन्तिम होते हुए भी इस प्रतिमान के विषय में हमारा बोध न्यूनतम और निषेधात्मक ही है। उसकी निषेधात्मकता की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि निषेधात्मक बोध, अथवा कथन, सदैव एक भावात्मक बोध की अपेक्षा करते हैं, चाहे उक्त भावात्मक बोध न्यूनतम ही क्यों न हो और अनभिव्यक्त ही क्यों न रहे। इस कारण जब 'प्रतिमान' को हम निषेधात्मक कथनों से व्यंजित करते हैं—यथा 'वह जो विसंगतियों का निषेध है', तो उसका एक भावात्मक बोध भी पृष्ठभूमि में विद्यमान रहता है।- जिसमें विसंगतियों का निषेध हो वह किसी प्रकार की 'संगति' अथवा 'सम्बद्धता' की ही स्थिति होगी। ब्रैडले प्रतिमान को इस प्रकार के भावात्मक शब्दों द्वारा व्यंजित भी करते हैं, पर वे इन भावात्मक शब्दों की अपेक्षा निषेधात्मक कथनों को अधिक सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे इस सम्बन्ध में 'निर्व्याघात'[2] शब्द का प्रयोग अधिक उचित मानते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त बोध निषेधात्मक है, न्यूनतम है, पर वह भावात्मक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यही नहीं, वे कहते हैं कि वह 'प्रतिमान' हममें सक्रिय है—हमारे समस्त चिन्तन को, एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में, नियन्त्रित करता है और इसके बाद भी यदि हम यह कहें कि

---

1. 'Coherence is an overruling test of truth, and the various standards (if they exist) are certainly subordinate.—Ibid., p. 121.
2. Non-contradiction. 'निर्विरोध' शब्द भी प्रयुक्त हो सकता है।

हमें उसका कोई भी अहसास नहीं है तो ऐसा कहना अनुचित ही होगा।[1] क्योंकि किसी भी सक्रिय वस्तु की कार्य-विधि को देखते हुए भी उसके विषय में अपनी पूर्ण अज्ञानता व्यक्त करना मैं नहीं समझता किस प्रकार रक्षणीय है ?

अतः, अनेक स्थलों पर उनके भावात्मक स्वरूप को व्यंजित करते हुए वे कहते हैं कि वह निश्चित रूप से 'संगति' है। इसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह सम्भव ही नहीं है और न्यूनतम बोध होते हुए भी उसका निराकरण सम्भव नहीं है।

सत् का सामान्य स्वरूप : सत् संगति है—मूर्त सामान्य है

इसके पश्चात् ब्रैडले विचार के 'प्रतिमान' के माध्यम से सत् के स्वरूप को व्यंजित करते हैं, क्योंकि विचार अपने माध्यम से सत् को व्यंजित करना चाहता है। यह सत् अन्तर्वर्ती होने के कारण विश्व की सभी सत्ताओं में तथा सभी अनुभूतियों में व्याप्त है; यही नहीं, प्रेरणा रूप में उन सभी में सक्रिय है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इसी मूल स्वीकृति के आधार पर ब्रैडले विचार के माध्यम से सत् के निरपेक्ष स्वरूप को व्यंजित करते हैं। इस दृष्टि से सत् वह है जिसमें विसंगतियों का अभाव है और भावात्मक रूप से उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह 'संगति' है।

पुनः, 'संगति' के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए ब्रैडले उसे 'आकारिक संगति' से भिन्न मानते हैं। 'संगति' विस्तारित होते हुए अनुभव की विशेषता है। यहो नहीं, जब तक वह सभी कुछ को अपने अन्दर आत्मसात् नहीं कर लेता तब तक उसके लिए स्थायो संगति सम्भव नहीं।[2] निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि 'संगति और व्यापकता' पर्यायवाचो हैं। जो संगति-पूर्ण है वह सभो को अपने परिवेश में सम्मिलित करनेवाली भी है। सत् के इन दोनों पक्षों को समन्वित रूप से प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले 'सर्वान्तिर्भूतकारी

---

1. "For I cannot see how when I observe a thing at work, I am to stand there and to insist that I know nothing of its nature. I fail to perceive how a function is nothing at all, or how it does not positively qualify that to which I attr bute it"—Ibid., pp. 122-23.
2. 'Any limitation from the outside would infect the inner content with dependence on what is alien."—Ibid., pp. 332-333.

सम्पूर्णता'[1] शब्द का प्रयोग करते हैं। इसे ही 'मूर्तसामान्य' की भी संज्ञा दी गयी है और बोसांक्वे ने अपने गिफ़र्ड लेक्चर्स में इसे ही व्यष्टित्व[2] शब्द से व्यंजित किया है।

अतः, 'व्यापकता' शब्द वर्तमान सन्दर्भ में विशेष अर्थ रखता है। परम निरपेक्ष सत् मात्र अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम नहीं है। अन्य शब्दों में, वह एक अमूर्त सामान्य नहीं है, जिसमें यथार्थ जगत् के सभी वैविध्यों का एक-बारगी निषेध हो जाता है। उस 'सत्' के समर्थन का आधार अपनी समस्त यथार्थता के साथ तथ्यात्मक जगत् स्वयं है। अतएव, निरपेक्षवाद इस जगत् की तथ्यता को स्वीकार करते हुए, इसमें ही विद्यमान एवं सक्रिय, आदर्श-विषयक प्रेरणा के आधार पर विश्व के तात्विक स्वरूप को प्रस्तुत करता है, वही उसके लिए परम सत् है।

अतः, जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है, परम सत् में विश्व के वैविध्यों का निषेध नहीं है, वह इन सभी को अपने में समाविष्ट करता है,[3] किन्तु उसे उसकी विसंगतियों एवं अपूर्णताओं से पूरित वर्तमान रूप से भिन्न रूप में, अन्य शब्दों में, उसमें ये सभी अवस्थित हैं; किन्तु अपने विरोध एवं विसंगतियों के समर्पण के उपरान्त ही। किस प्रकार इसकी विसंगतियों का समर्पण हो जाता है ? और विसंगतियों के समर्पण के उपरान्त किस प्रकार ये परस्पर सम्बद्ध होकर संगति का नितांत सहजता के साथ निर्माण कर लेते हैं ? इसके विषय में विस्तार के साथ बोध के वर्तमान स्तर पर कुछ कह सकना असम्भव हैं। प्रज्ञा के स्तर पर तो इसे केवल एक सम्भावना के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, इससे अधिक नहीं।[4]

---

1. "All-inclusive whole."
2. "Individuality." "By coherence or consistency we mean the consistency, so far as attainable of the whole body of experience with itself. Nothing less would satisfy the law of individuality or the necessity of non-contradiction." —B. Bosanquet *Logic*, Book II, p. 267.
3. The character of the Real is to possess everything phenomenal in a harmonious form."—*Appearance and Reality*, p 123.
4. "Fully to realize the existence of the Absolute is for finite beings impossible. In order thus to know we should have to be, and then we should not exist."—Ibid., p. 140.

सत् सचेतनता है[1]

परम सत् के स्वरूप को पुनः प्रस्तुत करते हुए, ब्रैडले कहते हैं कि वह 'सचेतनता' है। 'सचेतनता' शब्द के साथ जो सामान्य स्वीकृतियाँ सम्बद्ध हैं, उनका निराकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि सचेतनता के साथ 'पदार्थ' की जो कल्पना जुड़ी रहती है, वह भ्रामक है। सामान्यतः, हम विश्वास करते हैं और दर्शन के इतिहास में भी हम देखते हैं कि सचेतनता सचेतन विषयी की विशेषता है। हम विश्व को चेतन तथा अचेतन दो भागों में विभाजित कर देते हैं। चेतन इकाइयाँ अनुभूति की यानो सचेतनता का सामर्थ्य रखती हैं और अचेतन इकाइयाँ इस सम्भावना से शून्य होती हैं। इस प्रकार विश्व को दो असम्बद्ध, परस्पर विरोधी गुणों से युक्त, सत्ताओं में विभाजित कर देना और पुनः उनमें से एक को, उदाहरणार्थ विषयी को, सत् रूप में स्वीकार करना और दूसरे को नगण्यप्राय मान लेना अथवा उसकी अनुभूति के रूप में स्वीकार कर लेना अनुचित है।[2] सम्भवतः बर्कले के 'सत्ता दृशता है'[3] जैसे सिद्धान्त की ओर ब्रैडले का यहाँ पर स्पष्ट संकेत है।

किन्तु, यदि हम 'अनुभव' के स्वरूप का अध्ययन करें तो वह एक अविभाज्य एकता तथा एक परिपूर्णता के रूप में ही दिखायी देता है। उसमें विषयी तथा 'विषय' जैसी स्पष्ट, पृथक्-पृथक् व्यष्टित्व-सम्पन्न इकाइयों का हमें बोध नहीं होता। उस परिपूर्णता में भेद किये जा सकते हैं, किन्तु विभाजन सम्भव नहीं और अपने समस्त भेदों के बावजूद वह एक अविभाज्य एकता ही बनी रहती है।[4]

---

1. Sentience.
2. "To set up the subject or real independent of the whole and to make the whole into experience in the sense of an adjective of that subject seems to be indefensible appearance.—p. 128.
3. "Esse est percipii."
4. "For if we go to experience what we certainly do not find is a 'subjeet' or an 'object' or indeed anything whatever standing separate and on its bottom. What we discover rather is a whole in which distinctions can be made but in which divisions do not exist."—Ibid., p. 128.

प्रश्न यह है कि तब 'सत्ता सचेतनता' है, किस अर्थ में सार्थक है ? ब्रैडले कहते हैं कि किसी भी अस्तित्ववान् वस्तु में से अपकर्षण की प्रक्रिया द्वारा यदि हम वह सभी कुछ निकाल लें जो हमारे लिए सार्थकता रखता है, यानी उसे रूप-रस-स्वाद-विहीन कर दें तो हम देखेंगे कि वह अस्तित्ववान् वस्तु नगण्य प्राय हो जायगी। यही नहीं, वस्तु के मात्र अस्तित्व का समर्थन भी चेतनता के अभाव में सम्भव नहीं है। विपरीततः, किसी ऐसी वस्तु का समर्थन जो किसी भी अर्थ में अनुभूत नहीं है, असम्भव है। निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि सत्ता सचेतनता है। अन्य शब्दों में, 'सचेतनता' सत्ता के लिए—उसकी सार्थकता के लिए—विशेष अर्थ में केन्द्रीय है। वह एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में उसका अति-आनुभविक अधिष्ठान है।[1]

पाश्चात्य दर्शन में कांट के दर्शन के उपरान्त इस निष्कर्ष का समर्थन विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न दार्शनिकों द्वारा हुआ है कि चेतना विश्व का अनानुभविक अधिष्ठान है और उसकी परिधि से बाह्य किसी सत् का समर्थन अनुचित है। ग्रीन तथा ब्रैडले दोनों ही चेतना-निरपेक्ष सत् का समर्थन भ्रामक मानते हैं। ऐसे सत् की स्वीकृति तथा उसकी अज्ञेयता की घोषणा स्वतोव्याघाती है। यदि यथार्थ में वह मानवीय बोध की परिधि से बाह्य होता तो उसकी मात्र स्वीकृति भी किस प्रकार सम्भव होती ? हम उसे स्वीकार करते हैं, यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि वह हमारे बोध की परिधि में आनेवाला सत् है, भले ही उस बोध को हम स्पष्टता न प्रदान कर सकें।

---

1. "To be real, or even barely to exist must be to fall within sentience. We may say in other words there in no being or fact outside of that which is commonly called psychical existence"—Ibid., p. 127.

"Find any piece of existence........anything in no sense felt or perceived becomes to me quite unmeaning. And as I cannot try to think of it without realizing either that I am not thinking at all, or that I am thinking of it against my will as beind experienced, I an driven to the conclusion that for me experience is the same as reality." —Ibid., p. 128.

सत् सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सन्तुष्ट करनेवाला है

'सत् सचेतनता है' इस निष्कर्ष को इस प्रकार स्थापित करने के पश्चात् ब्रैडले एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे कहते हैं, सत् 'संगति' है, 'सम्बद्धता' है एवं विसंगतियों का विघटन है—यह तो विचार की माँग है, सत् के सम्बन्ध में, इसे पूरा करके वह सर्वथा सन्तुष्ट हो जायगा। पर, क्या सत् का यह रूप विचार के अतिरिक्त भावनात्मक स्तर पर, अथवा व्यवहार के स्तर पर भी सन्तोष प्रदान करनेवाला होगा? अन्य शब्दों में, क्या वह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सन्तोष प्रदान करनेवाला होगा?

इस प्रश्न का सीधा भावात्मक उत्तर उनके विचार में सम्भव नहीं है। सैद्धांतिक रूप से इस बात की कल्पना की जा सकती है कि जो विचार की दृष्टि से संगतिपूर्ण हो तथा उसे सन्तोष प्रदान करनेवाला हो, वह दुःख के साथ अथवा अपूर्ण सन्तोष के साथ नितान्त सहजता से समन्वित हो जाय। किन्तु, फिर भी यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या यह सम्भव है कि बुद्धि अपने ही स्तर पर प्राप्त सन्तोष से स्थायी रूप से सन्तुष्ट हो सकती है? क्या यह सोचना अपेक्षाकृत अधिक उचित न होगा कि मानव के शेष व्यक्तित्व का असन्तोष मात्र बुद्धि के स्तर पर प्राप्त सन्तोष को निषेधात्मक रूप से प्रभावित करेगा? ब्रैडले कहते हैं, यह सोचना उचित ही है कि यदि 'सत्' संगतिपूर्ण है तो उसमें किसी प्रकार के असन्तोष की कल्पना अनुचित है।[1] उसे, अन्य शब्दों में, हमारे व्यक्तित्व को सभी स्तरों पर सन्तोषप्रद करनेवाला होना चाहिए।

विचार के माध्यम से 'सत्' के सामान्य स्वरूप को प्रस्तुत करने के उपरान्त ब्रैडले विचार तथा 'सत्' के सम्बन्ध की चर्चा करते हैं—यदि वर्तमान प्रसंग में 'सम्बन्ध' शब्द का किसी अर्थ में प्रयोग किया जा सकता है तो।

विचार एवं सत् के सम्बन्ध का स्वरूप

'विचार' तथा 'सत्' के सम्बन्ध की चर्चा करने के पूर्व उसके सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण भ्रांति का निराकरण आवश्यक है। यथार्थवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत 'विचार' तथा 'सत्' के सम्बन्ध की कल्पना बाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त के आधार पर की जाती है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत 'विचार' तथा 'सत्' दो ऐसी इकाइयाँ मान ली जाती हैं, जिनमें 'मूल' तथा 'प्रतिलिपि' का

---

1. Ibid., p. 137. Also, p. 140

सम्बन्ध है। तथ्यात्मक जगत् सत् रूप में अवस्थित है और विचार, प्रत्ययों के माध्यम से, अपने से पृथक् एवं स्वतन्त्र इस जगत् को चित्रित करने का प्रयास करता है। जिस सीमा तक वह अपने इस प्रयास में सफल होता है वह 'सत्य' होता है, विपरीततः यदि उन तथ्यों की अनुकृति विकृत है—यथार्थता से भिन्न है, तो विचार भ्रांतिपूर्ण है, और सत्य होने के लिए मूल के अनुरूप उसे अपने में संशोधन लाना होगा।

निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि विचार अपने से पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता से, एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में, नियंत्रित होता है। उसकी अनुरूपता में ही उसका जीवन है—सार्थकता है। मूल और प्रतिलिपि में स्पष्टतः प्रतिलिपि की अपेक्षा मूल ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। दर्शन के इतिहास में यह सिद्धान्त सत्यता के 'संवादिता-सिद्धान्त'[1] के नाम से प्रस्तुत किया गया है। व्यावहारिक स्तर पर हम सभी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। किन्तु, ब्रैडले 'विचार' तथा 'बाह्य जगत्' को दो मूल रूप से असम्बद्ध सत्ताओं के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। इस प्रकार का द्वैत, जैसा पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट हो चुका है, व्यावहारिक दृष्टि से भले ही सार्थक प्रतीत हो, किन्तु तात्विक दृष्टि से उचित नहीं है। विचार जगत् का समर्थन करता है—उसके स्वरूप को प्रस्तुत करने की अनवरत चेष्टा करता है। यह स्वतः इस बात का प्रमाण है कि दोनों असम्बद्ध सत्ताएँ नहीं, प्रत्युत परस्पर आन्तरिक रूप से सम्बद्ध सत्ताएँ हैं।

उनकी इस 'सम्बद्धता' को स्वीकार करते हुए इनके मूल में जो अनुभवातीत सत् 'प्रेरणा' रूप में विद्यमान है, उसे ही ब्रैडले 'सत्' की संज्ञा देते हैं। अतएव, 'विचार' तथा 'सत्' के सम्बन्ध का प्रश्न इनके दर्शन में एक नये रूप में सामने आता है। 'विचार' तथा 'सत्' के सम्बन्ध का प्रश्न वस्तुतः 'विचार' तथा उसमें सक्रिय 'आदर्श प्रेरणा' के सम्बन्ध का प्रश्न है ? इस दृष्टि से 'विचार' तथा 'सत्' बाह्य एवं असम्बद्ध सत्ताएँ नहीं, प्रत्युत अभिन्न रूप से सम्बद्ध सत्ताएँ हैं। एक ही सत्ता अपने वर्तमान स्वरूप की दृष्टि से 'विशिष्ट' है, 'सांत' है और अन्य सत्ताओं से इसी विशिष्टता के कारण भिन्न है, किंतु अपनी आंतरिक प्रेरणा की दृष्टि से इस विशिष्टता का—अपनी सीमाओं का—निरन्तर अतिक्रमण करके उन्हें विस्तारित करने के लिए सतत् प्रयत्नशील भी दिखाई देती है। विस्तारित होने की यह अदम्य तृष्णा, विसंगतियों से मुक्त होने की भी तृष्णा है। अतः, 'संगति' विचार का आदर्श है और वही 'सत्' का भी स्वरूप है।

---

1. **Correspondence Theory of Truth.**

प्रश्न है कि इस सत् से, अपने ही आदर्श रूप से, विचार का फिर क्या सम्बन्ध है ?

प्रश्न का उत्तर देते हुए इतना तो सरलता से कहा जा सकता है कि विचार अपनी विशिष्ट जीवन-शैली के माध्यम से 'सत्' को व्यंजित करना चाहता है और क्योंकि 'व्यंजित' शब्द दोनों की अभिन्नता को व्यक्त करने की दृष्टि से पर्याप्त प्रतीत नहीं होता, यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि 'विचार' 'सत्' रूप में अवस्थित होना चाहता है। यही उसकी चरम निष्पत्ति है, इसमें ही उसे स्थायी सन्तोष प्राप्त होना है।

इस 'उद्देश्य' की दृष्टि से ब्रैडले 'विचार' की विशिष्ट शैली का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

'विचार' का स्वरूप

'विचार' अपनी विशिष्ट शैली की दृष्टि से 'निर्णयों' में व्यक्त होता है है और 'निर्णय' की प्रकृति का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि उद्देश्य-विधेय रूप ही उसका सर्वव्यापी रूप है। 'निर्णय' के सामान्य स्वरूप की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि उसका 'उद्देश्य' जगत् का अस्तित्ववान् तथ्य-विशेष है, जिसमें 'अस्तित्व' तथा 'अन्तर्विषय'—दोनों ही एक अविभाज्य एकता की स्थिति में अवस्थित हैं। इन दोनों पक्षों को विचार के स्तर पर पृथक् किया जा सकता है, किन्तु जहाँ तक स्वयं तथ्य का सम्बन्ध है, ये उससे अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं और इनकी विभाजन-रेखा को निर्धारित नहीं किया जा सकता। अस्तित्ववान् तथ्य को, यानी निर्णय के उद्देश्य को, प्रतीकात्मक रूप से 'तद्-किम्' प्रतीक से व्यक्त किया जा सकता है। 'तद्' शब्द उसके 'अस्तित्व पक्ष' को तथा 'किम्' उसके 'अन्तर्विषय' को व्यंजित करता है। इन दोनों को संयुक्त रूप से प्रस्तुत करने का आशय है कि ये पक्ष उक्त तथ्य में अपृथक् एकता की स्थिति में अवस्थित हैं।

किन्तु, निर्णय का द्वितीय पद 'विधेय' केवल, अन्तर्विषय की ही प्रस्तुति है। इस प्रश्न पर ब्रैडले अपने विरोधियों से एकमत हैं। उनकी दृष्टि में भी विचार तथ्य के अस्तित्व पक्ष से अपने को सम्पूर्णतः अलग कर लेता है। "विचार के स्तर पर केवल एक ही पक्ष की महत्ता है, क्योंकि इसी के माध्यम से विचार 'उद्देश्य' को, जो तद्-किम का समन्वित रूप है, प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। निर्णय की इस मूल विसंगति को प्रस्तुत करते हुए, ब्रैडले कहते हैं : 'तत्वतः निर्णय किम् एवं तद् दो पक्षों का, जो अस्थायी रूप से वियुक्त हैं, पुनर्मिलन

है। किन्तु इन दो पक्षों के वियोजन में ही वस्तुतः विचार की प्रत्ययात्मकता निहित है।"[1]

निर्णय में विद्यमान इस मूल-विसंगति को ब्रैडले 'प्रत्ययात्मकता' शब्द से व्यंजित करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विचार तथ्य की उसकी सम्पूर्णता में अपने माध्यम से व्यंजित करना चाहता है। किन्तु, उसे ग्रहण करने की प्रक्रिया में वह उसे तद्-किम् दो खण्डों में विभाजित कर देता है। प्रथम उसका अस्तित्व पक्ष है और द्वितीय अन्तर्विषय पक्ष। तत्पश्चात् वह अन्तर्विषय पर ही अपने को केन्द्रित करता है और उसे 'विधेय' में सतत विस्तारित करता रहता है। इस अन्तर्विषय को भी वह अनगिनत खण्डों में वितरित कर, उन्हें पृथक्-पृथक् गुणों के रूप में प्रस्तुत करता है। इनमें से प्रत्येक गुण एक विशिष्ट इकाई का रूप ग्रहण कर लेता है और ये इकाइयाँ एक जैसे न जाने कितने अन्तर्विषयों का समान रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं। परिणामस्वरूप 'अन्त-र्विषय' अपनी विशिष्ट एकता समर्पित कर जब इन आणविक गुणों में प्रस्तुत होता है, तो उसका स्वरूप निश्चित ही विकृत हो जाता है। जो विशिष्ट है वह गुणों के माध्यम से किस प्रकार व्यंजित हो सकता है ? अन्य शब्दों में, जो विशिष्ट है, वह अपनी विशिष्टता को समर्पित किये बिना किस प्रकार एक साथ ही अविशिष्ट भी हो सकता है ? 'गुण' तो अपकर्षण की प्रक्रिया का परिणाम है। वे सामान्य हैं। उन्हें 'अन्तर्विषय' की विशिष्टता को व्यंजित करने का उपयुक्त माध्यम कैसे माना जा सकता है ? किन्तु, विचार इन 'गुणों' के माध्यम से और इनके बीच निर्मित कृत्रिम 'सम्बन्धों' के माध्यम से ही तथ्यों की तथ्यता—उनकी अविभाज्य एकता को पुनः प्रस्तुत करना चाहता है। स्पष्ट है कि उसका यह प्रयास अनुचित है और अपने इस उद्देश्य में वह किसी प्रकार से सफल नहीं हो सकता।

'सत्य' का स्वरूप : क्या विचार के स्तर पर उसकी उपलब्धि सम्भव है?

'सत्य' के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए, ब्रेडले कहते हैं कि अपने आदर्श स्वरूप की दृष्टि से 'सत्य' विचार द्वारा प्रदत्त सत् का वह

---

1. "Judgment is essentially the reunion of two sides, 'what' and 'that' provisionally estranged. But it is the alienation of these aspects in which thought's ideality consists.".... "There is an aspect of existence, absent from the predicate but present in the subject."—Ibid., p. 145.

रूप है, जिससे वह पूर्णतया संतुष्ट हो सके।[1] किन्तु, जैसा उपयुंक्त प्रस्तुति से स्पष्ट हो गया होगा, विचार के स्तर पर सत् की उपलब्धि सम्भव नहीं। अन्य शब्दों में, विचार के स्तर पर 'उद्देश्य' तथा 'विधेय' के बीच पूर्ण तादात्म्य सम्भव ही नहीं, क्योंकि 'विधेय' मात्र अन्तर्विषय की, और वह भी कृत्रिम, प्रस्तुति है और विचार के स्तर पर प्रस्तुत अन्तर्विषय अपने इस रूप में अस्तित्व पक्ष से कभी भी पुनः संयुक्त नहीं हो पाता। किन्तु, उद्देश्य तद्-किम् की अविभाज्य एकता सूचित करता है। इसी को अपनी अपूर्व शैली में प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं : "जब तक विचार में यह वियोजन समाप्त नहीं हो जाता, विचार कभी भी मानसिक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता।"[2]

विचार की इस विशेषता की चर्चा करते हुए, ब्रैडले कहते हैं कि विचार की उक्त विसंगति की पृष्ठभूमि में तथा उसे नियन्त्रित करनेवाली एक और प्रत्यात्मकता है, जिसे उन्होंने अधोसम्बन्धात्मक अव्यवहितत्व[3] को संज्ञा दी है। यह अव्यवहितत्व सम्बन्धात्मक चेतना का प्रारम्भ-बिन्दु प्रदान करनेवाला बोध है और इसमें तथ्यों के दोनों पक्ष 'अस्तित्व' तथा 'अन्तर्विषय' अविभाज्य एकता की स्थिति में रहते हैं, फिर भी यह 'एकता' स्थायी नहीं। इस 'अव्यवहितत्व' में स्वतः अपनी एकता का अतिक्रमण करने की, उसे खण्डित करने की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। इसे भिन्न प्रकार से यदि प्रस्तुत किया जाय तो कहा जा सकता है कि तद् एवं किम् के समन्वित होने के बावजूद 'किम्' को अधिकाधिक स्पष्टता के साथ व्यंजित करने की प्रवृत्ति इस 'अनुभूति' में विद्यमान रहती है। विचार इसी प्रवृत्ति को सुदृढ़ करता है और उसके द्वारा किया हुआ विभाजन उसके अपने प्रयासों द्वारा पुनः मूल एकता को प्राप्त नहीं होता, विपरीततः विभाजन तीव्र से तीव्रतम होता जाता है। पर, विचार की प्रक्रिया के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए, यह कहा जा सकता है कि विभाजन को तीव्र तथा तीव्रतम करने के पीछे विचार मूल उद्देश्य सत् को उसकी अखण्ड एकता में पुनः प्रस्तुत करता है। विचार की इस प्रक्रिया की तुलना 'होमियोपैथिक

---

1. "Giving a character to reality in which it can rest."—Ibid., p. 145.
2. So far as in thought this alienation is not made good, thought can never be more than merely ideal."—Ibid., p. 146.
3. Infra-relational immediacy.

रीति'[1] से किये हुए उपचार से हो सकती है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विचार द्वारा प्रस्तुत सत् का रूप 'अस्तित्व' से विशेष अर्थ में सम्बन्धित है, किन्तु ठीक उसी रूप में वह अस्तित्ववान् नहीं है।[2] अन्य शब्दों में, विचार की 'प्रत्ययात्मकता' उसकी अपनी व्यक्तित्व विषयक विशेषता है और इसका समर्पण वह अपने स्तर पर कर ही नहीं सकता। किन्तु, यदि उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति करनी है तो उसे अपनी इस प्रकृति विषयक विशेषता का समर्पण करना ही होगा—उसे पुनः 'तद्' तथा 'किम्' को उनकी एकता में प्रस्तुत करना होगा।

ऐसे 'सम्पूर्ण' आदर्श विचार की कल्पना ब्रैडले भ्रामक मानते हैं, जो अपने व्यक्तित्व का समर्पण किये बिना सत् के साथ, अपने विषय के साथ, सम्पूर्ण रूप से एकीकृत हो जाय।[3] और यदि वह 'असम्भव' कल्पना किसी प्रकार 'सम्भव' हो जाय, तो ब्रैडले कहते हैं यह उतना ही निश्चित है, कि 'विचार' फिर विचार नहीं रह जायगा वह समग्र अनुभूति में परिवर्तित हो जायगा।[4]

पुनः, ब्रैडले कहते हैं, वैशिष्ट्य के समर्पण की कल्पना असम्भव, निरर्थक एवं अनुचित इसलिए लगती है कि सामान्यतः सान्त इकाइयों के सान्त स्वरूप को ही अन्तिम मान लिया जाता है। सान्त यदि मात्र सान्त होता तो अपने वैशिष्ट्य के पश्चात् उसके पास शून्य के अतिरिक्त कुछ भी शेष न बचता। अन्य शब्दों में, तब उसके अपने 'अस्तित्व' का ही सम्पूर्ण निषेध हो जाता और अपने अस्तित्व के सम्पूर्ण निषेध की आकांक्षा कभी भी सार्थक नहीं हो सकती, न ही कोई इकाई इस निष्पत्ति के लिए सतत प्रयत्नशील हो सकती है।

किन्तु, यदि दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन लाते हुए इस बात का हमें विश्वास हो जाय कि जो 'सांत' है, वह मात्र सान्त ही नहीं है, प्रत्युत् उसकी

---

1. "Homeopathically."
2. "Truth belongs to existence, but it does not as such exist." —Ibid., p. 147.
3. You will find that the object of thought in the end must be ideal and that there is no idea which, as such, contains its own existence.—Ibid., p. 149.
4. "Thought, in a word, must have been absorbed into a fuller experience."—Ibid., p. 151-152.

पृष्ठभूमि में 'अनंतता' स्वतः सक्रिय है और उसका तात्विक स्वरूप है, तो वैशिष्ट्य का समर्पण हमें अनुचित नहीं लगेगा, विपरीततः, अपने सम्पूर्ण स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए वैशिष्ट्य का समर्पण अनिवार्य प्रतीत होगा और प्रत्येक इकाई इसके लिये अपने को सहर्ष प्रस्तुत पायेगी।

'विचार' के वैशिष्ट्य के समर्पण के बारे में भी उपर्युक्त दृष्टिकोण को अपनाने की बात ब्रैडले करते हैं। अतः, विचार द्वारा व्यष्टित्व का समर्पण उसके द्वारा शून्य की उपलब्धि नहीं, विपरीततः उसमें विचार की चरम निष्पत्ति है और अपनी इस 'निष्पत्ति' में अवस्थित होना उसके लिए सब दृष्टियों से कल्याणकारी भी हैं। अपनी 'सम्पूर्णता' की कल्पना तथा उसकी उपलब्धि किस प्रकार किसी भी इकाई के लिए अवांछनीय हो सकती है? यही नहीं, उस 'सम्पूर्णता' का चित्र प्रस्तुत करते हुए, ब्रैडले कहते हैं कि उसमें विचार ही नहीं प्रत्युत सभी सान्त इकाइयाँ अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त करती हैं। इतनी विपुलता तथा वैभव की आकांक्षा क्या किसी भी दृष्टि से अवांछनीय हो सकती है?[1]

---

1. "Thought.... ...must have been absorbed into a fuller experience. Now such an experience may be called thought, if you choose to use that word. But if anyone else prefers another term, such as feeling or will, he would be equally justified. For the result is a whole state which both includes and goes beyond each element, and to speak of it as simply one of them seems playing with phrases. For (I must repeat it) when thought begins to be more than relational, it ceases to be mere thinking. It will be an existence which is not mere truth." Ibid., p. 157.

"It would be experience entire, containing all elements in harmony. Thought would be present as a higher intuition. Will would be there where the ideal had become reality, and beauty and measure and feeling would live on in this total fulfilment. Every flame of passion, chaste or canal, would still burn in the Absolute unquenched and unabridged, a note absorbed in the harmony of its higher bliss."—Ibid., p. 152.

विचार एवं सत् के सम्बन्ध से संबंधित भ्रांतियों का निराकरण

'विचार' तथा 'सत्' के आन्तरिक सम्बन्ध को इस प्रकार प्रस्तुत करते हुए वे उसके सम्बन्ध में कतिपय भ्रांतियों को अनावृत करते हैं।

(क) विचार ही एकमात्र सत् है, यह सोचना भ्रामक है,[1] क्योंकि संबंधात्मक चेतना को किसी भी अर्थ में अंतिमता' नहीं प्रदान की जा सकती। वह एक मध्यस्थ चेतना है। अपनी पूर्ववर्ती चेतना से वह एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में नियंत्रित है और उसके प्रभाव का वह तब तक अतिक्रमण नहीं कर पाती जब तक वह अपने व्यष्टित्व को कायम रखती है। अतः, उसके द्वारा निर्मित जगत् आभास है, सत् नहीं। सत् रूप में अवस्थित होने के लिए उसे अपनी विशिष्टता का समर्पण करना ही होगा।

(ख) 'विचार' से नितान्त बाह्य किसी अस्तित्व की कल्पना उतनी ही भ्रामक है। 'विचार' अस्तित्व से अनिवार्यतः सम्बद्ध है, इसीलिए उसके माध्यम से उसका बोध होता है। 'अस्तित्व' विचार का 'विषय' है, जिसे वह अपनी विशिष्ट शैली के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता है। अतः दोनों सापेक्ष हैं, और उनको सापेक्षता किसी ऐसे सम्पूर्ण की ओर इंगित करती है जिसमें वे दोनों ही, पूरक तत्त्वों के रूप में, समाविष्ट हों।

(ग) पुनः, क्योंकि 'अस्तित्व' विचार से विषय रूप में सम्बद्ध है, इसलिए यह सोचना कि 'अस्तित्व' विचार में पूर्णरूपेण समाविष्ट है, भ्रामक है। ब्रैडले कहते हैं यद्यपि यह सही है कि अस्तित्व विचार का विषय है, फिर भी यह सोचना उतना ही अनुचित है कि वह मात्र वही है।[2]

पूरक तत्त्व के रूप में अव्यवहितत्व की स्वीकृति

'विचार' तथा 'अस्तित्व' से सम्बद्ध कतिपय भ्रांतियों के निराकरण के पश्चात्, ब्रैडले उस अनिवार्य पूरक तत्त्व की चर्चा करते हैं, जिससे संयुक्त

---

1. "To suppose that mere thought without facts could either be real or could reach to truth is evidently absurd."—Ibid., p. 336.
2. "I do not deny that reality is an object of thought; I deny that it is barely and merely so." "You will find that the object of thought in the end must be ideal and that there is no idea which, as such contains its own existence"—Ibid., p. 149.

होकर विचार अपनी 'सम्पूर्णता' को प्राप्त कर लेगा और जिसके पश्चात् निश्चित ही वह अपने पूर्वरूप से भिन्न रूप में अवस्थित हो जायगा।

इस पूरक तत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए, ब्रैडले पुनः विचार की मूल प्रत्ययात्मकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। पूरक तत्व की दृष्टि से यह कहना उचित ही है कि प्रत्येक 'निर्णय' सापेक्ष है, यानी वह जिस सत्य का समर्थन करता है, वह अपनी पूर्णता के लिए अपने से पृथक् किसी अन्य तत्व पर अनिवार्यतः आश्रित है।[1] उस पूरक तत्व का क्या स्वरूप है, इसके विषय में निश्चित कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि जैसे पूर्व ही स्पष्ट किया जा चुका है, प्रस्तुति का माध्यम विचार स्वयं है और वह उस 'तत्त्व' को—'तद्' पक्ष को—प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है और जिस तत्त्व की प्रस्तुति उसके माध्यम से सम्भव नहीं उस तत्त्व को समाविष्ट कर लेने के पश्चात् वह उस प्रभाव से सम्पूर्णतः अप्रभावित रहेगा, यह सम्भव नहीं। किन्तु, किस प्रकार वह विचार को परिवर्तित करेगा, इसके विषय में हम भावात्मक रूप से कुछ भी नहीं कह सकते, पर वह परिवर्तित अवश्य होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः, विचार के परिवर्तित स्वरूप का ब्रैडले कोई भावात्मक चित्र प्रस्तुत नहीं करते।[2] निषेधात्मक रूप में वे केवल इतना ही कहते हैं कि उसमें उसकी प्रत्ययात्मकता का निषेध निश्चित ही होगा। अतः, यह कहा जा सकता है कि निर्णयों के माध्यम से विचार 'सम्पूर्ण सत्य' की प्राप्ति नहीं कर सकता। वर्तमान सन्दर्भ में सम्पूर्ण सत्य और 'सत्' को ब्रैडले एक ही मानते हैं। किन्तु, विचार की मूल प्रत्ययात्मकता को स्वीकार करते हुए यह कहा जा सकता है कि अपने क्षेत्र-विशेष में वह न्यूनाधिक मात्रा में वैधता की प्राप्ति कर सकता है।[3]

---

1. "Judgments are conditional in this sense, that what they affirm is incomplete. It cannot be attributed to reality, as such, and before its necessary complement is added. And in addition, this complement in the end remains unknown."—Ibid., p. 320.
2. "Thus we really always have asserted subject to and at the mercy of the unknown."—Ibid., 320.
3. Our judgments, in a word, can never reach so far as perfect truth, and must be content merely to enjoy more or less of validity."—Ibid., p. 321.

निर्णय की सापेक्षता सम्बन्धी सम्भव भ्रांति का निराकरण

निर्णय की सापेक्षता के समर्थन के साथ ही वे इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सम्भव भ्रान्ति का भी निराकरण करना चाहते हैं। उनके विचार में निर्णय की सापेक्षता का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक निर्णय केवल कामचलाऊ ढङ्ग से ही सत्य है और प्रयोजन के बदलने से, अथवा उसके पूरा हो जाने पर, उस निर्णय का मूल्य भी समय-समय पर बदलता अथवा नष्ट होता जायगा। विपरीततः, वे कहते हैं कि न्यूनाधिक मात्रा में उसके द्वारा जिस सत्य का समर्थन होता हैं, वह अपनी सीमा के अन्दर निरपेक्ष रूप से 'सत्य' है। उसके विषय में सन्देह किया ही नहीं जा सकता। सत्य की व्यावहारिकतावादी परिभाषा के विरोध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं: "मेरा यह अभिप्राय नहीं कि कामचलाऊ तरीके से ही हमारे निर्णय स्वीकार्य हैं और सत्य हैं। मेरा अभिप्राय यह है कि न्यूनाधिक मात्रा में वे सचमुच निरपेक्ष रूप से सत्य एवं सत् हैं।"[1]

अन्य शब्दों में, जहाँ तक निर्णय में सत्य व्यंजित हो रहा है, वह निरपेक्ष रूप से ही सत्य है, किन्तु उसमें 'सम्पूर्ण सत्य' की दृष्टि से न्यूनाधिक मात्रा का भेद हो सकता है। उदाहरणार्थ—जिस निर्णय-विशेष में अन्तर्विषय अधिक स्पष्टता तथा विस्तार के साथ व्यंजित हो रहा है, वह उन निर्णयों की अपेक्षा जिनमें वह कम स्पष्टता तथा विस्तार के साथ व्यंजित हो रहा है, अधिक सत्य है। किन्तु, जिस भी सीमा तक वे 'सत्य' को व्यंजित कर सके हैं, वे निरपेक्ष रूप से सत्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

सम्पूर्ण सत्य एवं सम्पूर्ण असत्य की असार्थकता : सत्य के सम्बन्ध में मात्रा की कल्पना

इसी के साथ, निर्णय की वैधता के विषय में वे एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जिसकी चर्चा अन्य प्रसंगों में भी हो चुकी है। यदि निर्णय मूल रूप से प्रत्ययात्मक है, तो उसके माध्यम से समर्थित सत्य कितना भी व्यापक एवं सम्पूर्ण क्यों न हो, सम्पूर्ण सत् नहीं हो सकता। विपरीततः, क्योंकि विचार सदैव 'अस्तित्व' से सम्बन्धित है, अपने

---

1. "I do not mean that 'for working purposes' our judgments are admissible and will pass. I mean that less or more they actually possess the character and type of absolute truth and reality."—Ibid., p. 321.

माध्यम से उसे ही व्यंजित करना चाहता है, इसलिए वह सत् सर्वदा शून्य भी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण सत्य और सम्पूर्ण त्रुटि, ये दोनों ऐसे शब्द हैं, जिनकी कोई भी सार्थकता नहीं है। क्योंकि ऐसे किसी भी निर्णय की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें 'सत्य' का कोई भी अंश न हो और न किसी ऐसे निर्णय की कल्पना की जा सकती है जो प्रत्ययात्मकता के दोष से सर्वथा मुक्त हो। अपने इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं "कोई भी सत्य ऐसा नहीं, जो सम्पूर्णतः सत्य है; उसी प्रकार कोई भी त्रुटि ऐसी न होगी जो पूर्णतः मिथ्या है। सभी के लिए समान रूप से परिणाम की बात होगी और उसमें न्यूनाधिक मात्रा की बात होगी।"[1]

जिसे सामान्यतः हम सम्पूर्ण त्रुटि की संज्ञा देते हैं वह भी सत्य में रूपांतरित हो सकती है, किन्तु उस स्थिति में वह इस प्रकार परिवर्तित हो जायगी कि उस परिवर्तित स्वरूप में उसके पूर्ण स्वरूप को ढूंढ़ निकालना हमारे लिए असम्भव होगा।[2]

इसी बात को यदि दूसरे प्रकार से व्यक्त किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि जितनी मात्रा में रूपांतरित होने पर कोई निर्णय अपने पूर्व समर्थित सत्य को कायम रख सके वही उसका सत्य अंश और अन्ततः उसके मूल्य का निर्धारक भी है।[3]

ब्रैडले 'सत्य' तथा 'सत्' शब्दों का साथ-साथ प्रयोग करते हैं। निर्णय 'सत्य' को व्यंजित करना चाहता है, यह कहना उतना ही ठीक है जितना यह कहना कि वह 'अस्तित्व' को, यानी 'सत्' को, व्यंजित करना चाहता है। ऐसे विचार की कल्पना उनकी दृष्टि में भ्रामक है जो 'सत्' से, अन्य शब्दों में, 'अस्तित्व' से नितान्त असम्बद्ध हो और जब विचार सम्पूर्ण सत्य की प्राप्ति कर लेगा, तो वह सत् रूप में अवस्थित हो जायगा। विचार और

---

1. "There will be no truth which is entirely true, just as there will be no error which is totally false. With all alike, if taken strictly, it will be a question of amount, and will be a matter of more or less."—Ibid., p. 321.
2. "An error can be total only in this sense that, when it is turned into *truth, its particular* nature will have vanished."—Ibid., p. 232.
3. "The amount of survival in each case........gives the degree of truth and reality."—Ibid., p. 232.

अस्तित्व के वर्तमान द्वैत का वह अतिक्रमण करके 'अनुभूति' रूप में स्थायी रूप से अवस्थित हो जायेगा।

इस सम्पूर्ण 'अनुभूति' को चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि इसमें 'न्यूनाधिक' का प्रश्न ही नहीं उठता। जब विचार सत् से तादात्म्य स्थापित कर 'अनुभूति' रूप में अवस्थित हो जायगा तब उस 'सम्पूर्णता' में, जो स्वयं निर्णयों के सत्य की न्यूनाधिक मात्रा का आधार है, मात्रा का क्या प्रश्न हो सकता है? सत् 'सम्पूर्णता' है और वह किस प्रकार की 'सम्पूर्णता' होगी यदि उससे अधिक व्यापक और संगतिपूर्ण सम्पूर्णता की कल्पना हमारे लिए सम्भव हो?[1]

इस 'सम्पूर्ण अनुभूति' को ब्रैडले अति-बौद्धिक अनुभूति[2] की संज्ञा देते हैं। वह अधोबौद्धिक अनुभूति से इस बात में सदृशता रखती है कि उसमें संबंधात्मक चेतना के स्तर का, तद् और किम् का, विभाजन पुनः लुप्त हो जाता है और सत्ता का अपने अविभाज्य रूप में साक्षात् होता है।

सत् तथा जगत् का सम्बन्ध

विचार के माध्यम से सत् के स्वरूप को प्रकाशित करने के उपरान्त तथा उससे सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के पश्चात्, ब्रैडले सत् तथा तथ्यात्मक जगत् के सम्बन्ध के प्रश्न को लेते हैं। प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और आलोचकों की दृष्टि में एकतत्ववाद समर्थकों के द्वारा इस प्रश्न का उन्हें कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। उनके विचार में एकतत्ववादियों का परम सत् विश्व के वैविध्य का अतिक्रमण करनेवाला सत् है। किन्तु, वह उसे सूत्रबद्ध नहीं कर पाता। दार्शनिक दृष्टि की पर्याप्तता के लिए यह आवश्यक है कि वह एक ऐसे सत् का समर्थन करे जो वैविध्य का अतिक्रमण करते हुए उसे सूत्रबद्ध भी करे। पाश्चात्य दर्शन में स्पिनोजा, हेगल तथा ब्रैडले और भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के दर्शन के विरुद्ध उन्होंने कुछ इसी प्रकार की आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। इन आपत्तियों पर आगामी पृष्ठों में विचार किया जायगा। वर्तमान में तो इस प्रश्न पर ब्रैडले के अपने विचार प्रस्तुत किये जायेंगे जो महत्त्वपूर्ण ही नहीं, प्रत्युत अपने दृष्टिकोण का विशेष अर्थ में प्रतिनिधित्व करनेवाले भी हैं।

---

1. "The Absolute has of course no degrees, for it is perfect, and there can be no more or less in perfection (Ch. XX). Such predicates belong to, and have a meaning only in the world of appearance."—Ibid., p. 318.
2. 'Supra-rational experience' or 'Supra-relational immediacy'.

'आभास' शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि सामान्यतः इसके साथ जो निषेधात्मक ध्वनि जुड़ी हुई है और जिसके कारण उसके विरुद्ध हम एक तीव्र प्रतिक्रिया करते हैं, उससे हमें सतर्क रहना चाहिए। जिसे 'आभास' की संज्ञा दी जाती है, वस्तुतः उसकी 'तथ्यता' असंदिग्ध है; उसके विषय में किसी प्रकार का सन्देह हो ही नहीं सकता। किन्तु, उसकी 'तथ्यता' से इनकार न करते हुए भी उसकी परिवर्तनीयता तथा उसकी सापेक्षता के कारण उसे अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती है। जो 'आभास' है वह स्वातिक्रमणीय है और उसकी स्वातिक्रमणीयता उसे निरन्तर बाधित होने के लिए प्रवृत्त करती है। अन्य शब्दों में, जो स्वातिक्रमणीय है वह तद्-किम् के विरोध से पीड़ित है। साथ ही, उस विरोध से मुक्त होने के लिए सतत प्रयत्नशील भी है, किन्तु यदि वह स्वयं अपने वर्तमान स्वरूप से असन्तुष्ट है और उस स्वरूप के अतिक्रमण में ही उसे सन्तोष की प्राप्ति होनी है, तो उसके इस स्वरूप को, जिसका अन्ततः निषेध होना है, अन्तिमता किस प्रकार प्रदान की जा सकती है? इस प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हुए ब्रैडले कहते हैं: "सभी वस्तुओं में वर्तमान अन्तर्विरोध, उद्विग्नता एवं प्रत्ययात्मकता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यद्यपि इस प्रकार की वस्तुएँ हैं, फिर भी उनका अस्तित्व एक आभास मात्र है।"[1]

विपरीततः, यह कह सकते हैं कि परमसत्ता वह अनुभूति है जो निरपेक्ष है, प्रत्ययात्मकता के दोष से सर्वथा मुक्त है और इसी कारण स्थिर और संगतिपूर्ण है।

पुनः, इस सत्ता में ही सम्पूर्णता की प्राप्ति होती है। अतः, परमसत्ता तथा आभास का एक विशेष अर्थ में भावात्मक सम्बन्ध है, यदि सम्बन्ध शब्द का प्रयोग वर्तमान सन्दर्भ में किया जा सकता है।[2] 'भावात्मक' इसलिए कि

---

1. This contradiction, this unrest and ideality of all things existing is a clear proof that, though such things are, their being is but an appearance."—*Appearance and Reality*, p. 404.
2. 'सम्बन्ध' शब्द का प्रज्ञा के स्तर पर एक विशेष अर्थ होता है। दो सांत इकाइयों में, जो ब्रैडले की भाषा में स्वातिक्रमणीय हैं, भावात्मक अथवा अभावात्मक सम्बन्ध हो सकता है, किंतु परमसत्ता का इन सभी सांत इकाइयों से सम्बन्ध 'भावात्मक' होते हुए भी सामान्य से भिन्न रूप में सार्थक है और इसका हमें सदैव वर्तमान सन्दर्भ में स्मरण रखना चाहिए।

सभी सांत इकाइयाँ पृथक्-पृथक् तथा समवेत रूप से इस परिपूर्णता में अपनी मूल आकांक्षा को यथार्थ देखती हैं। जो हमारा आदर्श है, जिसकी प्रेरणा के अधीन होकर सभी सांत इकाइयाँ निरन्तर विस्तारित होती हैं, जिसमें अवस्थित होकर वे स्थायी सन्तोष की प्राप्ति करती हैं, उससे यदि उनका भावात्मक सम्बन्ध नहीं तो फिर कैसा सम्बन्ध होगा ?

किन्तु, एक भिन्न दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध को यदि हम प्रस्तुत करें, तो सम्बन्ध निषेधात्मक भी कहा जा सकता है। और 'विचार' के सन्दर्भ में इसी पक्ष को ब्रैडले ने प्रस्तुत करने की चेष्टा भी की है। जिस 'आदर्श' तथा 'परिपूर्णता' से प्रेरित होकर सान्त इकाइयाँ सतत विस्तारित होती हैं, उसके कारण पग-पग पर 'वर्तमान' का उनमें अनिवार्यतः, एक महत्वपूर्ण अर्थ में, निषेध भी होता है। किसी प्रकार की परिपूर्णता का अर्थ वर्तमान अपूर्णता का समर्पण है और जब तक इकाई सम्पूर्णता परिपूर्ण को प्राप्त नहीं कर लेती, उसे अपनी समस्त उपलब्धियों का क्रमशः उसी अर्थ में समर्पण करना ही होगा। इनमें से किसी एक के प्रति आसक्ति उसकी परिपूर्णता की प्राप्ति में निश्चित ही बाधक होगी। निष्कर्षतः, यह कहा जा सकता है कि सांत इकाई को स्थायी एवं सम्पूर्ण 'परिपूर्णता' में अवस्थित होने के लिए अपनी सान्तता का, व्यष्टित्व का, समर्पण करना ही होगा। 'विचार' के सन्दर्भ में, इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए, ब्रैडले कहते हैं, 'सम्पूर्णता' के लिए विचार को आत्महत्या करनी ही होगी।[1] जो 'विचार' के लिए सत्य है, वह प्रत्येक सांत इकाई के लिए भी सत्य है।

समर्पण से सम्बन्धित भ्रांति का निराकरण : सम्पूर्ण में सभी समन्वित हैं

उपर्युक्त निष्कर्ष से सम्बन्धित एक भ्रांति का निराकरण करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि सांत इकाइयों का अपने व्यष्टित्व के समर्पण का यह अर्थ नहीं है कि उसके पश्चात् उनके पास कुछ भी शेष नहीं रह जाता, यानी ये अपना सभी कुछ समर्पित कर देती हैं। जो 'व्यष्टित्व' की दृष्टि से सीमा का समर्पण है वह 'तत्वतः' अपने को पाना है। परम अनुभूति की इस परिपूर्णता की चर्चा करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि इनमें वस्तुतः एक भी आभास नष्ट नहीं होता—सभी समवेत रूप से उस पूर्णता में, पूरक पक्षों के रूप में, समाविष्ट हैं।[2] सामान्य अनुभव के आधार पर भी इस बात का समर्थन

---

1. Thought must commit suicide in order to become whole.
2. "...... In the Absolute no appearance can be lost. Each one contributes and is essential to the unity of the whole." —Ibid., p. 404.

किया जा सकता है। भावी प्रगति में वर्तमान की विफलता तथा सफलताओं—का ही योग रहेगा और इस प्रकार अपने प्रभावों के रूप में वे उसमें सुरक्षित रहेंगे। पुनः पुण्य की दृष्टि से उनमें किसी एक के लिए कहना कि वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, उचित नहीं, और न ही यह कहना उचित है कि उनमें से कोई भी नितान्त आकस्मिक है और मूल्य की दृष्टि से शून्यप्राय है। अपनी सीमित दृष्टि से, सीमित प्रयोजन की दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि अमुक वस्तु सर्वाधिक मूल्यवाली है और शेष साधन रूप में महत्त्वपूर्ण या नगण्य मूल्यवाली वस्तुएँ हैं। किन्तु हमारा ऐसा सोचना हमारे दृष्टिकोण की एकान्तिकता का परिणाम है। साधन रूप में महत्त्वपूर्ण दिखनेवाली, यही नहीं, नगण्य मूल्य रखनेवाली वस्तुएँ भी, उस दृष्टिकोण से बाह्य नहीं, प्रत्युत उससे आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हैं। और परम अनुभूति की दृष्टि से तो इनमें से कोई भी नितान्त आकस्मिक नहीं है। इस निष्कर्ष को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं: "परमसत् में तो कोई भी वस्तु मात्र सांयोगिक या मात्र अतिरिक्त नहीं है।"[1]

पुनः वे कहते हैं, सतही तौर से देखने पर कभी-कभी विश्व को हम ऐसे खण्डों में वितरित पाते हैं जिनके मध्य किसी प्रकार की आन्तरिक सम्बद्धता दिखाई नहीं देती। वे स्वतन्त्र, पृथक् तथा असम्बद्ध प्रतीत होती हैं। किन्तु एक व्यापक एवं समन्वित दृष्टिकोण से वे सभी उपादान हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं एवं परिपूर्णता की दृष्टि से इनमें से किसी के भी योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती।[2] और न ही इनमें से किसी एक घटक को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया जा सकता है कि उसे ही 'पदार्थ' की संज्ञा दी जाय और शेष उसके 'विशेषण' के रूप में प्रस्तुत किये जायें।

परम अनुभूति इन सभी में 'प्रेरणा' रूप में विद्यमान है इसलिए इनमें से कोई भी सम्पूर्ण रूप से असत् नहीं है। किन्तु इन सभी में प्रेरणा रूप में

1. "There is nothing in the Absolute which is barely contingent or merely accessory."—Ibid., p. 404.
2. "There are main aspects of the universe of which none can be resolved into the rest. Hence from this ground we cannot say of these main aspects that one is higher in rank or better than another. They are factors not independent, since each of itself implies and calls in something else to complete its defect, and since all are over-ruled in that final whole which perfects them."—Ibid., p. 404.

विद्यमान होने के बावजूद वह सभी में समान रूप से व्यंजित नहीं हो रही है, व्यंजना की दृष्टि से इनमें परिमाण का भेद है। जिस अनुपात में किसी तथ्य ने विसंगति का समर्पण कर दिया है, उसी अनुपात में वह सत् के अधिक निकट है। विपरीततः जितने अनुपात में वह स्वतोव्याघाती है, वह उससे दूर है।

सामान्य अनुभूतियों से परम सत् को एकीकृत करना उचित नहीं

पुनः 'परम अनुभूति' को सामान्य अनुभूतियों से पृथक् करते हुए वे कहते हैं कि इनमें से कोई भी पृथक्-पृथक् या समवेत रूप से उस 'परिपूर्णता' का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती, जिनमें उन्हें अपने व्यक्तित्व का समर्पण कर परि-पूर्णता प्राप्त करनी है।

सर्वप्रथम वे सुख-दुःख को लेते हैं। इनमें से कोई भी सत् नहीं क्योंकि न तो ये इस अर्थ में एकमात्र सत्ताएँ हैं कि इनके अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं और न ही ये परस्पर असम्बद्ध इकाइयाँ हैं।

वस्तुतः ये दोनों सापेक्ष इकाइयाँ हैं और दोनों में विरोध है तथा इनका यह विरोध इस बात का प्रमाण है कि ये किसी बृहत् परिपूर्णता की अपेक्षा करती हैं। प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या इस व्यापक परिपूर्णता को, जिनमें ये घटक रूप में समाविष्ट हैं और जिनमें इनका पूर्व का विरोध संगति में परि-वर्तित हो चुका है, हम सुख अथवा दुःख की संज्ञा दे सकते हैं ? इसमें यदि सुख की बहुलता भी हो तब भी इसे 'सुख' नहीं कहा जा सकता।

पुनः वे कहते हैं सुख तथा दुःख वस्तुतः सुखात्मक तथा दुःखात्मक विषयों में से अपकर्षण की प्रक्रिया के आधार पर अपकर्षित किसी पक्ष-विशेष का समर्थन है। उनकी सापेक्षता और अन्ततः किसी व्यापक परिपूर्णता की अपेक्षा इस बात का प्रमाण है कि वे आभास हैं और उन्हें अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वे निरपेक्ष रूप से सत् नहीं हैं।

सुख तथा दुःख के पश्चात् 'भावना' का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए ब्रैडले कहते हैं कि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में भावना मूल एवं प्रारम्भिक है, क्योंकि शेष सभी अनुभूतियों का इसी से उद्‌भव हुआ है। इस दृष्टि से इसे पूर्वसम्बन्धात्मक या अधोसम्बन्धात्मक कहना ही उचित होगा। किन्तु 'मूल' एवं प्रारम्भिक होने के बावजूद यह 'प्रत्ययात्मकता' के दोष से दूषित है। अन्य शब्दों में, बाह्य तत्त्वों से नियंत्रित होने के कारण इसका 'अन्तर्विषय' इसे विस्तारित होने के लिए,

अन्य से सम्बन्धित होने के लिए, विवश करता है और तद्-किम् की मूल आरम्भिक एकता स्वयमेव नष्ट हो जाती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि जो अस्थायी हो, परिवर्तनीय हो और जिसे अन्य के सन्दर्भ में ही परिपूर्णता प्राप्त हो, भले हो वह सापेक्ष परिपूर्णता ही क्यों न हो, वह किस प्रकार निरपेक्षतः परिपूर्ण हो सकती है ? भावना के इस पक्ष को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं : "आगामी विकासों का वह मूल एवं आधार है पर वह एक ऐसा आधार है जो उनको निरन्तर अपने से च्युत होकर ही पोषित करता है।"[1]

भावना के पश्चात् प्रात्यक्षिक चेतना की चर्चा करते हुए वे उसे भी प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित और अन्ततः आभास ही सिद्ध करते हैं। 'भावना' में तद्-किम् की एकता भंग नहीं होती, किन्तु भंग होने की दिशा में वह निश्चित ही सक्रिय है। प्रात्यक्षिक चेतना के आविर्भाव के साथ 'किम्' का 'विषय' रूप में विस्तार होता है और वह अनिवार्यतः पृष्ठभूमि में विद्यमान 'विषयी' की अपेक्षा करता है। वस्तुतः विषयी-विषय के द्वैत का आविर्भाव प्रात्यक्षिक चेतना की ही नहीं प्रत्युत सभी प्रकार की सम्बन्धात्मक अनुभूतियों की सामान्य विशेषता है। पर इस द्वैत का अतिक्रमण इनमें से कोई भी अनुभूति अपने स्तर पर नहीं कर पाती।

पुनः विषय रूप में प्रस्तुत 'किम्' 'विषयी' से स्वतन्त्र एवं पृथक् अपने अस्तित्व का समर्थन करता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसकी अपनी इकाई के निर्माण में प्रात्यक्षिक प्रक्रिया का कोई हाथ नहीं, वह उससे स्वतन्त्र होकर ही प्रात्यक्षिक प्रक्रिया का निर्देशन करता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। सतही तौर पर न देखकर यदि 'विषय' के स्वरूप को ठीक से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि तथ्य ठीक इसके विपरीत है। 'विषय' के निर्माण में प्रात्यक्षिक प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है और इसका स्पष्ट बोध हमें 'असामान्य प्रत्यक्ष'[2] में होता है। अतएव प्रात्यक्षिक चेतना में विषय के स्वरूप में वर्तमान इस विरोध का विलय उसके अपने स्तर पर सम्भव नहीं है। पुनः विषय रूप में

---

1. "It is the ground and foundation of further developments but it is a foundation that bears them only by a ceaseless lapse from itself."—*Appearance and Reality.*, p. 407.
2. Abnormal perception.

समर्थित विश्व के अन्तर्गत प्रात्यक्षिक प्रक्रिया एक महत्वपूर्ण अर्थ में सम्मिलित है और जब तक ज्ञाता-ज्ञेय की यह कृत्रिम विभाजन-रेखा बनी रहेगी, 'विषय' स्वतः अधूरा रहेगा। और किसी प्रकार यदि प्रत्यक्षिक प्रक्रिया को सम्मिलित कर वह सम्पूर्ण हो भी जाय तो निश्चित ही उनका वह रूप प्रात्यक्षिक प्रक्रिया द्वारा समर्थित विषय से भिन्न होगा।[1] अन्य शब्दों में, उसके उस रूप के समर्थन के साथ प्रात्यक्षिक प्रक्रिया को अपना व्यष्टित्व कायम रखना असम्भव होगा। और यदि हम 'विषय' की दृष्टि से उपर्युक्त अनुभूति को देखें तो उसका अन्तर्विषय अपनी समर्थित सीमा का सतत अतिक्रमण करता हुआ दिखाई देता है। सुस्पष्ट व्यष्टित्व से सम्पन्न होने की उसकी आकांक्षा उसे अनिवार्यतः अन्य से सम्बद्ध करती है और इस प्रकार अन्य के माध्यम से विस्तारित होने की यह प्रक्रिया अनन्ता तक प्रसारित होती रहती है। किन्तु वह कितना भी विस्तारित क्यों न हो जाय, उसके लिए प्रात्यक्षिक चेतना तथा उसके अपने बीच के द्वैत का—विषयी-विषय द्वैत का—अतिक्रमण करना असम्भव है। अतः विस्तार एवं संगति की प्रेरणा से अनुप्रेरित होने के बावजूद प्रात्यक्षिक चेतना अपनी निजता को कायम रखते हुए किसी भी स्थिति में परिपूर्णता' को प्राप्त नहीं कर सकती अर्थात् असंगति से विमुक्ति की स्थिति में अवस्थित नहीं हो सकती और यदि किसी भी स्थिति में उसके लिए ऐसा सम्भव हो जाय तो निश्चित ही उसे अपने को आमूल रूप से रूपांतरित करना होगा।

परम अनुभूति की अज्ञेयता

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि क्योंकि तद् एवं किम् का यह विरोध उसकी स्थायी विशेषता है, इस कारण प्रात्यक्षिक अनुभूति आभास है, सत् नहीं। अपने निष्कर्षों की पुष्टि में ब्रैडले कहते हैं कि सामान्य अनुभूतियों में से कोई भी अनुभूति कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हो, वह प्रत्ययात्मकता के दोष से मुक्त नहीं है। और इसी कारण इनमें से किसी को भी अन्तिमता नहीं प्रदान की जा सकती। अन्य शब्दों में, परम अनुभूति को इनमें

---

1. The world can hardly stand there to be found, when its essence appears to be inseparable from the process of finding, and when assuredly it would not be the whole world unless it included within itself both the finding and the finder.", Ibid., p. 408.

से किसी भी एक के साथ एकीकृत नहीं किया जा सकता। इस कारण उसके विषय में यह कहना ही उचित होगा कि वह 'अज्ञेय' है किंतु उसे 'अज्ञेय' कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह 'अनुभूति' हो नहीं है, बल्कि यह कहना कि वह एक ऐसी अनुभूति है, जिसका हमें सामान्य चेतना के स्तर पर बोध नहीं होता।[1] ब्रैडले अतिप्राज्ञ स्तर पर उसके साक्षात् की संभावना की ओर संकेत करते हैं किन्तु इस संभावना को विस्तृत रूप के प्रस्तुत करने का वे प्रयास नहीं करते। उनकी दृष्टि में तत्त्वमीमांसा प्रज्ञा के स्तर पर सत् को प्रस्तुत करने का प्रयास है, और इस स्तर पर सम्पूर्ण सत् की विस्तृत प्रस्तुति सम्भव नहीं। निषेधात्मक रूप से उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसमें अनिवार्यतः प्रज्ञात्मक चेतना की प्रत्ययात्मकता का अतिक्रमण होगा और भावानात्मक रूप से यह कि उसमें चेतना अबाधित रूप से स्थायी संगति की स्थिति में अवस्थित हो जायगी। ऐसी परम अनुभूति की संभावना को बोध के वर्तमान स्तर पर एक 'नियामक प्रत्यय' के रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकता है और उसे उसी रूप में ब्रैडले स्वीकार भी करते हैं। किंतु वह एक ऐसा 'नियामक प्रत्यय' है, जो 'प्रामाणिकता' के दायरे का अतिक्रमण करते हुए स्वतः-सिद्ध सत्यों में स्थान लेनेवाला है, अतः सामान्य प्रत्ययों से उसका स्थान अपूर्व है।

जी० वाट्स कनिंगहम की आलोचना

अपने अन्तरतम की माँग के रूप में, प्रज्ञा के स्तर पर भी उसी की माँग के रूप में, अतिप्राज्ञ सत् का समर्थन, ब्रैडले के दर्शन की विशेषता है और इसीलिए अनेक आलोचकों ने अनेक कारणों से उनके दृष्टिकोण की आलोचना की है। जी० वाट्स कनिंगहम ब्रैडले के विचारों में विद्यमान मूल विसंगति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं।

ब्रैडले के अनुसार तत्त्वमीमांसा में बौद्धिक संतोष ही प्राथमिकता रखता है, किंतु तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से वे जिस 'सत्' को प्रस्तुत करते हैं वह अन्ततः बुद्धि के अतिक्रमण तथा उसके निषेध की अपेक्षा करता है। क्या किसी भी इकाई के लिए यह सम्भव है कि वह अपने व्यष्टित्व का शत-प्रति-शत समर्पण कर दे? और क्या उस समर्पण से उसे सन्तोष मिल सकेगा? परम अनुभूति में अवस्थित

---

1. "We never have, or are a state which is the perfect unity of all aspects, and we must admit that in their special natures they remain inexplicable"—Ibid, p. 415.

होने के लिए तथा अपनी परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए बुद्धि को अपने व्यष्टित्व का समर्पण करना आवश्यक है। किंतु क्या इस समर्पण द्वारा उसे वस्तुतः संतोष की प्राप्ति होगी ?[1]

स्पष्ट है कि कनिंगहम का उत्तर निषेधात्मक है। परम् सत् को ब्रैडले जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं उसमें बुद्धि के सन्तोष की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सम्भवतः उससे एक काल्पनिक निम्न सम्बन्धात्मक अपरोक्षानुभूति को, जिसे वे 'भावना' शब्द से भी व्यक्त करते हैं, सन्तोष मिल जाय। स्पष्ट है कि ब्रैडले अपने दर्शन में विद्यमान इस मूल विसंगति से अनभिज्ञ थे और इसीलिए उन्होंने इसे दूर करने का कहीं भी प्रयास नहीं किया। उनका 'परम-सत्' अविश्लेष्य और इस नाते 'अविज्ञेय' भी है। वह 'अनिवार्य' हो सकता है, परमसत् भी हो सकता है, किंतु बुद्धि के लिए नहीं। ऐसे अतिप्राज्ञ परमसत् को विज्ञेय मान लेना उचित नहीं है।[2]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि परमसत् के समर्थन के साथ अपरोक्षानुभूति की महत्ता का भी समर्थन ब्रैडले के दर्शन की विशेषता है, किन्तु जिस अपरोक्षानुभूति को वे महत्त्वपूर्ण मानते हैं, वह एक काल्पनिक अधोसंबंधात्मक अपरोक्षानुभूति नहीं, जो संबंधात्मक चेतना के सन्दर्भ में मूल और प्राथमिक है। इस अधोसंबंधात्मक अपरोक्षानुभूति को, उपर्युक्त सन्दर्भ में उन्होंने केवल सापेक्षतः मूल और प्राथमिक माना है, और इस रूप में उसे प्रस्तुत करते हुए भी उसे अन्तिमता प्रदान करने से इनकार किया है। जो स्वातिक्रमणीय हो, प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित हो और जिसे दूर करने के लिए वह सतत् प्रयत्नशील हो, उसे किस प्रकार 'सत्' कहा जा सकता है? वह आभास है, सत् नहीं। अनेक प्रसंगों में ब्रैडले ने इस निष्कर्ष को बार-बार प्रस्तुत किया है।

---

1. "The part which intelligence has played in the drama, so far as I can see, is sadly to submit to the destruction of all its results in the name of a merely immediate experience"—G. Walts Cunningham, p. 401.
2. "It may be necessary but it is not so far intelligence, it may be the ulitmately real, but if so intelligence and its works are illusory and there is no virtue in them. To call the non-relational Absolute intellgible is vain, all the billows of unintelligibility have gone over it."—Ibid., p. 401.

तो फिर वे किस अर्थ में अपरोक्षानुभूति को अन्तिमता प्रदान करते हैं। ब्रैडले अपरोक्षानुभूति के लिए 'अव्यवहितत्व', और कहीं-कहीं 'भावना', शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर दो भिन्न अर्थों में करते हैं। और यही द्वयर्थकता सम्भवतः कनिंग्हम की इस भ्रान्ति का आधार है कि वे निम्न सम्बन्धात्मक अपरोक्षानुभूति को ही अपने दर्शन में मूल और प्राथमिक मान लेते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। जिस अपरोक्षानुभूति को वे अन्तिम मानते हैं, वह अधोसम्बन्धात्मक, सम्बन्धात्मक, व्यावारिक—इन सभी की परिपूर्णता होने के कारण, इनमें से किसी के भी साथ एकीकृत नहीं हो सकती। वह आधारभूत चेतना है, जिसे ग्रीन ने विभिन्न सन्दर्भों में शाश्वत आध्यात्मिक नियम के रूप में और कांट ने अतींद्रिय एकता के रूप में प्रस्तुत किया है। उपनिषद् में इसे ही 'भूमा' कहा है।

ब्रैडले के परमसत् की आलोचना भिन्न कारणों से ए० सेठ प्रिंग्ल पैटिसन, लाफ्टहाउस तथा हाल्दर द्वारा भी हुई है। प्रिंग्ल पैटिसन के अनुसार, ब्रैडले का परमसत् मानव की धार्मिक आकांक्षाओं के साथ न्याय करने में असमर्थ है, इसलिए वह असन्तोषप्रद है। प्रिंग्ल पैटिसन की यह आलोचना हमें शांकराद्वैत के विरुद्ध भारतीय दार्शनिक अरविन्द की आलोचना का स्मरण कराती है। वे कहते हैं, परम सत् या ईश्वर हमें तभी स्थायी रूप से सन्तोष प्रदान कर सकता है, जब वह हमारे साथ जीवन के विविध पक्षों एवं अनुभूतियों में विद्यमान हो और यही नहीं, वह हमारे सुख-दुःख में भी सम्मिलित हो। एक अनुभवातीत परमसत्, जो विश्व के वैविध्य का मात्र अतिक्रमण करे और उससे किसी प्रकार आन्तरिक रूप में संयुक्त न हो, किस प्रकार हमें सन्तोष प्रदान कर सकता है?[1]

ईश्वर की अपूर्व शक्तिमत्ता, उसकी शुभता एवं प्रेम, साथ ही उद्धार करने की उसकी अपरिमित सामर्थ्य—इन सभी की अवज्ञा निर्वैयक्तिकवाद[2]

---

1. "No God or Absolute existing in solitary bliss and perfection, but a God who lives in the perpetual giving of himself, who shares in the life of his finite creatures, bearing in the with them the whole burden of their finitude, their sinful wanderings and sorrows, and the suffering without which they cannot be made perfect "*Idea of God*, p. 411.
2. Impersonalism.

ने की है, और इसी कारण ये ईश्वरवादी दार्शनिक ब्रैडले के परमसत् की आलोचना करते हैं। लाफ्टहाउस ईसाई धर्म में स्वीकृत ईश्वर के स्वरूप की ओर निष्ठावान् हैं और निर्वैयक्तिक परम को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसा सत् हमारे जीवन का सम्बल बनने मे सक्षम नहीं है—वह निष्क्रिय एवं निष्प्राण है और उसकी अपेक्षा जीवन का वैविध्य अधिक सार्थक प्रतीत होता है।[1]

ब्रैडले के निरपेक्ष सत् से लाफ्ट् हाउस का असन्तोष इस कारण है कि उनका परमसत् एक ऐसी अनुभूति है जो अतीन्द्रिय है। इस प्रकार के

1. "If we were to set such a being by the side of Bradley's Absolute we should have no difficulty in showing that, in contrast to the Absolute, it implies a view of our life and our world which inspires a courage, a buoyancy and a hope which is beyond anything that is possible for the Absolute's unreachable equability. To pass from the former to the latter is to pass from the warmth and pulsing variety of life, if not to the night where, as Hegel remarked, all cows are black, at least to the twilight in which the owl of minerva takes wings."

पुनः वे कहते है :

"The fundamental difference which marks off the God of theistic and more especially Christian Faith from the Absolute is that the former is more than a perfectly harmonious existence. It brings that existence into being. Harmony is not only enjoyed but accomplished by it. Theism is not content to assert with Bradley that somehow experiences are reconciled in the Absolute. There must either be some further agent for this result, or the Absolute must itself bring about the reconciliation which or Bradley's showing is impossible. Theism boldly maintains that the gap between reality and this imperfect world is already bridged and that God, who himself reality, is working on this side of it."—W. F. Lofthouse, F. H. Bradley, pp. 218-19.

अनुभवातीत 'सत्' से स्थायी सन्तोष की प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है ? सुविज्ञ आलोचक की दृष्टि से परमसत् 'किसी प्रकार संगतिपूर्ण है'—इस कथन के स्थान पर यह कहना अधिक उचित होगा कि वह विश्व में संगति की स्थापना के लिये सक्रिय है। ईश्वरवाद जिस सत्ता को स्वीकार करता है, वह एक ऐसी ही सजीव इकाई है, जो विश्व के वैविध्य में विद्यमान है और पल-पल पर उसका सक्रिय निर्देशन कर रही है।

लाफ्टहाउस का उपर्युक्त कथन हमें अरविंद की भागवती चेतना की शाश्वत अपरिमित सक्रियता स्मरण कराता है। भागवती चेतना को उन्होंने 'माँ' शब्द से सम्बोधित किया है और वह अपने सशक्त हाथों द्वारा विश्व को अतिप्राज्ञ के अवतरण की दिशा की ओर लिए जा रही है प्रज्ञा के आधार पर नहीं, प्रत्युत आस्था, समर्पण और भागवती कृपा के अवतरण के लिए अपने में संवेदनशीलता विकसित करने से ही उसके कार्य को हम सुलभ कर सकेंगे—ऐसा था योगी अरविंद का अखंड विश्वास। और यह उनका ही नहीं प्रत्येक ईश्वरवादी का विश्वास है, इसीलिए परमसत् की निर्वैयक्तिकता उन्हें स्वीकार्य नहीं।

लाफ्टहाउस तथा प्रिंग्ल पैटिसन की भांति, भारतीय हेगलवादी हालदर भी ब्रैडले के निर्वैयक्तिक परमसत् के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए, कहते हैं कि ब्रैडले के निषेधात्मक निष्कर्ष तथा भावात्मक निष्कर्ष के बीच कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। अपनी पुस्तक 'ऐपियरेन्स ऐण्ड रियेलिटी' के प्रथम खण्ड में वे प्रज्ञा द्वारा समर्थित विश्व को आभास मानते हैं और अपने द्वितीय खण्ड में वे परमसत् का उसकी परिपूर्णता में समर्थन करते हैं। किन्तु प्रथम खण्ड के निष्कर्ष द्वितीय के लिए कोई आधार प्रस्तुत नहीं करते। इस दृष्टि से हेगल का दर्शन ब्रैडले की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं : "बिना किसी विवेक के समान रूप से सभी घटनाओं का ध्वंस करके और उन्हें पुनः परमसत् में पुनर्जीवित करा देना, यद्यपि परिवर्तित रूप में, एक ऐसी पद्धति है जो समझ में नहीं आती और एक अलौकिक घटना जैसी ही प्रतीत होती है।"

---

1. "To demolish all phenomena indiscriminately and equally and to revivify them at a stroke in the Absolute, albeit in a changed from, is a procedure scarcely intelligible, and looks like a miracle."—*Neo-Hegelianism*, p. 150.

निर्वैयक्तिक 'परम' के समर्थन में दो शब्द

किन्तु, यहाँ पर 'निर्वैयक्तिक परम' के समर्थन में दो शब्द कहना आवश्यक है। जब दार्शनिक निर्वैयक्तिक परमसत् को अन्तिमता प्रदान करते हैं, तो वे ईश्वरवाद मे समर्थित सत् की तथ्यता की अवहेलना नहीं करते। वस्तुतः, वैयक्तिक परमसत् की स्वीकृति में विद्यमान विसंगति को दूर करके ही उनके लिए निर्वैयक्तिक का समर्थन सम्भव है। ब्रैडले ने भी ऐसा ही करने का प्रयास किया है। उनका परमसत् 'परिपूर्ण' है और इस दृष्टि से वह अविशिष्ट है। वह न नैतिक चेतना के माध्यम से समर्थित 'शुभ' से और न ही धार्मिक चेतना के माध्यम से समर्थित ईश्वर से एकीकृत हो सकता है। निष्कर्षतः, कहा जा सकता है कि धार्मिक चेतना जिस 'परमसत्' का समर्थन करती है, उसे यदि आन्तरिक असंगति से मुक्त कर दिया जाय, तो वही निर्वैयक्तिकवाद के 'निर्वैयक्तिक परम' में परिवर्तित हो जायगा।

अतएव, ब्रैडले की ओर से यह कहा जा सकता है कि ईश्वरवादियों की उपर्युक्त आपत्ति वस्तुतः दार्शनिक से भिन्न अभिरुचियों का परिणाम है और दर्शन के क्षेत्र में इन रुचियों को प्राथमिकता देना अनुचित है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तत्त्वमीमांसा द्वारा समर्थित सत्य को अन्ततः जीवन के सभी पक्षों के समन्वित समाधान के रूप में ही व्यंजित होना चाहिए। फिर भी उसका प्रमुख उद्देश्य प्रज्ञा को ही सन्तुष्ट करना है।[1] और यदि प्रज्ञा से भिन्न अभिरुचियों को दर्शन के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व दिया गया तो उसके कारण चिन्तन में विषमता आना स्वाभाविक है।

---

1. "Philosophy like other things has a business of its own and like other things it is bound, and it must be allowed to go about its own business in its own way. Except within its own limits, it claims no supremacy and unless outside its own limits, it cannot and it must not accept any dictation. Everything to philosophy is a consideration, in the sence that everything has a claim and a right to be considered. But how it is to be considered is the affair of Philosophy alone, and here no external consideration can be given even the smallest hearing." —*Essays on Truth and Reality*, p. 15.

परम् सत् तथा विश्व के सम्बन्ध की यथोचित व्याख्या प्रज्ञा की सीमाओं के बीच सम्भव नहीं। प्रिंगल पैटिसन इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं, किन्तु फिर भी वे निर्वैयक्तिक परम सत् के समर्थकों से इस बात की अपेक्षा करते हैं कि वे अनन्त एवं सान्त के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करें, नहीं तो उनकी अपनी दृष्टि में इस वाद के अन्तर्गत विश्व के वैविध्य तथा सत् के एकत्व के बीच एक ऐसी खाईं बनी रहेगी जिसे पूरा करना उनके सिद्धान्त के दायरे के भीतर संभव न होगा। अन्य शब्दों में, 'परमसत्' से विश्व के वैविध्य के आविर्भाव की स्वीकृति महत्त्वपूर्ण है और इस हेतु परम सत् में अभिकर्तृत्व का आरोपण नितान्त अनिवार्य है।

ईश्वरवादी दृष्टिकोण की सीमाएँ स्वयं उनकी ही स्वीकृतियों द्वारा स्पष्ट हो जाती हैं, पर इसके बाद भी यदि वे एक अनुचित प्रश्न के उत्तर का हठ करें, तो यह उनकी अबोधता का ही परिचायक है। अपनी पुस्तक 'आइडिया ऑव् गॉड' में प्रिंगल पैटिसन स्वयं इस प्रश्न की विषमता को व्यक्त करते हुए, कहते हैं: "मैं कहता हूँ कि इस प्रश्न की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि हमारे लिये उस 'सम्बन्ध' को पूर्णतः समझ लेना या पूर्ण स्पष्टता से उसे प्रस्तुत करने का प्रयास करना असंभव है। क्योंकि ऐसा करने का अर्थ यह होगा कि हम अपने व्यष्टित्व की स्थितियों का अतिक्रमण करें, यही नहीं, सान्त अस्तित्व की स्थितियों की पृष्ठभूमि का अवलोकन करते हुए, सृजन की प्रक्रियाओं की पुनरावृत्ति करते हुए, परम अनुभूति का आस्वादन करें।"[1]

ऊपर के खण्ड में परम सत् के निर्वैयक्तिक निर्विशेष स्वरूप के विरुद्ध लायी हुई कतिपय महत्त्वपूर्ण आपत्तियों को प्रस्तुत करने के साथ ही उनकी सीमाओं को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अनेक प्रसंगों में ब्रैडले ने परम सत् के इस स्वरूप का सोत्साह समर्थन ही नहीं किया है, प्रत्युत उससे सम्बद्ध भ्रांतियों का भी निराकरण किया है। एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ यहाँ पर विशेष उल्लेखनीय है।

---

1. "It is I say, in the nature of the case, impossible that we should understand, and be able to construct for ourselves, the relation in question, for to do so would be to transcend the conditioning of our own individuality, to get, as it were, behind the conditions of finit existence and actually repeat the process of creation and realize the absolute experience."—The Idea of God, p. 292.

'अशुभ' की तथ्यता—क्या वह परमसत् के लिए चुनौती है ?

सामान्यतः, लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि यदि विश्व का अन्तिम सत् एक सम्पूर्ण चेतना है तो 'अशुभ' से उसकी संगति कैसे ? क्या इससे अच्छे विश्व के निर्माण की सम्भावना उसमें नहीं थी ? यदि नहीं तो फिर वह कैसी सम्पूर्णता है, जो अपूर्णता के माध्यम से ही अपने को व्यंजित करती है ? 'अशुभ' की तथ्यता से ब्रैडले इनकार नहीं करते। 'अशुभ' का तथ्य रूप में अस्तित्व है, किन्तु इसकी तथ्यता परमसत् के समर्थकों के लिए किसी प्रकार की चुनौती नहीं प्रस्तुत करती। विपरीततः, उनका विश्वास है कि शुभ-अशुभ और इसी प्रकार के अन्य सभी द्वन्द्वों की मध्यस्थता से ही परमसत् का समर्थन संभव है। 'परमसत्' जीवन के तथ्यों पर कृत्रिम, बाह्य एवं आकस्मिक रूप से आरोपित कोई अनानुभविक सत्ता-विशेष नहीं है—वह जीवन से आंगिक रूप में संबद्ध और उसी के द्वारा समर्थित सत् है।

पुनः वे कहते हैं, जिन लोगों के सामने 'अशुभ' एक चुनौती के रूप में आता है, उनकी प्रमुख भूल यह है कि परमसत् को 'शुभ' से एकीकृत कर लेते हैं। यही कारण है कि फिर उनके लिए 'अशुभ' से उसकी संगति करना कठिन प्रतीत होता है। शुभ-अशुभ, सुन्दर-असुन्दर और इसी प्रकार सत्य-असत्य सभी इस वैविध्यपूर्ण जगत् के तथ्य हैं और परस्पर सापेक्ष हैं। 'शुभ' का अस्तित्व और उसकी सार्थकता एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में 'अशुभ' पर निर्भर करती है 'अशुभ' के विरोध में, उसके प्रतिक्रिया-स्वरूप ही वस्तुतः शुभ का आविर्भाव होता है। यदि 'अशुभ' न हो तो संभवतः 'शुभ' का भी स्वरूप वह न हो जिसमें हम उसे जानते हैं और इस दृष्टि से यदि 'अशुभ' को हम देखें तो वह सर्वथा निरर्थक नहीं है। प्रिय न होते हुए भी जीवन में उसका विशिष्ट स्थान और उपादेयता है। जो किसी भी स्थिति में, किसी भी रूप में, अनिवार्य हो उसे नितान्त अवांछनीय या अयुक्त कैसे कहा जा सकता है ?

अतः, यह कहा जा सकता है कि अपनी संपूर्णता एवं सार्थकता के लिए 'शुभ' अशुभ की अपेक्षा करता है। वह स्वतः अपने में अपूर्ण है, अपने विरोधी को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति रखता है और विरोधी को आत्मसात् करने में ही उसकी सार्थकता है। उसकी वर्तमान अपूर्णता तथा आन्तरिक विरोध की स्थिति को ब्रैडले ने 'प्रत्ययात्मकता' शब्द से व्यंजित किया है और अपनी सुपरिचित युक्ति के आधार पर कहा है कि जो प्रत्ययात्मकता के दोष से दूषित है, वह सत् नहीं हो सकता, वह आभास ही है। अतः परमसत् को उससे एकीकृत नहीं किया जा सकता। पुनः, 'शुभ' की परिपूर्णता की स्थिति, यानी

प्रत्ययात्मकता से उसकी सम्पूर्ण वियुक्ति की स्थिति, की यदि कल्पना की जाय तो निश्चित है कि उसे न 'शुभ' ही कहा जा सकता है और न ही अशुभ। उपर्युक्त स्थिति का उसमें समाविष्ट घटकों में से किसी एक के भी साथ तादात्म्य सम्भव नहीं है। अधिक से अधिक उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह इस द्वन्द्व का अतिक्रमण करने वाली, इन्हें इनकी सार्थकता तथा परिपूर्णता प्रदान करनेवाली बृहत् इकाई है। 'वह' शुभ है, यह कहना उसके लिए उतना ही अनुचित है, जितना यह कहना कि वह 'अशुभ' है। किन्तु, 'वह शुभ है' इस कथन का जब ब्रैडले निषेध करते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह 'शुभ' से कम है अथवा उससे निम्न है। वह ठीक उसी अर्थ में अति-शुभ है, जिस अर्थ में वह अतिप्राज्ञ और निर्वैयक्तिक है। वस्तुतः, जब सामान्य अनुभूतियों को व्यंजित करनेवाले शब्दों का प्रयोग उस 'सत्' के लिए किया जाता है, तो कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सामान्य अनुभूतियों और उन्हें व्यंजित करनेवाले शब्दों के साथ जो सीमाएँ हैं उनका हमेशा ध्यान रखना संभव नहीं है। यही कारण है कि उसके अतिप्राज्ञ; निर्वैयक्तिक अति-नैतिक स्वरूप के पीछे विद्यमान विशेष ध्वनि की अवहेलना कर 'अशुभ' से असंगति का प्रश्न उठाया जाता है। प्रश्न सर्वथा अनुचित है और एक अनुचित प्रश्न का उत्तर कैसे दिया जा सकता है? इसके अनौचित्य के स्पष्टीकरण में ही वस्तुतः इस समस्या का समाधान है और ब्रैडले ने यही करने का प्रयास भी किया है।

2. आंग्ल यथार्थवाद

क. जार्ज एडवर्ड मूर

20 वीं शताब्दी में ब्रिटेन में यथार्थवाद का जन्म निरपेक्षवाद—विशेष रूप से नव्य-हेगलवादी निरपेक्षवाद—के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ। निरपेक्षवाद का चरमोत्कर्ष हमें ब्रैडले के दर्शन में मिलता है, जिसने अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा सामान्य बुद्धि तथा विज्ञान पर गहरी चोट की और यह प्रमाणित किया कि सामान्य बुद्धि तथा विज्ञान द्वारा स्वीकार्य और मान्य जगत् वस्तुतः आभास है, असत् है। प्रतिक्रिया-स्वरूप, कुछ विचारकों ने अध्यात्मवादी तत्त्वमीमांसा में दोष निकालने प्रारम्भ किये और विज्ञान एवं सामान्य बुद्धि को स्थापित करने की चेष्टा की। इन विचारकों में सर्वप्रमुख हैं, जार्ज एडवर्ड मूर और बर्ट्रेंड रसेल। इनका दृष्टिकोण सर्वथा विश्लेषणात्मक है। इनकी मान्यता है कि दर्शन का कार्य मुख्य रूप से भाषा-विश्लेषण है। अर्थात् दर्शन का उद्देश्य यह दिखाना है कि हमारे कथन में अस्पष्ट तथा द्वयार्थक शब्दों का प्रयोग तो नहीं हुआ है। इन विचारकों ने इस बात को भी स्थापित करने का प्रयास किया कि संसार में वस्तुओं का स्वतंत्र अस्तित्व है। वस्तुएँ अपने अस्तित्व के लिए चेतना की अपेक्षा नहीं रखतीं। मूर ने अपने विभिन्न निबन्धों में इन्हीं निष्कर्षों को बड़ी ही सूझ-बूझ और तार्किकता के साथ प्रतिपादित किया है।

दार्शनिक समस्याएँ

मूर अपने लेख 'दर्शन क्या है' के प्रारम्भ में दर्शन की समस्याओं पर विचार करने के लिए यह प्रश्न उठाते हैं कि वे कौन-सी प्रमुख समस्याएँ हैं, जिनको हल करने में दार्शनिक रत रहते हैं ? अर्थात् सामान्यतः दर्शन की वे कौन-सी प्रमुख समस्याएँ हैं, जिनका विश्लेषण विभिन्न विचारधाराओं के रूप में सामने आता है ?

(क) तत्त्वमीमांसीय प्रश्न

मूर के विचार में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है—सम्पूर्ण विश्व की समस्त ज्ञेय तथा अज्ञेय वस्तुओं का सामान्य विवरण तथा उनके परस्पर

संबंध का निर्धारण। मूर के शब्दों में यह "समस्त विश्व का एक सामान्य विवरण" की समस्या है।[1] उनके विचारानुसार विभिन्न दार्शनिकों के मध्य मतभेद का मुख्य कारण उनके विश्व विषयक विवरणों की भिन्नता है और यह समस्या उनके अनुसार दर्शन में ही विशिष्टतया परिलक्षित होती है। विश्व के विषय में लगभग सभी की कुछ सामान्य धारणाएँ हैं। ये धारणाएँ इतनी सामान्य और बहु-प्रचलित हैं कि इन्हें सामान्य बुद्धि[2] की धारणाएँ कहा जा सकता है। सामान्य बुद्धि की विश्व के विषय में कोई निश्चित विचार-धारा नहीं होती परन्तु इतना अवश्य है कि इसके अनुसार विश्व में कुछ वस्तुओं का अस्तित्व है और वे परस्पर किसी-न-किसी प्रकार सम्बन्धित हैं। मूर इस बात से आश्चर्यान्वित होते हैं कि अधिकांश दार्शनिकों के विचार सामान्य बुद्धि की धारणा से परे अथवा विरुद्ध हैं। उनके अनुसार सामान्य बुद्धि द्वारा मान्य कुछ वस्तुओं का दार्शनिक विचारधाराओं में कोई अस्तित्व ही नहीं है और दार्शनिकों के अनुसार विश्व में कुछ ऐसी वस्तुएँ अस्तित्ववान् हैं, जिनके लिए सामान्य बुद्धि में कोई स्थान नहीं है। मूर के अनुसार दार्शनिक विवेचन वस्तुतः सामान्य बुद्धि से उसके वैभिन्य का ही विवेचन है यानी किस प्रकार वह सामान्य बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण करता है और कुछ स्थानों पर उसका निषेध करता है।

मूर के अनुसार सामान्य बुद्धि का स्वरूप नयी-नयी खोजों द्वारा प्राप्त ज्ञान से परिवर्तित एवं संशोधित होता रहता है। उदाहरणार्थ, पृथ्वी और सौर-मंडल से सम्बद्ध प्रचलित धारणाएँ कालक्रम के अनुसार सदैव परिवर्तित होती रही हैं। परन्तु सामान्य बुद्धि की यह धारणा आज भी अपरिवर्तित है कि पृथ्वी पर अनेकानेक स्थूल पदार्थों का अस्तित्व है। इसी प्रकार चेतना का अस्तित्व भी है जो मनुष्य अथवा अन्य पशु-पक्षियों के मानसिक व्यापारों या चेतना की क्रियाओं[3] में परिलक्षित होता है।

अतः विश्व में कम-से-कम दो प्रकार की वस्तुएँ हैं—असंख्य भौतिक पदार्थ[4] एवं मानसिक व्यापार। जहाँ तक भौतिक पदार्थों का प्रश्न है, यह

---

1. The first and the most important problem of philosophy is : To give a general description of the whole universe.—Philosophy in the Twentieth Century ed. by Barrett and Aiken, (Pub. Random House, New York), p. 521.
2. Common sense.
3. Acts of consciousness or mental acts. मूर के अनुसार ये दोनों पद विनिमेय हैं।
4. Material objects.

निर्विवाद है कि उनकी उपस्थिति के लिए देश[1] का होना अनिवार्य है और पदार्थों की देश में स्थिति की धारणा के अन्तर्गत उनके बीच किसी-न-किसी दूरी तथा दिशा का होना अनिवार्य है।

यह विश्वास किया जाता है कि चेतना के व्यापार निश्चित रूप से किसी भौतिक पदार्थ से विशिष्ट रूप में जुड़े रहते हैं पर उतने ही निश्चयात्मक रूप से दूसरे पदार्थों के साथ नहीं जुड़े रहते हैं। स्थूल पदार्थों के अस्तित्व के लिए उनका देशगत होना अनिवार्य है और उनकी देशगत स्थिति में बदलाव के साथ-ही-साथ उनसे जुड़े हुए मानसिक व्यापारों की देश में स्थिति भी सापेक्षतया बदल जाती है। यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश पूर्ववर्ती दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार मानसिक व्यापारों का देश से कोई संबंध नहीं होता, अर्थात् मानसिक व्यापारों के लिए देशगत होना अनिवार्य नहीं होता, जब कि मूर भौतिक पदार्थों के साथ मानसिक व्यापारों को निश्चयात्मक रूप से जुड़ा मानते हैं तथा भौतिक पदार्थों की देशगत स्थिति में परिवर्तन की संभावना के अनुसार मानसिक व्यापारों के लिए भी देश की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं।

मानसिक व्यापार और स्थूल पदार्थ के संबंधों के बारे में मूर का कथन है कि स्थूल पदार्थों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे जिनके साथ मानसिक व्यापार जुड़े रहते हैं, जैसे मनुष्य तथा अधिकांश जीव। किंतु अधिक संख्या उन स्थूल पदार्थों की है जो अचेतन हैं और जिनके साथ मानसिक व्यापार जुड़े नहीं होते। साथ ही यह आवश्यक भी नहीं है कि स्थूल पदार्थों की उपस्थिति के लिए मानसिक व्यापार की उपस्थिति अनिवार्य हो। अतः भौतिक पदार्थों में कुछ निम्न विशिष्टताएँ हैं—(1) भौतिक पदार्थ मानसिक व्यापारों से प्रकारतः भिन्न होते हैं, (2) वे सब किसी निश्चित समय में देशगत होते हैं और (3) उनकी उपस्थिति के लिए मानसिक व्यापार का होना अनिवार्य नहीं है।[2] मूर के अनुसार इन तीन विशिष्टताओं से युक्त

1. Space.
2. We may, indeed, say of all material objects that they have three characteristics—(1) They are quite a different sort of thing from acts of consciousness, (2) They are all of them, at any given time situated somewhere or the other in space and (3) they have this property........that they are a sort of thing which exists when we are not conscious of it just as such as when we are.—Philosophy in the Twentieth Century ed. by Barrett and Aiken, p. 527.

होने पर ही किसी वस्तु को भौतिक पदार्थ नहीं कहा जा सकता परंतु किसी भी स्थूल पदार्थ में तीन विशिष्टताओं का होना परमावश्यक है।

भौतिक पदार्थों तथा मानसिक व्यापारों के संबंधों के बारे में मूर का कहना है कि भौतिक पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए हमारी चेतना की अपेक्षा नहीं रखते। आदिकाल में जब चेतन जीवों का पृथ्वी पर अस्तित्व भी नहीं था तब भी पृथ्वी पर, जो स्वयं भी स्थूल पदार्थ है, भौतिक पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध है और यह पूर्णतया संभव है कि भविष्य में यदि चेतन जीवों का अस्तित्व संपूर्णतया नष्ट हो जाय तब भी स्थूल पदार्थों का अस्तित्व बना रहे। मूर के विचार में सामान्य बुद्धि से प्राप्त यह निष्कर्ष विश्व-विषयक सामान्य विवेचन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

सामान्य बुद्धि द्वारा दिये गये विश्व के सामान्य विवरण का निष्कर्ष यह है कि विश्व में दो प्रकार की वस्तुएँ हैं—भौतिक पदार्थ और मानसिक व्यापार तथा ये परस्पर संबंधित भी हैं। इस संबंध में तीन बातें मुख्य हैं—(अ) मानसिक व्यापार भौतिक पदार्थों से कम जुड़े हुए हैं अर्थात् अधिकतर भौतिक पदार्थ अचेतन हैं, (ब) स्थूल पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए चेतना पर आश्रित नहीं हैं; (स) अतीत में कोई ऐसा समय भी रहा होगा जब मानसिक व्यापार किसी भी भौतिक पदार्थ से जुड़े नहीं रहे होंगे और भविष्य में भी ऐसे समय की संभाव्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

सामान्य बुद्धि की विश्व-विषयक धारणा का अगला चरण यह है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ और मानसिक व्यापार काल के अंतर्गत ही अस्तित्ववान् होते हैं अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों में ही उनका अस्तित्व काल की अपेक्षा रखता है।

अब मूर सामान्य बुद्धि की विश्व-विषयक धारणा के अन्तिम चरण में पहुँचता है। उसका कहना है कि हमें वास्तव में उन सब बातों का ज्ञान प्राप्त है जिनका विश्लेषण ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है, अर्थात् विशिष्ट विज्ञानों द्वारा देश-कालगत स्थूल पदार्थों और मानव तथा पशुओं से जुड़े मानसिक व्यापारों का विस्तृत विवरण हमें वस्तुतः ज्ञात हो जाता है और इस ज्ञात होने की प्रतीति भी सामान्य बुद्धि का ही एक अंग है। परन्तु दर्शन की मुख्य समस्या—'समस्त विश्व का सामान्य विवरण', जिसका उल्लेख लेख के प्रारम्भ में ही किया गया है, का समाधान इस सामान्य बुद्धि की उपर्युक्त धारणा से नहीं होता। सामान्य बुद्धि यह तो बताती है कि विश्व में विभिन्न वर्ग हैं और वे परस्पर सम्बन्धित हैं परन्तु वह यह नहीं सिद्ध करती कि विश्व में इन्हीं दो वस्तुओं का

अस्तित्व है तथा इन्हीं दो वर्गों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। वह इसको अस्वीकार भी नहीं करती कि विश्व में इसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व भी संभव है जो इन दो वर्गों के अन्तर्गत न आती हो। अतः सामान्य बुद्धि की इस धारणा को विश्व के सामान्य विवरण का रूप देने के लिए या दार्शनिक विवेचन का रूप देने के लिए यह व्याख्या देनी आवश्यक होगी। भौतिक पदार्थ और मानसिक व्यापार ये ही मात्र दो वर्ग विश्व में हैं, या भौतिक पदार्थ और मानसिक व्यापार इन दो प्रकारों का ही ज्ञान हमारी बुद्धि को होता है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी अन्य प्रकार हो सकते हैं। इसमें प्रथम विकल्प सामान्यतः स्वीकार्य नहीं है परन्तु दूसरा संतोषजनक प्रतीत होता है। इसे अधिकांश दार्शनिकों ने स्वीकार भी किया है कि विश्व में चेतन और भौतिक के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के पदार्थ हैं परंतु हमें उनका ज्ञान प्राप्त नहीं है। अर्थात् चेतन और अचेतन से परे किसी अन्य कोटि की वस्तु की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, जैसे देश या काल या उसी की भाँति अन्य कोई वस्तु, जो दोनों कोटियों या वर्गों से परे हो।

अतः दर्शन की प्रमुख समस्या—'विश्व का सामान्य विवरण' का विवेचन प्रस्तुत करने के लिए एक विकल्प हमारे सामने है कि सामान्य बुद्धि द्वारा दिये गये विवरण की अपूर्णता को दूर कर एक सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया जाय, क्योंकि दार्शनिक सामान्य बुद्धि द्वारा किये गये विवरण को स्वीकार नहीं करते।[1] विभिन्न दार्शनिक सामान्य बुद्धि द्वारा प्रस्तुत विवेचन में तीन प्रकार की त्रुटियाँ पाते हैं—(1) विश्व में बहुत-सी अन्य महत्त्वपूर्ण द्रव्यधर्मा[2] वस्तुएँ भी हैं, जिनकी ओर सामान्य बुद्धि संकेत नहीं करती, (2) दार्शनिक विवेचन का कभी-कभी सामान्य बुद्धि से स्पष्ट रूप में विरोध रहता है। वे दो विरोधी निष्कर्षों को सामने रखते हैं, अर्थात् कुछ वस्तुएँ सामान्य बुद्धि के अनुसार विश्व में होती हैं, परंतु दार्शनिक उन्हें अस्वीकार कर देते हैं तथा (3) कभी-कभी उपर्युक्त दोनों त्रुटियों का मिला-जुला रूप सामने आता है, अर्थात् सामान्य बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण एवं विरोध, दोनों ही दार्शनिक विवेचन में हमें मिलते हैं। इन त्रुटियों पर कुछ विस्तार से विचार करना वांछनीय है।

---

1. One way, therefore, in which we might get a general description of the whole universe, is by making addition to the views of common sense.—Ibid., p. 533.
2. Substantial kinds of Things.

(1) सामान्य बुद्धि द्वारा प्रदत्त ज्ञान में अभिवृद्धि का एक उदाहरण ईश्वर है। दार्शनिकों के अतिरिक्त सामान्य जनों की बहुत बड़ी संख्या ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करती है, अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व सामान्य बुद्धि द्वारा अनुमोदित है और यह एक सामान्य विश्वास है, किन्तु उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः सामान्य बुद्धि का विश्व-विषयक विवरण अपूर्ण है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ईश्वर-विषयक किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन सामान्य बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण है।[1] सामान्य बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान में अभिवृद्धि का एक अन्य उदाहरण अज्ञेयवादियों का यह विश्वास है कि स्थूल पदार्थों तथा मानसिक व्यापारों के अतिरिक्त भी विश्व में किसी अन्य सत्ता का निश्चित रूप से अस्तित्व है जो अज्ञात एवं अज्ञेय है। मूर के अनुसार ऐसी किसी सत्ता के अस्तित्व की स्वीकृति ही उसका ज्ञान की सीमा में आ जाना है।

(2) सामान्य बुद्धि द्वारा स्वीकृत वस्तुओं के अस्तित्व को बिना किसी वैकल्पिक समाधान के ही अस्वीकार करनेवाली विचारधारा को मूर संशयवादी विचारधारा की संज्ञा देता है। इनमें से कोई विचारधारा सामान्य बुद्धि द्वारा स्वीकृत किसी भी वस्तु के अस्तित्व का निश्चयात्मक रूप से निषेध तो नहीं करती परन्तु वह इस बात को भी स्वीकार नहीं करती कि वस्तुतः उन वस्तुओं का अस्तित्व है, जिन्हें सामान्य बुद्धि स्वीकार करती है।

इन संशयवादी विचारधाराओं का एक स्वरूप यह स्वीकार करता है कि मानसिक व्यापार तो होते हैं, परन्तु भौतिक पदार्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व के बारे में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। चेतना के न रहने पर भी भौतिक पदार्थों का अस्तित्व बना रहता है, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता जब कि मनों[2] और उनके व्यापारों के अस्तित्व की निरन्तरता को निश्चयात्मक रूप से स्वीकार किया जा सकता है।[3] इस

1. For, by a God, is meant something so different both from material objects and from our minds that to add that, besides these, there is also a God is certainly to make an important addition to our view of universe.—Ibid., p. 534
2. Other minds.
3. It denies, that is to say, that we can know of the existence of any objects, which continue to exist when we are not conscious of them, except other minds and their acts of consciousness.—Ibid., p. 536

विचारधारा का दूसरा स्वरूप मानसिक व्यापारों की धारणा को संकुचित करके केवल अपने मन और उससे सम्बन्धित व्यापारों के अस्तित्व तक सीमित कर देता है। इसके अनुसार किसी भी मनुष्य को मात्र अपने मानसिक व्यापार के अतिरिक्त विश्व में अन्य द्रव्य-धर्मी वस्तुओं का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि यह अन्य मनों और स्थूल पदार्थों के अस्तित्व की असम्भावना को सर्वथा अस्वीकृत भी नहीं करता। मूर के अनुसार यह नितान्त अतार्किक दृष्टिकोण है, इसके समर्थक दार्शनिक अन्य मनुष्यों के मन की क्षमता पर संदेह प्रकट करते हुए भी प्रकारांतर से स्वयं उन मनुष्यों के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं।

(3) सामान्य बुद्धि की त्रुटि को प्रकट करने वाला तीसरा दृष्टिकोण सामान्य बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण करने के साथ ही उसका विरोध भी करता है। अन्य शब्दों में, सामान्य बुद्धि द्वारा प्रतिपादित कतिपय वस्तुओं के अस्तित्व को अस्वीकृत करते हुए यह कुछ ऐसी वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है, जिनकी जानकारी का सामान्य बुद्धि कोई विवरण प्रस्तुत नहीं करती।

इस दृष्टिकोण के दो मुख्य प्रकार हैं—(अ) इस दृष्टिकोण के अंतर्गत सामान्य बुद्धि द्वारा प्रतिपादित भौतिक पदार्थ और देश के प्रत्यय का निषेध होता है। इनके चिन्तन का प्रारम्भ भौतिक पदार्थों के आभास से होता है। सामान्य बुद्धि के साथ ये विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि आभास तभी तक सत्य है जब तक कि वह हमारी अनुभूति का विषय है। परन्तु ये विचारक इन आभासों को देशगत नहीं मानते और यहीं उनका सामान्य बुद्धि से विरोध हो जाता है। अन्य शब्दों में, वस्तुओं के आभास में आभास मात्र ही सत्य है, इससे भौतिक पदार्थ की उपस्थिति अथवा संभावना सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार ये विचारक भौतिक पदार्थों व देश के अस्तित्व का पूर्णतया निषेध कर देते हैं।

इसमें प्रथम विचारक बर्कले हैं जिनके अनुसार आभास किसी भौतिक पदार्थ का आभास नहीं है वरन् आभास ही स्वयं वह वस्तु है, जिसे हम भौतिक पदार्थ कहते हैं।[1] और उसकी सत्ता तभी तक है जब तक वह हमारे प्रत्यक्ष का विषय बना रहता है। अर्थात् भौतिक पदार्थों का अस्तित्व नहीं है क्योंकि

---

1. Appearances are, in fact, not appearances of anything at all........these appearances are themselves material objects. —Ibid., p. 537.

पदार्थ उनको ही कहा जा सकता है, जिनका अस्तित्व हमारी चेतना से परे रहकर भी निर्विवाद रूप से बना रहता है। यहाँ सामान्य बुद्धि का विरोध स्पष्ट है क्योंकि सामान्य बुद्धि द्वारा मान्यता प्राप्त भौतिक पदार्थों के अस्तित्व का यह दृष्टिकोण निषेध कर देता है, परंतु ईश्वर के सिद्धांत को मान्यता देकर यह दृष्टिकोण सामान्य बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान में अभिवृद्धि भी करता है।[1]

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार आभास वास्तव में मन और चेतन सत्ताओं के आभास हैं। इस प्रकार ये विचारक सामान्य बुद्धि द्वारा अनुमोदित भौतिक पदार्थों की उपस्थिति का निषेध करते हुए मनुष्यों और पशु-पक्षियों के अतिरिक्त अन्य बहुत से मनों के अस्तित्व को मान्यता देते हैं और इस प्रकार सामान्य बुद्धि के ज्ञान में अभिवृद्धि करते हैं। परंतु ये इस बात पर भी बल देते हैं कि ये मन देशगत नहीं होते, ये वास्तव में 'कहीं नहीं' होते हैं।[2]

इससे अधिक आश्चर्यान्वित करनेवाला दृष्टिकोण वह है जो सामान्य बुद्धि द्वारा प्रतिपादित भौतिक पदार्थों, मानसिक व्यापारों, देश-काल आदि सभी को आभास मानता है। इसके अनुसार ये किसी अन्य वस्तु का या वस्तुओं के संकलन का आभास हैं जो न तो भौतिक पदार्थ हैं, न मानसिक व्यापार हैं और न ही ये देश या कालगत हैं। मूर का कहना है कि ये सभी वस्तुएँ यदि ब्रह्माण्ड से परे किसी 'अन्य वस्तु' का आभास हैं तो यह 'अन्य वस्तु' सामान्य बुद्धि के ज्ञान में अभिवृद्धि मात्र करती है परंतु वस्तुतः ऐसा नहीं है। दार्शनिकों का तात्पर्य यह है कि ये आभास वास्तव में असत् हैं और ब्रह्माण्ड में उनका कोई अस्तित्व नहीं है। सामान्य बुद्धि द्वारा अनुमोदित

---

1. Berkeley denies the existence of any material objects in the sense in which common sense asserts their existence. This is the way in which he contradicts common sense. And the way, in which he adds to it, is by asserting the existence of a God.—Ibid., p. 538.
2. And as to what they hold to be in the universe, instead of the things which common sense holds to be in it, they have held different views. Some have held that it is a collection of different minds : others that it is one mind : Others that it is in something which is in some sense mental of spiritual.—Ibid., p. 539.

ब्रह्माण्ड में स्थित वस्तुओं के बजाय वे अन्य किसी सत्ता को आभास के अधिष्ठान के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ उसे एक मन मानते हैं, कुछ विभिन्न मनों का संकलन मानते हैं और कुछ विचारकों के लिए वह एक आध्यात्मिक सत्ता है।

इस प्रकार ये विश्व विषयक कुछ सामान्य विवरण हैं परंतु दार्शनिकों को मात्र अपनी विचारधारा व्यक्त करके ही संतोष नहीं हुआ। वे इस बात को भी सिद्ध करने की चेष्टा में लग गये कि उनके द्वारा दिया गया विवरण सत्य है। इससे यह मुख्य समस्या उत्पन्न हुई कि यदि वे अपनी विचारधारा को सत्य प्रमाणित करना चाहते हैं तो अन्य सभी विचारधाराओं का खंडन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त ईश्वर, पुनर्जन्म, भौतिक पदार्थ, देश-काल, मन आदि अनेकानेक प्रत्ययों से संबंधित प्रश्न भी दर्शन के क्षेत्र में उठ खड़े हुए और बहुधा दार्शनिकों ने विश्व का सम्यक् विवरण देने के बजाय इन गौण प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा की है। इसी संदर्भ में एक अन्य गौण प्रश्न की ओर संकेत करना आवश्यक है। बहुत से दार्शनिक विभिन्न वस्तुओं को अंतरों को ही स्पष्ट करने में अपनी सारी प्रतिभा लगा देते हैं परंतु ये प्रश्न उतने सरल नहीं हैं। विश्व में पायी जानेवाली प्रत्येक वस्तु की उचित परिभाषा देना व उनके बीच के अन्तर को उचित रूप से व्यक्त करना अपने दृष्टिकोण के सुलझेपन को ही व्यक्त करता है। परंतु मात्र अन्तर ही स्पष्ट करना पर्याप्त नहीं है।

(ख) ज्ञानमीमांसीय प्रश्न

इस प्रकार तत्त्वमीमांसा के अंतर्गत आनेवाले ये तमाम गौण प्रश्नों के उत्तर हैं जो हमें विभिन्न दार्शनिकों की विचारधाराओं में मिलते हैं। प्रश्न यों है कि विश्व में किन विभिन्न वस्तुओं का अस्तित्व है? उनका स्वरूप व परिभाषा क्या है? वे एक दूसरे से किस प्रकार संबद्ध हैं? इत्यादि।

दर्शन के दूसरे विभाग की चर्चा करते हुए मूर का कहना है कि विश्व विषयक सामान्य विवरण से संबद्ध कुछ अन्य प्रश्न भी हैं, जो दर्शन के इस विभाग के अंतर्गत आते हैं। इनमें प्रमुख प्रश्न है वस्तुएँ कैसे ज्ञात हैं? इस प्रश्न के उत्तर से स्पष्ट है कि सामान्य जीवन में तथ्यों के वास्तविक ज्ञान के कुछ सीमित स्रोत हैं और उन विशिष्ट सीमित स्रोतों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त नहीं होता वह असत्य है। इस प्रकार बहुत से दार्शनिकों ने ज्ञान के स्रोत का वर्गीकरण किया है और प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का विवरण प्रस्तुत किया है।

ज्ञान विषयक उपर्युक्त मूल प्रश्न में तीन प्रश्न समाहित हैं—(अ) ज्ञान होते समय हमारे मस्तिष्क में कौन-सी प्रक्रिया होती है ? यह प्रश्न मनोविज्ञान से संबंधित है। (ब) दूसरा प्रश्न है, ज्ञान क्या है ? (स) तीसरा प्रश्न है कि आप उसे जानते कैसे हैं ? अर्थात् ज्ञान में विश्वास करने का कारण क्या है ? अन्य शब्दों में कौन-सी अन्य वस्तु ज्ञान को सत्य प्रमाणित करती है। यही प्रश्न दर्शन का प्रश्न है कि वे कौन से उपाय हैं जिनके द्वारा कोई तर्क-वाक्य सत्य प्रमाणित किया जा सकता है।

(ग) नैतिक प्रश्न

परंतु दर्शन का संपूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए हम नीतिशास्त्र की अवहेलना नहीं कर सकते, यद्यपि नीतिशास्त्र का विषय-क्षेत्र अभी तक दिये गये तमाम विवरणों से भिन्न है। यह उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ या नैतिक-अनैतिक के प्रश्नों से संबंधित है। तथापि इन प्रश्नों का दर्शन की प्रमुख समस्या से महत्त्वपूर्ण अर्थों में संबंध है। प्रथमतः यह कि विश्व के विषय में निश्चित ही यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि उसमें उचित-अनुचित का भेद निहित है और दूसरे, तत्वमीमांसा के निष्कर्षों से संयुक्त कर देने पर हमें भी यह ज्ञात हो जाता है कि विश्व वस्तुतः बुरा है या अच्छा या जैसा हो सकता है उसकी तुलना में कैसा है ?

सारांशतः उपर्युक्त समस्याएं ही दर्शन की मुख्य समस्याएं हैं, जिनके समाधान के लिए अनेकानेक दार्शनिक प्रयास करते रहते हैं और इनसे ही दर्शन के विषय-क्षेत्र का निर्धारण होता है।

प्रत्ययवाद का खंडन[1]

मूर के अनुसार प्रत्ययवाद की केंद्रीय स्थापना यह है विश्व का स्वरूप प्रत्ययात्मक (आध्यात्मिक) है। इस विषय में दो बातें स्पष्ट हैं—(1) विश्व का मूल रूप उसके दृष्टिगत रूप से सर्वथा भिन्न है, (2) विश्व में ऐसे अनेक गुण विद्यमान हैं जिनका हमें प्रत्यक्ष भी नहीं होता।[2] संसार के स्वरूप को प्रत्ययात्मक

1. 'Refutation of Idealism' शीर्षक से उनका लेख Mind, अंक 12, 1903 में छपा।
2. (1) That the universe is very different indeed from what it seems and (2) That it has quite a large number of properties which it does not seem to have.—Philosophy in the Twentieth Century ed. by Barrett and Aiken, p. 543.

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में कुछ विशिष्ट गुण विद्यमान हैं, जैसे विश्व चेतन है, बौद्धिक है, सोद्देश्य है और यंत्रवत् नहीं है। अतः सामान्य दृष्टि-कोण से प्रत्ययवाद का यह गहरा अंतर और प्रत्ययवाद द्वारा विश्व को अत्यन्त उत्कृष्ट गुणों से सँजो देने का प्रयास इस प्रश्न को सहज ही सामने रखता है कि वास्तव में प्रत्ययवाद मान्य है अथवा नहीं। मूर का कहना है कि वह इस बात का खंडन नहीं करते कि विश्व या परम् सत् का स्वरूप प्रत्ययात्मक है वरन् वे प्रत्ययवादियों द्वारा किये गये उन तर्कों को अस्वीकार करते हैं जिन्हें वे अपने सिद्धांत के प्रतिपादन हेतु अनिवार्य मानते हैं। अतः यदि मूर उस आधारभूत तर्क-वाक्य को ही असिद्ध कर देते हैं जो सभी प्रत्ययवादी विचारधाराओं का प्राण है, तो सारा का सारा प्रत्ययवाद यूँ ही तिरोहित हो जाता है। अन्य शब्दों में, यदि आधारभूत तर्क-वाक्य ही असिद्ध हो जाता है तो प्रत्ययवादियों के उपर्युक्त निष्कर्ष के प्रतिपादन का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता। परंतु साथ ही मूर यह भी कहते हैं कि यदि कोई बिना तर्क दिये ही विश्व के स्वरूप को प्रत्ययात्मक मानता है तो उसका मैं खंडन कभी नहीं करूँगा।[1] मूर के अनुसार एक तर्क-वाक्य ऐसा है, जो प्रत्ययवादियों के प्रतिपादन का अत्यंत आवश्यक अंग है और जिसे सभी प्रत्ययवादियों ने स्वीकार किया है। वह तर्क वाक्य है—'सत्ता दृश्यता है'।[2]

इस तर्क-वाक्य का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए मूर इस बात को स्पष्ट करते हैं कि इस तर्क-वाक्य के जितने भी संभाव्य अर्थ लिए जाते हैं वे सभी अमान्य और अस्वीकार्य हैं।

सर्वप्रथम 'दृश्यता'[3] शब्द को लें जिसका सामान्य व मौलिक अर्थ होगा 'संवेदन'। परंतु अध्यात्मवादियों के अनुसार 'दृश्यता' का अर्थ मात्र 'संवेदन' ही नहीं वरन् 'संवेदन' और 'विचार'[4] दोनों ही हैं। इस संदर्भ में उद्धरण प्रस्तुत करते हुए मूर टेलर महोदय के एक लेख की चर्चा करते हैं जिसमें मूर के अनुसार टेलर ने अध्यात्मवादियों के उस अंतिम तर्क-वाक्य की परिभाषा

---

1. And if any idealist holds that no argument is necessary to prove that reality is spiritual I shall certainly have not refuted him—Ibid., p. 544.
2. Esse est percipi.
3. Percipi.
4. Sensation and Thought.

कुछ इस प्रकार दी है—"चेतन अनुभव के अविभाज्य अंश के रूप में किसी वस्तु की उपस्थिति हीं उस वस्तु को सत् सिद्ध करती है"।[1] मूर कहते हैं मेरा यह लेख कम से कम टेलर महोदय के उपर्युक्त कथन का खंडन तो अवश्य ही करेगा कि वस्तु का अपने अस्तित्व के लिए अनुभव का अविभाज्य अंश होना आवश्यक है।

पुनः यदि 'दृश्यता' को उसी अर्थ में ही लिया जाय जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है तो भी हमारा प्रश्न हल नहीं होता क्योंकि संयोजक[2] 'है' शब्द के तीन संभाव्य अर्थ लिए जा सकते हैं :—

(1) सत्ता और दृश्यता में पूर्ण तादात्म्य है, अर्थात् दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। सत्ता शब्द दृश्यता के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं रखता। अन्य शब्दों में, दोनों एक ही वस्तु के दो विभिन्न नाम हैं। परंतु 'सत्ता दृश्यता है' तर्क-वाक्य का मात्र इतना ही अर्थ नहीं कि वह एक शब्द (सत्ता) की परिभाषा है और यदि है भी तो एक नितांत अनुचित परिभाषा है।[3]

(2) दूसरे अर्थ में इस तर्क-वाक्य का अर्थ होगा सत्ता का दृश्यता के साथ आंशिक तादात्म्य है। अर्थात् दृश्यता सत्ता का ही एक अंश है। इस प्रकार किसी वस्तु को सत् कहने का अर्थ हुआ अनुभूति + अन्य कुछ और[4], अर्थात् सत् के लिए अनुभूति होना आवश्यक है परंतु सत् का पूर्ण अर्थ अनुभूति नहीं है। अतः अस्तित्व के अर्थ में मात्र अनुभूति के अतिरिक्त कुछ और भी स्वीकार करना पड़ेगा अर्थात् किसी वस्तु का अनुभूति का विषय होना ही उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं करता। परंतु यह अर्थ भी अध्यात्मवादियों को मान्य नहीं।

---

1. That what makes (any piece of fact) real can be nothing but its presence as an inseparable aspect of a sentient experience – Internationl Journal of Ethics, October, 1902.
2. Copula.
3. The principle esse is percipi is not thus intended merely to define a word nor yet, that if it were, it would be an extremely bad definition.—Philosophy in the Twentieth Century, ed. by Barrett and Aiken, p. 548.
4. That it was real would mean that was experienced and something else besides.—Ibid, p. 548.

(3) अंतिम अर्थ में एक यही संभावना शेष रहती है कि सत्ता का अर्थ दृश्यता से निर्धारित नहीं होता वरन् किसी अन्य तथ्य से होता है और वह तथ्य है 'र'; परंतु 'र' और दृश्यता में इतना अविभाज्य संबंध है कि 'र' का अस्तित्व बिना दृश्यता के संभव नहीं। अर्थात् सत्ता व दृश्यता में पूर्ण तादात्म्य तो नहीं परंतु एक अविभाज्य आवश्यक संबंध अवश्य है। परंतु मूर को यह अर्थ भी स्वीकार्य नहीं।

मूर कहते हैं कि इस तर्क-वाक्य को आवश्यक व संश्लेषणात्मक होना चाहिए क्योंकि यह दो पदों के बीच एक आवश्यक संबंध का व्यक्तीकरण है जिनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। अतः इस तर्क-वाक्य को सत्य, वैध व मान्य तभी माना जा सकता है जब वह स्वयं-सिद्ध हो। परंतु अध्यात्मवादियों का अपने तर्क-वाक्य को बुद्धि द्वारा पुष्ट करने का प्रयास यह सिद्ध करता है कि यह तर्क-वाक्य स्वयं-सिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वयं-सिद्ध तर्क-वाक्य अपने लिए बुद्धि द्वारा प्रमाणित होने की अपेक्षा रखता है।

'सत्ता दृश्यता है' के इस तीसरे अर्थ में यह तर्क दिया जाता है कि 'अनुभूति का विषय विषयी के बिना अकल्पनीय है'। यह वाक्य अनिवार्य है, क्योंकि इसके विरोधी तर्क-वाक्य की कल्पना नहीं की जा सकती। परंतु ऐसे तर्क-वाक्य, जिनके विरोधी तर्क-वाक्यों की कल्पना ही वदतोव्याघात है, विश्लेषणात्मक तर्क वाक्य कहलाते हैं। परंतु 'सत्ता दृश्यता है' को इससे पूर्व ही संश्लेषणात्मक सिद्ध किया जा चुका है। अतः अध्यात्मवादी दो विरोधी निष्कर्षों को सामने रखते हैं कि ये तर्क-वाक्य संश्लेषणात्मक होने के साथ-साथ अनिवार्य भी हैं।

अध्यात्मवादियों के अनुसार विषय व विषयी में आवश्यक संबंध है क्योंकि उनमें स्पष्ट विभाजन नहीं दिखायी देता। इसके अतिरिक्त, उनके लिए 'पीले वर्ण' व 'पीले वर्ण के संवेदन' में भी कोई अंतर नहीं है, अर्थात् संवेदन और संवेदन उत्पन्न करने वाली वस्तु एक ही है। परंतु यह ध्यान देने योग्य है कि यदि संवेदन व वस्तु में पूर्ण तादात्म्य है तो उस एकता के लिए तर्क प्रस्तुत करना मूर्खता है तथा इसके विपरीत यदि वे भिन्न हैं तो उनमें पूर्ण तादात्म्य घोषित करना हास्यास्पद है। इसके विरुद्ध अध्यात्मवादियों की ओर से एक संभावना प्रस्तुत करते हुए मूर का कहना है कि अध्यात्मवादी संवेदन व वस्तु के विभाजन को स्वीकार करते हुए भी दोनों को एक ही 'आंगिक एकता'[1]

---

1. Organic Unity.

के अंग मानते हैं और इस प्रकार भिन्न होते हुए भी वे तादात्म्य रखते हैं। (यहाँ मूर का संकेत स्पष्ट रूप से हेगल की ओर है) परंतु इस प्रकार के अध्यात्मवादी तर्क मूर को स्वीकार्य नहीं हैं। उनके अनुसार इस प्रकार के दो विरोधी तर्क-वाक्यों को एक साथ मान्यता देकर सिद्धांत का नाम दे देना एक प्रकार का तार्किक दोष है जो मात्र अनुभव के आधार पर ही असिद्ध हो जाता है।[1]

निष्कर्ष रूप में मूर यह कहते हैं कि जैसे ही यह प्रमाणित हो जाता है कि 'सत्ता' व 'दृश्यता' दो सर्वथा पृथक् पद हैं, यथा 'हरा' और 'मीठा'। जैसे ये दोनों पद अनिवार्य रूप से संबद्ध नहीं हो सकते, वैसे ही 'सत्ता दृश्यता है' तर्क-वाक्य असिद्ध हो जाता है।

इसके पश्चात् मूर कई प्रकार से इस बात को स्पष्ट करते हैं कि वस्तु का अस्तित्व उस वस्तु की चेतना से पृथक् है अर्थात् वस्तु और उसका संवेदन दो सर्वथा पृथक् बातें हैं। यह बात सर्वमान्य है कि 'नील वर्ण' का संवेदन 'हरित वर्ण' के संवेदन से पर्याप्त भिन्न है। परंतु यह बात स्पष्ट है कि संवेदन होने के नाते दोनों में कोई गुण सामान्य है, जिसे 'चेतना' कह सकते हैं और यदि दोनों में कोई अंतर है, तो वह उन पदार्थों के कारण है जिनके वे संवेदन हैं। अन्य शब्दों में, किसी भी संवेदन में दो तत्त्व हैं—(1) चेतना, जिसके कारण सभी संवेदन समान हैं तथा (2) पदार्थ, जिसके कारण सभी संवेदन एक-दूसरे से भिन्न दृष्टिगत होते हैं।[2] अतः संवेदन व पदार्थ में एकता या तादात्म्य स्थापित करना बहुत बड़ी भूल है, जो बहुधा प्रत्ययवादी विचारक करते हैं। 'नीलवर्ण' का 'नीलवर्ण के संवेदन' के साथ तादात्म्य स्थापित करने का अर्थ है एक 'यौगिक पूर्णता'[3] के दो अंशों में या एक अंश का उस पूर्ण के साथ तादात्म्य स्थापित करना जिसका वह स्वयं अंश है और ऐसा करना नितांत विवेकहीन ही है।

---

1. Hegel's main service to philosophy has consisted in giving a name to and erecting into a principle, a type of fallacy which experience had shown philosophers, alongwith the rest of mankind, to be addicted.—Ibid., p. 552.
2. We have, then, in every sensation two distinct terms (1) consciousness' in respect of which all sensations are alike and (2) something else in respect of which one sensation differs from another —Ibid., p. 653.
3. Complex whole.—Ibid., p. 635.

यहाँ प्रत्ययवादी यह कह सकते हैं कि संवेदन व वस्तु में तादात्म्य न होते हुए भी एक अविभाज्य संबंध है क्योंकि पदार्थ संवेदन की सामग्री है। मूर इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहते हैं कि ज्ञान का विषय (पदार्थ) संवेदन की प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं माना जा सकता। नील वर्ण नीले पुष्प में उसकी विशेषता या गुण रूप में विद्यमान है परंतु यह संबंध नील वर्ण और उसके संवेदन के मध्य नहीं है। अर्थात् नील वर्ण का संवेदन स्वयं नीला नहीं है। अन्य शब्दों में, नीले पुष्प को प्रत्यक्षीकृत करने में हमारा प्रत्यक्षीकरण नीला नहीं हो जाता।

पुनः मूर कहते हैं कि एक अन्य संभावना भी यहाँ व्यक्त की जा सकती है कि मस्तिष्क में पदार्थों के प्रत्यक्ष होने के कारण ही हमें उनका आभास होता है। अर्थात् हम अपने विचारों की सीमा से बाहर नहीं जा सकते। अन्य शब्दों में, जो कुछ हमारे मानस में पूर्वनिहित है, उसी का हमें आभास होता है। मूर का कथन है कि मस्तिष्क में किसी भी वस्तु का प्रत्यय होना और उस पदार्थ के अस्तित्व के बारे में ज्ञान होना समान बातें नहीं हैं। अतः अपने मानसिक प्रत्ययों और विचारों की सीमा का अतिक्रमण करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि संवेदन होना या अनुभूति होना ही हमें अपने विचारों से परे ले जाता है। संवेदन द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान वास्तव में हमारे अनुभव की प्रक्रिया का एक अंग नहीं है, वरन् अन्य का ज्ञान है[1] और वह अन्य वस्तु है 'बाह्य पदार्थ' जो संवेदन उत्पन्न करने का कारण है। अतः ज्ञान का विषय स्वयं ज्ञान की प्रक्रिया का अंग नहीं हो सकता।

अपने इस निष्कर्ष को और पुष्ट करने के लिए मूर कुछ अन्य तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यदि हमारा यह निष्कर्ष अस्वीकार कर दिया जाता है तो बड़ी ही अतार्किक व विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि ज्ञान का विषय ज्ञान की प्रक्रिया से बाह्य कोई अन्य पदार्थ नहीं है तो स्वयं ज्ञान व आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि ज्ञाने के बिना ज्ञान का स्वयं अस्तित्व नहीं माना जा सकता और साथ ही आत्मा के बिना आत्मा का अस्तित्व भी अस्वीकार्य है। और यदि पदार्थ के स्वतंत्र अस्तित्व को प्रत्ययवादी अस्वीकार करते हैं तो वे एक आत्मघाती सिद्धांत का प्रतिपादन

---

1. There is, therefore, no question of how we are to get outside the circle of our own ideas and sensations. Merely to have a sensation is already to be outside that circle. It is to know something which is as truly and really not a part of my experience.—Ibid., p. 559.

करते हैं क्योंकि वे मूर द्वारा प्रमाणित उपर्युक्त निष्कर्ष के आधार पर स्वयं अपनी ही आधारभूत मान्यताओं को समाप्त कर देते हैं। यदि अध्यात्मवादी इस निष्कर्ष से परे हटकर आत्मा व ज्ञान के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तो उन्हें पदार्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् इस मान्यता को अमान्य नहीं घोषित किया जा सकता कि ज्ञान से पृथक् व स्वतन्त्र पदार्थों का अस्तित्व है।

अतः बर्कले द्वारा प्रस्तुत यह मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती है कि मैं जिस वस्तु का अनुभव करता हूं वह स्वयं मेरा विचार या संवेदन है। मूर का कथन है कि मुझे भौतिक पदार्थों की उसी प्रकार साक्षात् अनुभूति होती है जिस प्रकार अपने संवेदनों की। अतः पदार्थ का अस्तित्व अनुभव से पृथक् होता है। यदि हम पदार्थ व अनुभव को एक मानते हैं तो इसको सिद्ध करने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है जबकि इसके विपरीत ज्ञान द्वारा अनुभव व बाह्य पदार्थों—दोनों का ही पृथक् अस्तित्व समान रूप से प्रमाणित होता है।

इस प्रकार मूर अपनी सशक्त भाषा, सुलझे हुए शाब्दिक विश्लेषण और अभूतपूर्व तार्किक शैली द्वारा प्रत्ययवादियों के इस निष्कर्ष के समर्थन में दिये गये तर्कों का खंडन समुचित रूप से कर सके हैं कि विश्व का या सत्ता का स्वरूप आध्यात्मिक है।

आंतरिक सम्बन्धों का खंडन

ब्रैडले तथा जोकिम जैसे विज्ञानवादियों (प्रत्ययवादियों) के आन्तरिक सम्बन्धों के सिद्धान्त के विरुद्ध मूर बाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। अपने 'बाह्य तथा आन्तरिक संबन्धों'[1] वाले शीर्षक के एक लेख में उन्होंने आंतरिक सम्बन्धों के विभिन्न अर्थों का विश्लेषण करके उनमें निहित भ्रांतियों का प्रदर्शन किया है तथा अन्त में यह दिखाया है कि सम्बन्धों का स्वरूप बाह्य होता है।

विज्ञानवादियों के अनुसार सम्बन्ध केवल दो पदों को जोड़ता ही नहीं बल्कि उनकी आंतरिक सत्ता में भी प्रविष्ट होता है। ऐसा नहीं है कि सम्बन्धगत पदों की सत्ता उस सम्बन्ध से स्वतन्त्र तथा अप्रभावित रहती हो। सम्बन्धगत हो

---

1. Moor, G. E., Philosophical Studies, New York; The Humanities Mess Inc., London, Routledge & Kegan Paul Ltd., 1951, pp. 276-309.

जाने से उनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं। इसके विपरीत मूर तथा रसेल जैसे वस्तुवादी यह मानते हैं कि सम्बन्धों का सम्बन्धगत पदों के आंतरिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्बन्धगत हो जाने से उनके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आ जाता। पदों की अपनी स्वतन्त्रता वास्तविकता है जो सम्बन्ध के पहले तथा सम्बन्ध के बाद एक-सी ही बनी रहती है।

मूर के अनुसार किन्हीं अर्थों में यह माना जा सकता है कि संबंध आंतरिक होते हैं लेकिन कठिनाई तो तब होती है जबकि विज्ञानवादी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इन अर्थों से भिन्न अर्थ में करते हैं।

संबंधों की आन्तरिकता का एक अर्थ यह हो सकता है कि जब हम किसी पद का अन्य पद या पदों से (क का ख, ग, घ इत्यादि से) संबंध प्रतिपादित करते हैं तो वह संबंध "संबंध से युक्त उन संबंधगत पदों में नहीं निहित होता।" उदाहरण के लिए, जब हम यह कहते हैं कि 'दशरथ राम के पुत्र थे' तो इस वाक्य में निर्दिष्ट तथ्य केवल 'राम', 'दशरथ' तथा 'पुत्र के संबंध' में नहीं निहित होता। इस तथ्य के ध्वनित होने के लिए केवल राम, दशरथ तथा पुत्र के संबंध का होना ही पर्याप्त नहीं है, यह भी आवश्यक है कि वह संबंध राम को दशरथ से इस प्रकार संबद्ध करे जिससे यह अर्थ निकले कि राम दशरथ के पुत्र थे, न कि यह कि दशरथ राम के पुत्र थे। इसी बात को ब्रैडले ने यह कहकर व्यक्त किया है कि तथ्य ऐसी एकता होते हैं, जिनका पूर्णतया विश्लेषण करके उनके घटकों में न्यूनीकृत नहीं किया जा सकता। संबंधगत तथ्य एक जटिल तथ्य है, उसका समीकरण उसकी संरचना में निहित पदों से नहीं किया जा सकता। ऊपर के ही उदाहरण को लेते हुए हम यह देख सकते हैं कि राम दशरथ के पुत्र थे इस तथ्य का समीकरण 'राम', 'दशरथ' तथा 'पुत्र के संबंध' में किसी के साथ नहीं किया जा सकता क्योंकि यही पद 'दशरथ राम के पुत्र थे' में भी विद्यमान है।

यदि संबंधों की आंतरिकता का यह अभिप्राय है तो मूर को इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन इस सिद्धान्त का मात्र यही अर्थ नहीं है। इसका इससे भी महत्त्वपूर्ण अर्थ यह है कि "सभी संबंध अपने पदों को परिवर्तित अथवा प्रभावित करते हैं" अथवा "सभी संबंधों के नाते उनके पदों में अन्तर आता है।" आन्तरिक संबंध का समर्थन करने वाले दार्शनिक 'परिवर्तित करने' शब्द का प्रतीकात्मक अर्थ में प्रयोग करते हैं। परिवर्तन से उनका आशय उस प्रकार का परिवर्तन नहीं है, जैसा कि आग से मोमबत्ती का संबंध मोमबत्ती के स्वरूप को परिवर्तित कर देता है। "संबंध पदों को

परिवर्तित करते हैं" यह वाक्य, उनके अनुसार, "संबंध आन्तरिक होते हैं" का पर्यायवाची है और इसका अभिप्राय यह है कि जब किसी संबंधगत पद का दूसरे पद से संबंध होता है, तो उसका एक दूसरा ही स्वरूप हो जाता है, जो कि उस संबंध में आने के पहले नहीं था। प्रत्ययवादियों का विश्वास है कि "सभी संबंध अपने पदों को परिवर्तित करते हैं" यह तर्क-वाक्य एक अन्य आधारभूत तर्क-वाक्य का निष्कर्ष है जो कि सभी संबंधों के स्वरूप को परिभाषित करता है। यह तर्क वाक्य है "सभी संबंध आन्तरिक होते हैं।" मूर के अनुसार यह तर्क-वाक्य निश्चित रूप से असत्य है। वस्तुतः पदों में परिवर्तन "संबंध सूचक गुणों"[1] के नाते होता है न कि संबंधों के नाते। संबंध सूचक गुणों तथा संबंध के भेद को इस उदाहरण से समझा जा सकता है जब हम कहते हैं कि क, ख का पिता है तो हम क के सम्बन्ध में एक सम्बन्धमूलक गुण, ख के पिता होने के गुण, का प्रतिपादन कर रहे हैं, जिसे सम्बन्ध का पर्यायवाची नहीं मानना चाहिए। यदि वह व्यक्ति एक अन्य लड़के ग का भी पिता नहीं है तो 'ग का पिता होना' उसका एक अन्य सम्बन्धमूलक गुण है जो कि ख के पिता होने से भिन्न है, यद्यपि दोनों ही दशाओं में सम्बन्ध—पिता होना—एक ही है। मूर के अनुसार, सम्बन्धों की आन्तरिकता के समर्थक वस्तुतः यह समझते हैं कि ये सम्बन्धमूलक गुण ही उन पदों से आन्तरिक सम्बन्ध रखते हैं।[2] अतएव यह निश्चित करना आवश्यक है कि 'सम्बन्धमूलक गुण' किस अर्थ में उन पदों से आंतरिक सम्बन्ध रखते हैं जिनके नाते यह कहा जाता है कि वे उनको 'परिवर्तित' करते हैं तथा जिसके परिणामस्वरूप यह माना जाता है कि "सभी सम्बन्ध आन्तरिक होते हैं", "सभी सम्बन्धमूलक गुण अपने पदों को परिवर्तित करते हैं।

मूर के अनुसार, इसका अर्थ यह है कि सभी सम्बन्धमूलक गुणों की प्रत्येक स्थितियों में जिस पद में वह गुण होता है, उसके सम्बन्ध में यह सत्यतः कहा जा सकता है कि उस पद से वह पद अनिवार्यतः भिन्न होता है जिसमें कि

---

1. Relational Properties.
2. There is no doubt that those who maintain this dogma mean to maintain that all relational properties are related in a peculiar way to the terms which possess them—that they modify or are internal to them —Philosophical Studies, p. 228.

उस गुण का अभाव होता है।[1] (यदि क में कोई गुण है, जो ख में नहीं है, तो ख क से भिन्न होगा)। सम्बन्धमूलक गुणों के पदों को "परिवर्तित करने" का यही लक्षणात्मक अर्थ है।

उपर्युक्त प्रतिपादन में दो पदों का प्रयोग किया गया है, जिसका स्पष्टीकरण उसके सम्पूर्ण निहितार्थ को समझने के लिए आवश्यक है। ये पद हैं—"अनिवार्यतः होता" तथा "उस पद से भिन्न"। "अनिवार्यतः भिन्न" होने का अर्थ इस प्रकार है: प एक गुण है जो कि एक पद क को परिवर्तित करता है या उससे आन्तरिक सम्बन्ध रखता है क्योंकि क में वह गुण है; इस कथन का अभिप्राय यह है कि इस तर्कवाक्य से कि किसी वस्तु में प गुण नहीं है, यह निष्कर्ष निकलता है कि वह वस्तु क से भिन्न है। अन्य शब्दों में, प गुण से रहित होने तथा क से भिन्न होनें में उसी प्रकार का सम्बन्ध है, जैसे कि समकोण त्रिभुज होने का त्रिभुज होने में है। "उस पद से भिन्न" होने का अर्थ संख्यात्मक तथा गुणात्मक दोनों रूप से भिन्न होने से है। उनके कहने का आशय यह है यदि क में सम्बन्धमूलक गुण प है तो प का क से दो अर्थों में आन्तरिक सम्बन्ध है—(i) प का अभाव क से गुणात्मक भेद आपादित करता है, तथा (ii) प का अभाव क से संख्यात्मक भेद आपादित करता है।

मूर इतना तो स्वीकार करते हैं कि कुछ सम्बन्धमूलक गुण उपर्युक्त में से प्रथम अर्थ में आन्तरिक होते हैं किन्तु इस नाते यह नहीं कहा जा सकता कि सभी इसी प्रकार के होते हैं। वस्तुतः सम्बन्धमूलक गुणों की आन्तरिकता को गुणात्मक अर्थ में लेने पर कुछ भी निर्णायक रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि गुणों के गुणात्मक भेद को निश्चित करना कठिन होता है। उदाहरणार्थ, यह तो कहा जा सकता है कि लाल वस्तु नीली वस्तु से गुणात्मक रूप से भिन्न है, किन्तु यह कहना कठिन है कि लाल गुण गुणात्मक रूप से नीले गुण से भिन्न होता है।[2] अतएव यदि हम निश्चित रूप से कहना चाहते हैं कि कुछ गुण

---

1. ....one thing which is always implied by the dogma that "all relations are internal" is that, in the case of every relational property, it can always be truly asserted of any term A which has that property, that any term which has not had it would necessarily have been different from A — Ibid., p. 284.
2. वही, पृ॰ 286-87.

इस अर्थ में आन्तरिक नहीं होते तथा आन्तरिक सम्बन्ध का मतवाद असिद्ध है तो यह दिखाना होगा कि प्रत्ययवादियों की यह धारणा मिथ्या है कि गुणात्मक दृष्टि से आन्तरिकता का अर्थ संख्यात्मक दृष्टि से भी आन्तरिकता होता है। आन्तरिक सम्बन्धों के सिद्धान्त का यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है कि सभी सम्बन्ध-मूलक गुण संख्यात्मक दृष्टि से आन्तरिक होते हैं और यह सुनिश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है, कि ऐसा नहीं होता।

संबंधमूलक गुण से उत्पन्न होनेवाले संख्यात्मक भेद को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : यदि प संबंधमूलक गुण है तथा वह क पद में विद्यमान है, तो प तथा क जो भी हों, उनके संबंध में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस पद में प नहीं होता वह क से अन्य—उससे संख्यात्मक रूप से भिन्न—होगा। अन्य शब्दों में, क सभी परिस्थितियों में प से युक्त होगा (प का क से आंतरिक संबंध होगा)। किन्तु बहुत से संबंधमूलक गुण इस अर्थ में आंतरिक नहीं होते। इस बात को समझने के लिए किसी संपूर्ण और उसके अंग के संबंध पर विचार किया जाय। आंतरिक संबंधों के समर्थक यह मानते हैं कि यह उतना ही आवश्यक है कि जो अंग किसी संपूर्ण का अंग है, उसे उसका अंग होना चाहिए जितना यह कि उस संपूर्ण को उस अंग से युक्त होना चाहिए। इसको यों भी कहा जा सकता है जिस संबंधमूलक गुण से कोई पद युक्त होता है, उसके बिना उसकी सत्ता संभव नहीं होती। किन्तु यह मान्यता सामान्य अनुभव में उपलब्ध सत्य के विपरीत है। सामान्य अनुभव में हम यह देखते हैं कि वस्तुओं में पाये जाने वाले संबंधमूलक गुण मात्र तथ्यात्मक होते हैं तथा वह या वे वस्तुएँ उनके बिना भी हो सकती हैं; इसका अर्थ यह है कि कुछ संबंध पूर्णतया बाह्य होते हैं।[1] इसको इस उदाहरण से समझा जा सकता है : किसी संपूर्ण वस्तु का कुछ भाग पीला तथा कुछ लाल है। उसके संबंध में हम कहते हैं—उस वस्तु में वह लाल अंश पाया जाता है। अब, मूर कहते हैं, यह सच

---

1. It implies....that any term which does in fact have a partieular relational property, could not have existed without having that property....it obviously flies in the face of common sense It seems quite obvious that in the case of many relational properties which things have the fact that they have them is a mere matter of fact : that the things in question might have existed without having them.—Ibid., pp. 288–89.

है कि यदि वह लाल अंश न हो तो वस्तु वही वस्तु न होगी अथवा जिस संपूर्ण वस्तु में वही लाल अंश न होगा वह इस संपूर्ण वस्तु से भिन्न होगी। किन्तु इसी तथ्य को अन्य दृष्टि से भी देखा जा सकता है : लाल अंश तथा संपूर्ण के संबंध की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उस संपूर्ण वस्तु के अंश के रूप में न विद्यमान होकर भी उस लाल अंश की सत्ता हो सकती है। अन्य शब्दों में, लाल अंश के बिना संपूर्ण की सत्ता में अंतर आ जायगा किन्तु संपूर्ण से अलग हो करके लाल अंश की सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं आएगा और इस प्रकार लाल अंश (जो कि एक संबंधमूलक गुण है) का संपूर्ण से बाह्य संबंध होगा। मूर का संबंधों की बाह्यता से यही तात्पर्य है; यह उनके लिए सर्वथा स्पष्ट तथ्य है। उन्हें यह आश्चर्य होता है कि कैसे कोई भी दार्शनिक यह भ्रम कर सकता है कि अंश का संपूर्ण के साथ संबंध उसी तरह आंतरिक होता है जैसे कि सम्पूर्ण का अंश के साथ और इस नाते वह यह मानता है कि सभी संबंध उसी एक अर्थ में (पर्ण का अंश के साथ संबंध) आंतरिक होते हैं।

मूर अपने इस सिद्धांत को जन-सामान्य दृष्टि की संज्ञा देते हैं तथा इसमें उन्हें कोई अस्पष्टता अथवा विवाद की संभावना नहीं दिखाई देती। उनका कहना यह है कि क वस्तुतः प गुण से युक्त हो सकता है, तथापि वह सच है कि प के बिना भी उसका अस्तित्व संभव था। इसका अर्थ यह है क का प से युक्त होना सत्य हो सकता है, किन्तु यह निष्कर्ष कि प से रहित वस्तु क से अन्य-संख्यात्मक रूप से भिन्न वस्तु होगी, असत्य हो सकता है। इस बात को आंतरिक संबंधों के समर्थक क्यों नहीं समझते ? इसका कारण यह है कि उपर्युक्त सत्य को वे एक अन्य सत्य से भिन्न नहीं कर पाते। वह सत्य यह है कि यदि क प से युक्त है और म उससे रहित है तो यह निष्कर्ष निकलता है कि म क से अन्य है।

इस प्रकार हमारे सम्मुख दो तर्कवाक्य हैं, जिनमें से एक मूर को स्वीकार्य है और दूसरा प्रत्ययवादियों को स्वीकार्य है किन्तु मूर को अस्वीकार्य है। मूर के अनुसार संबंधों की आंतरिकता का सिद्धांत इन्हीं दोनों तर्कवाक्यों में घपले का परिणाम है। जो तर्कवाक्य मूर के अनुसार सत्य है वह यों है : (i) यदि क प से युक्त है और म उससे रहित, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि म क से भिन्न है। जो तर्कवाक्य उसके अनुसार असत्य है वह है : (ii) यदि क प से युक्त है तो इस तर्कवाक्य से कि म क से युक्त नहीं है, यह निष्कर्ष निकलता है कि म क से भिन्न है। मूर के अनुसार उपर्युक्त दोनों तर्कवाक्य

सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु प्रत्ययवादी या तो उन्हें पर्यायवाची समझ लेते हैं अथवा यह समझ लेते हैं कि तर्कवाक्य (ii) तर्कवाक्य (i) से निगमित होता है ।

आन्तरिक सम्बन्धों का मतवाद मुख्यतः इस धारणा पर आधारित है कि तर्कवाक्य (ii) तर्कवाक्य (i) से निगमित होता है । किन्तु यह सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है । इसको मूर यों समझाते हैं : प्रथम तर्कवाक्य, जो कि मूर के अनुसार सत्य है, इस रूप में रखा जा सकता है :—

(i) इस मेज पर रखी सारी पुस्तकें नीले रंग की हैं ।
(ii) मेरी प्रिंसिपिया एथिका की प्रति इस मेज पर है ।
(iii) मेरी प्रिंसिपिया एथिका की प्रति नीले रंग की है ।

प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय तर्कवाक्य के लिए क्रमशः p. q तथा r प्रतीकों का प्रयोग करते हुए इस न्यायवाक्य को इस तर्कवाक्य में रखा जा सकता है । p अनुलग्नित[1] करता है (q*r) जिसका अर्थ है कि p से यह निश्चित रूप से निगमित होता है कि "प्रिंसिपिया की मेरी प्रति मेज पर है" तथा "प्रिंसिपिया की मेरी प्रति नीली नहीं है" ये दोनों तर्कवाक्य सत्य नहीं हैं । अर्थात् जब यह ज्ञात है कि "इस मेज पर सभी पुस्तकें नीली हैं" तथा मेरी यह पुस्तक मेज पर है "तो इससे यह तर्कवाक्य निश्चित रूप से निगमित होता है कि "मेरी वह पुस्तक नीली है" । किन्तु प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत इस तर्कवाक्य p अनुलग्नित करता है (q*r) से यह दूसरा प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत तर्कवाक्य p* (q अनुलग्नित करता है r) नहीं निगमित होता । यह ध्यान में रहे कि यही तर्कवाक्य ऊपर निर्दिष्ट तर्कवाक्य (ii) की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है और मूर यह दिखा रहे हैं कि प्रथम से वह निगमित नहीं होता । इस द्वितीय तर्कवाक्य का अर्थ यह है कि "यह नहीं हो सकता है कि p सत्य है तथा (q अनुलग्नित करता है r) असत्य हो" । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि (p अनुलग्नित करता है r) निश्चित रूप से असत्य है, क्योंकि इस तर्कवाक्य से कि "मेरी प्रिंसिपिया की प्रति मेज पर है" यह तर्कवाक्य कि "मेरी प्रिंसिपिया की प्रति नीली है" निगमित नहीं होता । क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि नीली हुए बिना मेरी यह पुस्तक इस मेज पर नहीं हो सकती । अतएव यह कहा जा सकता है कि यह सत्य नहीं है कि प्रत्येक p अनुलग्नित करता है (q*r) आकारवाले तर्कवाक्य से उसका संवादी p* (q अनुलग्नित करता है r) निगमित होता है । अतएव यह मान्यता कि (ii) तर्कवाक्य (i) से निगमित होता है, केवल

---

1. Entails.

भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति का कारण भी सर्वथा स्पष्ट है। तर्कवाक्य (i) से हम यह तो कह सकते हैं कि यदि किसी वस्तु A में कोई P गुण है, तो जिस वस्तु में वह गुण नहीं है, वह उस वस्तु से भिन्न होगी। इसी को मूर प्रतीकात्मक रूप से यों व्यक्त करते हैं : यदि AP सत्य है तो "YP* { (Y=A) }" आवश्यक रूप से सत्य तर्कवाक्य हैं। इस प्रतीक का अर्थ है : यदि Y में P नहीं है तो यह असत्य है कि Y A से भिन्न नहीं है। यहाँ "अवश्यक रूप से सत्य" होने का अर्थ केवल यह है कि तर्कवाक्य (YP* { (Y=A) }) तर्कवाक्य AP से अनिवार्यतः निगमित तो होता है किन्तु स्वयं अनिवार्य तर्कवाक्य नहीं है। इसके विपरीत आन्तरिक सम्बन्धों के समर्थक यह मान लेते हैं कि यह नहीं हो सकता कि AP सत्य हो तथा "YP*Y=A" अनिवार्य तर्कवाक्य न हो।

उपर्युक्त से यह सिद्ध होता है कि हम यह मानने के लिए बाध्य नहीं हैं कि सभी सम्बन्धमूलक गुण इस अर्थ में आन्तरिक होते हैं कि यह कहा जा सके कि यह उन प्रत्येक दशाओं में, जब कि कोई पद किसी विशेष क्रम से युक्त होता है, यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस पद में वह गुण नहीं है, वह उस पद से भिन्न है। लेकिन मूर इससे आगे जाकर यह कहते हैं कि कुछ सम्बन्धमूलक गुण निश्चित ही आन्तरिक नहीं होते। मूर के अनुसार यह इतना स्पष्ट है कि इसके पक्ष में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि हम यह देखते हैं कि जिस गुण से कोई पद युक्त होता है, उससे अलग होने पर भी उसकी सत्ता रहती है।[1]

---

1. And in defence of this proposition I do not know that I have anything to say but that it seems to me evident in many cases that a term which *has* a certain relational property *might* quite well not have had it. Ibid.,—p. 306.

(ख) बर्ट्रैंड रसल

तर्कीय परमाणुवाद की पृष्ठभूमि : मूर की विश्लेषणात्मक पद्धति

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों में प्रत्ययवाद का प्राबल्य था, परन्तु बाद में प्रत्ययवाद के विरुद्ध विद्रोह हुआ। प्रत्ययवाद के विरुद्ध आरोप ये थे कि इसकी विचारधारा आत्मनिष्ठता से आक्रान्त है, भाषा अस्पष्ट है, चिन्तन असम्बद्ध है तथा इसमें विज्ञान की उपेक्षा हुई है। इंगलैंड में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रचलित प्रत्ययवादी दर्शन सामान्य बुद्धि से बहुत दूर था तथा उसकी भाषा युक्तिपरक की अपेक्षा साहित्यिक एवं आलंकारिक अधिक थी। आध्यात्मवादी दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त कोई भी शब्द सदैव एक ही तथ्य अथवा वस्तु को व्यंजित करनेवाला या निर्देशक नहीं था। उसका सुनिश्चित अर्थ होने से भाषा एवं विचार की अस्पष्टता बढ़ जाती थी अतः उन दार्शनिकों के बीच असन्तोष उठ खड़ा हुआ जो इस बात की अपेक्षा रखते थे कि दार्शनिक कथन युक्ति-युक्त एवं स्पष्ट हों।

जर्मन दार्शनिक हेगल की विदेशी परम्परा के प्रवेश के पूर्व इङ्गलैंड में दर्शन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता थी। अतः दार्शनिक वक्तव्यों के अर्थ की निश्चितता एवं तार्किक चिन्तन के प्रति आग्रहशील लोगों के मन में असन्तोष उत्पन्न होने लगा। आंग्ल दर्शन में प्रत्ययवाद का योगदान चाहे जो रहा हो, यह विचारधारा ठहर न सकी। विदेशी विचारधारा इंग्लैंड की इन्द्रियानुभववादी परम्परा को नष्ट करने में सफल न हो सकी। अतः प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। इस प्रक्रिया का सूत्रपात इंग्लैंड के उन दार्शनिकों के माध्यम से हुआ जिन्होंने ग्रीन, ब्रैडले तथा बोसांके के दर्शन से अध्ययन एवं चिन्तन आरम्भ किया था। उन्होंने दर्शन के इन आचार्यों के निरपेक्ष प्रत्ययवाद का विरोध किया क्योंकि अब वे दार्शनिक चिन्तन को सामान्य बुद्धि के स्तर पर लाने के साथ उसको चमत्कार एवं रहस्यात्मक परिवेश से मुक्त करना चाहते थे। विद्रोही पीढ़ी के इन दार्शनिकों में प्रमुख हैं जी० ई० मूर तथा बर्ट्रैंड रसेल।

मूर अनुभव करते थे कि दार्शनिकों के कथन में स्पष्टता का अभाव है। इस दृष्टिकोण ने मूर को इङ्गलैंड के दर्शन-जगत् में प्रत्ययवाद के अत्यधिक प्रभावशाली आलोचक एवं व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। दार्शनिक कभी-कभी विषय का ऐसा प्रतिपादन करते थे कि उसे सामान्य बुद्धि की दृष्टि से ग्रहण करने में कठिनाई होती थी। उन दिनों धारणा थी कि सामान्य बुद्धि का दृष्टिकोण अल्पज्ञ सामान्य जनों का दृष्टिकोण है। अतः विषय के विशेषज्ञों

की अभिव्यक्ति तथा कथन-शैली सामान्य जनों की शैली और दृष्टिकोण से भिन्न होनी चाहिए।

मूर ने इङ्गित किया कि दार्शनिक किसी तथ्य अथवा कथन का प्रतिपादन करते समय उसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिसे उस भाषा में बोलने और समझनेवाले प्रयोग करते हैं। भाषा में प्रतीक रूप में प्रयुक्त शब्द वस्तुविशेष अथवा संसार की घटना को निर्देशित करते हैं। यही कारण है कि दूसरे उन निर्देशात्मक प्रतीकों को समझ लेते हैं और संज्ञापन सम्भव होता है। परन्तु यदि दार्शनिक इन सामान्य प्रतीकों का उपयोग निर्दिष्ट अर्थों अथवा घटनाओं से भिन्न करने की स्वतंत्रता अपनाते हैं तो उनका अर्थ अस्पष्ट हो जाता है।

अतः दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त वाक्यों के अर्थों को ठीक-ठीक समझने के लिए मूर ने उनका विश्लेषण आरम्भ किया। उन्होंने सामान्य बुद्धि पर आधारित वाक्यों की सत्यता को स्पष्ट करने का प्रयास किया। दार्शनिकों को सामान्य जनों द्वारा प्रयुक्त सामान्य भाषा के सुनिश्चित अर्थवाले शब्दों पर नये अर्थ आरोपित करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यह सिद्ध करने के लिए कि सामान्य प्रयोग में इस प्रकार अर्थ सुप्रतिष्ठित है अथवा नहीं, मूर वाक्यों के अर्थ का विश्लेषण करना चाहते थे। मूर का मत था कि विचारों की अभिव्यक्ति के लिए, चाहे विचार दार्शनिक क्यों न हों, सामान्य भाषा पर्याप्त है। जब दार्शनिक किसी शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग करता है, जो सामान्य प्रयोग में प्रचलित नहीं है तो वक्तव्य अस्पष्ट अथवा असत्य भी हो जाता है। अतः वाक्य की सत्यता का निर्णय इस निष्कर्ष के आधार पर होना चाहिए कि उसमें प्रयुक्त शब्दों के सुप्रतिष्ठित अर्थों का अतिक्रमण तो नहीं हुआ है। सामान्य बुद्धि पर आश्रित वाक्य ऐसे वाक्य होते हैं, जिन्हें हम सामान्यतः सत्य स्वीकार करते हैं। यदि दार्शनिक इन्हें असत्य सिद्ध करने का प्रयास करता है तो विसंगतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि दार्शनिक अपने सामान्य बुद्धि के दृष्टिकोण से स्वयमेव जानता है कि वे सत्य हैं। किन्तु विश्लेषण से मूर का आशय क्या था? मूर के लिए विश्लेषण का अर्थ संप्रत्ययों का विश्लेषण है। परन्तु उनके लिए संप्रत्यय इन्द्रियदत्त सामग्री पर आधारित मानसिक रचना नहीं है। मूर के मतानुसार संप्रत्यय विषयनिष्ठ पदार्थ तथा जगत् संप्रत्ययों की संरचना है। जैसा कि हम देख चुके हैं, 'प्रत्ययवाद का खण्डन' शीर्षक लेख में मूर ने प्रत्ययवादियों के इस मत का खण्डन किया कि 'परमतत्त्व' आध्यात्मिक है। उन्होंने अपने लेख में यह दिखाया कि प्रत्ययवादियों का उक्त कथन अस्पष्ट है। ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिन्हें उपर्युक्त निष्कर्ष की सत्यता प्रतिपादित करने के पूर्व सिद्ध

करना आवश्यक है। मूर ने इंगित किया कि प्रत्ययवादी सिद्धान्त इस प्रमुख आधार-वाक्य पर आधारित है कि 'सत्ता दृश्यता है' अर्थात् वस्तु-विशेष का अस्तित्व उसके प्रत्यक्षीकृत होने में है। इस सिद्धांत का विश्लेषण करते हुए मूर ने कहा कि उक्त सिद्धांत को स्वीकार करने का अर्थ है कि संवेदन तथा संवेदन उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ एक ही हैं, अर्थात् अस्तित्व का अर्थ संवेदन का अस्तित्व है। अन्य शब्दों में, अनुभूति के रूप में संवेदन ही अस्तित्व है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित इस कथन का अर्थ हुआ 'अस्तित्व ही अस्तित्व है' जो अर्थहीन पुनरुक्ति मात्र है—

(अस्तित्व=इन्द्रियानुभूति, इन्द्रियानुभूति=संवेदन,
संवेदन = अस्तित्व, अस्तित्व = अस्तित्व)

मूर ने कहा कि नीलवर्ण का संवेदन हरित वर्ण के संवेदन से भिन्न है, परन्तु दोनों संवेदन हैं अतः दोनों में कोई न कोई सामान्य गुण होना चाहिए। 'चेतना' वह सामान्य गुण है। दोनों संवेदनों में भिन्नता है, क्योंकि वस्तुएँ भिन्न हैं। संवेदन की एक वस्तु नीली है तो दूसरी हरी। चेतना, दोनों संवेदनों में निहित है, दोनों से भिन्न है। नीलवर्ण का संवेदन स्वयं नीला नहीं है, बल्कि एक वस्तु के रूप में नीलवर्ण की अनुभूति है। अतः संवेदन होने का अर्थ है किसी बाह्य वस्तु का ज्ञान जो संवेदन का कारण है, अतएव यदि हम भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व पर सन्देह करते हैं तो हमें संवेदन के अस्तित्व पर भी सन्देह करना होगा।

मूर का विचार है कि यदि हम वस्तु विशेष की ओर निर्देश करते हैं तो यह मन से बाहर भौतिक वस्तु के अस्तित्व का पर्याप्त प्रमाण है। जब मैं अपने हाथों की ओर संकेत करके कहता हूँ कि ये मेरे हाथ हैं, तो यह मेरे दोनों हाथों के अस्तित्व का प्रमाण है। 'मैं मनुष्य के हाथ देखता हूँ' इस वाक्य का विश्लेषण करके निम्न दो सरल वाक्यों के रूप प्रस्तुत किया जा सकता है। मैं इसे देखता हूँ और 'यह एक मनुष्य का हाथ है'। परन्तु प्रश्न है कि 'यह' क्या है ? मूर द्वारा प्रस्तुत उत्तर के अनुसार 'यह' एक इन्द्रिय-प्रदत्त वस्तु है। इस इन्द्रिय-प्रदत्त वस्तु से मूर का अभिप्राय उस वस्तु से है जो साक्षात् प्रत्यक्ष से उद्भूत है।

मूर के लिए संवेदन तथा इन्द्रिय-प्रदत्त वस्तु में अन्तर है। संवेदन ज्ञाता की एक अनुभूति है; यह प्रत्यक्ष वस्तु में नहीं है। परन्तु इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री प्रत्यक्ष वस्तु की पृष्ठभूमि का एक अंश है, अतः वह प्रत्यक्ष वस्तु में ही है।

नीलवर्ण इन्द्रिय-प्रदत्त सामग्री के रूप में नीली वस्तु में निहित है। परन्तु नीलवर्ण का संवेदन नीली वस्तु को देखनेवाले व्यक्ति में है।

मूर के नैतिक विचारों में संप्रत्यय का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए उसी विश्लेषण पद्धति का प्रयोग सर्वविदित है। मूर ने कहा कि कतिपय नैतिक दार्शनिकों का विचार है कि नीतिशात्र मानव आचरण के शुभ-अशुभ से संबंधित है। परन्तु वे नहीं जानते कि 'शुभ' तथा 'अशुभ' शब्दों का वे किस अर्थ में प्रयोग करना चाहते हैं ? जब तक हमें ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता कि शुभ क्या है, अथवा शुभ की परिभाषा क्या है, तब तक हमारे लिए शुभ और अशुभ आचरण में भेद करना सम्भव नहीं हो पाता। मूर का यह प्रश्न है कि 'शुभ' शब्द का प्रयोग सामान्यतः किस अर्थ में किया जाता है ? मूर ने यद्यपि विश्लेषण पद्धति को अपनाया परन्तु उन्होंने कभी यह मत व्यक्त नहीं किया कि समस्त संप्रत्ययों का विश्लेषण सम्भव है। उनके मतानुसार शुभ की परिभाषा सम्भव नहीं है, इसका विश्लेषण भी सम्भव नहीं है।[1] किन्तु ऐसा इसलिए नहीं है क्योंकि शुभ एक ऐसा रहस्यात्मक गुण है, बल्कि इसलिए कि यह सरलतम प्रत्यय है, जिसका विश्लेषण द्वारा सरलीकरण सम्भव नहीं है। अतः इसकी परिभाषा भी नहीं की जा सकती। यदि कोई शुभ के इस स्वरूप की अवहेलना करके उसकी परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयास करता है तो मूर के अनुसार उसका वह प्रयास प्रकृतिवादी दोष[2] से युक्त है। जब हम कहते हैं 'लाल गुलाब' तो हमारा आशय गुलाब के लाल वर्ण से है जो गुलाब में प्रकृति की वस्तु के गुण रूप में निहित है। लाल रंग, गुलाब का प्राकृतिक गुण है। परन्तु यदि हम कहते हैं यह एक अच्छा सेब है और विचार करें कि गुलाब के लाल रंग की भाँति 'अच्छा' भी सेब का स्वाभाविक गुण है तो यहाँ पर तर्क-दोष होगा, क्योंकि हम समझते हैं कि 'अच्छा' और 'लाल' दोनों प्रकृति में विद्यमान गुणों की एक ही कोटि के अंतर्गत हैं। परन्तु मूर कहते हैं कि जिस प्रकार गुलाब में लाल वर्ण का अनुभव होता है उसी प्रकार सेब में 'अच्छा' का अनुभव नहीं होता है। अतः उनके अनुसार 'अच्छा' एक अप्राकृतिक गुण है। इसे प्राकृतिक गुण के रूप में देखना प्रकृतिवादी तर्क-दोष होगा।

---

1. If I am asked, "How is good to be defined" ? My answer is that it cannot be defined and that is all I have to say about it, disappointing though the answer may be — —Principia Ethica, p. 6.
2. Naturalistic fallacy.

अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिया एथिका' तथा 'ए रिफ्युटेशन आव् आइडियलिज्म', 'ए डिफेन्स आव् कामनसेंस' तथा 'प्रूफ आव् ऐन एक्स्टर्नल वर्ल्ड' शोर्षक एवं अन्य लेखों में मूर ने अपने समकालीन दार्शनिकों, विशेषतः प्रत्ययवादियों के नैतिक वाक्यों के अर्थ को ठीक ढंग से समझने के लिए अपनी विश्लेषण पद्धति का प्रयोग किया। मूर की इस विश्लेषण पद्धति का प्रभाव महत्वपूर्ण था। कथन को स्पष्ट करने के प्रयास तथा उनके सरल तथा सीधे उपागम ने समकालीन दार्शनिकों तथा उनके विद्यार्थियों को बहुत प्रभावित किया। तथापि कुछ लोगों का विचार है कि यद्यपि वह सामान्य बुद्धि के समर्थक थे, उनकी पद्धति सामान्य बुद्धि से परे थी। उनकी पद्धति सरल की अपेक्षा अत्यन्त जटिल हो गयी। पुनश्च, वे स्वयं कुछ ऐसे शब्दों में नये अर्थ देने के दोषी परिलक्षित होते हैं जिनके अर्थ साधारण बुद्धि द्वारा गृहीत और प्रचलित अर्थ से भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, मूर के लिए 'संप्रत्यय' एक प्रत्यय न होकर बाह्य वस्तु में निहित है। 'संप्रत्यय' और 'सामान्य' को एक ही अर्थ में प्रयोग करना उन्हीं की पद्धति के अनुसार ठीक नहीं है। मूर के अनुसार प्राकृतिक पदार्थ के अप्राकृतिक गुण का अस्तित्व स्वयं अपने आप में सम्भव नहीं है। इसको किसी प्राकृतिक वस्तु के गुण रूप में ही समझा जा सकता है। इस कथन पर ब्राड ने कहा कि मूर का सिद्धांत ग्रहण करने से भूरेपन, गोलाई, सुख आदि को अप्राकृतिक गुणों के रूप में स्वीकार करना होगा, तथा पिमूर ने इनकी गणना प्राकृतिक गुणों में की है।[1] अपने समालोचकों को दिये गये उत्तर में मूर ने स्वयं इस कठिनाई का अनुभव एवं उल्लेख किया है। उन्होंने कहा, मैं इस सम्बन्ध में श्री ब्राड से पूर्णतः सहमत हूँ। मैंने 'प्रिंसिपिया एथिका' में जो मत प्रस्तुत किया था अब मुझे अत्यन्त मूर्खतापूर्ण एवं असंगत प्रतीत होता है।[2]

मूर की पद्धति में चाहे जो भी कठिनाइयाँ हों, फिर भी यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि उन्होंने दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त प्रत्ययों और वाक्यों को

---

1. "The Philosophy of G. E. Moor", Ed. by Shilop,. p. 59.
2 "I entirely agree with Mr. Broad as to this. I not only don't believe that such porperties could exist in time by themselves; I feel perfectly sure that they could not. This suggestion which I made in Principia Ethica seems to me now to be utterly silly and preposterous". Ibid., p. 581.

स्पष्ट करने की जो उत्सुकता दिखायी और उसके लिए जो प्रयास किया वह दार्शनिक चिंतन में उनका महत्वपूर्ण योगदान है।

बर्ट्रेण्ड रसल का दर्शन

बर्टेण्ड रसल एक विश्वख्याति-प्राप्त लेखक हैं, जिन्होंने अनेक विषयों पर पर्याप्त बहुलता से लिखा है। उन्होंने तकनीकी तथा लोकप्रिय--दोनों ही प्रकार की पुस्तकें लिखो हैं। उन्होंने केवल दर्शन पर हो नहीं बल्कि शिक्षा, राजनीति, समाज, नीतिशास्त्र, धर्म, विज्ञान एवं गणित—यानी लगभग उन सभी विषयों पर लिखा है जो मनुष्य तथा समाज के लिए महत्वपूर्ण हैं।

प्रस्तुत निबंध में हमें उनके सामान्य-दर्शन तक ही अपने को सीमित रखना होगा जिसका सम्बन्ध मूलतः तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी विविध प्रश्नों से है। उनका यह दर्शन अनेक अवस्थाओं के बीच से गुजरा है और फलस्वरूप परिवर्तित और परिवर्धित भी हुआ है। इन सभी अवस्थाओं के बीच से गुजरते हुए वह किस प्रकार विकसित हुआ है, इसी की यहाँ पर हम चर्चा करेंगे।

प्रत्ययवाद का विरोध

मूर की भाँति रसल की भी आरम्भिक दीक्षा उस प्रत्ययवादी परम्परा में हुई जो उस समय इंगलेंड में प्रचलित थी और जिसका प्रतिनिधित्व ग्रीन, ब्रैडले तथा वोसांके करते थे। पर मूर की भाँति रसल ने भी उस परम्परा के विरुद्ध विद्रोह किया और इस विद्रोह का केन्द्र-बिन्दु मूलतः प्रत्यक्ष सम्बन्धी प्रत्ययवादी दृष्टिकोण ही था। प्रत्ययवाद के अनुसार प्रत्यक्ष विषयक ज्ञान वस्तुतः उस मन के बीच जो जानता है और उस वस्तु के बीच जो जानी जाती है, एक सम्बन्ध है और वह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसके अन्तर्गत ज्ञेय वस्तु का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में जानने की प्रक्रिया पर आश्रित है। पर यथार्थवाद के अनुसार ज्ञान का विषय अपने अस्तित्व की दृष्टि से सर्वथा स्वतंत्र होता है--उसका अस्तित्व, अन्य शब्दों में, हमारे जानने पर निर्भर नहीं करता। रसल ने प्रत्यक्ष सम्बन्धी इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को, जो जन-साधारण का भी दृष्टिकोण है, स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा कि प्रत्ययवादियों ने विचार की प्रक्रिया तथा उस प्रक्रिया के विषय के अन्तर को समझने में भूल की है। विषयों के ज्ञान का सीधा अर्थ यह है कि मन का सम्बन्ध एक ऐसे विषय से स्थापित होता है, जिसका मन से बाहर एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है। अतएव मन की प्रक्रियाओं से उन विषयों का सृजन नहीं होता, विपरीततः ये विषय मन के समक्ष प्रत्यक्ष के अवसर पर अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हैं।

(2) वर्णनात्मक ज्ञान तथा परिचयात्मक ज्ञान

अतएव विषय बाह्य हैं और साथ ही मन है जो उन्हें जानता है तथा ज्ञान इन दो इकाइयों के बीच का एक अपूर्व सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—एक को रसल परिचयात्मक ज्ञान कहते हैं और दूसरे को वर्णनात्मक ज्ञान। प्रथम में हमें किसी ऐन्द्रिक वस्तु की तत्काल अपरोक्ष अनुभूति होती है पर दूसरे में यह बोध परोक्ष और अनुमित होता है।[1] जब हम किसी मेज को जानते हैं तो हमें उस भौतिक वस्तु का, जिसे 'मेज' कहते हैं, परिचयात्मक ज्ञान नहीं होता बल्कि विभिन्न इन्द्रियों से सम्बद्ध विभिन्न संवेदनाओं का, जिसे वे इन्द्रियदत्त कहते हैं, यानी भूरापन, आयतनता, चिकनापन, कठोरता आदि का ही अपरोक्ष परिचयात्मक ज्ञान होता है और ये सभी समवेत रूप से लिए जाने पर वस्तु का निर्माण करती हैं। अतएव मन से पृथक् एक वस्तु के रूप में 'मेज' का हमारा ज्ञान अपरोक्ष नहीं है; वह रसल के अनुसार वर्णनात्मक ज्ञान है। परिचयात्मक ज्ञान तो इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही होता है। इन इन्द्रिय-प्रदत्तों द्वारा ही हमें मेज का बोध होता है और यह अनुमित ही होता है। इन प्रदत्तों के कारण के रूप में यानी उस स्रोत के रूप में ही, जहाँ हम इन्हें प्राप्त करते हैं, हम बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। पर इस वर्णनात्मक ज्ञान में इन्द्रिय-प्रदत्त ही नहीं बल्कि इन प्रदत्तों से भिन्न कुछ सम्बन्ध भी होते हैं। इन्हें रसल 'सामान्य'[2] शब्द से व्यक्त करते हैं। ये अमूर्त प्रत्यय हैं। देशकाल के जगत् में अस्तित्ववान् न होने तथा इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकृत न होने पर भी ये अस्तित्ववान् हैं। इस प्रकार के अस्तित्व को जो देशकाल में न हो, वे वर्तिता[3] शब्द से व्यक्त करते हैं। विश्व में अनेक ऐसी इकाइयाँ हैं जो भौतिक तथा मानसिक जगत् से सम्बन्धित होते हुए भी वस्तुओं से सम्बन्धित नहीं हैं, फिर भी वे निरर्थक नहीं हैं। उदाहरणार्थ, यदि मैं यह कहूँ कि 'मैं अपने कमरे में हूँ' तो स्पष्ट है कि मैं हूँ और साथ ही मेरा कमरा भी है। पर 'मैं' शब्द के लिए, जिसका एक विशेष अर्थ है और जिसके माध्यम से मेरे तथा मेरे कमरे के सम्बन्ध को प्रस्तुत किया जाता है, क्या कहा जाय ?

---

1. "We have knowledge by acquaintance of everything of which we are directly aware, without the intermediary of any process of inference or knowledge of things."—The Problems of Philosophy.
2. Universal.
3. Subsistence.

इस सम्बन्ध का एक विशेष अर्थ है, जिसे हम सभी समझते हैं। अतः यह वाक्य 'मैं अपने कमरे में हूँ' निरर्थक नहीं है। फिर भी इस सम्बन्ध का अस्तित्व कमरे के अस्तित्व से भिन्न है। रसल कहते हैं कि सभी सत्यों में 'सामान्य' निहित रहते हैं और ये न केवल पदार्थ एवं गुणों का बल्कि क्रियाओं एवं तर्क-वाक्यों[1] का निर्माण करते हैं। तर्क-वाक्य तथा क्रियाएँ—दो वस्तुओं के सम्बन्धों को प्रस्तुत करती हैं। यदि इन्हें सामान्यों के रूप में हम न भी स्वीकार करें तो भी हमें इस बात को मानना पड़ेगा कि तर्क-वाक्य केवल विशेषण का कार्य करते हैं और वस्तुओं के बीच के सम्बन्धों को प्रस्तुत नहीं करते। इस कारण अनेक लोग ऐसा सोचने लगे कि 'सम्बन्धों' जैसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती है और इस प्रकार विश्व में एक ही अस्तित्व है और यदि विश्व में एक से अधिक इकाइयाँ होतीं तो वे परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया न कर पातीं क्योंकि इन प्रक्रियाओं को सम्भव बनानेवाले 'सम्बन्ध' तो हैं ही नहीं। इस प्रकार के विचारों की सहज परिणति है 'एकत्ववाद' और 'चिद्‌बिंदुवाद'[2]।

(3) बाह्य सम्बन्ध का सिद्धान्त

रसल के अनुसार सम्बन्ध विचारों पर निर्भर नहीं करते। वे कहते हैं कि एक तर्क-वाक्य यथा "एडिनबर्ग लंदन के उत्तर में है" में स्पष्ट देखते हैं एडिनबर्ग और लंदन दो ऐसी जगहें हैं जिनके बीच सम्बन्ध है, पर यह भी स्पष्ट है कि उस सम्बन्ध को यदि हम न भी जानें तो भी वह उसी प्रकार अस्तित्ववान् है और जब हम इस बात को जान लेते हैं, कि एडिनबर्ग लंदन के उत्तर में है, तो हम एक ऐसे तथ्य के विषय में जानते हैं जो हमारे जानने के बहुत पहले से अस्तित्ववान् था। अतएव मन तथ्यों का निर्माण नहीं करता, वह केवल उनकी खोज करता है। अन्य शब्दों में, जानने की प्रक्रिया से हम तथ्यों का निर्माण नहीं करते बल्कि हम केवल उन चीजों को जानते हैं, जो हमारे जानने के पूर्व ही अस्तित्ववान् थीं।[3] अतएव सम्बन्ध मन से उतना ही स्वतंत्र

1. Propositions.
2. Monism and monadism result "from an undue attention to one sort of universals, namely the sort represented by adjectives and substantives rather than by verbs and prepositions."—The Problems of Philosophy, pp. 148–49.
3. ' We do not cause the truth of the proposition by coming to know it, on the contrary we merely apprehend a fact which was there before we know it. The part of the earth's

है, जितना कि वह उन इकाइयों से स्वतन्त्र है जिन्हें वह सम्बन्धित करता है। पुनः वह एक ऐसे जगत् से सम्बद्ध है जिसके निर्माण में मन का कोई हाथ नहीं है और जिसका मन को बोध होता है। 'उत्तर में' सम्बन्ध न तो लंदन में है न ही एडिनबर्ग में और न ही वह किसी देश अथवा काल में है। वह मानसिक भी नहीं है। अतएव 'सामान्य' वस्तुतः किसी मन में नहीं होता, जो मन में होता है वह सामान्य न होकर केवल उससे सम्बन्धित विचार ही होता है। एक व्यक्ति का विचार किसी दूसरे व्यक्ति से भिन्न होता है। अतएव क्योंकि सम्बन्ध एक सामान्य है, वह कभी भी विचार नहीं हो सकता है, वह विचार का विषय ही हो सकता है। उसका अस्तित्व देश-काल का अस्तित्व न होकर एक वर्तिता ही है। रसल के अनुसार एक सामान्य का बोध परिचयात्मक ही होता है।

विपरीततः, प्रत्ययवादी सम्बन्ध को आंतरिक ही मानते हैं। अन्य शब्दों में, वे यह नहीं मानते कि उसका कोई एक पृथक् एवं स्वतन्त्र अस्तित्व होता है बल्कि वह सम्बन्धित इकाइयों में ही विद्यमान होता है। पर रसल कहते हैं कि अपनी प्रकृति के आधार पर कोई भी वस्तु किसी विशेष प्रकार के सम्बन्ध का दावा नहीं कर सकती है। पर वस्तु की प्रकृति से प्रत्ययवादी का आशय वस्तु सम्बन्धी सभी सत्यों से है। ऐसी स्थिति में उसकी प्रकृति में सम्पूर्ण विश्व निहित है। पर यह सम्भव है कि वस्तु सम्बन्वी सभी सत्यों को न जानते हुए भी वस्तु का हमें मात्र एक परिचयात्मक बोध ही हो।[1]

---

surface where Edinburgh stands would be north of the part where London stands. even if there were no human being to know about north and south, and even if there were no mind at all in the universe."—The Problems of the Philosophy, p. 152.

1. "I may be acquainted, for example, with my toothache and this knowledge may be as complete as knowledge by acquaintance ever can be, without knowing all that the dentist (who is not acquainted with it) can tell me about its cause, and without therefore knowing its 'nature' in the above sense. Thus the fact that a thing has relations does not prove that its relations are necessary."—The Problems of Philosophy, p. 226.

अतएव रसल के अनुसार यह कहना कि विश्व एक आन्तरिक रूप से सम्बन्धित समग्रता है, सही नहीं है, क्योंकि किसी एक वस्तु के स्वरूप का ज्ञान अनिवार्यतः सम्पूर्ण तंत्र के ज्ञान की ओर हमें नहीं ले जाता, क्योंकि सम्बन्ध बाह्य हैं और वस्तुओं की भाँति ये भी स्वतंत्र इकाइयाँ हैं। हमारा यह विश्व अनेक ऐसी स्वतंत्र इकाइयों से पूरित है, जिनकी अपनी प्रकृतियाँ हैं और जो अनिवार्यतः एक दूसरे पर अपने अस्तित्व के लिए निर्भर नहीं करतीं। किसी भी वस्तु के किसी दूसरी वस्तु से एक से अधिक सम्बन्ध हो सकते हैं और एक सम्बन्ध वस्तुओं के एक जोड़े से अधिक जोड़ों को सम्बन्धित कर सकता है। रसल के अनुसार भेदों में एकता जैसी कोई भी चीज नहीं है। उनके अनुसार इस विषम विश्व में कुछ सरल चीजें हैं, जो अन्तिम हैं और जो हमारे इस विश्व का निर्माण करती हैं; यह एक अन्तर्सम्बन्धित समग्रता नहीं है जिसके कारण हमारी विश्लेषण की प्रक्रिया ही अन्तहीन हो जाय।[1]

(4) प्ररूप का सिद्धांत

रसल के अनुसार बाह्य सम्बन्ध का सिद्धान्त यथार्थवादी दृष्टिकोण का मूल सिद्धान्त है। पर वे समझते हैं कि बाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त को समझने के लिए उनके 'प्ररूप' के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। उनका कहना है कि सम्बन्धों के बारे में तकनीकी दृष्टि से प्ररूप के सिद्धान्त के बिना कोई भी हल सम्भव नहीं है।[2]

शब्द वस्तुओं तथा प्रत्ययों की ओर संकेत करनेवाले प्रतीक हैं। रसल इस बात की ओर संकेत करते हैं कि वे शब्द जो इनकी ओर इंगित करते हैं

---

1. "Identity in difference disappears, there is identity and there is difference and complexes may have some elements identical and some different. We thus get a world of many things with relations which are not to be reduced from a supposed 'nature' or scholostic essence of the related things. In this world whatever in complex is composed of related simple things and analysis is no longer confronted at every step by. an endless regress."—Philosophical Essays. p. 169.
2. "No solution is technically possible without the doctrine of types."

लगभग एक ही प्रकार के होते हैं जबकि जिन वस्तुओं की ओर वे संकेत करते हैं वे सब तार्किक दृष्टि से एक ही प्रकार की न होकर विभिन्न प्रकार की होती हैं और यदि भाषा का ठीक से परीक्षण न किया जाय तो इसके कारण भ्रमित होने की सम्भावना रहती है। अतएव हमारी प्रतीकात्मकता[1] में सुधार की आवश्यकता है ताकि इन प्रतीकों के माध्यम से हम वस्तुओं के प्रकार-भेद को समुचित रूप से प्रस्तुत कर सकें और उन निरर्थक कथनों से अपने को मुक्त कर सकें जो सामान्य वाक् की दृष्टि से—व्याकरण की दृष्टि से सही हों पर अर्थ की दृष्टि से उचित न हों। इसी प्रकार सम्बन्ध भी—उन वस्तुओं की भाँति जिन्हें वे सम्बन्धित करते हैं; तार्किक दृष्टि से एक ही प्रकार के नहीं होते हैं। रसल कहते हैं कि हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि 'ए बी से किस प्रकार सम्बन्धित है' पर हमारा यह प्रश्न करना कि ए तथा बी का सम्बन्ध इन दोनों पदों से किस प्रकार सम्बन्धित है, एक निरर्थक प्रश्न ही होगा। अपनी पुस्तक ऐपियरेंस ऐण्ड रियेलिटी में ब्रैडले ने भी इस प्रश्न को उठाया है और यह दिखलाने की चेष्टा की है कि इसके फलस्वरूप हमारे चिन्तन में अनवस्था दोष आ जाता है और इसके आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सम्बन्ध वस्तुतः पदों को सम्बन्धित नहीं कर सकते। अन्य शब्दों में, यह एक विसंगति है, अतएव सम्बन्ध आभास ही है। रसल के अनुसार यह एक ऐसी वैचारिक अस्तव्यस्तता है जिससे, यदि हम प्ररूप के सिद्धान्त को समझ लें, बचा जा सकता है। एक इकाई के रूप में सम्बन्ध एक दूसरा ही प्ररूप है और वस्तु उससे भिन्न प्ररूप है अतएव हमें एक ही प्ररूप के अन्तर्गत इन दोनों को नहीं सम्मिलित करना चाहिए। तार्किक प्ररूप सम्बन्धी इस भ्रम के कारण हमारे चिन्तन में अनेक दार्शनिक त्रुटियाँ आ जाती हैं। इस बात को बाद के एक अन्य दार्शनिक ने भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, वे हैं गिलबर्ट राइल, जिन्होंने इस भ्रम को 'कोटि भ्रम'[2] की संज्ञा दी है।[3]

(5) वर्णन का सिद्धान्त

अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिया मैथमेटिक' में रसल इस बात को प्रस्तुत करते हैं कि वर्ग की ओर संकेत करनेवाले प्रतीक अपूर्ण प्रतीक होते हैं। उनके प्रयोग निश्चित होते हैं पर वे किसी भी अर्थ को प्रस्तुत नहीं करते। इसका मतलब

---

1. Symbolism.
2. Category mistake.
3. देखिए, 'द कानसेप्ट आव् माइण्ड', संस्करण 1949, पृ० 15.

यह है कि किसी वाक्य-विशेष में तो उनका अर्थ होता है पर वे किसी वस्तु का निर्देश नहीं करते। वे केवल वस्तु-विशेष का वर्णन करते हैं। रसल इसके पश्चात् वर्णन विषयक अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

मान लीजिए कि एक वाक्य यह है: 'स्वर्ण पर्वत बहुत ऊँचा है।' इस वाक्य का एक अर्थ है और उस अर्थ को हम समझते भी हैं। हम स्वर्ण पर्वत के बारे में कहते हैं कि वह बहुत ऊँचा है। यद्यपि स्वर्ण पर्वत शब्द किसी अस्तित्ववान् वस्तु की ओर संकेत नहीं करता फिर भी वह व्याकरण के उद्देश्य[1] के रूप में कार्य करता है और यदि हम यह भी कहें कि 'स्वर्ण पर्वत अस्तित्ववान् नहीं है' तो भी हम एक ऐसी बात प्रस्तुत कर रहे हैं जिसका निश्चित अर्थ है और वह बोधगम्य भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि 'स्वर्णिम पर्वत' किसी यथार्थ में अस्तित्ववान् वस्तु की ओर संकेत नहीं करता फिर भी उसको किसी-न-किसी प्रकार की सत्ता होती है।

इसी प्रकार से एक और वाक्य को लीजिए—'फ्रांस के राजा का सिर गंजा है।' इस वाक्य का भी एक वैयाकरणिक उद्देश्य है और वह है 'फ्रांस का राजा' और यद्यपि 'फ्रांस के राजा' नाम का कोई व्यक्ति नहीं है क्योंकि फ्रांस में राजतंत्र नहीं है, फिर भी व्याकरण की दृष्टि से इस पद का कुछ अर्थ तो है ही।

माइनांग ने कहा था कि इस प्रकार के पद उन वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं जो 'सत्ता की परिधि से बाहर हैं'।[2] ये ऐसी वस्तुएँ हैं जिनपर विरोध का नियम[3] लागू नहीं होता। पुनः ऐसा इसलिए है कि इस प्रकार का पद एक ऐसी वस्तु या व्यक्ति की ओर संकेत करता है जो अस्तित्ववान् नहीं है और उसकी जो विशेषता वह प्रस्तुत करता है, हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। फ्रांस के एक अनस्तित्ववान् राजा के बारे में हम अपनी रुचि के अनुसार यह कह सकते हैं कि वह गंजा है या यह कि वह गंजा नहीं है। यानी माइनांग ने किसी-न-किसी अर्थ में इस प्रकार के पदों जैसे 'फ्रांस का राजा' या 'स्वर्ण पर्वत' के लिए भी सत्ता स्वीकार की थी, यद्यपि ये किसी वास्तविक अस्तित्ववान् इकाई को प्रस्तुत नहीं करते। पर रसल को यह सब पसन्द नहीं था और इसलिए उन्होंने ऐसे पद-समूहों के प्रयोग की

---

1. Grammatical subject.
2. Outside of being.
3. Law of contradiction.

व्याख्या भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की। इसी को उन्होंने अपने 'वर्णन' सम्बन्धी 'सिद्धान्त' के रूप में प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त के माध्यम से उन्होंने यह दिखाना चाहा है कि 'फ्रांस का राजा', 'स्वर्ण पर्वत' आदि पद-समूहों का वस्तुतः कोई अर्थ नहीं है।

इस सिद्धांत के अनुसार 'स्वर्णिम पर्वत' या 'फ्रांस का राजा' पद-समूह वस्तुओं की ओर संकेत करनेवाले नाम नहीं हैं, ये केवल वर्णन हैं। स्वर्णिम पर्वत तो एक वैयाकरणिक उद्देश्य है पर वह किसी भी वाक्य के भीतर एक तार्किक उद्देश्य[1] नहीं है और इसलिए वह किसी भी वस्तु की ओर संकेत नहीं करता।

पुनः रसल कहते हैं कि किसी भी एक प्रकार के तर्क-वाक्य में यथा 'सभी चीजें सी हैं', 'सभी चीजें' पद यह नहीं कहता कि वह एक ऐसी रहस्यमयी वस्तु है, जिसका 'सी' कहकर वर्णन किया जा सकता है। रसल कहते हैं कि ऐसी किसी सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त वाक्य "सभी चीजें 'सी' हैं" पुनः प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि x के सभी मूल्यों को ध्यान में रखते हुए यह कह सकते हैं कि x 'सी है' सत्य है। इस वाक्य में 'सभी चीजें' शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है फिर भी यह वाक्य मूल वाक्य के अर्थ को ठीक-ठीक प्रस्तुत करता है।

इस तर्क-वाक्य में कि 'वैवरली का लेखक एक स्टाक है' कोई भी व्यक्ति यह सोच सकता है कि इस वाक्य में विधेय के माध्यम से 'वैवरली के लेखक' की किसी विशेषता की ओर संकेत किया जा रहा है। पर रसल कहते हैं कि ऐसा सोचना उचित नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'वैवरली का लेखक' शब्द समूह का अर्थ स्काट है—तो यह ठीक होगा। इसके साथ ही रसल इस बात की ओर संकेत करते हैं कि यदि 'वैवरली का लेखक' का अर्थ यह है कि 'वह स्काट है' तो वाक्य 'स्काट 'वैवरली का लेखक है' एक पुनरुक्ति हो जायेगी क्योंकि अन्ततः उसे यों प्रस्तुत किया जा सकता है 'स्काट स्काट है' पर वास्तव में वह पुनरुक्ति[2] नहीं है। दूसरी ओर, यदि 'वैवरली का लेखक' शब्द समूह का अर्थ 'स्काट' से भिन्न होता तब उपर्युक्त वाक्य 'वैवरली का लेखक स्काट है' निश्चित ही असत्य होता। पर ऐसा नहीं है। अतएव रसल के लिए इस कठिनाई से निकलने का एक ही तरीका है और वह यह कि अपने में 'वैवरली

---

1. Logical subject.
2. Tautology.

का लेखक' कुछ भी व्यक्त नहीं करता। वस्तुतः पूरे वाक्य 'वैवरली का लेखक स्काट है' में तीन तर्क-वाक्य सम्मिलित हैं—

(क) कम से कम एक व्यक्ति ने वैवरली लिखी है।

(ख) अधिक से अधिक एक व्यक्ति ने वैवरली लिखी है।

(ग) जिसने भी वैवरली लिखी है, वह स्काट है।

इसी को सामान्यतया इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'एक इस प्रकार का पद 'स' है कि 'क' ने वैवरली लिखा 'क' 'स' के बराबर है। इस वाक्य में 'वैवरली का लेखक' वाक्यांश निकाल दिया गया है। अतएव इस प्रकार के वाक्यांश अपनी व्याकरणात्मक प्रकृति के कारण ही वर्णनात्मक होते हैं पर वास्तव में वे किसी प्रकार की अस्तित्ववान् इकाई की ओर संकेत नहीं करते।[1] ये अपूर्ण प्रतीक होते हैं। ये अस्तित्ववान् इकाई के रूप में प्रतीत होते हैं पर वस्तुतः वे वैसे नहीं होते। माइनाँग इकाइयों अथवा अस्तित्वों की अपनी दुनिया में उन्हें विशेष स्थान देना चाहते थे पर अपने न्यूनीकरण[2] के नियम का प्रयोग करते हुए रसल मूल सरल इकाइयों[3] की सूची में से इन्हें बहिष्कृत करना चाहते हैं। स्पष्ट है कि वर्णनात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य ही यही है कि वह यह स्पष्ट करे कि वर्णनात्मक शब्द-समूह अपूर्ण प्रतीक हैं जो किसी भी अस्तित्ववान् इकाई की ओर निर्देश नहीं करते।

(6) तटस्थ एकत्ववाद[4]

हमने पहले ही यह देख लिया है कि रसल कई प्रकार की सत्ताओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके विश्व की रचना में जाननेवाले मन हैं, इन्द्रिय-प्रदत्त हैं, सामान्य तथा भौतिक वस्तुएँ हैं। यह एक अनेकत्ववादी[5] विश्व है और क्योंकि मन से बाह्य एवं स्वतन्त्र वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है, यह एक यथार्थवादी तत्वमीमांसा भी प्रस्तुत करनेवाला दृष्टिकोण है। रसल वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा विधि अपनाते हैं। हमें एक वैज्ञानिक विधि में जो कुछ भी मूल एवं केंद्रीय है तथा जो उससे निष्कर्षित है, उसके विषय में

1. देखिये 'इंट्रोडक्शन टू मैथमेटिकल फिलासफी', पृ० 177 और 'माई फिलासफिकल डिवेलेपमेंट' पृ० 84.
2. Reduction.
3. Fundamental simples.
4. Neutral Monism.
5. Pluralistic.

सुस्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। सत्ता के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए रसल जो कुछ भी अनावश्यक है उसे बहिष्कृत कर देते हैं और केवल उन्हीं तत्वों को स्वीकार करते हैं जो मूल हैं। अतएव उनके दर्शन का प्रमुख उद्देश्य यह है कि वह विश्व को न्यूनतम मूल तत्त्वों में विघटित कर दे। इसी को 'ओकम के उस्तरे' का प्रयोग कहा गया है। मध्ययुग में ओकम एक पादरी था जिसका यह सिद्धांत था कि 'अनावश्यक रूप से सत्ताओं में अभिवृद्धि नहीं होनी चाहिए।'[1] यह वस्तुतः एक गणितीय विधि है जिसके माध्यम से हम मूल तर्कवाक्यों तक पहुँच सकते हैं जो अन्य किसी से निष्कर्षित न किये जा सकें। पुनः यदि इस प्रकार के एक तर्कवाक्य अथवा प्रत्यय तक हम पहुँच जांय तो एकत्ववाद का समर्थन होगा और यदि एक से अधिक मूल हैं और कोई भी किसी से निष्कर्षित नहीं है तो अनेकत्ववाद का समर्थन होगा। रसल बराबर ओकम के उस्तरे का प्रयोग करते हैं। अन्य शब्दों में, वे कुछ मूल सत्ताओं तक पहुँचने का प्रयास करते हैं जिनसे शेष सभी निष्कर्षित हो सकती हैं। अपने दर्शन की प्रारम्भिक अवस्था में—जैसा कि प्रस्तुत किया जा चुका है, उन्होंने चार प्रकार की मूल सत्ताओं को स्वीकार किया है।

रसल मुख्यतः प्रत्यक्ष की समस्याओं को लेते हैं और अपनी पुस्तक 'ऑन आवर नालेज आफ एक्स्टरनल वर्ल्ड'' में उसे और भी स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। वे अनुभव के सम्पूर्ण जगत् की पुनर्रचना सरलतम तत्त्वों और न्यूनतम स्वीकृतियों के आधार पर करने की चेष्टा करते हैं। अनेक मन हैं और ये सभी भौतिक वस्तुओं को जानते हैं। पर वे प्रश्न करते हैं :—यह कैसे संभव है कि एक ही भौतिक वस्तु एक ही समय में दो मनों को भिन्न प्रतीत होती है या एक ही व्यक्ति को दो भिन्न समय में वह भिन्न प्रतीत होती है? अतएव यह प्रश्न उठना सहज है कि तब बाह्य वस्तु का वास्तविक स्वरूप क्या है? पुनः क्या इस प्रकार की कोई भौतिक वस्तु है भी या यह कि हमारे मन में केवल मन प्रत्यय ही उठ रहे हैं और हम उन्हें बाह्य वस्तु समझ लेते हैं? या फिर यदि सचमुच में इस प्रकार की कोई यथार्थ वस्तु है भी तो हमारे लिए उसे जानना असम्भव है। इस प्रकार उपरोक्त स्वीकृतियाँ आत्मनिष्ठवाद या अज्ञेयवाद तक हमें ले जाती हैं।

रसल के अनुसार बाह्य जगत् भौतिक वस्तुओं से निर्मित नहीं है, वह केवल

---

1. "Entities are not to be multiplied without necessity."

इन्द्रिय-प्रदत्तों से ही निर्मित है। रसल के अनुसार ये प्रदत्त भौतिक वस्तुएँ नहीं हैं पर वे एक नितांत भिन्न कोटि की सत्ताएँ हैं। उदाहरणार्थ, रंग के वब्बे, शब्दों की झंकार इन्द्रिय-प्रदत्त हैं और इन्हें हम इन्द्रिय-संवेदन में अपरोक्षतः जानते हैं। इन इन्द्रिय-प्रदत्तों का हमें परिचयात्मक ज्ञान होता है। रसल के अनुसार ये भौतिक वस्तुएँ नहीं हैं वरन् इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुएँ हैं।[1] ये संवेदनाओं से, जो मानसिक घटनाएँ हैं, भिन्न हैं। प्रारम्भ में रसल ने इस बात को स्वीकार किया था कि इन्द्रिय ग्राह्य वस्तु भौतिक वस्तु का ही एक भाग होती है और इसलिए मेज जैसी भौतिक वस्तु के अस्तित्व को, जो वर्णन के माध्यम से जानी जाती है, स्वीकार किया था। पर 'ऑन आवर नालेज आफ एक्सटर्नल वर्ल्ड' में वे किसी प्रकार की भौतिक वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे केवल इंद्रिय-प्रदत्तों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं जिनकी अनुभूति हमें संवेदनाओं में होती है। पर ये इन्द्रिय-प्रदत्त अस्थिर एवं क्षणिक होते हैं, ये केवल उसी समय तक रहते हैं, जब तक उनसे सम्बद्ध संवेदनाएँ रहती हैं। पर मेज की तरह भौतिक वस्तुएँ स्थिर प्रतीत होती हैं और उनके अस्तित्व के विषय में हमें विश्वास होता है। प्रश्न है तब वह मेज है क्या ? रसल के मत में यह 'मेज' विभिन्न लोगों को प्राप्त विभिन्न इन्द्रिय-प्रदत्तों के आधार पर रचित एक तार्किक रचना[2] है। अतएव तथाकथित भौतिक वस्तु का अपना कोई निजी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। पर विज्ञान में भौतिक वस्तुओं का ही अध्ययन किया जाता है और इसलिए उनके अस्तित्व के विषय में उसके द्वारा किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया गया है। इन्द्रिय-प्रदत्तों का भौतिकी से सम्बन्ध' नामक अपने लेख में रसल कहते हैं कि जिन चीजों का हम सचमुच में प्रत्यक्ष करते हैं उनकी प्रकृति उन वस्तुओं से जिनका भौतिकी में अध्ययन किया जाता है नितांत भिन्न है। अणु[3] का रंग नहीं होता, परमाणु[4] शोर नहीं मचाते, विद्युदणु (एलेक्ट्रॉन) का स्वाद नहीं होता और कोश (कारप्यूसल्स) की कोई गंध नहीं होती। फिर भी जिन वस्तुओं की हमें अपरोक्ष अनुभूति होती है वह सदैव कोई रंग, ध्वनि, स्वाद अथवा गंध ही होता है। प्रश्न यह है कि फिर

---

1. 'Sensible objects.'
2. Logical construct.
3. Molecules.
4. Atom.

किसी भौतिक वस्तु के अस्तित्व को हम कैसे सत्यापित करें ? स्पष्ट है कि हमारे लिए भौतिक वस्तुओं को इन्द्रिय-प्रदत्तों में निश्चित रूप से विघटित करना सम्भव होना चाहिए नहीं तो फिर भौतिक का सम्बन्ध केवल काल्पनिक सत्ताओं से ही रह जायेगा। विभिन्न लोग विभिन्न इन्द्रिय-प्रदत्तों की अनुभूति करते हैं और ये सभी कभी-कभी परस्पर असंगत भी होते हैं। उदाहरणार्थ, एक पेनी इन्द्रिय-प्रदत्तों के रूप में किसी एक व्यक्ति को गोल प्रतीत हो सकती है और ठीक उसी समय किसी दूसरे व्यक्ति को अण्डाकार भी।[1] अब प्रश्न है:—क्या पेनी गोल है अथवा अण्डाकार ? रसल के अनुसार यह दोनों ही है।

इस उत्तर का स्पष्टीकरण रसल सर्वप्रथम इस आधार पर करते हैं कि इन्द्रिय-प्रदत्त आत्म-निष्ठ नहीं है और तत्पश्चात् उसे संवेद्यार्थ[2] के नवीन प्रत्यय के आधार पर स्पष्ट करते हैं। संवेद्यार्थ वे वस्तुएँ हैं जिनका इन्द्रिय-प्रदत्तों की भाँति ही भौतिक तथा तत्त्वमीमांसीय पद होता है पर जो यथार्थ में किसी के द्वारा भी प्रत्यक्षीकृत नहीं होते। अन्य शब्दों में, संवेद्यार्थ अग्राह्य इन्द्रिय-प्रदत्त है या यूँ भी कह सकते हैं कि वे सम्भव इन्द्रिय-प्रदत्त हैं। इस प्रकार सामान्य अनुभव की भौतिक वस्तुओं तथा विज्ञान की वस्तुओं को हमें इन्द्रियप्रदत्तों तथा संवेद्यार्थों के ही कार्यों के रूप में लेना चाहिए। रसल की इच्छा थी कि सामान्य बोध तथा विज्ञान की वस्तुओं को विशुद्ध इन्द्रियानुभविक अनानुमित सत्ताओं के आधार पर रचित तार्किक रचनाओं के रूप में ही लेना चाहिए। पर सम्भव इन्द्रिय-प्रदत्तों के रूप में संवेद्यार्थ तो अनुमित सत्तायें ही हैं, अननुमानित इन्द्रियानुभविक सत्ताओं के रूप में तो यथार्थ इन्द्रियप्रदत्त ही हैं। यहाँ पर रसल को इस बात को स्वीकार करना पड़ा कि यद्यपि यही सहज निष्कर्ष है फिर भी इस आत्यन्तिक दृष्टिकोण को मानना सम्भव नहीं है। अतएव दो प्रकार की अनुमित सत्ताओं यथा—अन्य लोगों के इन्द्रिय प्रदत्तों और संवेद्यों, को मानने के लिए वे हमें अनुगत करते हैं। पर वे सोचते हैं कि यद्यपि सामान्य बोध तथा विज्ञान की भौतिक वस्तुएँ सम्भव अथवा यथार्थ इन्द्रिय-प्रदत्तों के आधार पर ही रचित तार्किक रचनायें हैं फिर भी ये अन्त में यथार्थ प्रदत्तों के माध्यम से ही सत्यापित होती हैं।[3] रसल के अनुसार गणितीय-भौतिकी के अल्पतम

---

1. Elliptical.
2 Sensibilia.
3. I think it may be laid down quite generally that in so far as physics or commonsense is verifiable, it must be capable

अंश या कण भी तार्किक रचनायें ही हैं या उपयोगी प्रतीकात्मक कल्पनाएँ, ये भौतिक पदार्थ के अन्तिम घटक नहीं हैं ।[1]

अतएव यदि तथाकथित बाह्य वस्तु इन्द्रिय-प्रदत्तों के आधार पर रचित एक तार्किक रचना है तो उसे विभिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न होनी चाहिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति भिन्न होगी । इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का अन्य लोगों से भिन्न उसका निजी अनुभव का एक जगत् होता और है इस प्रकार के जगतों की संख्या अपरिमित होगी, यानी वह सिद्धान्ततः उतनी ही होगी, जितने बिन्दुओं से मन द्वारा जगत् के किसी पक्ष विशेष का प्रत्यक्ष हो सके और इस संख्या के अतिरिक्त उसमें उन बिन्दुओं को भी सम्मिलित किया जा सकता है जहाँ पर प्रत्यक्ष करने के लिए कोई मन न भी हो । इस दृष्टि से देखा जाय तो विश्व के अपरिमित पक्ष होंगे जो अस्तित्ववान हैं पर जिनका किसी मन द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो पा रहा है । अतः अनन्त पक्षों का यह जगत् मन से पृथक् एक बाह्य सत्ता के रूप में अस्तित्ववान है । पुनः किसी भी विशिष्ट देश-काल से इस जगत् के दर्शन को रसल दृष्टिकोण[2] कहते हैं और बाह्य सत्ता ऐसे दृष्टिकोणों का एक तन्त्र है ।[3] पुनः उन दो व्यक्तियों, जो अत्यन्त निकटता से वस्तु का दर्शन करते हैं, के दृष्टिकोण एक जैसे ही होते हैं और उनके प्रत्यक्ष से सम्बन्धित तथ्य इतने अधिक समान होते हैं कि उनको अभिव्यक्त करने के लिए वे एक जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं । अतएव जिसे सामान्य बुद्धि द्वारा 'वस्तु' की संज्ञा दी जाती है, वह रसल की दृष्टि में 'दृष्टि-कोणों का तन्त्र है' और इस वस्तु का एक पक्ष पक्षों के उस तन्त्र का सदस्य है जो उस समय विशेष में वस्तु कहलाती है । अतएव पक्ष विशेष वस्तु नहीं है । पक्ष तो तत्काल अनुभव में आने वाले सभी इन्द्रिय-प्रदत्तों का एक समूह है, और

---

of interpretation in terms of actual sense data alone." *On our knowledge of external world*, pp. 88-89

1. "The actual data in sensation, the immediate objects of sight or touch or hearing, are extra-mental, purely physical, and among the ultimate constituents of matter."

—*Mysticism and Logic*, p. 128.

2. Perspective.
3. System of perspectives.

'वस्तु' तो उन सभी विभिन्न इन्द्रिय प्रदत्तों का एक ऐसा तंत्र है जो सभी सम्भव दृष्टिकोणों में प्रस्तुत होता है; वह यथार्थ अस्तित्ववान सत्ता न होकर एक तार्किक रचना ही है। अतएव इस प्रकार की भौतिक वस्तुओं की भौतिकी की आवश्यकता नहीं है जो इन्द्रिय-प्रदत्तों से स्वरूप में भिन्न हो। इस प्रकार केवल एक वाह्य जगत् का अस्तित्व शेष रह जाता है। जिस प्रकार के भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को सामान्य बुद्धि स्वीकार करने की अभ्यस्त है, उसका निराकरण हो चुका है। अतः वैज्ञानिक दार्शनिक रसल विश्व को जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं, उसमें इन्द्रिय प्रदत्त हैं, सामान्य हैं और मानसिक तथ्य हैं। अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के विकास की इस अवस्था में रसल इन्द्रिय प्रदत्तों से भिन्न मानसिक तथ्यों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। विश्वास करना, संकल्प करना, कामना का होना और विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों का अनुभव करना—ये सभी मानसिक तथ्य हैं, और जिस चीज पर विश्वास किया जाता है, या फिर जिसके लिए संकल्प किया जाता है आदि ये सभी इन्द्रिय प्रदत्तों की अनवरत शृंखला का निर्माण करते हैं।

रसल के दार्शनिक विचारों की विभिन्न अवस्थाओं का यदि अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि निराकरण की प्रक्रिया बाद की रचनाओं में भी चलती रहती है। इस पुस्तक में वे इंद्रिय प्रदत्तों जिनकी हमें अनुभूति होती है, तथा संवेदनाओं के अन्तर समाप्त कर देते हैं। ऐसी मनःस्थिति में वे 'मन' और भौतिक पदार्थ के विज्ञान को एक ही शीर्षक के भीतर प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं और ऐसा वे दोनों विज्ञानों को एक ही अध्ययन विषय से सम्बद्ध करके ही करते हैं। अतः उनका दार्शनिक दृष्टिकोण अब कुछ कुछ नव्य यथार्थवाद की भाँति दीखने लगता है जिसका प्रारम्भ अमरीका में हुआ था।

सामान्य बुद्धि से युक्त मनुष्य के लिए तो जगत् में दो विभिन्न प्रकार की सत्तायें हैं, जिनमें से एक मन है और दूसरी सत्ता भौतिक पदार्थ है। वह यह भी जानता है कि मनुष्य में ये दोनों ही सह-अस्तित्ववान हैं और परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। पर दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों दोनों के लिए ही यह एक समस्या बनी रहती है कि किस प्रकार ये दोनों विपरीत धर्मी वस्तुएँ परस्पर सम्बन्धित हैं। इस द्वैतवाद से सम्बन्धित कठिनाइयों से मुक्त होने के लिए ही इस बात का प्रयास किया गया है कि अस्तित्ववान सम्पूर्ण विश्व को एक मूल फार्मूला के भीतर ही प्रस्तुत किया जाय। इस प्रयोजनार्थ हमें दो में से किसी भी एक को, मन को नहीं तो जड़ द्रव्य को, समाप्त करना होगा। कुछ

दार्शनिकों ने जड़ पदार्थ को मात्र प्रत्यय के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और कुछ वैज्ञानिकों ने मन को ही सूक्ष्म जड़त्व के रूप में स्वीकार करके उसकी स्वतंत्र सत्ता को समाप्त कर दिया है।

भौतिकी की प्रगति के फलस्वरूप यह सिद्ध हो चुका है कि जड़तत्व वस्तुतः केवल लहरें हैं अथवा शक्ति-कण हैं और ये ही वस्तुतः सम्पूर्ण जड़ जगत् के अन्तिम घटक हैं। अतएव इन अनुसंधानों के परिणामस्वरूप जड़त्व ने अपनी जड़ता का विलयन कर दिया है, यद्यपि अभी भी सामान्य बुद्धि उसे उसी रूप में लेती है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक अनुसंधान की प्रगति से इस बात को सिद्ध किया जा चुका है कि मन वस्तुतः निरीक्षित व्यवहार के आधार पर अनुमित सत्ता है। अतएव मन और जड़तत्व दोनों ही अपनी मूल विशेषताओं का समर्पण कर चुके हैं और इसलिए इन दोनों को ही एक सामान्य फार्मूला के अन्तर्गत लाने का कार्य सरल हो चुका है। पर रसल ने इस उद्देश्य से दोनों की सत्ताओं का एक दूसरे में विलयन का प्रयास नहीं किया। वे दोनों को ही एक मूलद्रव्य से[1] निष्कर्षित करने का प्रयास करते हैं। विश्व इसी मूल द्रव्य से निर्मित है जो कि भौतिक भी नहीं है और मानसिक भी नहीं। इस मूल पदार्थ को रसल 'तटस्थ विशेष'[2] की संज्ञा देते हैं। उनके द्वारा इस नाम के दिये जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये मूलघटक वस्तुतः न तो भौतिक ही हैं, और न मानसिक ही हैं। वे तटस्थ हैं और विभिन्न सन्दर्भों में व्यवस्थित हैं। एक संदर्भ में यानी एक प्रकार से व्यवस्थित होने पर वे मानसिक कहलाते हैं और दूसरे प्रकार से व्यवस्थित होने पर इन्हें ही भौतिक कहा जाता है। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष का सीधा अर्थ यह होता है कि 'तटस्थ-विशेष' इस प्रकार परस्पर संबंधित होकर ऐसे स्थान-विशेष पर प्रस्तुत होते हैं जहाँ पर इंद्रियों तथा तंत्रिकातंत्र से युक्त कोई मस्तिष्क है। वस्तु विशेष तटस्थविशेष द्वारा किसी एक स्थान पर क्षण विशेष में प्रस्तुत इस प्रकार के आभासों का सम्पूर्ण योग है। और मन, स्थान, समय विशेष तथा सम्बन्धों के विन्यास में प्रस्तुत उन सभी आभासों का योग है, जो किसी मस्तिष्क, इंद्रियों तथा स्नायुतंत्र से युक्त हों। इस प्रकार रसल तटस्थ एकत्ववाद के दार्शनिक सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।[3]

---

1. Primal or fundamental stuff.
2. Neutral particulars.
3. "Neutral Monism" as opposed to idealistic monism and materialistic monism is the theory that the things comm-

अपनी पुस्तक 'एनैलिसिस आफ माइंड' में रसल ने आइन्स्टाइन की नवीन भौतिकी के कुछ प्रत्ययों को अपने दर्शन में सम्मिलित किया है। उन्होंने व्यवहार में तटस्थ एकत्ववाद के प्रोग्राम को कार्यान्वित करने को भी कोशिश की थी। पर अपने इस प्रयास में उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहले तो सामान्य बुद्धि तथा विज्ञान की भौतिक वस्तुओं को इन्द्रिय-प्रदत्तों के आधार पर रचित तार्किक रचनाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया और अब मन से बाह्य इन्द्रिय-प्रदत्तों को ही निष्कासित कर दिया गया। मन तथा बाह्य वस्तुएं दोनों ही तटस्थ विशेष घटनाओं के केवल समूह मात्र[1] हैं। अतः किसी भी बाह्य वस्तु के बारे में हमें किसी प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। उदाहरणार्थ, 'सूर्य को मेरे देखने' का अर्थ होगा कि मुझे केवल घटनाओं का अहसास हो रहा है यानी मुझमें कुछ संवेदनाएँ हो रही हैं जो किसी अर्थ में मेरे भीतर हैं। अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व सम्बन्धी अहसास का भी यही रूप होगा।[2] अतएव इसका अर्थ यह हुआ कि जिन चीजों का हमें अपरोक्ष अनुभव होता है, वे सामान्य बुद्धि अथवा विज्ञान द्वारा स्वीकृत भौतिक वस्तुएँ नहीं हैं, यद्यपि हमें इस बात का विश्वास है कि ये वस्तुएँ ही हमारे अपरोक्ष अनुभव में आनेवाली वस्तुएँ हैं। रसल का यह विचार भी है कि इस सम्बन्ध में हम कोई निश्चित नियम नहीं बना सकते कि प्रामाणिक रूप से किसी भी ऐसी सत्ता को हम कभी भी अनुमित नहीं कर सकते हैं जो हमारे निरीक्षण में आने वाली चीजों से नितान्त भिन्न हो। यह तो तभी सम्भव है जब हम इस बात को मान लें कि जिस किसी वस्तु का निरीक्षण न किया जा सके उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक अनुमान सम्भव ही नहीं है। वैध तर्कना की दृष्टि से यह विचार उचित प्रतीत हो सकता है पर तब ऐसी स्थिति में भौतिकी समाप्त हो जायेगी। पर रसल तो भौतिकी को समाप्त नहीं करना चाहते थे। प्रश्न है कि फिर ज्योतिर्विद के सूर्य में और

---

only regarded as mental and the things commonly regarded as physical do not differ in respect of any intrinsic property possessed by the one set and not by the other, but differ only in respect of arrangement and context."

Logic and knowledge (Russells Essays edited by R. C. Marsh.), p. 139.

1. Sets of neutral particular events.
2. "The analysis of matter," p. 197.

उस सूर्य में जिसे हम देखते हैं क्या अन्तर है ? रसल का कहना है कि ज्योतिर्विद के सूर्य के अस्तित्व को हम इसी कारण अनुमित कर सकते हैं कि सूर्य में होनेवाली घटनाओं तथा हमारे तंत्री-तंत्र में होनेवाली घटनाओं को संयुक्त करनेवाली एक अटूट कारणता के नियम से नियमित घटनाओं की शृंखला है। स्पष्ट हैं यदि इस प्रकार के अनुमानों को हम स्वीकार न करें तो हम क्षण विशेष के अहंवाद[1] में ही अपने को आबद्ध पाएँगे।[2] और यह स्थिति यद्यपि तार्किक दृष्टि से खण्डित नहीं हो सकती तथापि किसी भी मनुष्य द्वारा संगत रूप से स्वीकार नहीं की जा सकती।

तर्कीय परमाणुवाद

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रारम्भ में रसल ने ब्रैडले तथा सभी नव्य-अध्यात्मवादी दार्शनिकों के विरुद्ध प्रतिक्रिया की थी। ब्रैडले में विश्व को एक अविभाजित समग्रता के रूप में प्रस्तुत करने की कल्पना वर्तमान थी और उनकी दृष्टि में किसी भी अंश को इस अंशी से पृथक् करने का प्रयास आंशिक त्रुटि उत्पन्न करता है। सत् से न्यून कोई भी ऐसा तथ्य नहीं है जो स्वतः पर्याप्त हो और वह सत् ही परम निरपेक्ष है। ब्रैडले तथा नव्य-हेगलवादियों का यह निष्कर्ष अनुभव-निरपेक्ष तर्कना की प्रक्रिया से प्राप्त निष्कर्ष था जिसके फल-स्वरूप विश्व की कोई भी दूसरी कल्पना असंगत थी। वह आन्तरिक सम्बन्ध के सिद्धान्त पर आधारित एकत्ववाद था। रसल ने इस मूल कल्पना को अस्वीकार किया और परिणामस्वरूप उन्होंने बहुतत्ववाद का समर्थन किया जिसे उन्होंने तर्कीय परमाणुवाद नाम दिया। रसल ने मूर के प्रत्ययवाद के खण्डन को स्वीकार किया। वे मीनांग से भी प्रभावित थे। इस कारण उन्होंने विश्व में अनेक सत्ताओं के अस्तित्व को स्वीकार किया था। अपने दार्शनिक विकास की इस स्थिति में रसल के अनुसार सत्ता वह थी जिसकी गणना की जा सके।[3]

---

1. Solipsism.
2. *My Philosophical Development*, p.. 104.
3. "Being belonged to whatever can be counted. If A be any term that can be counted as one, it is plain that A is some thing, and therefore that A is. 'A is not' must always be either false or meaningless. For if A were nothing it

न केवल रसल संप्रत्ययवाद[1] की अस्पष्टताओं एवं भ्रांतियों से बचना चाहते थे, बल्कि वे अब मोनांग की विश्व-सम्बन्धी कल्पना में स्वीकृत सत्ताओं की बहुलता से भी बचना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति उन्होंने विश्लेषण की विधि को अपना कर की। विश्व के अतिरिक्त पक्षों के विलयन तथा निरसन की इस विधि का प्रयोग तो, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, रसल तर्कीय परमाणुवाद के समर्थन के पहले ही कर चुके थे। तर्कीय परमाणुवाद में विश्व की रचना का आधार रसल का गणितीय तर्कशास्त्र है। उन्होंने कहा है कि तर्कीय परमाणुवाद गणित सम्बन्धी उनके विचारों का परिणाम है।[2] वे एक विशेष प्रकार के तार्किक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहते थे और तब उसके आधार पर अपने दर्शन को प्रस्तुत करना चाहते थे। उनका तर्कशास्त्र नव्य-हेगलवादी तर्कशास्त्र से भिन्न है; वह अणुवादी तर्कशास्त्र है, जो अनेक, एक दूसरे से पृथक् एवं स्वतंत्र सत्ताओं के अस्तित्व को स्वीकार करता है।[3]

वे इस बात की ओर भी संकेत करते हैं कि इसी उद्देश्य से वे विश्लेषण की विधि को स्वीकार करते हैं। बहुतत्ववादी दर्शन परमाणुवादी होता है, पर रसल ने अपने दर्शन को तर्कीय परमाणुवाद की संज्ञा दी है। उन्होंने उसे यह नाम इसलिए दिया क्योंकि उनके द्वारा स्वीकृत अन्तिम घटक भौतिक

---

could not be said not to be; 'A is not' implies that there is a term A whose being is denied, and hence that A is." *Principles of Mathematics*, Para 427.

1. Conceptualism.
2. The kind of philosophy that I wish to advocate, which I call logical Atomism, is one which has forced itself upon me in the course of thinking about the philosophy of mathematic." Logic and Knowledge, p. 178.
3. "I shall set forth....a certain kind of logical doctrine and on the basis of this a certain kind of metaphysics. The logic which I shall advocate is atomistic, opposed to the monistic logic of the people who more or less follow Hegel. When I say my logic is atomistic, I mean that I share the common sense belief that there are many separate things."—Ibid., p. 178.

परमाणु नहीं थे। उनके द्वारा स्वीकृत विश्लेषण की प्रक्रिया भौतिक न होकर तार्किक है। इस कारण उसके माध्यम से जिस अवशेष को प्राप्त किया गया वह भी तार्किक ही था।[1] प्रश्न है फिर वह कौन-सी वस्तु है, जिसका रसल विश्लेषण करना चाहते हैं? वे वस्तुओं का विश्लेषण नहीं बल्कि तथ्यों का विश्लेषण करना चाहते हैं। विश्व में बहुत-सी वस्तुएँ हैं जिनके अनेक गुण हैं और जो परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इन परस्पर सम्बन्धित तथा गुणों से युक्त वस्तुओं को ही रसल 'तथ्य' कहते हैं।[2] पर विश्व के लिए केवल इन विशिष्ट वस्तुओं का वर्णन ही पर्याप्त नहीं है, इन सभी के गुणों तथा परस्पर सम्बन्धों की भी चर्चा हमें करनी पड़ेगी। ये ही सब तथ्य हैं। ये तथ्य वस्तुओं से सम्बन्धित हैं और वस्तुएँ स्वभावतः विषय हैं। अतएव विश्व की रचना में विद्यमान घटकों को समझने के लिए हमें इन विषम तथ्यों का भी विश्लेषण करना चाहिए।

तथ्य तर्क-वाक्यों में व्यक्त होते हैं और ये विषम होते हैं क्योंकि ये शब्दों से रचित हैं। कुछ शब्द यथा 'लाल' सरल हैं, इस शब्द के सम्बन्ध में हमारी समझ किसी अन्य सरल वस्तु की समझ पर आधारित नहीं है; विपरीततः इसकी समझ उस वस्तु के परिचय से उत्पन्न होती है, जिसकी ओर 'लाल' शब्द संकेत करता है, यानी एक विशेष रंग के परिचय पर ही यह समझ आधारित है।

---

1. "The reason that I call my doctrine logical atomism is because the atoms that I wish to arrive at as the sort of last residue in analysis are logical atoms and not physical atoms. Some of them will be what I call 'particulars'. Such things as little patches of colour, as sounds, monetary things—and some of them will be predicates or relations and so on. The point is that the atom I wish to arrive at is the atom of logical analysis, not the atom of physical analysis."–*Logic and Knowledge*, Ibid, p. 179.
2. The things in the world have various properties and stand in various relations to each other. That they have these properties and relations are facts, and the things and their qualities of relations are quite clearly in some senie or other components of the facts."—Ibid, p. 192.

अतएव 'लाल' शब्द अविश्लेषणीय है और इसे हम सरल प्रतीक की संज्ञा दे सकते हैं और यदि विधेय के रूप में इसे प्रस्तुत करना है तो फिर वह एक सरल विधेय ही होगा। अन्य प्रकार के सरल प्रतीत भी होते हैं यथा, व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ—जिनसे हम उन विशेष वस्तुओं को प्रस्तुत करते हैं जिन्हें हम विधेयों से युक्त करते हैं। अतएव सरलतम तर्क-वाक्य वह है जिसमें एक व्यक्तिवाचक संज्ञा हो तथा एक सरलतम विधेय हो। इस सरलतम तर्क-वाक्य को रसल परमाण्विक तर्क-वाक्य कहते हैं और जिन तथ्यों को ये अपने माध्यम से प्रस्तुत करते हैं, वे परमाणुविक तथ्य हैं। नितांत सरलता से यह देखा जा सकता है कि इन परमाण्विक तर्क-वाक्यों के आधार पर हम विषम तर्क-वाक्यों की रचना कर सकते हैं। दो अथवा दो से अधिक परमाण्विक तर्क वाक्यों को 'और', 'या', आदि शब्दों से युक्त करके विषम तर्क-वाक्यों की रचना हो सकती है। इस प्रकार उन्हें युक्त करके जिन तर्क-वाक्यों का सृजन होता है, उन्हें हम आण्विक[1] तर्क वाक्य कहते हैं। पर तथ्य आण्विक नहीं होते। वह कम उम्र का है और 'साहसी है' एक आण्विक तर्क-वाक्य है जो दो परमाण्विक तर्क-वाक्यों, यथा—(1) वह कम उम्र का है', (2) वह साहसी है, से निर्मित है और ये दोनों दो परमाण्विक तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं। अपने में तथ्य न सत्य होते हैं और न असत्य ही होते हैं, तर्क-वाक्य ही वस्तुतः सत्य या असत्य होते हैं। आण्विक तर्क वाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता उन परमाण्विक तर्क-वाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता पर निर्भर करती है जिनसे वे निर्मित होते हैं। आण्विक तर्कवाक्यों की सत्यता-असत्यता के लिए परमाण्विक तथ्यों की आवश्यकता है। ये आण्विक तर्क-वाक्य, जिनकी सत्यता असत्यता उन परमाण्विक तर्क-वाक्यों की सत्यता-असत्यता पर निर्भर करती है, जिनसे वे निर्मित हैं, परमाण्विक तर्क-वाक्यों के सत्य-कार्य[2] कहलाते हैं।

इसके साथ ही रसल यह कहते हैं कि केवल एकाकी परमाण्विक तथ्य[3] ही नहीं बल्कि सामान्य तथ्य[4] भी होते हैं। इस तर्क-वाक्य का जरा परीक्षण कीजिये—'सभी फूल लाल हैं।' इसे आप केवल अनेक तर्क-वाक्य यथा—'यह पुष्प लाल है' 'वह पुष्प लाल है' आदि तर्कवाक्यों का संयोजन[5] नहीं कह

1. Molecular.
2. Truth-functions.
3. Singular atomic facts.
4. General facts.
5. Conjunction.

सकते । सभी पुष्पों को प्रस्तुत करना सम्भव नहीं । पर यदि इस प्रकार की गणना संभव भी हो जाय तो भी यह अंत में कहना आवश्यक होगा कि इस प्रकार जिन पुष्पों की गणना हुई है, ये सभी पुष्पों का निर्देश करते हैं, यानी इनके अतिरिक्त और पुष्पों की कल्पना सम्भव नहीं है । पर इस प्रकार के कथनों के माध्यम से 'सामान्य' का तथ्य अपने आपको पुनः प्रकट कर देता है । अतः 'सभी पुष्प लाल हैं', इस वाक्य की सत्यता-असत्यता केवल विशेष तथ्यों के संयोग पर निर्भर नहीं करती बल्कि उसके लिए सामान्य तथ्य का होना भी आवश्यक है ।

रसल निषेधात्मक तथ्यों[1] के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं । उनके मत में 'सुकरात अब जिन्दा नहीं हैं' यह भी इसी वस्तुनिष्ठ जगत् का एक तथ्य है ।[2] रसल इसलिए निषेधात्मक तथ्यों को स्वीकार करते हैं क्योंकि उनके मत में इस स्वीकृति के बिना निषेधात्मक तर्क वाक्यों की सत्यता-असत्यता की समुचित व्याख्या सम्भव नहीं है । अन्य शब्दों में हम इस बात का पता नहीं लगा पायेंगे कि ये विश्व के तथ्यों के अनुरूप हैं भी या नहीं ।

इसके पश्चात् रसल एक अन्य प्रकार के तथ्यों जिन्हें 'विश्वास'[3] कहते हैं, के स्वरूप को स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं । मान लीजिये कि "वह विश्वास करता है कि "पृथ्वी चपटी हैं" एक तर्कवाक्य है । प्रश्न है कि क्या यह एक आण्विक या परमाण्विक तर्कवाक्य है ? प्रथम दृष्टि में तो वह दो परमाण्विक तर्कवाक्यों, यथा—'वह विश्वास करता हैं' और 'पृथ्वी चपटी हैं' से निर्मित एक आण्विक तर्कवाक्य प्रतीत होता है । पर इसे इस रूप में स्वीकार करने के साथ कठिनाई यह है कि यद्यपि यह एक विषम तर्कवाक्य है, फिर भी उपर्युक्त अर्थ में जिसकी चर्चा की जा चुकी है, वह आण्विक नहीं है, कारण 'वह कम उम्र का है और वह साहसी है'—इस तर्कवाक्य की सत्यता अंशतः इसमें सम्मिलित 'वह साहसी हैं' वाक्यांश पर निर्भर करती है । पर 'वह विश्वास करता है कि पृथ्वी चपटी है'—इस तर्कवाक्य की सत्यता इसमें सम्मिलित

1. Negative facts.
2. "I think you will find that it is simpler to take negative facts as facts, to assume that 'Socrates is not alive' is really an objective fact in the same sense in which Socrates is human' is a fact."—Logic and Knowledge, p. 214.
3. Belief.

वाक्यांश 'पृथ्वी है' से पूर्णतः स्वतन्त्र है। क्योंकि यह वाक्य सत्य भी हो सकता है और असत्य भी और वह जो भी हो उससे अप्रभावित यह विश्वास कि 'पृथ्वी चपटी है' कायम रह सकता है। अतएव निश्चित है कि इस तर्कवाक्य को हम इसमें सम्मिलित परमाण्विक तर्कवाक्यों के सत्य कार्य के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार रसल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी प्रकार के तर्कवाक्यों की सत्यता-असत्यता को स्पष्ट करने में परमाण्विक तथ्य अपर्याप्त हैं विशेष रूप से 'विश्वास' को व्यक्त करने वाले तर्कवाक्यों की सत्यता को स्पष्ट करने में तो वे असमर्थ हैं ही। फलस्वरूप रसल इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "विश्वास" एक नवीन प्रकार का तथ्य है।[1]

वैज्ञानिक अनुमान[2] से सम्बन्धित रसल के विचार

पुनः अनुभववाद में यदि आमूल दृष्टिकोण को हम स्वीकार कर लें तो रसल यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हमें इस निष्कर्ष को स्वीकार करना होगा कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान किसी क्षणविशेष में जो भी प्रत्यक्षीकृत हो रहा है, उस तक ही सीमित है। इसे ही वह 'क्षण विशेष' का अहंवाद[3] कहते हैं। पर इस निष्कर्ष को स्वीकार करना सचमुच कठिन है, साथ ही इस प्रश्न का उत्तर देना भी कठिन है कि हम उन वस्तुओं के अस्तित्व में क्यों विश्वास करें जो विज्ञान द्वारा तो समर्थित हैं पर प्रत्यक्ष द्वारा सत्यापित नहीं हैं ?[4]

रसल के अनुसार इस अहंवादी निष्कर्ष का दूसरा विकल्प यह होगा कि यह मान लें कि कुछ ऐसे अ-निगमनात्मक नियम हैं[5] जो बाह्य जगत् तथा अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व सम्बन्धी हमारे विश्वास के औचित्य के आधार हैं।

पुनः यदि हम यह मान लें कि सामान्य मानव बुद्धि तथा विज्ञान से स्वीकृत भौतिक वस्तुएँ केवल घटनाओं के आधार पर निर्मित तार्किक रचनाएँ हैं और प्रत्येक घटना तार्किक दृष्टि से एक स्व-पर्याप्त इकाई है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी एक घटना के आधार पर हम निश्चयात्मक रूप

---

1. 'विश्वास' से सम्बन्धित उनकी व्याख्या के लिए देखें, उनकी पुस्तक' लॉजिक एण्ड नॉलेज', पृ० 216.
2. Scientific Induction.
3 Solipsism of the moment.
4. Human knowledge, p. 170.
5. Non-deductive principles.

से किसी अन्य घटना के घटित होने को अनुचित नहीं कह सकते हैं। अतएव विज्ञान में किसी प्रकार के अनुमान का कोई वास्तविक आधार नहीं है। पर, जैसा रसल कहते हैं, तथ्य तो यह है कि हमें यह पूरा विश्वास है कि विज्ञान तथा सामान्य बुद्धि दोनों ही स्तरों पर अनुमान किये जाते हैं और वे वैध भी हैं। क्योंकि कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात पर सन्देह व्यक्त नहीं करता कि विज्ञान ने हमारे ज्ञान में अभिवृद्धि की है और कर रहा है। अतएव प्रश्न है कि विज्ञान द्वारा किये हुए अनुमानों की सैद्धान्तिक व्याख्या किस प्रकार प्रस्तुत की जाय? अन्य शब्दों में उनका औचित्य क्या है? रसल कहते हैं कि केवल अनुभववादी आधार वाक्यों[1] के आधार पर तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैज्ञानिक अनुमान से प्राप्त तथ्यात्मक निष्कर्ष सांयोगिक ही हो सकते हैं। फिर भी कोई भी व्यक्ति उनकी सांयोगिकता में विश्वास नहीं करता। अतः स्पष्ट है कि वैज्ञानिक अनुमान का तथ्यात्मक सफलता से भिन्न कोई औचित्य अवश्य होना चाहिए।

अपनी पुस्तक 'ट्रीटाइज आन प्रोबेबिलिटी' में कींस ने सम्भाव्यता[2] के स्वरूप से सम्बन्धित प्रश्न उठाया है। उनका विचार है कि संभाव्यता एक आदिम प्रत्यय है, यह अन्तिम और अपरिभाष्य भी है और अपनी इन मूल विशेषताओं के माध्यम से ही जाना जाता है। इस आदिम प्रत्यय के कारण रसल अ-निगमनात्मक अनुमान सम्बन्धी कुछ आधारभूत नियमों के बारे में सोचने के लिए बाध्य होते हैं। वैज्ञानिक अनुमान के औचित्य के लिए वे न्यूनतम नियमों को प्रस्तुत करना चाहते हैं। वे पाँच नियमों की बात करते हैं जिनके आधार पर वैज्ञानिक अनुमान सम्भव होता है और इस प्रश्न पर ये सभी निश्चयात्मकता को नहीं अपितु संभाव्यता को ही प्रस्तुत करते हैं। रसल ने इन्हें पूर्वमान्यता[3] की संज्ञा दी है।

प्रथम पूर्वमान्यता 'अर्द्ध-स्थायित्व'[4] की है। इसके अनुसार निकटवर्ती देश-काल में एक घटना दूसरी घटना का अनुगमन करती है और उससे सदृशता भी रखती है। यह सदृशता रखनेवाली घटनाएँ फिर हमें एक ही लगने लगती हैं।

---

1. Premises.
2. Probability.
3. Postulate.
4. Quasi-permanence.

इस प्रकार हमारे मन में एक स्थायी वस्तु की कल्पना उत्पन्न हो जाती है। स्पष्ट है इसी नियम के आधार पर हम व्यक्ति सम्बन्धी सामान्य बुद्धि के प्रत्यय का प्रयोग करने लगते हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि उस समय उसके साथ हमारे मस्तिष्क में पदार्थ की भी तत्त्वमीमांसीय कल्पना हो। यही नहीं, सभी एक जैसी घटनाएँ, भले ही वे अनुक्रम में आनेवाली घटनाएँ हों, हमारे लिए एक स्थायी वस्तु का निर्माण करती हैं—क्योंकि हम 'समान' को अन्ततः 'एक' ही मान लेते हैं।

द्वितीय पूर्वमान्यता 'पृथक् होनेवाली हेतुक रेखाएँ'[1] हैं। इस नियम के अनुसार यह सम्भव है कि एक क्रम में अनेक घटनाएँ इस प्रकार घटित हों कि उनमें से एक या दो सदस्यों के आधार पर हम शेष सदस्यों के बारे में भी अनुमान लगाने में समर्थ हो जाँय। फलतः इस पूर्वमान्यता के आधार पर हम निकटवर्ती घटनाओं के आधार पर सुदूरवर्ती घटनाओं के बारे में अनुमान लगा सकते हैं। विज्ञान में यह नियम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

तृतीय पूर्वमान्यता 'देश-काल की सातत्यता'[2] है। इसके अनुसार दूर से किसी भी क्रिया की कल्पना सम्भव नहीं है। जब किसी ऐसी दो घटनाओं में, जिनमें सन्निधि न हो, सम्बन्ध प्रतीत होता है, तो हमें यह सोचना पड़ता है कि उन्हें सम्बद्ध करनेवाली मध्यवर्ती कड़ियों का भी अस्तित्व होगा। स्पष्ट है यह पूर्वमान्यता द्वितीय की अपेक्षा करती है क्योंकि अनुक्रम के बिना अनुक्रम की सातत्यता का प्रश्न ही नहीं उठता।

चतुर्थ 'संरचना सम्बन्धी पूर्वमान्यता'[3] है। इसके आधार पर हम वस्तु-निष्ठ तथा आत्मनिष्ठ अनुभूतियों को एक-दूसरे से पृथक् कर सकते हैं। फलतः विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अनुभूत घटनाओं की संरचनात्मक सदृशता के आधार पर हम इस बात का अनुमान करते हैं कि ये सभी एक ही स्रोत से उत्पन्न हैं और वह स्रोत ही इन सभी के लिए एक समान वस्तु हैं।

पंचम पूर्वमान्यता 'सामान्यानुमान'[4] की है। इसके अनुसार हमारे अनुभव में आनेवाली घटनाओं में जब एक घटना दूसरी घटना का अनुवर्तन करती है और हम इस बात पर विश्वास करते हैं कि एक की उत्पत्ति दूसरे के

---

1. Separable causal lines.
2 Spatio temporal continuity.
3. Structural postulate.
4. Analogy.

द्वारा ही हुई है तो केवल एक घटना के निरीक्षण के आधार पर हम दूसरी की उपस्थिति को सहज अनुमित कर लेते हैं चाहे उसका प्रत्यक्ष हम न भी कर सकें। यह एक महत्वपूर्ण पूर्वमान्यता है क्योंकि वह अन्य मानसिक घटनाओं को अनुमित करने में हमारी सहायता करती है। साथ ही अन्य मतों की उपस्थिति में जो हमारा विश्वास है, उसका भी वह औचित्य प्रस्तुत करती है। एक भौतिक घटना प्रतिक्रिया स्वरूप मानसिक घटना को उत्पन्न करती है और इसी आधार पर सामान्यानुमान के सहारे हम इस बात को अनुमित करते हैं कि अन्य व्यक्तियों में भी एक जैसी भौतिक घटनायें उत्पन्न करेगी— यद्यपि इन मस्तिष्कों का हमें सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसा कि कहा जा चुका है, पूर्वमान्यताओं के रूप में स्वीकृत ये नियम सिद्ध नहीं किये जा सकते, पर ये इस कारण शाश्वत अनुभव-निरपेक्ष सत्य नहीं हैं। ये अनुभव-निरपेक्ष सत्यों से निगमित भी नहीं किये जा सकते हैं। पुनः अनुभव से प्राप्त युक्तियों के आधार पर भी ये सिद्ध नहीं किये जा सकते हैं, क्योंकि ये नियम ही इन युक्तियों की प्रामाणिकता के आधार हैं। यही कारण है कि इन्हें वैज्ञानिक अनुमान की पूर्वमान्यताओं की संज्ञा दी गयी है। पुनः क्योंकि इन्हें अनुभव के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है इसलिए इसका सीधा अर्थ यह है कि हम ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में इनको स्वीकृति द्वारा अनुभववाद की सीमाओं का तथा उसकी असफलता का समर्थन कर रहे हैं। यह स्वाभाविक है कि चिन्तन के इस बिन्दु पर हमें कांटीय दृष्टिकोण का स्मरण हो आये। पर रसल की पूर्वमान्यताओं तथा कांट के अनुभव-निरपेक्ष नियमों में अन्तर है। रसल द्वारा स्वीकृत ये नियम मनुष्य की मनोवैज्ञानिक एवं जैविक संरचना से उद्भूत हैं। अपने सहज प्राकृतिक व्यवहार में इस प्रकार की संरचना से युक्त प्राणी अचेतन रूप से भी अनुमान करते रहते हैं। वातावरण से समायोजन होने की प्रक्रिया की यह विशेषता है।[1] रसल के अनुसार पशु में इन पूर्वमान्यताओं का बोध अनुमान की सहज प्रवृत्ति के रूप में रहता है, मनुष्य में वह अनुमान की प्रक्रिया के रूप में विकसित देखने को मिलता है। इन्हीं के अनुसार हम सामान्यीकरण करना सीखते हैं।[2]

---

1. "The forming of inferential habits which led to true expectations is part of the adaptation to the environment upon which biological survival depends."

   Human Knowledge, p. 526.

2. "Our Knowledge of these principles–if it can be called

अतः इन पूर्वमान्यताओं का औचित्य इनके अनुभव-पुष्ट होने में ही है। अन्य शब्दों में, अनुमान का आधार एक ऐसा विश्वास है जिसे अनुभव से निरंतर पुष्ट होने में ही शक्ति मिलती है। इनका कोई तार्किक आधार नहीं है; इनका आधार केवल मनोवैज्ञानिक एवं जैविक ही है। अपनी पूर्वमान्यताओं के विषय में रसल निश्चयात्मक रूप से कहते हैं कि इनका कोई तार्किक आधार नहीं है[1]; इनका औचित्य अन्ततः इस कारण है कि एक अधिक व्यापक अनुभव इन्हें मानने के लिए हमें विवश करता है। पर क्या इसका यह अर्थ नहीं कि प्रच्छन्न रूप से रसल सत्य के संसक्तता सिद्धान्त[2] का समर्थन कर रहे हैं, जिसका उन्होंने प्रत्ययवादी सिद्धान्त के रूप में विरोध किया था और जो आंतरिक सम्बन्ध के सिद्धान्त पर आश्रित है? अधिक व्यापक अनुभव का अर्थ है अधिक संगति जिसके कारण उसी अनुपात में संभाव्यता में अभिवृद्धि हो जाती है। रसल द्वारा अनुमित करने की एक ऐसी प्रवृत्ति की स्वीकृति जो किन्हीं प्रत्याशाओं के आधार पर अनुमान करने की ओर हमें ले चलती है, वस्तुतः ह्यूम की प्राकृतिक विश्वासों की कल्पना या एक घटना का दूसरी घटना की सम्बद्धता में विश्वास करने की मन को सहज प्रवृत्ति का हमें स्मरण कराती है। रसल के लिए निःसन्देह यह एक अत्यधिक कठिन कार्य होगा कि वे अनुभववाद की सीमाओं के बाहर जाकर एक अ-इन्द्रियानुभविक ज्ञान विषयक सिद्धान्त का समर्थन करें।

रसल का भाषा संबंधी सिद्धांत

रसल के अनुसार भाषा सूचना प्रस्तुत करने अथवा कथनों को प्रस्तुत करने का ही माध्यम नहीं है, बल्कि इनसे पृथक् उसके अनेक कार्य हैं। उदाहरणार्थ,

---

"'Knowledge' exists at first solely in the form of propensity to inferences of the kind that they Justify", Ibid, p. 526.

1. "These principles" are justified by the fact that they are implied in inferences which we all accept as valid, and that, although they can not be proved in any formal sense, the whole system of science and everyday knowledge, out of which they have been distilled, is within limits, self-confirmatory".

   My Philosophical Development, p. 204

2. Coherence theory of truth.

किसी सार्जेण्ट मेजर के लिए भाषा का कार्य आदेश देना है, यानी तथ्यों का वर्णन करके या उनके सम्बन्ध में सूचना न देकर केवल दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करना है। पर रसल विशेष रूप से वर्णनात्मक भाषा में ही रुचि रखते हैं। उनके मत में दर्शन विश्व को समझने का प्रयास है। अतएव स्वाभाविक है कि भाषा में उनकी रुचि इतने तक ही है कि वह उनके इस कार्य को पूरा करने में सहायक हो।

हमने पहले ही यह देख लिया है कि प्ररूप सम्बन्धी अपने सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के अवसर पर रसल के मन में भाषा के पदानुक्रम की एक कल्पना है। रसल का कहना है कि यद्यपि ऊपर जाते हुए यह अनुक्रम अनिश्चित रूप से विस्तारित हो सकता है, नीचे की दिशा में निश्चित ही यह बढ़ नहीं सकता। एक प्राथमिक या मूल निम्नतम भाषा तो होनी ही चाहिए। वे इस बात का भी सुझाव देते हैं कि ऐसी प्रथमस्तरीय भाषा का सम्भव रूप एक विषयभाषा[1] हो सकती है जिसमें केवल-विषयों का निर्देश करनेवाले शब्द हों। एक विषय-शब्द[2] वह शब्द है, जिसके प्रयोग को हम अन्य शब्दों के अर्थों को पहले से जाने बिना ही सीख सकते हैं। विषय-शब्द के अर्थ को हम निदर्शनात्मक परिभाषा[3] से जान सकते हैं। जैसे कोई आदमी किसी बच्चे से किसी पशु की ओर संकेत करके जो उसका उदाहरण प्रस्तुत करनेवाला है, कहता है 'हाथी'। रसल के अनुसार इस प्रकार की भाषा में केवल संज्ञाएँ ही नहीं होती हैं बल्कि उसकी क्रियाएँ तथा विशेषण भी होते हैं जैसे खायें, जायें, कोमल, नीला आदि। यह प्राथमिक भाषा जिसमें केवल वस्तुओं का निर्देशन करनेवाले शब्द होते हैं, न तो सत्य ही कही जा सकती है और न झूठ ही। इस दृष्टि से हमें द्वितीय स्तर की भाषा का प्रयोग करना होगा जिसमें विषयों का निर्देश करनेवाले विषय-शब्द हों और साथ ही ऐसे शब्द भी हों जो उनसे भिन्न हों। भाषा का पदानुक्रम इस बात को स्पष्ट करता है कि हम किस प्रकार एक ही भाषा की परिधि में उसी के बारे में कुछ कहनेवाले तर्क-वाक्यों को प्रस्तुत करने की कठिनाइयों से मुक्त हो जाते हैं। अपनी पुस्तक 'ट्रैक्टेटस लाजिको फिलसोफिकस में विटगेंस्टाइन ने भी इस कठिनाई की ओर संकेत किया है।

---

1. Object-language.
2. Object-word.
3. Ostensive definition

सत्य अथवा असत्य होने के लिए किसी भी कथन का एक अर्थ होना चाहिए। पर रसल के अनुसार इसका यह आशय नहीं कि एक अर्थपूर्ण वाक्य को अनिवार्यतः सत्य अथवा असत्य होना ही चाहिए। उदाहरणार्थ, 'आगे बढ़ो' एक सार्थक वाक्य है, उसका एक सुनिश्चित अर्थ भी है, पर हम उसके विषय में यह नहीं कह सकते हैं कि वह सत्य है अथवा असत्य। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अर्थ का दायरा तार्किक सत्य अथवा असत्य के दायरे से अधिक व्यापक है। वे वाक्य जो निदर्शनात्मक हैं और वे जो नहीं भी हैं सत्य अथवा असत्य होने की विशेषता रखते हैं।[1] रसल इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सत्य तथा ज्ञान को एक दूसरे से पृथक् रखना चाहिए। सत्य तर्क-वाक्य हो सकते हैं पर यह भी सम्भव है कि हम उन्हें उस रूप में न जानें। कोई भी तर्क-वाक्य तभी सत्य होता है जबकि वह किसी तथ्य से सम्बन्धित होता है। रसल इन तथ्यों को 'सत्यापक'[2] की संज्ञा देते हैं और उनकी इस स्वीकृति का यह अर्थ होता है कि यथार्थवादियों द्वारा स्वीकृत संवादिता के सिद्धान्त[3] को वे स्वीकार करते हैं। अन्य शब्दों में, कथन या तो तथ्यों के अनुरूप हैं या फिर नहीं ही हैं। पुनः चाहे हम जानें अथवा न जानें, संवादिता का सम्बन्ध इस जानने अथवा न जानने से अप्रभावित रहता है।

सामान्य बुद्धि इस दृष्टिकोण को स्वीकार करती है। पर जब संवादिता के स्वरूप को हम समझना चाहते हैं तो हमारे सामने कठिनाइयाँ आती हैं। प्रश्न है सम्वादिता का वास्तविक अर्थ क्या है, रसल को इस कठिनाई का एहसास है और इसलिए वे इस बात की ओर संकेत करते हैं कि संवादिता करीब-करीब उस प्रकार की सदृशता है, जो किसी मूल वस्तु और तस्वीर में देखी जाती है जिसके कारण मन कहीं पर अनुकृति को अनुमोदित करता है और कहीं पर अननुमोदित। इस प्रकार चित्रीय अंकन की सदृशता के आधार पर रसल संवादिता को स्वीकार करते हैं। अपने ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टाइन ने भी यही बात कही थी और रसल उससे विशेष रूप से प्रभावित थे। यह तर्क-

---

1. "Truth and falsehood, in so far as they are public, are attributes of sentences, either in the indicative or in the Subjective or conditional."—*Human knowledge*, p. 127.
2. Verifiers.
3. Correspondence theory.

वाक्य तथा तथ्य की संरचात्मक संवादिता है। इस कारण तथ्यों को प्रस्तुत करने वाली भाषा के माध्यम से हम विश्व की संरचना के विषय में अनुमान कर सकते हैं। पुनः यद्यपि रसल ने 'विटगेन्स्टाइन' के चित्रीय सिद्धान्त[1] को स्वीकार कर लिया था फिर भी वे उनकी यह बात नहीं मानते थे कि एक सत्य तर्क-वाक्य तथा तथ्य में आकारों में जो सदृशता है, वह कथ्य नहीं है उसे केवल दिखाया ही जा सकता है।[2] रसल के बारे में यह पहले ही कहा जा चुका है कि उनका यह विश्वास था कि भाषा के क्षेत्र में एक पदानुक्रम का अस्तित्व है अतएव उसके अनुसार यदि किसी भी भाषा—उदाहरणार्थ के बारे में उसमें कुछ भी प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है, तो उससे भिन्न में जो क्रम में उससे आगे हैं, यानी में निश्चित ही वह प्रस्तुत किया जा सकता है। रसल विटगेन्स्टाइन के इस विचार से भी सहमत नहीं हैं कि विश्व में जितनी भी वस्तुएँ हैं[3] उनके बारे में समवेत रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

पर प्रश्न है कि क्या तार्किक दृष्टि से विशोधित भाषा के माध्यम से विश्व के विभिन्न गुणों के बारे में अनुमान किया जा सकता है? अन्य शब्दों में, क्या तार्किक दृष्टि से विशोधित भाषा को हम एक अन्तिम आधार वाक्य के रूप में स्वीकार कर सकते हैं ताकि उससे हम विश्व के विभिन्न गुणों को निष्कर्षित कर लें? रसल ने सीधे-सीधे इस संभावना को स्वीकार नहीं किया है। पर उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि यदि वस्तुओं के बारे में कुछ विशेष तरीके से कुछ कहना हमारे लिए आवश्यक है, तो हम यह सोच सकते हैं कि उपरोक्त आवश्यकता का उन वस्तुओं में ही आधार है। उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि 'चीजें एक जैसी हैं' तो यह बहुत सम्भव है कि कुछ चीजें इस प्रकार की हैं कि उन्हें हम 'एक जैसी' कह सकते हैं। इस प्रकार विश्व की विभिन्न वस्तुओं के गुणों के रूप में 'समानता' को हम भाषा के आधार पर अनुमित कर सकते हैं। पर विश्व की वस्तुओं को अन्ततः हम अनुभव के आधार पर ही जानते हैं। रसल एक ऐसी पूर्ण भाषा को प्राप्त करना चाहते थे जिसमें भ्रमित करने वाले संकेतों का या अनिश्चित अर्थों का अभाव हो। ऐसा होने से भाषा के माध्यम से उत्पन्न होने वाली गड़बड़ी और दार्शनिकों

---

1. Picture theory.
2. '*Tractatus Logico philosophicus*, p. 79, Proposition No. 4, 121.
3. "All the things that there are in the world."

के कथनों की एक से अधिक व्याख्याओं से बचने में सहायता मिलती है। रसल का विश्वास था कि दार्शनिक की भाषा को साहित्यिक या गणितीय नहीं होना चाहिए, उसे तो विशुद्ध एवं तर्क संगत होना चाहिए और उसमें सत्य को ही प्रस्तुत करने की बात प्रमुख होनी चाहिए।[1] परम्परागत तर्कशास्त्र की प्रत्यय-वाद द्वारा प्रस्तुत आलोचना यह है कि वह अत्यधिक आकारिक है और अपने अध्ययन विषय की प्रकृति की उसमें अवहेलना मिलती है। पर रसल द्वारा उसकी आलोचना यह है कि जितना आकारिक उसे होना चाहिए उतना आकारिक वह नहीं है और यह भी कि उसके तर्कवाक्य जिन तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं, उनके आकारों को वे आवृत्त भी करते हैं और साथ ही उन्हें अनुचित प्रकार से प्रस्तुत भी करते हैं। वे इस बात की ओर भी संकेत करते हैं कि भाषा का यह दोष सामान्य बोलचाल की भाषा की परम्पराओं, विशेषताओं तथा संरचना के कारण है। यह भाषा प्रायः सभी कुछ को 'उद्देश्य विधेय' के आकार में प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि परम्परागत दर्शन व्यवस्थित रूप से उसके इस स्वरूप से भ्रमित रहा है। भाषा का उद्देश्य—विधेय रूप उन्हीं तर्कवाक्यों के अनुरूप है जो इस बात को व्यक्त करते हैं कि कोई विशेष चीज विशेष गुण रखती है। पर इसी आकार में यह बात कि दो चीजें परस्पर विशेष सम्बन्ध से संबंधित हैं, नहीं हो सकती। क्योंकि रसल के "मत में इस प्रकार उसे प्रस्तुत करने का आशय यह होगा कि हम इस बात पर विश्वास करते हैं कि दो पदों के बीच का सम्बन्ध स्वयं एक गुण है। कभी कभी तो गुण इस प्रकार भी स्वीकार किया जाता है कि मानो वह एक वस्तु है। रसल के अनुसार तर्कशास्त्र की प्रमुख आवश्यकता यह है कि तर्क-वाक्य का आकार तथ्यों के आकार को प्रतिबिम्बित करे। अतः हमें एक ऐसी विशेषरूप से आदर्श तर्कशास्त्रीय भाषा का निर्माण करना होगा जो इस कार्य को करने में सक्षम हो। इस दृष्टि से उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि विभिन्न प्रकार के पदों यथा सरल, गुण, सम्बन्ध आदि के लिए, पुनः परिमाण स्थिर करने वाली इकाइयों तथा अस्तित्व सम्बन्धी कथनों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रतीक होने चाहिए। उन्होंने सोचा कि इस प्रकार की भाषा सभी चीजों को कहने की दृष्टि से सक्षम होगी क्योंकि उसमें

---

1. 'The philosopher, however, must pursue truth even at the expense of beauty, and in studying language he must not let himself be seduced by the siren songs of mathematics."

—*Human Knowledge*, p. 77.

स्पष्टता होगी। पुनः इसके द्वारा उन सभी भ्रमों से बचना सम्भव होगा जिन्होंने दार्शनिकों को अतीत में अयथार्थ अस्तित्व में विश्वास करने के लिए भ्रमित किया है। रसल का यह विश्वास है कि यह नवीन गणितीय तर्क-शास्त्र जिस सुस्पष्टता को प्राप्त करेगा उसके आधार पर दार्शनिक एक बारगी उन सभी पुरानी समस्याओं से मुक्त हो जायेंगे जिनका हल ढूँढ़ने में वे अब तक संलग्न रहे तथा नवीन समस्याओं में से अनेक का हल ढूँढ़ने में भी वे सफल हो जायेंगे। अतएव रसल ने सोचा कि इस प्रकार दर्शन को एक वैज्ञानिक पद एवं विधि को प्राप्ति हो जायेगी जिसके द्वारा दीर्घकाल से चले आये तर्क-वितर्क एवं विवाद भी समाप्त हो जायेंगे। पर रसल की यह उम्मीद पूरी नहीं हुई। यदि तथ्य का आकार तर्क-वाक्यों के आकारों को बिम्बित करता है तो सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि हम इस बात को जानते कैसे हैं? उत्तर स्पष्टतः यह है कि हम परिचय के आधार पर ही जानते हैं। अतएव हमें विश्व से प्रथम ज्ञान के मूल स्रोत के रूप में सम्वेदना को ही स्वीकार करना होगा। रसल संवेदनाओं को 'ठोस आधार सामग्री'[1] के रूप में स्वीकार करते हैं और इनके विषय में सन्देह किया ही नहीं जा सकता। रसल ने इस बात की उम्मीद की थी कि विटगेन्स्टाइन के ट्रैक्टेटस के बाद एक तार्किक दृष्टि से शुद्ध भाषा का विकास हो जायेगा। पर विटगेन्स्टाइन ने स्वयं अपने पूर्व के विचारों को यानी भाषा तथ्यों को व्यक्त करती है, वाक्यों का कार्य तथ्यों को प्रतिबिम्बित करना है और यह कि भाषा की एक आकारिक तर्काग्र संरचना होती है अस्वीकार कर दिया था। पुनः उन्होंने यह भी सुझाव दिया था कि जब हम शब्दों के उद्‌देश्य एवं कार्य को समझना चाहते हैं तो हम यह पाते हैं कि वे वस्त्रों की भाँति विविध कार्यों एवं उद्‌देश्यों के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं।[2] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि भाषा में प्रतीक की विशुद्धता को कायम रखना कठिन है और क्योंकि विश्व के बारे में सूचना का प्रमुख स्रोत संवेदना ही है, तथ्यों के बारे में व्याख्याओं का अन्तर तो अनिवार्यतः रहेगा।

रसल के बाद जो दार्शनिक आये उन्होंने इस बात को तर्क के आधार पर सिद्ध करना चाहा कि किसी भी तथ्यात्मक तर्क-वाक्य का कोई सार्थक अर्थ तब तक नहीं हो सकता जब तक कि किसी सम्भव निष्कर्ष को, जिससे वह

---

1. **Hard data.**
2. **Philosophical Investigations, p. 6. No. 11.**

सत्यापित हो सके, उससे अनुमित न किया जा सके। उन्होंने अपने निष्कर्ष को इस प्रकार प्रस्तुत किया कि इस अर्थ में किसी भी तत्त्वमीमांसीय कथन का कोई तथ्यात्मक अर्थ सम्भव नहीं है। रसल तर्कीय प्रत्यक्षवाद के इस सिद्धान्त से प्रभावित तो थे पर उसके बाद के विकासों को स्वीकार करना उनके लिए सम्भव न था। इन विकासों का सम्बन्ध मुख्यतः दो बातों से था—सर्वप्रथम तर्कीय परमाणुवाद को ही एक निरर्थक तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में अस्वीकृत करने से और दूसरी यह कि प्रतिमान के रूप में भाषा के उपयुक्त प्रयोग के लिए 'सामान्य भाषा' की स्वीकृति। रसल ने इसका विरोध किया यद्यपि उन्होंने ही अपने चिन्तन में उसके मूल स्रोतों को प्रस्तुत किया था।

3. तर्कीय प्रत्यक्षवाद

1931 में ए० ई० ब्लूमबर्ग एवं हर्बर्ट फाइगेल ने दार्शनिक विचारों के उस निकाय को, जिसे 'विएना सर्किल' ने प्रतिष्ठित किया था, 'तर्कीय प्रत्यक्ष-वाद' संज्ञा से अभिहित किया। इसी के पर्याय के रूप में अन्य अभिव्यक्तियाँ इस प्रकार हैं: 'समन्वित अनुभववाद', 'तर्कीय अनुभववाद', 'वैज्ञानिक अनुभववाद' एवं 'तर्कीय नव-प्रत्यक्षवाद'। तर्कीय प्रत्यक्षवाद प्रायः, किन्तु अनुचितरूपेण, अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होकर विश्लेषणात्मक अथवा सामान्य भाषा दर्शन को, जो कैम्ब्रिज एवं आक्सफोर्ड में प्रचलित है, अन्तर्निहित करता है।[1]

तर्कीय प्रत्यक्षवाद का सम्बन्ध 19वीं शताब्दी की विएना की अनुभववादी परम्परा से जुड़ा है, जो बाद में ब्रिटिश अनुभववाद से जुड़कर अन्त में तत्त्व-मीमांसा के निराकरण के रूप में अ० माख के वैज्ञानिक दर्शन के रूप में अभिहित हुआ। इस दर्शन के निर्माण में ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न विधाओं के विशेषज्ञों का योगदान है किन्तु मुख्य योग दार्शनिकों तथा गणितज्ञों का ही है। 1922 में प्रो० मो० श्लिक् विएना में दर्शन के प्रोफेसर के रूप में आते ही विएना सर्किल के केन्द्र में आ गये। श्लिक् के अतिरिक्त इसके अन्य दार्शनिक सदस्य फी० बेजमान स०, कार्नप, ओ० न्यूराथ, ह० फाइगेल एवं वि० क्राफ्ट थे। इसके गणितज्ञ सदस्य थे—ह० हान, का० मेंगर एवं कु० गोयडेल। लु० विटगेन्स्टाइन इस सर्किल के सदस्य न होते हुए भी व्यक्तिगत स्तर पर प्रो० श्लिक् एवं बेजमान से सम्बन्धित थे एवं उनके विचारों से यह सर्किल बहुत अधिक प्रभावित था। यदि सच कहा जाय तो विटगेन्स्टाइन का 'ट्रैक्टेटस' जो 1921 में प्रकाशित हो चुका था, शुरू में अधिकांशतः इस सर्किल के मौलिक विचारों को अभिव्यक्त करता है।[2] साथ ही इस दर्शन की बहुत सारी-सी विशेषताएँ

---

1. दि इन्साइक्लोपीडिया आफ फिलासफी, पाल एडवर्ड, भाग 5, पृ० 52.
2. दि रिवल्यूशन इन फिलासफी, राइल, पृ० 70.

श्लिक् अपनी पुस्तक 'आन दि थीअरो आफ नालेज' में 1918 में ही प्रकाशित हो चुकी थी, प्रतिपादित कर चुके थे।

यों तो इस सर्किल के सदस्य बहुत पहले से नियमित रूप से एकत्र होकर दार्शनिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करते रहे थे, किन्तु 1929 में इस सर्किल को पंजीकृत कराकर इसके सदस्य और भी सक्रिय हो गये। इसी वर्ष प्राग् में एक 'कांग्रेस' की व्यवस्था की गयी जिसमें अन्य देशों के समर्थकों को भी आमंत्रित किया गया तथा एक 'मेनीफेस्टो दि साईटिफिक स्टैंण्डप्वाइंट आफ विएना सर्किल' निकाला गया। 1930 में एक पत्रिका 'अनालेन डेर फिलासफी' जिसका बाद में 'एर्केन्टनिस' नाम रखा गया, निकाली गई। इन्हीं वर्षों में 'यूनीफाइड साइंस' के नाम से अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई। इस बीच इस सर्किल से सहानुभूति रखनेवाले अन्य देशों के दार्शनिकों से जैसे पोलैण्ड, इंगलैण्ड, हालैण्ड एवं स्कैन्डिनेविया आदि, से सम्बन्ध स्थापित किया गया एवं इस सर्किल ने प्राग्, कोपेनहोगेन, पेरिस एवं कैम्ब्रिज में 'कांग्रेस' की व्यवस्था की किन्तु 1938 में कैम्ब्रिज कांग्रेस के समय यह सर्किल व्यवहारतः टूट चुका था। श्लिक् की 1936 में हत्या कर दी गई थी। हान की 1934 में मृत्यु हो चुकी थी, कार्नप, फाईगेल, मेंजर तथा गोयडेल अमेरिकन विश्वविद्यालयों में जा चुके थे। न्यराथ हालैण्ड चले गये थे तथा वेजमान इंग्लैण्ड। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर न्यूराथ ने इस धारा को जीवित रखने का भरसक प्रयास किया। उन्हीं के निर्देशन में अमेरिका में 'दि इण्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया आफ यूनीफाइड साइंसेज' का प्रकाशन भी शुरू हुआ। न्यूराथ की मृत्यु से इस दर्शन को बहुत धक्का लगा। तर्कीय प्रत्यक्षवाद एक दार्शनिक विधा के रूप में निःसंदेह समाप्त हो चुकी है, किन्तु आज भी इस विधा के कुछ शीर्षस्थ विद्वान् आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, विएना एवं अमेरिकन विश्वविद्यालयों में हैं।

इस दार्शनिक-विधा के महत्वपूर्ण विचारों का अध्ययन हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर करेंगे :

(१) निषेधात्मक—तत्त्वमीमांसा का निराकरण।

(२) विधायक—(अ) दर्शन विज्ञान के निर्णयों का तार्किक विश्लेषण अथवा समालोचना है।

(ब) कुछ अन्य दार्शनिक समस्याएँ, तथा

(स) आलोचनात्मक सर्वेक्षण।

(1) तत्त्वमीमांसा का निराकरण

तर्कीय प्रत्यक्षवाद में तत्त्वमीमांसा को सामान्यतः प्रचलित अर्थ में लिया गया है। तत्त्वमीमांसा अतीन्द्रिय सत्ता का अनुशीलन है। एयर के अनुसार 'तत्त्वमीमांसा' की मौलिक अवधारणा यह है कि व्यावहारिक सत्ता से परे कोई आध्यात्मिक सत्ता है····तत्त्वमीमांसा का उद्देश्य अनुभव से परे सत्ता का वर्णन है, अतः ऐसे निर्णय जिनका इंद्रिय प्रत्यक्ष सम्भव है, स्वभावतः तत्त्वमीमांसीय निर्णय नहीं हो सकते।[1] तत्त्वमीमांसा के निराकरण का मूल आधार तर्कीय प्रत्यक्षवाद की इस मूल अवधारणा में निहित है कि इन्द्रिय ज्ञान ही एकमात्र यथार्थ ज्ञान का स्रोत है। यदि इंद्रियानुभव से परे कोई सत्ता है तो वह अर्थहीन है। एयर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—यह हमारी मौलिक धारणा है कि कोई भी वाक्य, जो हमारे सभी सम्भव इंद्रियानुभव से परे की ओर संकेत करता है, अर्थ नहीं रखता, जिसका अभिप्राय यह है कि उन लोगों का सारा प्रयास जिन्होंने इस प्रकार की सत्ता के वर्णन की कोशिश की है, अर्थहीन की उत्पत्ति में रहा।[2]

पाश्चात्य दर्शन में इस प्रकार की अवधारणा प्रथम बार देखने को मिली हो, ऐसी बात नहीं। ह्यूम ने अपने संदेहवाद में इसी अवधारणा की संस्थापना की थी। कांट का अज्ञेयवाद यद्यपि तत्त्वमीमांसा का निराकरण तो नहीं करता किन्तु वह इतना तो स्वीकारता ही है कि मानवीय ज्ञान-संस्थान की सीमा मात्र इंद्रियानुभव ही है। इन्द्रियानुभव से अधिक हम कुछ भी नहीं जान सकते। कांट के अनुसार परमार्थ अज्ञात एवं अज्ञेय हैं। ज्योंही हम इन्द्रियानुभव के आधार पर परमार्थ के विषय में निर्णय देते हैं, हम अन्तर्विरोध के दोष में अपने को फँसा पाते हैं। इस प्रकार कांट परमार्थ के विज्ञान का निराकरण इंद्रियानुभविक ज्ञान की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए करता है, न कि तार्किक विश्लेषण के आधार पर; जबकि तर्कीय प्रत्यक्षवादी तत्त्व-

1. The fundamental postulate of metaphysics is that there is a super (or hinter) phenomenal reality....it is the aim of metaphysics to-describe a reality lying beyond experience and therefore any proposition which would be verified by empirical observation is ipso facto not methaphysical. A. J. Ayer—"Demonstration of the Impossibility of Metaphysics." Mind, July, 1934.
2. *Language Truth and Logic*, 1958, p. 34.

मीमांसीय निराकरण वस्तुतः तार्किक विश्लेषण के आधार पर करते हैं। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए की तत्त्वमीमांसा के निराकरण से कांट का आशय तत्त्वमीमांसा को निरर्थकता से नहीं है, जबकि तर्कीय प्रत्यक्षवादी निराकरण इसी निरर्थकता का ही सूचक है। पर अब प्रश्न यह है कि तत्त्वमीमांसा के निराकरण का आधार क्या है ? वह आधार सार्थकता का मापदण्ड या निकष है। सार्थकता के मापदण्ड का आशय क्या है ? वह सत्यापन का सिद्धान्त है। इस प्रकार तर्कीय प्रत्यक्षवाद सत्यापन के सिद्धान्त के आधार पर तत्त्वमीमांसा का निराकरण करता है। तर्कीय प्रत्यक्षवाद के अनुसार किसी वाक्य की सार्थकता सत्यापन के सिद्धान्त पर आधारित होती है। सत्यापन के सिद्धान्त का बहुत संतोषपूर्ण रूप अन्त तक नहीं दिया जा सका है किन्तु लगभग इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: वाक्य की सार्थकता का आधार सत्यापन की विधि है एवं सत्यापन की विधि का आशय इन्द्रियानुभव से है।[1] सत्यापन के इसी सिद्धान्त के आधार पर तर्कीय प्रत्यक्षवाद तत्त्वमीमांसीय वाक्यों को निरर्थक बतलाता है। क्योंकि उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वे सत्य हैं या मिथ्या और क्योंकि वे न तो सत्य हैं और न मिथ्या, अतः अर्थहीन हैं। विटगेंस्टाइन ने तत्त्वमीमांसा का पूर्णरूपेण निराकरण नहीं किया था। उसने लगभग उसी प्रकार निराकरण किया, जिस प्रकार गौतम बुद्ध ने तत्त्व-मीमांसीय समस्याओं को 'अव्याकृत प्रश्नानि' बताकर शान्त हो जाने का आदेश दिया था। विटगेंस्टाइन ने भी लगभग यही बात कही कि 'जिसके विषय में हम कुछ न बोल सकें, शान्त रहें'[2]। विटगेंस्टाइन के इस सूत्र में तर्कीय प्रत्यक्ष-वादियों को प्रकारान्तर से तत्त्वमीमांसा का समर्थन मिला, अतः न्यूराथ ने कहा कि हम निश्चित ही शान्त रहें किन्तु किसी सत्ता के विषय में नहीं। रेम्सी ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया 'हम जो नहीं कह सकते नहीं कह सकते और न तो फुसफुसाहट ही कर सकते हैं।'[3]

---

1. But, roughly stated, it lays it down that the meaning of a statement is determined by the way in which it can be verified, where its being verified consists in its being tested by empirical observation. *Revolution Philosophy*, p. 74.
2. Whereof one cannot speak thereof one must be silent- *Tractatus*.
3. *Revolution in Phil.*, p. 75.

एक तत्त्वमीमांसक यह कह सकता है कि हम क्यों इन्द्रियानुभव को ही ज्ञान का यथार्थ स्रोत मानें ? क्यों न शुद्ध बुद्धि, प्रातिभ अथवा प्रागनुभविक विचारों को ज्ञान का स्रोत मानें ? क्या मात्र अनुभव के आधार पर अनिवार्य सत्यों का ज्ञान हो सकता है ? ह्यूम की भी तो यहीं मान्यता है कि अनुभव के आधार पर कभी भी सार्वभौम अनिवार्य सत्य की संस्थापना सम्भव नहीं है। ह्यूम की इस मान्यता से एयर भी अक्षरशः सहमत हैं। इस धारणा में कोई भी अन्तर्विरोध नहीं है कि विज्ञान एवं सामान्य ज्ञान के जो भी सत्य हैं, प्राक्कल्पनाएँ ही हैं।[1]

एयर इस बात से सहमत हैं कि अनुभव के समक्ष सबसे बड़ी समस्या तर्क-शास्त्र एवं गणित के सिद्धांतों को है। जहाँ तक विज्ञान की सार्वभौम मान्यताएँ हैं, मिथ्या हो सकती हैं, किन्तु गणित एवं तर्क-शास्त्र के सत्य अनिवार्य एवं निश्चित लगते ही हैं। यदि अनुभववाद सत्य है तो कोई भी निर्णय, जो जगत् के विषय में है, निश्चित एवं अनिवार्य नहीं हो सकता। अतः अनुभववादी के समक्ष अब दो ही विकल्प बचते हैं : या तो वह यह माने कि गणित एवं तर्क-शास्त्र के नियम अनिवार्य नहीं हैं; जबकि सामान्य धारणा यही है कि वे अनिवार्य हैं, या वह यह माने कि उनमें कोई तथ्यात्मक घटक नहीं है एवं वह यह भी बताये कि बिना तथ्यात्मक घटक के भी वे सत्य हैं, एवं उनकी उपयोगिता भी है।[2]

मिल के अनुसार गणित एवं तर्क-शास्त्र के नियम अनिवार्य एवं सुनिश्चित नहीं हैं। गणित एवं तर्क-शास्त्र के सार्वभौम नियम वस्तुतः असंख्य उदाहरणों के आधार पर सामान्यानुमानीय सामान्यीकरण हैं। इन सत्यों के समर्थन में इतने अधिक उदाहरण होने के फलस्वरूप प्रायः यह मान लिया जाता है कि ये सार्वभौम सत्य हैं तथापि सिद्धांततः ये सामान्य वाक्य संदिग्ध होते हैं। अधिकांशतः वे संभाव्य हैं किंतु अनिवार्य एवं सुनिश्चित नहीं हैं। अतः इन सत्यों एवं विज्ञान के सत्यों में केवल मात्रा का अन्तर है न कि प्रकार का।

एयर मिल से सहमत नहीं हैं। वे कांट की इस बात से सहमत हैं कि यद्यपि बिना किसी सन्देह के हमारा समस्त ज्ञान अनुभव से प्रारम्भ होता है, किंतु इसका यह आशय नहीं है कि हमारे सभी ज्ञान की उत्पत्ति भी अनुभव से

---

1. *Language, Truth and Logic*, p. 72.
2. Ibid., p. 73.

ही होती है। एयर की इस सहमति का अर्थ यह नहीं है कि वे गणित एवं तर्क-शास्त्र के सार्वभौम नियमों को जन्मजात प्रत्यय मानते हैं। इन्हें जानने के लिए इनका भी उसी प्रकार अध्ययन किया जाता है जिस प्रकार रसायन-शास्त्र एवं इतिहास का। साथ ही मिल की संभावना का भी वे अक्षरशः निराकरण नहीं करते। मिल की मान्यता का खंडन एयर ने शुद्ध ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से किया है। एयर के अनुसार वे इस अर्थ में अनुभव से स्वतंत्र हैं, क्योंकि उनकी सत्यता इन्द्रियानुभविक सत्यापन पर आधारित नहीं है।[1] मिल की मान्यता का खंडन एयर ने इस प्रकार किया है: उदाहरणार्थ मैंने किसी वस्तु के 5 जोड़ों को लिया एवं उन्हें जोड़ने पर केवल 9 पाया। हम यह कह सकते हैं कि इस बार 5 जोड़े 9 ही थे। किंतु इस उदाहरण में हम $2 \times 5 = 10$ का प्रयोग नहीं करेंगे क्योंकि यदि 2×5 चिह्न का प्रयोग किया गया तो योग 10 होना अनिवार्य सुनिश्चित् है। इसी प्रकार तर्क-शास्त्र के नियमों का भी परीक्षण किया जा सकता है।[2] इस प्रकार तर्कशास्त्र एवं गणित के नियम अनिवार्य एवं सार्वभौम हैं क्योंकि हमने उन्हें ऐसा मान ही लिया है, दूसरे शब्दों में गणित एवं तर्कशास्त्र की मान्यताएँ विश्लेषणात्मक निर्णय अथवा पुनरुक्तिमात्र हैं।[3] एयर कांट के विश्लेषणात्मक निर्णय की परिभाषा से सहमति व्यक्त करते हैं कि विश्लेषणात्मक निर्णय वह है जिसका विधेय 'ब' उद्देश्य 'अ' से इस प्रकार सम्बन्धित है कि प्रत्यय 'ब' प्रत्यय 'अ' से समाहित है। कांट ने विश्लेषणात्मक निर्णय एवं संश्लेषणात्मक निर्णय का अन्तर बताते हुए दिखाया है कि संश्लेषणात्मक निर्णय का विधेय उद्देश्य से पृथक होता है इस प्रकार विश्लेषणात्मक निर्णय उद्देश्य के बारे में कोई नया ज्ञान नहीं देता जबकि संश्लेषणात्मक निर्णय उद्देश्य के बारे में नया ज्ञान देता है। किन्तु एयर कांट के विश्लेषणात्मक निर्णय एवं संश्लेषणात्मक निर्णय की परिभाषा से पूर्णरूपेण सहमत नहीं हैं। कांट ने दोनों प्रकार के

---

1. We maintain that they are independent of experience in the sense that they do not owe their validity to empirical verification.—*Language, Truth and Logic.*, p. 75.
2. Ibid. p. 76.
3. The principles of logic and mathemetics are true universally simply because we never allow them to be any thing else....In other words, the truth of logic and mathemetics are analytic proposition or tautologies. Ibid, p. 77.

निर्णयों के लिए कोई एक स्पष्ट मापदण्ड नहीं माना है। कांट ने वस्तुतः दो मापदण्ड, जो एकरूप नहीं हैं। माना है। कांट '7 + 5' = 12 को संश्लेषणात्मक निर्णय मानता है, तो उसका आधार यह होता है कि '7 + 5' 'उद्देश्य' में 'विधेय' '12' समाहित नहीं है, जबकि इस निर्णय 'सभी वस्तुएँ स्थान घेरती हैं' को विश्लेषणात्मक मानता है जिसका आधार आत्यन्तिक विरोध है। इस प्रकार एयर के अनुसार कांट ने जहाँ पर प्रथम निर्णय के लिए मनोवैज्ञानिक मापदण्ड का प्रयोग किया है तो द्वितीय निर्णय के लिए तार्किक मापदण्ड का; किन्तु वह निर्णय जो प्रथम मापदण्ड के आधार पर संश्लेषणात्मक है, वही द्वितीय मापदण्ड के आधार पर विश्लेषणात्मक हो सकता है।[1] एयर कांट के तार्किक मापदण्ड को तो स्वीकारते हैं किन्तु उसके मनोवैज्ञानिक मापदण्ड का खण्डन करते हैं।

एयर के अनुसार विश्लेषणात्मक निर्णय निस्सन्देह कोई नयी बात नहीं बताते; इनमें वास्तविक अन्तर्वस्तु का अभाव होता है। किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि वे भी तत्त्वमीमांसीय निर्णय की भाँति अर्थहीन हैं। निसन्देह वे किसी आनुभविक अवस्था की नयी सूचना नहीं देते किन्तु वे प्रयोग के प्रकार पर प्रकाश तो डालते ही हैं यथा—

सभी ब्रिटिश फ्रेंच हैं,
सभी फ्रेंच यूरोपियन हैं।

अतः सभी ब्रिटिश यूरोपियन हैं। यद्यपि यह वास्तविक तथ्य का वर्णन नहीं है तथापि यह इतना तो बताता ही है कि निष्कर्ष ऊपर के दो वाक्यों में समाहित है।[2]

विश्लेषणात्मक निर्णय अनिवार्य एवं सुनिश्चित इसलिए हैं क्योंकि उन्हें हमने जानबूझ कर इसी प्रकार का आयाम ही दिया है। हमने उनके लक्षण-प्रत्ययों को इस प्रकार परिभाषित ही किया है कि वे अनिवार्य सुनिश्चित होने के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकते। '7 + 5' = '12' में अंक '7' एवं अंक '5' के योग को हमने अंक '12' का एक पर्याय मान लिया है। अनुभव से अपने को स्वतंत्र रखकर हमने ऐसा मान ही लिया है। 'यहाँ

---

1. *Language, Truth and Logic*. p. 78.
2. *Language, Truth and Logic*, p. 79.

कारण है कि अंक '7' + अंक '5' का योग अंक '12' होना अनिवार्य एवं सुनिश्चित है। ठीक इसी प्रकार अंग्रेजी के प्रत्यय ओकलिस्ट (oculist) को हमने आँख के डाक्टर (eye doctor) का पर्याय मान लिया है। अतः जो भी अनिवार्य एवं सार्वभौम नियम हैं, सभी इसी प्रकार हैं। इस प्रकार सभी अनिवार्य एवं सार्वभौम नियम वस्तुतः पुनरुक्तियाँ मात्र हैं।[1] वे निस्सदेह आनुभाविक संसार की खोज में हमारा मार्ग दर्शन कर सकते हैं किन्तु इनमें कोई आनुभविक अंश नहीं होता।[2]

एयर की तर्कशास्त्र एवं गणित की इस अवधारणा को सर्वथा मान लेने पर भी कि गणित एवं तर्कशास्त्र के सार्वभौम नियम पुनरुक्तियाँ मात्र हैं, सत्यापन के सिद्धान्त का अन्य कारणों से भी मानना कठिन दिखता है। यदि किसी वाक्य की सार्थकता उसके इन्द्रियानुभव में ही है तो ऐसे वाक्य, जिनका वस्तुतः इन्द्रियानुभव हुआ ही नहीं, क्या होगा ? सत्यापन के इस मापदण्ड के आधार पर यह वाक्य 'कोई भी जीव सूर्य पर नहीं हैं' अर्थहीन हो सकता है। श्लिक् के अनुसार यदि व्यावहारिक कठिनाईवश किसी तथ्य का आनुभविक सत्यापन न भी हुआ हो तो हम उसके सैद्धान्तिक सत्यापन में विश्वास कर ही सकते हैं। उदाहरणार्थ, 'चन्द्रमा के दूसरी ओर बहुत दूर पर्वतमाला है'—सार्थक निर्णय कहा जा सकता है क्योंकि भले ही इस निर्णय के सत्यापन में व्यावहारिक कठिनाई (अब तो नहीं है) हो, किन्तु सिद्धान्ततः यह सम्भव है। इसके विपरीत यह वाक्य—'परमार्थ इसमें प्रविष्ट होता किन्तु यह विकास एवं वृद्धि में सक्षम नहीं है' सिद्धान्ततः भी परीक्षण का विषय नहीं है।[3]

पुनः इस सत्यापन के सिद्धान्त पर ऐतिहासिक तथ्यों की सत्यता का परीक्षण कैसे होगा ? एयर के अनुसार जहाँ पर हम साक्षात् परीक्षण नहीं कर सकते वहाँ असाक्षात् परीक्षण के आधार पर ऐतिहासिक तथ्य के फलों का तो परीक्षण कर ही सकते हैं।

---

1. Ibid., p. 85.
2. And tautologies, though they may serve to guide us in our empirical search for Knowledge, do not in themselves contain any information about any matter of facts, *Language, Truth and Logic*, p. 87.
3. *Language, Truth and Logic*, p. 36.

पुनः, यह सत्यापन क्या निर्णय की सत्यता अथवा असत्यता के सन्दर्भ में अन्तिम प्रमाण होता है ? यदि यह तथ्य है तो विज्ञान के सामान्य नियमों को भी अर्थहीन घोषित करना होगा। उदाहरणार्थ, 'सभी वायु तरल होती हैं' अथवा 'सभी प्राणियों के लिए आक्सीजन आवश्यक हैं'—अन्तिम रूप से इनका परीक्षण करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार की कठिनाई उपस्थित होने पर श्लिक् इन्हें 'महत्वपूर्ण अर्थहीनता' के प्रकार में रखकर सन्तोष कर लेते हैं, क्योंकि श्लिक् सत्यापन को अन्तिम रूप में लेते हैं।[1]

एयर 'सशक्त' एवं 'क्षीण' दो प्रकार के सत्यापन में भेद करते हैं। सशक्त सत्यापन वह है जिसमें हम अन्तिम रूप से निर्णय का परीक्षण कर सकें। क्षीण सत्यापन वह है जिसमें परीक्षण मात्र संभाव्य हो। उनके अनुसार पुनरुक्तियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी निर्णय अन्तिम रूप से सत्यापित नहीं हो सकते। अतः सत्यापन अन्तिम न होकर संभाव्य ही होता है।[2] इस प्रकार एयर की यह मान्यता है कि सार्थक निर्णय न तो पुनरुक्तियाँ हैं या आनुभविक प्राक्कल्पनाएँ। तत्त्वमीमांसीय निर्णय न तो पुनरुक्तियाँ हैं और न आनुभविक प्राक्कल्पनाएँ, अतः वे निरर्थक हैं।[3] पारम्परिक तत्त्वमीमांसा के ऐसे शब्द यथा—सत्, असत् जिनका आनुभविक परीक्षण सम्भव नहीं है, मात्र काल्पनिक हैं, अतः निरर्थक हैं।[4]

(2) (अ) 'दर्शन' विज्ञान का तार्किक विश्लेषण है :

तर्कीय प्रत्यक्षवाद निःसन्देह तत्त्वमीमांसा का निराकरण करता है। किन्तु वह दर्शन को मात्र तत्त्वमीमांसा का पर्याय नहीं मानता। दर्शन की

---

1. Schlick, *Positivism and Realism* vol. I. 1930.
2. Indeed, it will be our contention that no proposition, other than a tautology, can possibly be anything more that a probable hypothesis, *Language, Truth and Logic.* p. 38.
3. and as tautologies and empirical hypotheses form the entire class of significant propositions, we are justified in concluding that all metaphysical assertions are nonsensical *Language, Truth and Logic*, p. 41,
4. *Language, Truth and Logic*, p. 44.

उपयोगिता को वह स्वीकारता है। तर्कीय प्रत्यक्षवाद के अनुसार दर्शन का दायित्व न तो अनिवार्य एवं सार्वभौम नियमों का निर्णय कर उनसे निष्कर्षों का निकालना है और न ही उसे 'मूलतत्त्व' के विषय में विचार कर, उसका रूप देकर, उससे संसार की व्याख्या करना है। यह समस्या कि वह कौन-सा तत्त्व 'मूलतत्त्व' है, अथवा वह कौन-सा मौलिक सिद्धान्त है जिससे समस्त विश्व की व्याख्या हो सकती है, मात्र एक अन्धविश्वास है। प्रकृति के संभाव्य नियमों के अतिरिक्त, जो वस्तुतः इन्द्रियानुभव के आधार पर सामान्यीकरण के फल हैं, संसार विषयक अन्य सार्वभौम एवं अनिवार्य नियम हो ही नहीं सकते। प्रातिभ-ज्ञान के आधार पर जिन्हें हम सार्वभौम एवं सुनिश्चित नियम मानते हैं, वस्तुतः वे सार्वभौम एवं सुनिश्चित नहीं हैं और यदि हैं भी तो मात्र पुनरुक्तियाँ ही हैं। प्रातिभज्ञान मात्र वर्तमान मानसिक अवस्था को बता सकता है, उससे सामान्य नियम का ज्ञान सम्भव नहीं।

यह मान्यता कि दर्शन पराविद्या है, विज्ञानों का विज्ञान है, मिथ्या है। सिद्धान्ततः अनुभव का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जो वैज्ञानिक नियमों के अन्तर्गत न हो एवं संसार का कोई भी चिन्तनात्मक ज्ञान विज्ञान से बाहर नहीं है।[1] अब प्रश्न उठता है कि आखिर दर्शन का कार्य ही क्या है? विटगेंस्टाइन दर्शन का दायित्व निम्न ढंग से बताते हैं। समस्त दर्शन भाषा का आलोचन है'।[2] 'दर्शन प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति एक विज्ञान नहीं है।'[3] दर्शन विचारों का तार्किक स्पष्टीकरण है। दर्शन सिद्धांत (तत्त्वमीमांसीय) न होकर मात्र क्रिया है। दार्शनिक पुस्तक अनिवार्यतः स्पष्टीकरणों से पूरित होती है। दर्शन का उद्देश्य अनेक दार्शनिक निर्णयों की प्रतिस्थापना न होकर निर्णयों को सुस्पष्ट

---

1. There is no field of experience which cannot, in principle, be brought under some from of scientific law, and no type of speculative knowledge about the world which it is, in principle, beyond the power of science to give. *Language, Truth and Logic*, p. 48.
2. "All philosophy is a "critique of Language." *Tractatus*, 4.0031.
3. "Philosophy is not one of the natural sciences" *Tractatus*, 4.111.

करना है।[1] इसी प्रकार एयर भी यह मानते हैं कि दार्शनिक का कार्य स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण का है।[2] एयर इस तथ्य को स्वीकारते हैं कि दर्शन का इतिहास प्रायः समूचा का समूचा तत्त्वमीमांसा का इतिहास रहा है।[3] किन्तु साथ ही वे यह भी दावा करते हैं, और जो समीचीन ही है, कि बहुत सारे महान् दार्शनिक तत्त्वमीमांसक न होकर विश्लेषक रहे हैं, यथा—हाब्स, बेन्थम, मिल, लाक, ह्यूम एवं मूर। प्लेटो, अरस्तू एवं कांट के दर्शन को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है।[4] भारतीय दर्शन में इस समस्या को शंकर ने उठाया है कि दर्शन तत्त्वमीमांसा है अथवा विश्लेषण। स्वयं शंकर बहुत बड़े विश्लेषक होते हुए भी तत्त्वमीमांसक हैं; जबकि मीमांसा दर्शन दर्शन को विश्लेषणात्मक मानता है। शारीरक सूत्र में शंकर ने इस समस्या को 'ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया ?' के प्रश्न में उठाया है।[5] जैमिनी क्रियावादी हैं : 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्'—वेदों की सार्थकता क्रियार्थक होने में है, उनसे भिन्न वे निरर्थक हैं। प्रभाकर आचार्य जैमिनि से भी आगे बढ़कर बृहती में यह दावा करते हैं कि "प्रवृत्तिनिवृत्ति विधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलं वस्तुवादी वेदभागो नास्ति" प्रवृत्ति एवं विधि के अतिरिक्त वेद वस्तु विषयक है ही नहीं। यहाँ इतना अवश्य स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि तर्कीय प्रत्यक्षवाद की यह समस्या भारतीय समस्या के नितान्त एकरूप नहीं है।[6]

---

1. The object of philosophy is the logical clarification of thoughts. *Tractatus*, 4.112.
   Philosophy is not a theory but an activity.
   A philosophical work consists essentially of elucidations.
   The result of philosophy is not a number of 'philosophical propositions but to make propositions clear. *Tractatus.*
2. He must, in fact, confine himself to works of clarification and analysis of a sort which we shall presently describe. *Language, Truth and Logic*, p. 51.
3. लैंग्वेज ट्रुथ एण्ड लॉजिक, पृ० 52.
4. वही, पृ० 52 से 56.
5. शारीरक सूत्र 1. 1. 4.
6. मीमांसासूत्र 1. 1. 2.

एयर विश्लेषण का अर्थ स्पष्ट करते हुए सावधान करते हैं कि विश्लेषण का तात्पर्य डिसेक्शन (Dissection) घटकों में बांटना नहीं है क्योंकि यह मानना कि संसार विशेषों का एक संघात है, उतना ही निरर्थक है, जितना कि यह मानना कि यह आग, जल या अनुभूति है।[1] एक दार्शनिक विश्लेषक के रूप में वस्तुओं के भौतिक गुणों से सम्बन्धित न होकर उस विधा से सम्बन्धित है जिससे हम उसके विषय में कुछ बताते हैं।[2] दूसरे शब्दों में, दार्शनिक निर्णय वस्तु विषयक न होकर, स्वरूपतः भाषा सम्बन्धी है, अर्थात् भौतिक अथवा मानसिक तथ्यों के व्यवहार को न बता कर वे परिभाषा व्यक्त करते हैं— अथवा परिभाषा के औपचारिक परिणाम को। एतदर्थ हम यह कह सकते हैं कि दर्शन तर्कशास्त्र का एक प्रभाग है।[3]

दार्शनिक विश्लेषण के स्वरूप में सबसे अधिक भ्रम इस बात पर रहा है कि निर्णय अथवा प्रश्न, जो सचमुच भाषापरक हैं, वे इस प्रकार व्यक्त होते रहे हैं कि लगता है कि वे वस्तु विषयक हैं।[4] उदाहरणार्थ, 'सम्बन्ध विशेष न होकर सामान्य होते हैं।' कोई आसानी से यह कह सकता है कि इस वाक्य का वही प्रकार है जो 'अमेरिकन गुलाम न होकर ईसाई हैं' का है। किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि बाद वाला वाक्य एक आनुभविक प्राकल्पना है जो एक निश्चित समूह के लोगों की धार्मिक रीति से सम्बन्धित है, जबकि पहलावाला निर्णय किसी आनुभविक तथ्य के बारे में न होकर मात्र 'शब्दों' के बारे में है।[5]

यह कथन कि 'सम्बन्ध सामान्य हैं' जिज्ञासा पैदा करता है कि सामान्य क्या है ? यह प्रश्न सचमुच किसी वास्तविक वस्तु के बारे में नहीं है, बल्कि किसी शब्द विशेष की मात्रा परिभाषा से सम्बन्धित है। समूचा दर्शन इस प्रकार के प्रश्नों से भरा पड़ा है जो आनुभविक तथ्य-से लगते हैं, जबकि ऐसे हैं नहीं।[6]

---

1. *Language, Truth and Logic*, p. 56.
2. For the philosopher, as an analyst, is not directly concerned with the physical properties of things, He is concerned only with the way in which we speak about them.

   Ibid, p. 67.
3. Accordingly we may say that philosophy is a department of logic. Ibid., p. 57.
4. Ibid., pp. 57-58.
5. Ibid., p. 58.
6. Ibid., p. 59.

अब प्रश्न उठता है कि दार्शनिक विश्लेषण का स्वरूप क्या है ? दर्शन शब्दों की परिभाषा देता है। किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि दर्शन एक प्रकार का शब्दकोष है। शब्दकोष में शब्दों की परिभाषा यदि व्यक्त होती है तो दर्शन में वह शब्दों के प्रयोग के व्यवहार पक्ष को बताती है। जब कोई शब्द एक पर्याय शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है तो उसे हम व्यक्त परिभाषा कहते हैं। अरस्तू के द्वारा परिभाषा के लक्षण के आधार पर परिभाषित शब्द व्यक्त परिभाषा की कोटि में आता है—(सामान्य + व्यवच्छेदक)। अंग्रेजी के शब्द ओकलिस्ट (oculist) को आँख के डाक्टर (eye doctor) के रूप में परिभाषित करते हैं। ओकलिस्ट एवं आँख का डाक्टर दोनों पर्याय हैं। किन्तु जहाँ तक एक दार्शनिक का प्रश्न है, वह प्रथमतः व्यक्त परिभाषा से सम्बन्धित न होकर परिभाषा के प्रयोग से सम्बद्ध है।[1]

किसी शब्द को प्रयोग के रूप में तब परिभाषित किया जाता है जब हम उसके पर्याय को न बताकर उस पूरे निर्णय को ही, जिसमें वह प्रयुक्त हुआ है, दूसरे निर्णय में अनूदित कर देते हैं।[2] इसका सुन्दर उदाहरण रसल ने अपने निश्चित वर्णन के सिद्धान्त में दिया है। उदाहरणार्थ—'वृत्ताकार वर्ग सम्भव नहीं है—'कोई भी वस्तु साथ ही वर्ग एवं वृत्त नहीं हो सकती', 'बेवर्ली का लेखक स्काट था', 'एक व्यक्ति और मात्र एक ही व्यक्ति ने बेवर्ली लिखा एवं वह व्यक्ति स्काट था।'[3]

भाषा के रूप को अस्पष्ट शब्द ही दुरूह बनाते हैं। कोई आवश्यक नहीं कि एक शब्द का जो भावार्थ एक वाक्य में हो, वही दूसरे वाक्य में भी हो। उदाहरणार्थ, 'वह उस पुस्तक का लेखक है' तथा 'बिल्ली स्तनपायी है' किन्तु जब हम प्रथम को अनूदित करते हैं तो कहते हैं 'उसने, और किसी अन्य ने नहीं, उस पुस्तक को लिखा' एवं जब द्वितीय को अनूदित करते हैं तो कहते हैं : 'स्तनधारियों के समूह में बिल्लियों का भी समूह है'। इस उदाहरण में हम देखते हैं कि प्रत्येक 'है' अस्पष्ट है एवं उनमें आपस में भ्रम नहीं होना चाहिए और न

---

1. For the philosopher, as we have already said, is primarily concerned with the provision, not of explicit definitions, but of definitions use. *Language, Truth and Logic*, p. 60.
2. Ibid., p. 60.
3. Ibid., p. 60.

उनकी सत्ता, समूह सदस्यता, तादात्म्य एवं अन्तर्निहितार्थ में ही भ्रम होना चाहिए।[1] यह कहने का कि शब्द ऐसे लक्षणों से निर्मित होता है जो परस्पर सार्थकता एवं महत्व में एक रूप होते हैं, एवं लक्षण प्रदत्त तत्त्व अथवा प्रदत्त-तत्त्वों की एक सारणी होता है जो शाब्दिक अर्थ व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है—आशय यह नहीं है कि शब्द प्रदत्ततत्त्वों का एक संघात अथवा निकाय है। उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि ब, स और द ई के घटक हैं अथवा ई वस्तु ब, स, द से बनी है तो हम यह नहीं कहते कि वे इ के उसी प्रकार अंग हैं जिस प्रकार मेरा एक हाथ मेरे शरीर का एक अंग है। हमारे कहने का यह आशय है कि वे सभी वाक्य जिसमें शब्द 'ई' आता है ऐसे वाक्यों में अनूदित हो सकते हैं जिसमें न तो वह स्वयं है और न उसका कोई पर्याय, बल्कि उसमें लक्षण ब स द अवश्य हैं। इस प्रकार के उदाहरण में ई को ब स द की तर्कीय संरचना कहते।[2]

तर्कीय संरचना काल्पनिक तत्त्व नहीं है, क्योंकि यदि अंग्रेजी राज्य कुछ लोगों की तर्कीय संरचना है एवं एक मेज, जिस पर हम लिखा करते हैं, कुछ प्रदत्त घटकों की एक तर्कीय संरचना है तो इसका यह आशय नहीं है कि अंग्रेजी राज्य या मेज उसी अर्थ में काल्पनिक है, जिस अर्थ में हैमलेट अथवा मृगमरीचिका। यहाँ मेज के विषय में कुछ कहने का अर्थ होता है—उसके प्रदत्त घटकों के विषय में कहना।[3]

किसी वस्तु को उसके प्रदत्त घटकों में अनूदित करने का वास्तविक नियम देना, जिसे वस्तुओं का प्रदत्त घटकों में संकोचन कहा जा सकता है, पारम्परिक प्रत्यक्ष की समस्या का मुख्य दार्शनिक अंग रहा है। यह सत्य है कि प्रत्यक्ष के लेखक जिन्होंने 'जड़ पदार्थ के स्वभाव' का वर्णन करने का प्रयास किया, विश्वास करते रहे कि वे वस्तुविषयक प्रश्न का समाधान कर रहे हैं। यही उनकी भूल थी। 'जड़ वस्तु का क्या स्वरूप है, अन्य प्रश्नों की भाँति एक भाषापरक प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर में जो भी निर्णय दिये जा सकते हैं सचमुच भाषापरक निर्णय हैं न कि वस्तुओं के गुणों के, जिन्हें वे शब्द व्यक्त करते हैं।[4]

1, लैंग्वेज, ट्रूथ एण्ड लॉजिक, पृ० 63.
2. वही, पृ० 63.
3. वही, पृ० 63–64.
4. वही, पृ० 65.

इसे यदि और भी सरल भाषा में लिखा जाय तो इस प्रकार कह सकते हैं कि किसी भाषा विशेष की उत्पत्ति अनुभव से होती है। अतः यह सम्भव है कि इस भाषा को कुछ सरल वाक्यों में इसके अनुभवों को व्यक्त किया जाय। इस प्रकार के सरलवाक्यों को तर्कीय प्रत्यक्षवादी मौलिक वाक्य (Protocol statement) कहते हैं। इस स्थिति में सबसे बड़ी कठिनाई अहंमात्रवाद (solipsim) की है। मेरा अनुभव अपना है, दूसरे का अनुभव उसका अपना है। अनुभव व्यक्तिगत होता है। मैं अपना व्यक्तिगत अनुभव दूसरे तक कैसे संप्रेषित करूँ ? श्लिक् का समाधान यह है कि मेरे अनुभव का तत्त्व तो असंप्रेषणीय है किन्तु उसका ढाँचा संप्रेषणीय है। जिसे मैं 'लाल' कहता हूँ, वह मुझे उससे भिन्न लग सकता है, जिसे अन्य 'लाल' कहते हैं किन्तु हम कम से कम इतना तो खोज ही सकते हैं कि हम एक ही अवसर पर इस शब्द का प्रयोग करते हैं ताकि हमारे वैयक्तिक संसार में पदार्थ को लेकर भले ही भेद हो किन्तु ढाँचा तो दोनों का एक ही है।[1] एयर श्लिक् से कुछ अंश तक सहमत होते हुए भी इसे वास्तविक समाधान नहीं मानते।[2] इस समस्या को लेकर विएना सर्किल में काफी मतभेद हुआ। श्लिक् एवं बैंजमान के विरुद्ध न्यूराथ एवं कारनाप की मान्यता थी कि ये मौलिक वाक्य वस्तु सम्बन्धी अन्य वाक्यों की भाँति अन्तर्वैयक्तिक रूप से सत्याप्य हों अर्थात् कोई भी व्यक्ति उनका सत्यापन करने में सक्षम हो। इस प्रकार ऐसे वाक्य जो व्यक्ति के वैयक्तिक अनुभव को बतावें, उन्हें उस व्यक्ति की शारीरिक अवस्था अथवा व्यवहार के रूप में संरचित किया जाय। सामान्य निष्कर्ष यह रहा कि भौतिकी की भाषा, जो सामान्यतः पाठ्य-पुस्तकों के वाक्यों को ही समाहित न करके किसी भी वाक्य को, जो व्यवहारिक घटना का संकेत करें, सार्वभौम भाषा है। सार्वभौम इसलिए कि प्रत्येक आनुभविक वाक्य व्यक्त किया जा सकता है। भौतिकवाद के सिद्धान्त की स्वीकृति ही न्यूराथ को विज्ञान की एकता की ओर ले गयी। यह उनकी मात्र इच्छा ही नहीं थी कि भिन्न-भिन्न शाखा के वैज्ञानिकों को और भी अधिक साथ काम करना है जितना कि वे करते हैं बल्कि उनका विश्वास था कि वैयक्तिक शब्दावली में भेद होने के बावजूद भी मौलिक रूप से वे एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, वे एक ही भौतिक संसार की खोज करते हैं। यह जड़वाद का पुराना ही सिद्धान्त एक नये रूप में है।[3]

---

1. रेवल्यूशन इन फिलासफी, पृ० 80-81.
2. वही, 81.
3. वही, 82.

विएना सर्किल में पहले जो धारणा प्रचलित थी वह यह थी कि मौलिक वाक्यों के माध्यम से ही भाषा मानो तथ्य से सम्पर्क स्थापित करती हो। मात्र उनका ही साक्षात् रूप से सत्यापन सम्भव था, अन्य सभी आनुभविक वाक्यों का उनके माध्यम से ही असाक्षात् रूप से ही सत्यापन सम्भव था। भौतिकवादियों (Physicalists) ने मौलिक वाक्यों से उनकी मूल विशेषता अनुभव के अभिलेख (Records of Experience) से ले लिया तथा उसके बाद उनकी क्रिया को ही नकारने लगे। उनका कहना था कि वाक्यों की तथ्य से तुलना का कोई अर्थ ही नहीं है। फलस्वरूप उन लोगों को सत्य के सामंजस्य के सिद्धांत को स्वीकारना पड़ा। उनकी मान्यता थी कि कोई वाक्य सत्य है या नहीं—इसका मापदण्ड तथ्य से संवादिता न होकर अन्य वाक्यों से संसक्तता है। इस प्रकार के सिद्धान्त के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह थी कि अनेक वाक्यों के असमन्वित निकाय आन्तरिक रूप से समायोजित हो सकते हैं किन्तु वे आपस में असमन्वित हो सकते हैं अतः सत्य नहीं हो सकते। कारनाप की मान्यता थी कि हम उस निकाय को सत्य मानेंगे जिसे हमारी कल्चर सर्किल स्वीकारती है। उनके कहने का आशय यह था कि सत्य निकाय वह होगा जिसे वे स्वीकारते हैं।[1]

सत्य के सामंजस्य सिद्धांत को एयर सर्वथा असत्य मानते हैं, किन्तु भौतिकीवाद की मान्यता बिना इसके भी स्वीकारी जा सकती है। बिलकुल सम्भव है कि सभी आनुभाविक वाक्य व्यावहारिक रूपेण, बिना इस बात को नकारे कि वे तथ्य से संवादी नहीं हैं, व्याख्यायित हो जायें। तथापि इस सिद्धान्त पर अनेक गम्भीर आपत्तियाँ हो सकती हैं। जहाँ तक अपने ही अनुभव का प्रश्न है ऐसा लगता है, जैसा कि रैम्से ने कहा है, कि वह संज्ञाहीनता का बहाना करता है। दूसरों के बारे में यह अधिक सम्भव है किन्तु कितना भी गम्भीर तर्क दूसरों के अनुभव के बारे में क्यों न हों, हम मात्र उसके व्यवहार को ही बताते हैं। 'दार्शनिक दृष्टि से अन्तर बाह्य की समस्या अत्यन्त कठिन है। इसका समाधान यहाँ नहीं देना चाहूँगा।'[2]

ट्रैक्टेटस की भूमिका में रसल ने विटगेंस्टाइन को मान्यता देते हुए, जो एयर के अनुसार विटगेंस्टाइन की मान्यता नहीं थी, कहा कि भाषा में भाषा

---

1. रिवल्यूशन्स इन फिलासफी, पृ० 83.
2. वही, पृ० 83-84.

के विषय में कुछ कहना बिल्कुल असम्भव है। इस विषय पर विटगेंस्टाइन स्पष्ट नहीं हैं, यदि स्पष्ट हैं तो विएना सर्किल का उनकी मान्यता में विश्वास नहीं है। कारनाप ने अपनी पुस्तक 'लागिशे सिंटाक्स डेर स्प्राखे' ('लाजिकल सिंटैक्स आफ लैंग्वेज') में सोदाहरण यह दिखाया है कि भाषा में उसी भाषा के वाक्य-विन्यास का निर्माण सम्भव हैं। इस पुस्तक में उन्होंने अपना प्रसिद्ध भेद, भाषा के उपादान प्रकार (Material Mode) तथा स्वरूप प्रकार (Formal Mode) दिया है। वाक्य उपादान प्रकार तब कहा जाता है जब वह एक भाषापरक वाक्य व्यक्त करता है जो लगता है कि तथ्यात्मक है। स्वरूप प्रकार में वाक्य का अनुवाद वाक्य के भाषापरक स्वरूप को स्पष्ट करता है। यदि यह कहा जाय कि 'गुलाब एक वस्तु है' तो यह सोचा जा सकता है कि हम एक तथ्यात्मक वाक्य दे रहे हैं जैसा कि 'गुलाबों में काँटे होते हैं' किन्तु 'यहाँ हम वस्तुतः व्यक्त कर रहे हैं, भले ही अनुचित ढंग से वाक्य-विन्यासीय वाक्य कि गुलाब एक 'वस्तु शब्द' है। उसी प्रकार 5 एक संख्या है। यह कहना अधिक अच्छा होगा कि 5 संख्यीय है। 'उसने बेवलान के बारे में एक संभाषण दिया' जो इस रूप में प्रस्तुत करना अधिक अच्छा होता कि 'बेवलान' शब्द उसके संभाषण में आया। कारनाप ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि 'यदि सभी नहीं तो अधिकांशतः दार्शनिक समस्याएँ वाक्य-विन्यास सम्बन्धी हैं एवं वे उपादान प्रकार में व्यक्त होने के कारण अनावश्यक रूप से कठिन लगती हैं।'[1]

कारनैप ने इसे सोदाहरण सुस्पष्ट किया है, यथा—अर्थशास्त्रीय विषय के वर्णन में उपादान भाषा में यह कहा जा सकता है कि 'इसके निर्णय आर्थिक समस्याओं, जैसे पूर्ति एवं माँग आदि, का वर्णन करते हैं; अब इसे स्वरूप प्रकार में बदल कर इस प्रकार कहा जा सकता है : 'इसके वाक्य ऐसी अभिव्यक्तियों से बनाये जा सकते हैं : 'पूर्ति एवं माँग', 'पारिश्रमिक', 'मूल्य' आदि।'[2]

---

1. He thought that many, if not all, philosophical statements were syntactical and that they were made unnecessarily difficult by being expressed in the material mode.

—*Revolution in Phil.*, p 85.

2. In describing Economics in the material mode one can say that "Its propositions describe economice phenomenon

वैज्ञानिक वाक्यों के विश्लेषण से तर्कीय प्रत्यक्षवादी इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अधिकांशतः वाक्य उपादान प्रकार में हैं, कुछ उपादान एवं स्वरूप के प्रकार के मिश्रण के रूप में। उसका एकमात्र दायित्व सभी वाक्यों को भाषा के स्वरूप प्रकार में बदल कर उन्हें तथ्य एवं अनुभव से पृथक् कर शुद्ध रूप से शब्दों में सीमित कर देने का है। वह आशान्वित है कि प्रत्येक विज्ञान इस प्रकार वाक्यात्मक आकलन में अनूदित एवं परिवर्तित किया जा सकता है, एवं अनंततः सभी विज्ञानों को जोड़ा जा सकता है।[1]

तार्किक विश्लेषण के प्रयोग के आधार पर कारनाप एवं अन्य तर्कीय-प्रत्यक्षवादियों ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार अर्थहीन शब्दों के प्रयोग से तत्त्वमीमांसा में अर्थहीन समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। संक्षेप में इस प्रकार की शाब्दिक अशुद्धियाँ उत्पन्न हो सकती हैं : (1) एक अर्थहीन शब्द का प्रयोग किसी ऐसे शब्द के साथ करने से जिसका अर्थ होता हो (अभाव क्या है ? अभाव का भाव जिज्ञासा के विषय के रूप में है), (2) ऐसे शब्दों के मेल से जिनमें किसी का भी कोई अर्थ न हो (टुन प्रिन टाप), (3) ऐसे शब्दों के मेल से जो पृथक् रूप से तो सार्थक हों किन्तु एक पूरे संघात के रूप में अर्थहीन हों (यह वर्ग एकवृत्त है, ईमानदारी सफेद है)। तत्त्वमीमांसीय निरर्थकता प्रायः प्रथम एवं तृतीय प्रकार के शब्दों की संरचना से उत्पन्न होती है। 'अभाव' के बारे में भ्रमजन्य धारणा है कि वह किसी वस्तु को व्यक्त करता है। कोई कहता है 'यहाँ एक कुर्सी है', 'अभाव मेज पर है' मिथ्या उपमा के आधार पर 'मेज' एवं 'कुर्सी' की ही भाँति अभाव का भी भाव समझा जाता है। अस्तित्ववादी दार्शनिक हाईडेगर ने अभाव के दर्शन की संस्थापना यह सोचकर की है कि अभाव तत्त्व का आभास व्यक्ति को भय एवं चिन्ता की अनुभूति में होता है। तार्किक विश्लेषण के आधार पर बताया जा सकता है कि इस प्रकार की भूल भाषा के उपादान प्रकार एवं स्वरूप प्रकार के भ्रम के कारण है। जब किसी को अभाव की अनुभूति होती है, तो वस्तुतः वह यह कहना

---

such as supply and demand, etc." Now changing this into the formal mode of speech one should say that "Its sentence can be constructed from expressions : 'Supply and demands,' 'wage', 'price', etc". Carnap, *The Unity of Science*, p. 41.

1. Tarasky, *Introduction to Logic* (Oxford Press, New York).

चाहता है कि यह वाक्य कि कुछ है, मिथ्या है। इस प्रकार सम्भावित वाक्य का मिथ्यात्व ही 'अभाव' के रूप में लिखा जाता है जिसे सचमुच भाषा का एकरूप गुण समझना चाहिए, न कि वस्तुरूप, जिसकी सत्ता है।

इसी प्रकार तार्किक विश्लेषण के आधार यह सिद्ध किया जा सकता है कि सामान्य एक तात्त्विक समस्या के रूप में अर्थहीन है किन्तु शब्दों एवं वाक्यों के समूहों के स्वरूप गुण के रूप में सामान्य की समस्या महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार परमार्थ की तत्त्वमीमांसीय समस्या जिसे अंग्रेजी में 'थिंग-इन-इट-सेल्फ (Thing-in-itself) कहते हैं, मिथ्या समस्या है क्योंकि यह तीन ऐसे शब्दों के मेल से बनी है जिनमें से प्रत्येक का उचित सन्दर्भ में अर्थ है, किन्तु इस ढंग से संयुक्त होने से उनसे कोई अर्थ नहीं निकलता है जो कि अनुभव से परे सत्ता समझी जाती है।

इस प्रकार तार्किक विश्लेषण के द्वारा दर्शन की मिथ्या एवं अर्थहीन समस्याओं से छुटकारा पाया जा सकता है।

(ब) कुछ अन्य दार्शनिक समस्याएँ :

दर्शन की एक मौलिक समस्या है : सत्य क्या है ? तर्कीय प्रत्यक्षवाद के अनुसार 'सत्य के सिद्धांत' का आशय मात्र निर्णयों की यथार्थता दिखाने में है।[1] इसके अनुसार निर्णय के दो ही प्रकार हैं—निर्णय या तो आनुभविक हैं अथवा सार्वभौम अनिवार्य नियम हैं। सार्वभौम एवं अनिवार्य सिद्धान्त मात्र गणित एवं तर्कशास्त्र के होते हैं। अतः आनुभविक निर्णयों की यथार्थता निश्चित करने का मापदण्ड ही सत्य का मापदण्ड है। सत्य का क्या मापदण्ड है ? प्रायः इससे एक दूसरा प्रश्न जोड़ दिया जाता है। वह यह कि सत्य क्या है ? तर्कीय प्रत्यक्षवाद इस प्रश्न को यथार्थ प्रश्न मानता ही नहीं। तर्कीय प्रत्यक्षवाद किसी भी दार्शनिक निर्णय को प्रायोगिक परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में अनूदित कर उसकी यथार्थता पर विचार करता है। 'सत्य क्या है ?' का आशय है कि इसे 'प सत्य है' के रूप में अनूदित किया जाय।

---

1. The object of a 'theory of truth' can only be to show how propositions are validated.

Language, Truth and Logic, p. 87

अब 'प सत्य है' में 'सत्य है' तार्किक दृष्टि से अनावश्यक है, उदाहरणार्थ, 'रानी ऐनी दिवंगत हो चुकी है, सत्य है' का आशय है : रानी ऐनी दिवंगत हो चुकी है'। उसी प्रकार 'आक्सफोर्ड इंगलैंड की राजधानी है मिथ्या है', का आशय है : 'आक्सफोर्ड इंगलैंड की राजधानी नहीं है। इस प्रकार यह कहना कि निर्णय सत्य है, मात्र उसे (स्वीकारना) है, एवं यह कहना कि अमुक निर्णय मिथ्या है, मात्र उसे नकारना है। इस प्रकार 'सत्य' एवं 'मिथ्या' शब्द का कोई भावार्थ नहीं हैं, वे वाक्य में मात्र विधि एवं निषेध का काम करते हैं।[1] इस प्रकार सत्य की पारंपरिक अवधारणा 'वास्तविक गुण' अथवा 'वास्तविक सम्बन्ध' के रूप में अन्य दार्शनिक मिथ्या धारणाओं के समान वाक्य को उचित रूप से विश्लेषण न करने के कारण रही हैं।[2] विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'सत्य' शब्द किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त नहीं होता। सत्य के सारे सिद्धांत, जो सत्य को 'वास्तविक गुण' अथवा 'वास्तविक सम्बन्ध' के रूप में समझते हैं, सभी अर्थहीन हैं; वस्तुतः उनका आशय यह है कि वह क्या है जो निर्णय को यथार्थ अथवा अयथार्थ बनाता है ? इसे हम सामान्यतः इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि वे क्या बातें हैं जो 'प' को यथार्थ बनाती हैं, एवं वे क्या बातें हैं, जो उसे मिथ्या बनाती हैं, अर्थात् निर्णय की यथार्थता की विधि क्या है। तर्कीय प्रत्यक्षवाद तर्कशास्त्र एवं गणित के सार्वभौम निर्णयों को पुनरुक्ति मानता है किन्तु आनुभविक निर्णयों को वह सार्वभौम एवं सुनिश्चित नहीं मानता। मात्र पुनरुक्तियाँ ही सुनिश्चित हैं। आनुभविक निर्णय मात्र प्राक्कल्पनाएँ हैं, जिन्हें इन्द्रियानुभव के आधार पर यथार्थ अथवा अयथार्थ सिद्ध किया जा सकता है। वे निर्णय जिनके आधार पर इन प्राक्कल्पनाओं को व्यक्त करते हैं, स्वयं भी प्राक्कल्पनाएँ ही हैं जो आगे से इन्द्रियानुभव के परीक्षण

---

1. And this indicates that the terms 'true' and 'false' connote nothing, but function in the sentence simply as marks of assertion and denial.

   Ibid., pp. 88-89.

2. The traditional conception of truth as a "real quality" or a "real relation" is due to like most philosophical mistakes, to a failure to analyse sentences correctly.

   Ibid., p. 89.

पर आधारित होती हैं। इस प्रकार कोई भी निर्णय अन्तिम नहीं होता।[1]

अब प्रश्न उठता है कि इन प्राक्कल्पनाओं की आवश्यकता ही क्या है? इसका समाधान यह है कि इनके आधार पर हम अपने आगामी अनुभवों के बारे में कुछ प्रत्याशा रखने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार इन प्राक्कल्पनाओं को हम एक प्रकार का नियम कह सकते हैं जिनके आधार पर भविष्य में होनेवाले अनुभव के प्रति प्रत्याशा रखी जा सके[2]; इस प्रकार के नियमों के निर्माण में पश्चात् अनुभव ही हमारा भविष्य का मार्गदर्शन करता है।

अब हम पुनः मौलिक प्रश्न पर आते हैं: आनुभविक निर्णय का क्या मापदण्ड है, जिसके द्वारा हम उसकी यथार्थता की परीक्षा करते हैं? इसका समाधान यह है कि आनुभविक निर्णय की यथार्थता का परीक्षण करते समय हम यह देखते हैं कि क्या वह उस कार्य का सम्पादन कर रहा है, जिसके लिए वह बनाया गया है? हम यह देख चुके हैं कि आनुभविक निर्णय का कार्य हमें आगामी अनुभव के लिए प्रत्याशा बनाने में है। इस प्रकार यदि निरीक्षण निर्णय की सत्यता को हमारी प्रत्याशा के अनुसार सत्यापित करता है तो यथार्थ होगा। हाँ, यह नहीं कहा जा सकता कि निर्णय पूर्णरूपेण यथार्थ है क्योंकि यह सम्भव है कि भविष्य का निर्णय इसे मिथ्या भी सिद्ध कर दे।

---

1. It is only tautologies that are certain Empirical propositions are one and all hypotheses, which may be confirmed or discredited in actual sense-experience. And the propositions in which we record the observations that verify these hypotheses are themselves hypotheses which are subject to the test of further sense-experience. Thus there are no final propositions.
   Ibid., pp. 93-94.
2. The hypotheses may therefore be described as rules which govern our expectation of further experience.
   Ibid., p. 97.

मात्र हम यही कह सकते हैं कि इस निर्णय की सम्भावना और भी बढ़ गयी है।[1]

अब हम यह देखेंगे कि नीतिशास्त्र एवं सौन्दर्यशास्त्र के निर्णयों को किस कोटि में रखा जाय। हम प्रायः यह मानते हैं कि हमारे चिन्तनात्मक ज्ञान के दो प्रकार हैं। ज्ञान का एक प्रकार तथ्यात्मक अथवा यथार्थ है तो दूसरा मूल्यात्मक अथवा आदर्शात्मिक है। अब प्रश्न यह है कि इन मूल्यात्मक अथवा आदर्शात्मिक निर्णयों को किस कोटि में रखा जाय ? एयर के अनुसार मूल्यात्मक वाक्य जिस सीमा तक महत्वपूर्ण हैं वे सामान्य वैज्ञानिक वाक्य हैं एवं यदि वे वैज्ञानिक वाक्य नहीं हैं, वे सही अर्थ में महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि मात्र भावनाओं की अभिव्यक्ति हैं, अतः वे न तो सत्य हैं और न मिथ्या।[2] जो बात नैतिक मूल्यात्मक वाक्यों के लिए लागू होती है, वही सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यात्मक निर्णयों के लिए भी।[3]

एयर ने समस्त नैतिक निर्णयों को चार प्रकार से विभाजित किया है। 1. वे नैतिक निर्णय जो नैतिक प्रत्ययों अथवा नैतिक निर्णयों की परिभाषा तथा कुछ परिभाषा की उपयुक्तता अथवा सम्भावना पर प्रकाश डालते हैं। 2. वे नैतिक निर्णय जो नैतिक अनुभवं एवं उनके कारणों पर प्रकाश डालते हैं। 3. ऐसे नैतिक निर्णय जो नैतिक आदेश हैं तथा 4. वास्तविक नैतिक निर्णय। इन चार प्रकार के निर्णयों के भेद की नीतिशास्त्र के विद्वानों द्वारा उपेक्षा हुई। एयर के अनुसार इनमें से मात्र प्रथम को ही नीति-दर्शन

---

1. One cannot say that the proposition has been proved absolutely valid, because, it is still possible that a future observation will discredit....one can only say that its probability has been increased.

   Ibid, p. 99

2. In so far as statements of value are significant, they are ordinarily 'scientific' statements and that in so far as they are not scientific, they are not in the literal sense significant, but are simply expressions of emotion which can be neither true nor false.

   Ibid, p. 103.

3. Ibid, p. 103.

में रखना चाहिए अथवा नैतिक प्रत्ययों की परिभाषा को। वे निर्णय जो नैतिक अनुभव एवं उनके कारणों पर प्रकाश डालते हैं, उन्हें मनोविज्ञान अथवा समाजविज्ञान में रखना चाहिए। जहाँ तक नैतिक आदेश का प्रश्न है, वस्तुत: वे तो निर्णय हैं ही नहीं, बल्कि उनके द्वारा पाठक को एक विशेष प्रकार का कार्य करने के लिए उत्सुक किया जाता है। अत: उनका सम्बन्ध न तो दर्शन से है और न विज्ञान से। जहाँ तक नैतिक निर्णय का प्रश्न है, उनको किस कोटि में रखा जाय, निश्चित करना कठिन है। किन्तु जैसा कि वे न तो परिभाषा हैं, न परिभाषा पर की गई टिप्पणी और न उद्धरण ही, हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि उनका नीतिशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1]

नीतिशास्त्र की यह समस्या कि क्या समूचे नीतिशास्त्र को एक या दो प्रत्ययों में सीमित किया जा सकता है? एयर के अनुसार निस्सन्देह यह नीतिशास्त्र की ही समस्या है किन्तु यहाँ पर यह समस्या उपयुक्त नहीं है। यहाँ पर यह अवधेय नहीं है कि शुभ का प्रत्यय (good) अधिक मौलिक है अथवा उचित का प्रत्यय (right)। अवधेय यह है कि क्या नैतिक प्रत्ययों के समूचे क्षेत्र को नीतिभिन्न प्रत्ययों में घटाया जा सकता है? क्या नैतिक मूल्य के वाक्यों को आनुभविक तथ्य सम्बन्धी निर्णयों में अनूदित किया जा सकता है?[2]

विषयिनिष्ठवादियों एवं उपयोगितावादियों के अनुसार नैतिक वाक्यों का अनुवाद इस प्रकार सम्भव है। उपयोगितावादी किसी कार्य के औचित्य एवं उद्देश्य के शुभ को सुख अथवा सन्तोष के अर्थ में परिभाषित करते हैं; अनुभूति की अनुकूलता के अर्थ में, जो किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को उनके प्रति है। इनमें से प्रत्येक प्रकार की परिभाषा उन्हें मनोवैज्ञानिक अथवा समाजवैज्ञानिक वाक्यों की कोटि में रखती है। यदि यह सत्य है तो नैतिक वाक्य लगभग आनुभविक वाक्यों की कोटि में आ जाते हैं। एयर ने उपयोगितावादी एवं विषयिनिष्ठवादी दोनों ही दृष्टिकोणों का निराकरण किया है। उपयोगितावाद का निराकरण इस आधार पर किया है कि

---

1. Ibid., p. 103.
2. Ibid., p. 103.

किसी कार्य को उचित कहना अथवा किसी वस्तु को शुभ कहना लगभग उसे स्वीकारना है, क्योंकि इसमें कोई विरोध नहीं है, किन्तु कुछ ऐसे कार्य होते हैं जो स्वीकार्य होने पर भी उचित नहीं होते अथवा कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो स्वीकार्य होने पर भी शुभ नहीं समझी जातीं। इस कथन में कोई भी विरोध नहीं है कि कुछ सुखद वस्तुएँ शुभ नहीं हैं अथवा कुछ दुःखद वस्तुएँ वरेण्य हैं। अतः हम यह नहीं कह सकते कि 'क शुभ है—क सुखद है' अथवा 'क वरेण्य है।'[1] एयर उपयोगितावाद एवं विषयिनिष्ठवाद का निराकरण वर्तमान नैतिक प्रत्ययों को नये प्रत्ययों में बदलने के प्रस्ताव के आधार पर नहीं करते बल्कि वर्तमान नैतिक प्रत्ययों के विश्लेषण के आधार पर एयर एक बात के लिए सावधान करते हैं कि मात्र मूल्यात्मक नैतिक प्रत्यय ही तथ्यात्मक प्रत्ययों में अपरिभाष्य हैं न कि वर्णनात्मक नैतिक प्रत्यय। एक ही नैतिक प्रत्यय एक सन्दर्भ में मूल्यात्मक हो सकता है, दूसरे सन्दर्भ में वर्णनात्मक। क अनुचित है, यह किसी के आचरण पर मूल्यात्मक निर्णय हो सकता है अथवा ऐसा भी वाक्य हो सकता है, जो यह व्यक्त करे कि एक प्रकार का आचरण किसी समाज विशेष को नैतिक दृष्टि से अग्राह्य है। दूसरे सन्दर्भ में 'अनुचित' मात्र वर्णनात्मक है।[2] यह वाक्य एक समाजवैज्ञानिक वाक्य को व्यक्त करता है, जबकि अनुचित प्रत्यय मूल्यात्मक नैतिक प्रत्यय है, एवं यह जिस वाक्य में प्रयुक्त होता है, वह आनुभविक निर्णय को नहीं व्यक्त करता। अतः मूल्यात्मक नीतिशास्त्र के प्रत्ययों का ही विश्लेषण यहाँ अवधेय है।

मूल्यात्मक नैतिक प्रत्ययों को आनुभविक प्रत्ययों में घटाना सम्भव नहीं है—एयर की इस सहमति में प्रकारान्तर से परमार्थवादी नीतिशास्त्र (absolutist view of ethics) की स्वीकृति है अर्थात् मूल्यात्मक वाक्य को हम निरीक्षण से विनियंत्रित न करके, जैसा कि सामान्य आनुभविक वाक्यों का होता है,

---

1. And since it is not self-contradictory to say that some pleasant things are not good, or that some bad things are desired, it cannot be the case that the sentence "x is good" is equivalent to "x is pleasant" or to 'x is desired'. Ibid., p. 104
2. Ibid., p. 105.

'रहस्यात्मक बौद्धिक प्रज्ञा' से विनियंत्रित करते हैं। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ो विडम्बना यह है कि जो वस्तु किसी को प्रज्ञा से सुनिश्चित लगती हैं वही दूसरे को संदिग्ध अथवा मिथ्या लग सकती है। अतः बिना किसी मापदण्ड के, जो प्रज्ञा संघर्ष में .निर्णायक की भूमिका अदा करे, मात्र प्रज्ञा की स्वीकृति निर्णय की यथार्थता के मापदण्ड रूप में अर्थहीन है।

एयर परमार्थवादियों से सहमत हैं कि नैतिक प्रत्ययों का विश्लेषण सम्भव नहीं है क्योंकि उनके सत्यापन का कोई मापदण्ड नहीं है, किन्तु परमार्थवादियों के विरुद्ध एयर का कहना है कि नैतिक प्रत्ययों का विश्लेषण इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि वे मिथ्या प्रत्यय हैं। नैतिक प्रत्यय की उपस्थिति किसी भी वाक्य के तथ्यात्मक घटक में कुछ भी नहीं जोड़ती। इस प्रकार यदि यह कहा जाय कि 'रुपयों को चुराकर आपने अनुचित किया' इस वाक्य में मात्र इस बात से अधिक कोई बात नहीं कही गयी है कि आपने रुपये चुराये। इसमें यह जोड़ने से कि यह कार्य अनुचित है, हम कोई और बात नहीं कहते, अपितु मात्र अपनी नैतिक अस्वीकृति व्यक्त करते हैं—मानों मैंने एक भयावह आवाज में कहा कि आपने रुपये चुराये, अथवा इस वाक्य को विशेष विस्मयसूचक चिह्नों से लिख दिया जाय। भयावह आवाज एवं विस्मयसूचक चिह्न वाक्य के वास्तविक अर्थ में कोई अन्तर नहीं लाते। यह मात्र यह व्यक्त करता है इस प्रकार की अभिव्यक्ति में वक्ता की अनुभूति का भी स्पर्श है।

एयर के अनुसार यदि ऊपर के वाक्य का सामान्यीकरण किया जाय कि 'रुपये का चुराना अनुचित है'.........तो यह ऐसा वाक्य है जिसमें कुछ भी तथ्यात्मक घटक नहीं है, अर्थात् यह निर्णय नहीं है जिसे सत्य या मिथ्या कहा जाय। यह मात्र 'रुपये का चुराना' लिखने के बराबर है। यहाँ विस्मयसूचक चिह्न यह बताता है कि इस प्रकार का विस्मयसूचक चिह्न एक विशेष प्रकार की नैतिक अस्वीकृति बताता है। यह स्पष्ट है कि यहाँ पर कोई भी ऐसी बात नहीं कही गयी है जिसे सत्य या मिथ्या कहा जा सके। एक दूसरा व्यक्ति मुझसे चोरी के अनौचित्य पर असहमत हो सकता है, क्योंकि चोरी के बारे में उसकी वह धारणा नहीं है जो मेरी है एवं वह मुझसे मेरी नैतिक भावनाओं के कारण झगड़ सकता है, किन्तु सही अर्थ में वह मेरा निषेध नहीं कर सकता क्योंकि यह कहने में कि एक विशेष प्रकार का कार्य उचित है, अथवा अनुचित, मैं वास्तविक वाक्य नहीं कह रहा हूँ और न अपने ही मस्तिष्क की किसी अवस्था विशेष को बता रहा हूँ। मैं मात्र

कुछ नैतिक भावनाओं को व्यक्त कर रहा हूँ।[1] यही बात अन्य सभी नैतिक प्रत्ययों के संदर्भ में लागू होती है। इन सभी नैतिक प्रत्ययों का कार्य संवेगात्मक है। हम मात्र कुछ वस्तुओं के प्रति अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं, उनके बारे में हम कुछ कहते नहीं।[2]

एयर भी स्वीकार करते हैं कि इन नैतिक प्रत्ययों द्वारा मात्र भावनाओं की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, ये भावनाओं को उद्बोधित कर कार्य करने की दिशा में प्रेरित करते हैं। इस प्रकार--'सत्य बोलना आपका कर्तव्य है', इस वाक्य में दोनों बातें अन्तर्निहित हैं, सत्य के प्रति नैतिक भावना की अभिव्यक्ति एवं साथ ही सत्य बोलने का आदेश भी।[3]

अन्त में एयर की यह धारणा है कि नीतिशास्त्र ज्ञान की एक विधा के रूप में मनोविज्ञान एवं समाजविज्ञान का मात्र एक प्रभाग है[4] नैतिक प्रत्यय का निष्कर्ष समानरूप से सौंदर्यशास्त्रीय प्रत्यय 'सुन्दर' और 'असुन्दर' के संदर्भ में भी लागू होता है।[5]

जहाँ तक ईश्वर के प्रत्यय का प्रश्न है, तत्त्वमीमांसा के निराकरण से उसका भी निराकरण हो जाता है किन्तु यह समस्या महत्वपूर्ण है, अतः इस पर कुछ विचार कर लेना उत्तम होगा। अब यह तथ्य प्रायः मान्य है कि ईश्वर की सत्ता को प्रयोगात्मक ढंग से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

हम यह जानते हैं कि आनुभाविक निर्णय मात्र संभाव्य हो सकते हैं।

---

1. For in saying that certain type of action is right or wrong, I am not making any factual statement, not even a statement about my Own State of mind. I am merely expressing certain moral sentiments. *Language, Truth and Logic*,. p. 107.
2. The function of the relevant enthieal word is purely "emotive". It is used to express feeling about certain objects, but not to make any assertion about them. Ibid., p. 108.
3. Ibid., p. 108.
4. It appears that ethics as a branch of knowledge, is nothing more than a department of Psychology and Sociology. Ibid., p. 112.
5. Ibid., p. 113.

मात्र सार्वभौम नियम ही तर्कतः सुनिश्चित होते हैं किन्तु इन सार्वभौम नियम से ईश्वर का निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। सार्वभौम निर्णय अनिवार्य हैं क्यों कि वे मात्र पुनरुक्तियाँ हैं और पुनरुक्तियों से पुनरुक्तियों के अतिरिक्त और कुछ भी निकल नहीं सकता। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता सार्वभौम नियमों से सिद्ध नहीं हो सकती।

कभी-कभी यह माना जाता है कि प्रकृति की एकरूपता ही ईश्वर की सत्ता का पर्याप्त तर्क है किन्तु यदि वाक्य—'ईश्वर है' मात्र 'प्रकृति में एकरूपता है' वाक्य के बराबर है तो शायद ही कोई धार्मिक व्यक्ति इसे स्वीकारे कि उसका यही आशय ईश्वर के प्रत्यय से है। वह यही कहेगा कि 'ईश्वर है' का आशय परमार्थसत्ता से है जो कुछ अनुभूतियों के माध्यम से जाना जा सकता है किन्तु निश्चित ही उन अनुभूतियों के अर्थ में परिभाषित नहीं हो सकता। इस अवस्था में ईश्वर का प्रत्यय एयर के अनुसार तत्वमीमांसीय प्रत्यय है। यदि ईश्वर तत्त्वमीमांसीय प्रत्यय है तो यह संभाव्य भी नहीं है कि ईश्वर है क्योंकि यह कहना कि 'ईश्वर है' एक तत्त्वमीमांसीय अभिव्यक्ति है जो न तो सत्य है और न मिथ्या।[1] इस प्रकार एयर ईश्वरवादी को वही मजा चखाते हैं जो नीति-दार्शनिक को।

इसी प्रकार पुनर्जन्म अथवा यह कहना कि मनुष्य में कोई अदृश्य सत्ता है, जिसे चित् कहते हैं जो अजर अमर है, मात्र तत्त्वमीमांसीय अभिव्यक्ति है। इसकी भी सत्ता उसी प्रकार है जिस प्रकार ईश्वरीय परमार्थसत्ता।[2]

एयर के अनुसार धर्मसम्बन्धी कोई भी अतीन्द्रिय सत्य नहीं है।[3] यह धारणा कि ईश्वर एक रहस्य है, वह मन एवं वाणी से परे है, वह अनिर्वचनीय

1. For to say that God exists ? is to make a metaphysical utterance which cannot be either true or false. *Language, Truth and Logic*, p. 115.
2. But to say that there is something imperceptible inside a man, which is his soul or his real self, and that it goes on living after he is dead, is to make a metaphysical assertion which has no more factual content than the assertion that there is a transcendent world.
   Ibid , p. 117.
3. The point which we wish to establish is that there cannot be and transcendent truths about religion. *Language, Truth and Logic*, p. 117-118.

है, आदि का यह अर्थ है कि ईश्वर को ज्ञेय प्रत्ययों द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता; अर्थात् वाक्य का अर्थपूर्ण होना एवं ईश्वर के विषय में होना दोनों साथ संभव नहीं हैं। रहस्यवादी यह दावा कर सकता है कि उसे अपरोक्षानुभूति में निश्चित ही सत्य का साक्षात्कार होता है भले ही वह दूसरों को यह न बता पाये कि सत्य क्या है। किन्तु एयर के अनुसार उसके इस प्रकार कहने का कोई अर्थ नहीं है कि उसे कुछ तथ्यों का भान तो है किन्तु उसे वह व्यक्त करने में असमर्थ है।[1] एयर यह स्वीकारते हैं कि लोगों को धार्मिक अनुभव होते हैं, उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्व भी है, किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि कोई ऐसी वस्तु है, जिसे धार्मिक ज्ञान कहा जाय, ठीक वैसे ही जैसे हम नैतिक अनुभव से किसी वस्तु विशेष को नैतिक ज्ञान नहीं कह सकते।[2]

इस निबन्ध को पूरा करने के पूर्व चित् के प्रति तर्कीय प्रत्यक्षवादी दृष्टि भी समझ लेनी महत्वपूर्ण होगी। एयर के अनुसार चित् यदि तत्त्वमीमांसीय तत्त्व न भी माना जाय तो उसे इन्द्रियानुभव की तर्कीय संरचना मानना पड़ेगा। वस्तुतः यह इन्द्रियानुभवों की तर्कीय संरचना ही है जो उसके यथार्थ एवं संभाव्य संवेदन-इतिहास को निर्मित करती है।[3] यह प्रश्न कि चित् का स्वरूप क्या है? यह पूछना है कि इन्द्रियानुभवों का उसी चित् के संवेदन-इतिहास के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है? इस प्रश्न का समाधान यह है किन्हीं भी दो इन्द्रियानुभवों को उसी चित् के संवेदन-इतिहास से सम्बन्वित होने के लिए यह आवश्यक एवं पर्याप्त है कि उनमें अंगीय संवेदक-घटक हों जो उसी शरीर के तत्त्व हों एवं, क्योंकि यह तर्कतः असंभव है कि कोई भी अंगीय संवेदन घटक एक से अधिक शरीर का तत्त्व हो, सम्बन्ध 'उसी चित् के संवेदन-इतिहास से सम्बन्वित', समन्वित एवं संक्रमणशील सम्बन्व होता है। इस प्रकार यह कहना कि उसी चित् के संवेदन-इतिहास से सम्बन्वित, समन्वित एवं संक्रमणशील सम्बन्ध है जिसका अर्थ है कि इन्द्रियानुभवों की पूरी सरणी [सिरीज ऑफ सेन्स एक्सपीरिएन्सेज] जो भिन्न-भिन्न चित् से संवेदन-इतिहास का निर्माण करती है, किसी भी सदस्य को सम्मिलित रूप से नहीं रख सकती।

---

1. Ibid., p. 118-119.
2. Ibid., p. 120.
3. It is, in fact, a logical construction out of the sense-experiences, which constitute the actual and possible sense-history of a self. Ibid., p. 125.

इसका यह आशय है कि तर्कतः एक इन्द्रियानुभव एक से अधिक चित् से संबंधित नहीं हो सकता किन्तु यदि सभी इन्द्रियानुभव वैयक्तिक हैं तो सभी संवेदन-घटक भी वैयक्तिक हैं।[1]

चित् को एक द्रव्य के रूप में समझा जाता रहा है। किन्तु द्रव्य के रूप में यह एक ऐसा तत्त्व है जो अदृश्य है। यह मानना कि इसका आभास आत्म-ज्ञान से होता है, यथार्थ नहीं। हम जिसे आत्मज्ञान कहते हैं वस्तुतः वह अपनी पहले की अवस्था की स्मृतिमात्र है। यह कहना कि चित् 'अ' अपनी पहले की अवस्था का स्मरण कर सकता है, सचमुच यह कहना है कि कुछ इन्द्रियानुभव जो 'अ' का निर्माण करते हैं, उसमें कुछ स्मृति-बिंब हैं जो उस संवेदन-इतिहास में पहले ही घट चुके हैं। एयर इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आत्मज्ञान की सम्भावना किसी भी अवस्था में द्रव्यात्मक चित् की सत्ता को सिद्ध नहीं करती।[2] किन्तु यदि द्रव्यात्मक चित् का आत्मज्ञान में आभास नहीं होता तो अन्यत्र कहीं भी इसका आभास नहीं हो सकता। इस प्रकार के तत्त्व की सत्ता सर्वथा असत्याप्य है। इस प्रकार एयर का यह निष्कर्ष है कि इसकी अवधारणा किसी भी रूप में लॉक के जड़ तत्त्व की अवधारणा से कम तत्त्व-मीमांसीय नहीं है।[3]

तर्कीय प्रत्यक्षवाद ह्यूम के चित् के प्रति दृष्टिकोण से लगभग सहमत है। ह्यूम ने भी चित् का निराकरण इस आधार पर किया है कि इसका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। ह्यूम ने जब भी चित् को पकड़ने की कोशिश की, उसे विशेष संवेदन—उष्ण शीत, प्रकाश छाया, प्यार-घृणा, दुख-सुख ही पकड़ में आया। वह कभी भी संवेदन के अतिरिक्त एवं बिना संवेदन के कुछ भी नहीं पकड़ सका। यही कारण था कि उसने चित् को भिन्न-भिन्न संवेदनाओं का मात्र संघात बताया।[4] ह्यूम उस सिद्धान्त को बताने में असमर्थ रहा जो

---

1. Language, Truth and Logic, p. 125-27.
2. And thus we find that the possibility of self consciousness in no way involves the existence of a substantive ego. Ibid., p. 127.
3. And accordingly we must conclude that the assumption of its existence is no less metaphysicae that Locke's discredited assumption of the existence of a material substratum. *Language, Truth and Logic*, p. 126.
4. Ibid,, p. 126-127.

अनन्त भिन्न-भिन्न संवेदनाओं को एक चित् में अनुस्यूत करता है। वह यह भी न बता सका कि उनमें पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? ह्यूम की इस कठिनाई का निराकरण एयर आदि वैयक्तिक तादात्म्य को शारीरिक तादात्म्य के अर्थ में परिभाषित करके करते हैं तथा शारीरिक तादात्म्य को सानुकूलता तथा संवेदन घटकों के सातत्य के अर्थ में परिभाषित करते हैं।[1] एयर ने इसके औचित्य का आधार इस प्रकार दिया है कि व्यक्ति स्मृतिभंग की अवस्था अथवा स्वभाव परिवर्तन की अवस्था में जीता रहता है किन्तु यह कहना वदतो व्याघात है कि व्यक्ति शरीर के नष्ट होने पर भी जीता रहता है, मृत्यु के बाद जो आत्मा जीवित रहता है, वह सांसारिक जीव न होकर पारमार्थिक तत्त्व, तत्त्वमीमांसीय तत्त्व है। इस तत्त्वमीमांसीय तत्त्व के विषय में कोई भी यथार्थ अवधारणा सम्भव नहीं है। एयर के इस प्रकार के विश्लेषण का अनिवार्य निष्कर्ष अहंमात्रवाद है क्योंकि यदि किसी व्यक्ति का समस्त संवेदन-इतिहास मात्र वैयक्तिक है, वह किसी भी दूसरे व्यक्ति को अपने अतिरिक्त नहीं जान सकता। एयर ने अहंमात्रवाद की इस कठिनाई को स्वीकारा है एवं यह भी माना है कि अन्य व्यक्ति हमारे लिए तत्त्वमीमांसीय तत्त्व के समान ही हैं, क्योंकि उसके अनुभवों को हम कभी प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, किन्तु एयर का कहना है कि जिस प्रकार मैं जड़ वस्तु को एवं अपने को आनुभविक आभासों में परिभाषित करता हूँ उसी प्रकार अन्य व्यक्तियों को भी उनके आनुभाविक आभासों में, अर्थात् उनके शारीरिक व्यवहार एवं अन्ततः संवेदन घटकों के अर्थ में परिभाषित किया जा सकता है। इस प्रकार हमारे पास उतना अच्छा तर्क अन्य व्यक्तियों में विश्वास करने का है जितना जड़ वस्तुओं में विश्वास करने का है।

आलोचनात्मक सर्वेक्षण :

दार्शनिक जिज्ञासा मूलतत्त्व की समस्या से प्रारम्भ होती है। उपनिषद् दर्शन को सर्वज्ञता का व्याख्यान मानता है। ब्रह्म विद्या जाननेवाला सर्वज्ञ होता है। प्लेटो भी विज्ञान स्वरूप शिवतत्त्व का साक्षात्कार ही मानव-जीवन का परमलक्ष्य मानता है। पाश्चात्य दर्शन मध्य युग में धर्म दर्शन की कठपुतली बन गया, फलस्वरूप दार्शनिक जिज्ञासा के अभाव के कारण हमें दर्शन के नाम में कुछ भी नहीं मिलता। आधुनिक युग में देकार्ट दार्शनिक-जिज्ञासा का

---

1. And thus I find that I have as good a reason to believe in the existence of material thing. Ibid., p. 130.

स्रोत सन्देह को मानकर अन्ततः बुद्धि को सुनिश्चित तत्त्व के रूप में संस्थापित करता है। बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अनुभववाद की उत्पत्ति होती है जिसकी चरम परिणति ह्यूम के दर्शन में देखने को मिलती है। ह्यूम ने सारी दार्शनिक परम्परा को आमूलतः हिला दिया। कांट का आलोचनात्मक दर्शन ह्यूम के अनुभव तत्त्व के महत्त्व को स्वीकारता हुआ भी शुद्ध बुद्धि के महत्व को पुनः प्रतिस्थापित करता है। किन्तु ह्यूम के सन्देहवाद का उसके ऊपर इतना सशक्त प्रभाव रहा कि काँट अपने प्रथम क्रिटिक में अज्ञेयवादी ही रहा। उसका अज्ञेयवाद ही उसे पश्चिम के एक महान् दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। उसी समय से यह प्रश्न बार-बार उठाया गया कि क्या काँट ने ह्यूम की समस्याओं का समाधान किया? काँट के बाद हेगेल तथा उसके अनुयायियों ने बुद्धिवाद को विज्ञानवाद के रूप में प्रतिष्ठित किया। विज्ञानवाद का चरमोत्कर्ष ब्रैडले के दर्शन में देखने को मिलता है। ब्रैडले ने बुद्धि से भी आगे बढ़कर प्रज्ञा को परमतत्त्व के रूप में स्वीकारा। बुद्धिवाद अथवा विज्ञानवाद के सभी महान दार्शनिकों ने द्वंद्वन्याय (dialectic) का सुस्पष्ट प्रयोग किया है। ब्रैडले ने द्वन्द्वन्याय के आधार पर विरोधी दर्शन की नींव डगमग कर दी। ब्रैडले का इस परिप्रेक्ष्य में यदि पश्चिम का नागार्जुन कहा जाय तो अतिरंजना नहीं होगी। विरोधी दार्शनिक विधा, चाहे हम जड़वाद कहें या अनुभववाद, को भी विज्ञानवाद के निराकरण हेतु तर्क को ही मुख्य साधन के रूप में अपनाना पड़ा। परिणामस्वरूप मूर, रसल, ह्वाइटहेड विट्गेंस्टाइन ने तर्क को दर्शन के केन्द्र में स्थापित कर दिया। समकालीन दर्शन में अनुभववाद का प्रथम रूप तर्कीय परमाणुवाद के रूप में उत्पन्न हुआ। यद्यपि तर्कीय परमाणुवाद (Logical Atomism) तर्क के महत्व को अवश्य स्थापित करता है किन्तु यह दार्शनिक विधा 'तत्त्व' से मुक्त न हो सकी। विट्गेंस्टाइन यह मानता हुआ भी कि दर्शन मात्र विश्लेषण है, विज्ञान का व्याकरण है, अपने ट्रैक्टेटस के अन्तिम सूत्र में लगभग 'यतो वाचो निवर्न्ते अप्राप्य मनसा सह'-सी बात करता है। अतः तर्कीय परमाणुवाद के बाद जो दार्शनिक विधा उत्पन्न हुई उसने दर्शन को तार्किक विश्लेषण का पर्याय बनाकर एवं 'तत्त्व' को निरर्थक बताकर 'तथ्य' को विज्ञान को सौंप दिया। यही विधा 'तर्कीय प्रत्यक्षवाद' के नाम से अभिहित है। इस विधा ने दर्शन को तर्कशास्त्र का पर्याय भी न मानकर उसका एकमात्र प्रभाग घोषित किया।

एयर अपनी पुस्तक 'लेंग्वेज ट्रूथ एण्ड लाजिक' का प्रारम्भ ही इस वाक्य से करते हैं कि इस पुस्तक में जो भी विचार उपस्थित किये गये हैं, वे रसल

एवं विट्गेंस्टाइन के सिद्धान्तों से लिये गये हैं जो स्वयं बर्कले एवं ह्यूम के अनुभववाद की तार्किक निष्पत्ति हैं। एयर ने अपने दर्शन को अनुभववाद का एक प्रकार बताया है।[1] वे ह्यूम को ही अपना दार्शनिक नेता मानते हैं।[2] अन्तर मात्र इतना ही है कि यदि ह्यूम का अनुभववाद मनोवैज्ञानिक था तो एयर एवं उनके मित्रों का तर्कीय। ह्यूम का संदेहवाद तर्कीय प्रत्यक्षवाद में और भी उग्र हो जाता है। दर्शन, जो ज्ञान-विज्ञान की समस्त विधाओं का उपजीव्य लक्ष्य है, उसकी तत्त्वमीमांसा को तर्कीय प्रत्यक्षवाद निरर्थक घोषित कर देता है; उसके धर्म दर्शन, नीति दर्शन एवं सौन्दर्यदर्शन को मनोविज्ञान तथा समाजविज्ञान का अंग सिद्ध करता है तथा दर्शन को तर्कशास्त्र का पर्याय भी न मानकर बल्कि तर्कशास्त्र का एक प्रभाग होने का दावा करता है।[3]

दर्शन की इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है ? इतना ही नहीं, तर्कीय प्रत्यक्षवाद तत्त्वमीमांसा को 'अर्थहीनता' की कोटि में घोषित करने के नशे में विज्ञान के सार्वभौम नियमों को 'महत्वपूर्ण अर्थहीनता' की कोटि प्रदान कर देता है। इससे भी अधिक अवधेय यह तथ्य है कि सत्यापन का सिद्धान्त, जो तर्कीय प्रत्यक्षवाद की सार्थकता का निकष है, वह स्वयं सार्थक नहीं है। विट्गेंस्टाइन एवं अन्य तर्कीय प्रत्यक्षवादी इसकी निरर्थकता को स्वीकारते हैं।[4] एयर इस आक्षेप से बचने के लिए कहते हैं कि सत्यापन के सिद्धान्त को मात्र परिभाषा के रूप में ही लेना चाहिए न कि आनुभविक वाक्य के रूप में।[5]

यदि तर्कीय प्रत्यक्षवाद की तत्त्वमीमांसा से निराकरण का विश्लेषण किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह पुनरुक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। 'तत्त्वमीमांसा निरर्थक है'—वह जो अनुभव से परे है, आनुभविक नहीं है।' क्या इस प्रकार के तार्किक विश्लेषण से तत्त्वमीमांसा का निराकरण हो जाता है ? भले ही तर्कीय प्रत्यक्षवाद तत्त्वमीमांसा की निरर्थकता की डींग मारे किन्तु अस्पष्टता, भ्रम एवं अन्तर्विरोध के दूर होने पर तत्त्वमीमांसा की सार्थकता और भी महत्वपूर्ण हो जाती है।[6]

---

1. Language, Truth and Logic. p. 71.
2. Ibid., p. 126.
3. Ibid., p. 57.
4. *Tractatus Logico Philosophicus*, 6.54.
5. *Language, Truth and Logic*, p. 16.
6. *History of Philosophy Eastern and Western* Vol. II., p. 421.

माध्यमिक दर्शन ने भी तार्किक विधा को ही दर्शन का तादात्म्य माना है, किन्तु इस पद्धति के प्रयोग में उसे 'बोधि' का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार क्या तर्कीय प्रत्यक्षवाद इस तथ्य का निराकरण कर सकता है कि इस तार्किक विश्लेषण में ही वह 'प्रतिबोध विदितम्' को और भी अधिक हर क्षण प्रकाशित करता है ? क्या तर्कीय प्रत्यक्षवाद मानवीय व्यक्तित्व की उस चित्-शक्ति का निराकरण कर पाता है जो उसके समस्त घटकों में अनुस्यूत होती हुई भी अपने को सबसे पृथक् कर सभी घटकों का विश्लेषण तो करती ही है, साथ ही अपने को प्रकाशित भी करती हैं ? एयर बड़े ही स्वाभिमानपूर्वक यह दावा करते हैं कि हमारा दर्शन 'अहंमात्रवाद' के दोष से दुष्ट नहीं है, क्योंकि हमें अन्य मानवीय सत्ता में उसी प्रकार विश्वास करना है, जिस प्रकार जड़ वस्तुओं की सत्ता में,[1] अर्थात् मानवीय सत्ता को जडत्व की कोटि देकर एयर अपनी उपलब्धि समझते हैं।

तर्कीय प्रत्यक्षवाद का सुविकसित रूप जो हमें एयर आदि में देखने को मिलता है, उसमें दर्शन तथ्य से पृथक् होकर मात्र भाषा से सम्बन्धित होकर एक प्रकार का भाषीय अहंमात्रवाद बन जाता है। स्वयं रसल तर्कीय प्रत्यक्षवाद की इस अति की आलोचना किये बिना नहीं रहते। उन्होंने अपनी पुस्तक 'एन' इंक्वायरी इंटू मीनिंग एण्ड ट्रूथ' के अन्त में इस प्रकार लिखा है 'पूर्ण तत्त्वमीमांसीय अज्ञेयवाद का सामंजस्य भाषाई निर्णयों से नहीं हो पाता। कुछ समकालीन दार्शनिक यह सोचते हैं कि हम भाषा के बारे में कुछ जानते हैं किन्तु अन्य विषयों के बारे में कुछ भी नहीं। इस प्रकार की धारणा इस बात को भूल जाती है कि भाषा भी अन्य तथ्यों की भाँति एक आनुभविक तथ्य है एवं वह व्यक्ति, जो तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से अज्ञेयवादी है, उसे यह भी नहीं स्वीकारना चाहिए कि जब वह शब्द का प्रयोग करता है तो वह जानता है।[2]

---

1. *Language, Truth and Logic*, p. 130.
2. Complete metaphysical agnosticism is not compatible with the maintenance of linguistic proposition. Some modern philosophers hold that we know much about Language, but nothing about anything else. This view forgets that language is an empirical phenomenon like another and that a man who is metaphysically agnostic must deny that he knows when he uses a word. *An Inquiry into Meaning and Truth*, p. 347.

माना कि 'रुपये की चोरी करना उचित नहीं है' वाक्य बराबर है 'रुपये की चोरी करना' के। यहाँ 'उचित नहीं है' इसलिए नहीं निरर्थक है कि वह कोई और बात नहीं जोड़ता जैसा कि एयर का सुझाव है। वह इसलिए अनावश्यक है कि 'रुपये का चुराना' में ही उसका अनौचित्य सिद्ध है। पुनः, 'रुपये का चुराना' क्या उसी प्रकार का वाक्य है जिस प्रकार 'रुपये का देना' अथवा 'रुपये का दान देना।' पुनः एयर की यह मान्यता कि 'रुपये का चुराना उचित नहीं है' कोई आवश्यक नहीं कि दूसरा व्यक्ति भी इससे सहमत हो। हमारी यह धारणा है कि भले ही 'रुपये का चुरानेवाला' चोरी के अनौचित्य से सहमत न हो किंतु एयर एवं उनके समर्थक भी व्यवहारतः चोरी के अनौचित्य से सहमत होंगे यदि वे स्वयं उस चोर के समूह से संबंधित नहीं हैं। नीति के कुछ व्यावहारिक सत्यों को बिना माने अराजकता की स्थिति में मनुष्य का जीना भी दूभर हो जाता है। आक्सफोर्ड एवं कैम्ब्रिज की अट्टालिकाओं में बैठकर मुँह में सिगार ठूँसकर तार्किक विश्लेषण करना मात्र एक स्वप्न हो जायगा।

पुनः तर्कीय प्रत्यक्षवाद की यह मान्यता है कि पुनरुक्तियों के अतिरिक्त निर्णय तो या सत्य हैं अथवा मिथ्या। इनसे अतिरिक्त सभी निर्णय निरर्थक हैं। एक कल्पित कहानी का वाक्य न तो सत्य होता है और न मिथ्या किन्तु क्या मात्र इसलिए वह कहानी निरर्थक है?

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के चिरन्तर मूल्यों को ढहाकर अथवा उन्हें वैयक्तिक भावनात्मक अभिव्यक्ति मानकर दर्शन की सार्थकता मात्र तार्किक विश्लेषण के रूप में मानकर क्या तर्कीय प्रत्यक्षवाद समस्त दार्शनिक विधा को निरर्थक नहीं बना देता?

स्वयं एयर ने इस बात को स्वीकारा है कि तर्कीय प्रत्यक्षवाद अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। उसकी बहुत सारी दार्शनिक समस्याओं का आज भी समाधान नहीं हो पाया। उसकी सबसे बड़ी सफलता दर्शन में एक नये उत्साह के देने में, तार्किक निग्रह को एक आदर्श के रूप में स्थापित करने में एवं बौद्धिक दायित्व के देने में हैं। प्रोफेसर ब्रोड के शब्दों को उद्धृत करते हुए एयर लिखते हैं: 'सामाजिक एवं नैतिक सिद्धांतों को सँवारने वाले विज्ञानवादी तत्त्वमीमांसा का आभारपूर्ण एवं सुखद सम्मेलन करने वाले जनक समाप्त नहीं हो गये। एयर को मात्र इस बात से सन्तोष है कि यूरोप में ये लोग कम से कम अपनी रक्षा में लगे हैं, इसे ही वह बहुत बड़ी बात मानते हैं।'[1]

---

1. It will be seen that the vienna circle did not accomplish all that they once hoped. Many of the philosophical problems

कम से कम जर्मनी एवं फ्रांस में इस समय हाइडेगर, सार्त्र एवं यास्पस आदि को दार्शनिक वि ा को, जो तर्कीय प्रत्यक्षवाद की दृष्टि में तत्त्वमीमांसीय दर्शन है, विश्लेषणात्मक् दर्शन जरा भी डिगा नहीं पाया। इस निबंध के लिखने के संदर्भ में प्रो० लु० श्मिटहाउजेन ने, जिनके साथ लेखक ने स्वयं हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के भारती विभाग में कार्य किया है, एवं जो स्वयं विएना विश्व-विद्यालय के छात्र रहे हैं, एक विनोदपूर्ण किंतु सारगर्भित संक्षिप्त टिप्पणी की : क्या यह भी कोई दर्शन है। यहाँ जर्मनी की दार्शनिक विधा (Philosophical methodology) निस्संदेह भाषा वैज्ञानिक (Philogical) है, किंतु वह मात्र साधन है, साध्य नहीं। उसका प्रयोग दार्शनिक सिद्धांतों के शोध, तुलना, भेद एवं पुष्टि के लिए किया जाता है।

---

which they tried to settle remain unsolved. Perhaps their greatest achievement was so help to introduce a new spirit into philosophy, to set a standard of logicial rigour and intellectual responsibility. The producers of what Professor Broad has called that grateful and conforting mixture of idealistic metaphysics with edifying social and ethical theory are not extinct. But in this country they are very much on defensive and surely that is something to be thankful for.—*Revolution in Philosophy*, p. 87.

4. साधारण भाषा दर्शन

'साधारण भाषा दर्शन', 'विश्लेषी दर्शन' और 'भाषिक दर्शन' का प्रयोग, कमोवेश रूप में, एक विशेष प्रकार के दर्शन के लिए किया जाता है, जो मूलतः भाषा विश्लेषण है। किंतु इस विषय पर कुछ भी लिखने के पूर्व कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक है। प्रथमतः दार्शनिकों के लिए भाषा का विश्लेषण पूर्णतः नवीन क्रिया नहीं है। सुकरात अपनी दार्शनिक गवेषणाओं में जिन लोगों से प्रश्न पूछता था उसे भाषा विश्लेषण के रूप में लिया जा सकता है। उसके प्रश्न इस प्रकार होते थे—'न्याय क्या है ?', 'ज्ञान क्या है ?', 'शुभ क्या है ?' इन प्रश्नों को उठाते समय उसका मुख्य उद्देश्य संप्रत्ययात्मक था। प्लेटो और अरस्तू के दर्शनों में यह प्रवृत्ति अधिक मुखर है। प्लेटो रिपब्लिक की दसवीं पुस्तक में लिखता : "जब भी अनेक विशेष वस्तुओं का एक सामान्य नाम होता है, तो हम मानते हैं कि उनमें (इस नाम के) अनुरूप एक प्रत्यय या आकार निहित रहता है"[1] (596)। वह भाषा की इस विशेषता की ओर संकेत कर रहा है कि जातिवाचक संज्ञा और विशेषण का प्रयोग अनेक वस्तुओं के लिए होता है। इस भाषिक तथ्य की व्याख्या वह अपने प्रत्यय-सिद्धांत द्वारा करता है। भाषिक दार्शनिकों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो चुका है कि प्लेटो का सिद्धांत त्रुटिपूर्ण है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार भाषा की गलत व्याख्या भ्रामक दार्शनिक सिद्धांतों को जन्म देती है। अरस्तू मेटाफिजिक्स में इस प्रकार तर्क देता है[2] :

---

1. "Whenever a number of individuals have a common name, we assume them to have also a corresponding idea or form."—*Republic*, Book X, 596.
2. "And so one might even raise the question whether the words 'to walk', "to be healthy", 'to sit' imply that each of these things is existent, and similarly in other cases of this sort; for none of them is either selfsubsistent or capable of being separated from substance, but rather, if anything, it is that which walks or sits or is healthy that is

"और इस प्रकार यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या 'चलना', 'स्वस्थ होना', 'बैठना' तथा ऐसी ही अन्य स्थितियों में, इन शब्दों में यह निहित है कि इन वस्तुओं का अस्तित्व है, क्योंकि इनमें न किसी की स्वतन्त्र सत्ता है न द्रव्य से पृथक् किये जाने का सामर्थ्य, अपितु, यदि कोई है, तो अस्तित्ववान् वस्तु है, जो चलती है या बैठती है या स्वस्थ है। ये अधिक वास्तविक हैं, क्योंकि इनके अन्तर्गत कुछ निश्चित है (अर्थात् द्रव्य या विशेष) जो इन विधेयों में निहित है, क्योंकि हम कभी 'शुभ' या बैठता है. शब्द का प्रयोग बिना इसके नहीं करते।" इसमें अरस्तू इस तथ्य का उल्लेख करता है कि क्रिया का प्रयोग बिना कर्ता के नहीं होता। हम यह नहीं कहते 'बैठता है, चलता है बल्कि 'वह बैठता है', 'वह चलता है'। इस भाषिक विशेषता से वह यह निष्कर्ष निकालता है कि 'द्रव्यों' या 'वस्तुओं' का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, क्रियाओं का नहीं। अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से द्रव्य कियाओं से अधिक मौलिक हैं। स्पष्ट है अरस्तू का सिद्धान्त भाषिक विशेषता के विश्लेषण पर ही आधारित है। अरस्तू का दर्शन मूल रूप से 'कारण', 'गति', 'जानना', इत्यादि शब्दों की परिभाषाओं से सम्बन्धित है।

अन्य दार्शनिकों में भी भाषा विश्लेषण किसी न किसी रूप में मिलता है। बर्कले निम्न उद्धरण में भाषा के अनेक कार्यों की ओर संकेत करता है[1] :

"सामान्य धारणा के विपरीत भाषा का मुख्य उद्देश्य केवल विचारों का सम्प्रेषण नहीं है। अन्य उद्देश्य भी हैं, जैसे किसी भावना को उभारना, किसी

---

an existent thing. Now these are seen to be more real because there is something definite which underlies them (i. e., the substance or individual) which is implied in such a predicate; for we never use the word 'good' or 'sitting' without implying this."

—*Mataphysics*, Book zeta. I.

1. "....The communating of ideas....is not the chief and only end of language, as is commonly supposed. There are other ends, as the raising of some passion, the exciting to or deterring from action, the putting the mind in some particular disposition;...."
Quoted by Copi in his *Introduction to Logic*, p. 34.

क्रिया के लिए प्रेरित करना या उसे अवरुद्ध करना, मन में कोई विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न करना—"

कोई प्राकृतिक भाषा किस प्रकार दार्शनिक प्रश्नों के समाधान में सहायक या बाधक होती है, इसके भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। सभी जानते हैं कि किस प्रकार मिल ने 'visible' और 'desirable' शब्दों के साम्य के आधार पर सुखवाद का प्रतिपादन किया। किन्तु कम ही लोग जानते हैं कि जर्मन में, **aufheben** 'शब्द के कारण हेगेल की डाइलेक्टिक सम्भव हुई और समझी जा सकती है जब कि अन्य भाषाओं में इसका उपयुक्त पर्यायवाची न होने से कठिनाई पड़ती है। अतः सभी दार्शनिकों तथा रहस्यवादियों ने भी, किसी न किसी स्तर पर भाषा विश्लेषण किया है। जहाँ तक विश्लेषी दर्शन का प्रश्न है, सभी प्राचीन दार्शनिकों में विश्लेषण विद्यमान है। ए० जे० एयर[1] के अनुसार "यह दिखाया जा सकता है कि जिन्हें महान् दार्शनिक समझा जाता है, उनमें से अधिकतर मूलतः तत्त्वमीमांसक नहीं बल्कि विश्लेषक थे।" एयर, लॉक, बर्कले, ह्यूम, हाब्स, बेन्थम, मिल, प्लेटो, अरस्तू और कांट के उदाहरण देकर इसे सिद्ध करता है। तब 'विश्लेषी दर्शन' का अर्थ क्या है? इसे पृथक् नाम क्यों दिया जाता है?

विश्लेषी दर्शन का महत्व इस बात में है कि वह स्पष्ट रूप से दर्शन को मात्र विश्लेषण मानता है। प्राचीन दर्शनों में विश्लेषण को केवल साधन माना गया है। उनके अनुसार दर्शन का मुख्य उद्देश्य तात्त्विक ज्ञान था—सत्ता के मूल नियमों या वास्तविक स्वरूप का ज्ञान। समकालीन दार्शनिक विश्लेषी दर्शन और परिकल्पनात्मक दर्शन (speculative philosophy) में अन्तर करते हैं। प्राचीन दर्शनों में दोनों मिले जुले थे तथा उनमें अन्तर नहीं किया गया था। समकालीन दर्शन परिकल्पनात्मक दर्शन को असम्भव मानता है या उसे केवल संवेगात्मक महत्व देता है। विश्लेषी दर्शन ही वास्तविक एवं सार्थक दर्शन है। इस मत के अनुसार दर्शन संप्रत्ययों एवं वाक्यों का स्पष्टीकरण है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार प्राचीन दार्शनिक भी मूलतः यही करते थे, किन्तु उन्होंने अपनी क्रिया का स्वरूप नहीं समझा था और परिकल्पनात्मक दार्शनिक

---

1. "But I think it can be shown that the majority of those who are commonly supposed to have been great philosophers were primarily not metaphysicians but analysts."
—*Language, Truth And Logic*, p. 52.

शब्दों का असाधारण प्रयोग करते थे। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। कोई भी दार्शनिक प्रश्न उठाते समय उसे तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है। मान लीजिए हमारी समस्या सत्य की है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें की जा सकती हैं :

1. हम सत्य का स्वरूप जानना चाहते हैं,
2. हम सत्य के संप्रत्यय का विश्लेषण चाहते हैं, या
3. हम यह जानना चाहते हैं कि जब 'सत्य' का प्रयोग किया जाता है, तो उसका अर्थ क्या है ?

प्रथम से यह बोध होता है कि हम सत्य नामक किसी वस्तु या गुण का ज्ञान चाहते हैं। दूसरे का यह अर्थ लिया जा सकता है कि सत्य के प्रत्यय में क्या क्या निहित है। साधारण भाषा दार्शनिकों के अनुसार जब कोई दार्शनिक 1 और 2 का प्रयोग करता है तब भी वह वास्तव में 3 का ही अवलम्बन लेता है। 3 के द्वारा ही सत्य के विषय में कुछ जाना या कहा जा सकता है। और जब कोई दार्शनिक 'सत्य' के साधारण प्रयोगों से सन्तुष्ट नहीं होता तो वह इसके लिए नवीन, असाधारण प्रयोग की कल्पना करता है जो वास्तव में 'सत्य' शब्द का दुष्प्रयोग है। जहाँ तक दर्शन का संप्रत्यात्मक विश्लेषण है, इसका सम्बन्ध भाषा से है। भाषा विश्लेषण द्वारा ही दार्शनिक समस्याओं का वास्तविक रूप समझा जा सकता है।

साधारण भाषा दर्शन किसी सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित अर्थ में दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं है। ए० फ्ल्यु के अनुसार किसी एक भाषिक दर्शन को पृथक् करना कठिन एवं भ्रामक है।[1] इन दार्शनिकों में अनेक विषमताएँ हैं तथा जानबूझकर सम्प्रदाय न बनने की प्रवृत्ति है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साधारण भाषा दार्शनिकों में कुछ भी साम्य नहीं है। इन सभी में निश्चित रूप से कुछ सामान्य विशेषताएँ (जिन्हें हम आगे देखेंगे)। किन्तु उन्हें विट्गेंस्टाइन के शब्दों में उन्हें 'पारिवारिक साम्य' के रूप में ही लिया जा सकता है। इस सन्दर्भ में एक और भ्रान्ति का निराकरण आवश्यक है। कुछ आलोचक साधारण भाषा दर्शन को भी तर्कीय अनुभववाद ही मानते हैं यह पूर्णतः गलत एवं शरारतपूर्ण है। तर्कीय अनुभववाद भी दर्शन को विश्लेषण

---

1. A. Flew, "Philosophy and Language" published in the philosophical Quarterly, No. 5, 1955, p. 21.

मानता है और भाषा विश्लेषण को महत्व देता है। किन्तु इस दर्शन का अर्थ-सिद्धान्त इसे साधारण भाषा दर्शन से पृथक् कर देता है। इसके विश्लेषण की विधि भी संकुचित एवं त्रुटिपूर्ण है। विश्लेषी दर्शन व्यापक अर्थ में साधारण भाषा दर्शन के लिए प्रयुक्त होता है।

साधारण भाषा दर्शन की पृष्ठभूमि

अरस्तू के दर्शन में सभी विज्ञान दर्शन के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु धीरे-धीरे विज्ञान पृथक् होते गये और अन्ततोगत्वा यह समस्या आती है कि दर्शन का विषय एवं क्षेत्र क्या है ? विश्लेषी दार्शनिकों के अनुसार इससे दर्शन अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है, जो इसे सदैव होना चाहिए था और जो यह सदा किसी न किसी स्तर पर था। अर्थात् भाषा विश्लेषण। किन्तु यह जानना उपयोगी है कि किन सिद्धान्तों ने साधारण भाषा दर्शन की उत्पत्ति में योगदान किया।

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम रसल एवं मूर के नाम आते हैं जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। रसल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि वाक्यों के व्याकरणात्मक आकार उनके तार्किक आकार नहीं हैं। रसल का उदाहरण देखिए : 'वेवरली का लेखक स्काट है' वाक्य व्याकरण की दृष्टि से सरल वाक्य प्रतीत होता है, किन्तु तार्किक दृष्टि से ऐसा नहीं है। तार्किक दृष्टि से यह एक मिश्र वाक्य है और इसका निम्न तार्किक वाक्य में विश्लेषण होता है :

(1) कम से कम एक व्यक्ति ने बेवरली लिखा,
(2) अधिक से अधिक एक व्यक्ति ने बेवरली लिखा तथा
(3) जिसने बेवरली लिखा, वह स्काट है।

रसल का यह सिद्धांत विश्लेषी दर्शन के विकास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। तर्कीय अनुभववाद एवं साधारण भाषा दर्शन में किसी न किसी रूप में इसे स्वीकार किया गया है। इन सभी दर्शनों के अनुसार वाक्यों के व्याकरणात्मक रूपों एवं तार्किक क्रियाओं में तादात्म्य नहीं माना जा सकता। इनके अनुसार वाक्यों का विश्लेषण क्रमशः सरल वाक्यों, मूल वाक्यों एवं संदर्भों के अनुसार करना आवश्यक है। तभी उनके वास्तविक कार्यों का ज्ञान होता है। इसी प्रकार रसल की कृत्रिम भाषा—आदर्शभाषा—की अवधारणा (प्रिंसिपिया मैथमेटिका के निर्देश पर) तर्कीय अणुवादियों, तर्कीय अनुभववादियों (विशेषतः कारनप) के लिए आदर्श रही। किंतु साधारण भाषा दार्शनिकों ने उसे स्वीकार नहीं किया।

मूर की रुचि विश्व-रचना या विज्ञानों में नहीं थी। मूर की समस्या विभिन्न दार्शनिकों के कथनों को लेकर है। विशेषतः दो कारणों से : (1) दार्शनिकों के सिद्धान्तों में साम्य का अभाव और (2) दार्शनिक वाक्यों का सामान्य बुद्धि से विरोध। इसका एक महत्वपूर्ण कारण, मूर की दृष्टि में, प्रश्नों को बिना समझे हुए उनका उत्तर देने का प्रयास है। मूर ने प्रिंसिपिया एथिका की भूमिका में लिखा है : ऐसा मुझे प्रतीत होता है कि नीतिशास्त्र, तथा अन्य सभी दार्शनिक अध्ययनों में, कठिनाइयाँ तथा मतभेद, जिनसे इसका इतिहास भरा है, मुख्यतः एक बहुत ही सरल कारण का परिणाम है : अर्थात् बिना यह समझे हुए कि निश्चित रूप से हम किस प्रश्न का उत्तर चाहते हैं। उत्तर देने का प्रयास करना।[1]'

अतः मूर के दर्शन के मुख्य उद्देश्य थे दार्शनिक प्रश्नों, कथनों एवं सिद्धान्तों के स्वरूप स्पष्ट करना तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के विरोध में सामान्य बुद्धि के तथ्यों की स्थापना करना। उसके अनुसार बहुत से तथ्य ऐसे हैं जिन्हें सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, जिन्हें हम प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं। 'ए डिफेंस आव कामन सेंस' लेख में मूर ने ऐसे कई उदाहरण दिये हैं। एक दार्शनिक सिद्धान्त है : किसी जड़ वस्तु की सत्ता नहीं है इसके विरोध में मूर का मत है कि यह सिद्धान्त पूर्णतः असत्य है, क्योंकि यह मेरा बायाँ हाथ है और यह मेरा दायाँ हाथ है, अतः कम से कम दो जड़ वस्तुओं की सत्ता है।[2] एक और उदाहरण लीजिये : काल असत् है। मूर का उत्तर है कि यदि इसका तात्पर्य यह है कि घटनाओं में पूर्ववर्ती एवं परवर्ती का क्रम नहीं है तो यह सिद्धान्त अवश्य ही असत्य है। मैं अपने अनुभव से जानता हूँ कि पहले मैंने चाय लिया फिर नाश्ता किया।[3] इसका अर्थ यह नहीं है कि

---

1. "It appears to me that in Ethics, as in all other philosophical studies, the difficulties and disagreements, of which its history is full, are mainly due to a very simple cause : namely to the attempt to answer questions, without first discovering precisely what question it is which you desire to answer."
—*Principia Ethica*
2. G. E. moore, "proof of An External World."
3. G. E. Moore, "The Conception of Reality."

सामान्य बुद्धि के तथ्यों के विषय में मूर को कोई उलझन या कठिनाई महसूस नहीं हुई। मूर इस सम्बन्ध में पूर्णतः आश्वस्त था कि हमें वस्तुओं का ज्ञान होता है। अतः मूल प्रश्न यह नहीं है कि क्या हम वस्तुओं को जानते हैं, बल्कि यह कि हम वस्तुओं को कैसे जानते हैं।[1] इसी प्रकार मूर के अनुसार हम सामान्य बुद्धि के कथनों को सत्य जानते हैं, किन्तु उनके विश्लेषण और अर्थ स्पष्ट नहीं रहते।[2] अतः मूर की दो समस्यायें थीं, वस्तुओं का ज्ञान कैसे होता है और वाक्यों का विश्लेषण एवं अर्थ कैसे स्पष्ट हो। दोनों समस्याएँ मूर को विश्लेषण की ओर ले जाती हैं।

मूर ने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया कि विश्लेषण का स्वरूप क्या है। उसकी रुचि प्रणाली में थी ही नहीं। मूर ने यह भी नहीं माना कि दर्शन मात्र विश्लेषण है या कि विश्लेषण केवल शब्दों और वाक्यों का है।[3] मूर ने माल्कम का यह मत भी स्वीकार नहीं किया कि उसके अनुसार दर्शन भाषिक है। किन्तु मूर की सामान्य बुद्धि की स्थापना, विश्लेषण एवं साधारण भाषा के प्रयोग की स्वीकृति ने साधारण भाषा दार्शनिकों को प्रभावित किया। अतः संक्षेप में यह जान लेना आवश्यक है कि मूर ने विश्लेषण का उपयोग किस प्रकार किया। उसके अनुसार यह विश्लेषण एक वाक्य का अन्य सरल एवं स्पष्ट वाक्यों में तार्किक अनुवाद है। परिभाषा का परिभाषेय से सरल एवं स्पष्ट होना आवश्यक है किन्तु दोनों का अर्थ एक ही होना चाहिए। शब्दों का अनेकार्थक तथा अस्पष्ट होना तथा दार्शनिकों द्वारा शब्दों को मनमाने रूप में प्रयुक्त करना मूर के लिए उलझनें उत्पन्न करना है। अतः विश्लेषण द्वारा भ्रान्तियों, उलझनों तथा मतभेदों को दूर किया जा सकता है। किन्तु वह संप्रत्ययों, प्रत्ययों एवं अर्थों तक ही सीमित रहता है। विश्लेपण की प्रक्रिया में मूर ने साधारण भाषा का आश्रय लिया किन्तु उसने कभी भी साधारण प्रयोगों का विस्तार में उल्लेख नहीं किया। उसके अनुसार अर्थ एवं विश्लेषण दोनों का सम्बन्ध संप्रत्ययों से है। यह मूर की भूल थी। मेत्स की इस युक्ति में काफी सचाई है कि मूर एक अच्छा प्रश्नकर्ता किन्तु बुरा उत्तरदाता था।[4] किन्तु मूर के निष्कर्ष चाहे जो हों उसकी दार्शनिक

---

1. Contemporay British philosophy.
2. G. E. Moore, "A Defence of Common Sense."
3. G. E. Moore, "A Reply to my critics" in the *Philosophy of G. E. moore*, ed. by p. A. schilpp.
4. Metz, *A Hundred Years of British philosophy.*

प्रणाली ने परवर्ती दार्शनिकों को बहुत ही अधिक प्रभावित किया । माल्कम की निम्न युक्ति यद्यपि मूर के मन्तव्यों को व्यक्त नहीं करती किन्तु उसकी विधि एवं प्रभाव का उचित मूल्यांकन है ।

"मूर का महान् दार्शनिक प्रयास इस तथ्य में निहित है कि सम्भवतः वह प्रथम दार्शनिक है जिसने यह अनुभव किया कि कोई भी दार्शनिक कथन जो साधारण भाषा का उल्लंघन करता है असत्य है, और जिसने सतत रूप से उल्लंघन करनेवालों से साधारण भाषा की रक्षा का भरसक प्रयास किया।"[1]

रसल और मूर के बाद पूर्ववर्ती विट्गेंस्टाइन और तर्कीय अनुभववादियों ने साधारण भाषा दर्शन की उत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया । एक प्रचलित व्याख्या के अनुसार ट्रैक्टेटस लाजिको फिलासोफिकस (1921) में विट्गेंस्टाइन का उद्देश्य प्रिंसिपिया मैथमेटिका (रसल और ह्वाइटहेड) के निर्देश पर एक कृत्रिमपूर्ण भाषा की रचना करना था, जो साधारण भाषा का स्थान ले सके, जो पूर्णतः सत्यव्यापारपरक हो, जिसमें केवल सरल वाक्य हों, ऐसे वाक्य जो केवल नामों (मूल चिह्नों) के संघात हों । एक अन्य व्याख्या के अनुसार विटगेंस्टाइन के सरल वाक्य निरीक्षण-वाक्य हैं और विटगेंस्टाइन मूल रूप से तर्कीय अनुभववादी हैं । किन्तु ये दोनों व्याख्याएँ गलत हैं । विट्गेंस्टाइन का उद्देश्य न तो साधारण भाषा का विकल्प निर्मित करना था, न उसके सरल वाक्य निरीक्षण-वाक्य हैं । उसका उद्देश्य किसी भाषा विशेष का नहीं बल्कि सभी भाषाओं की अनिवार्य शर्तों को व्यक्त करना था । उसकी मूल समस्या थी : किसी भी भाषा के सार्थक होने के लिए क्या आवश्यक है ? उसके अनुसार भाषा सत्ता का चित्र है । सार्थक भाषा वाक्यों की समग्रता है और वाक्य का

---

1. "Moore's great historical role consists in the fact that he has been perhaps the first philosopher to sense that any philosophical statement which violates ordinary language is false, and consistently to defend ordinary language against its philosophical violators...."

—Malcolm "Moore And Ordinary Language" reprinted in *Ordinary Language Philosophy*. ed, by V. C. Chappell, p. 23.

अर्थ (तात्पर्य) वह वस्तुस्थिति है जिसका वह चित्र है। इस अर्थ में साधारण भाषा बिलकुल ठीक है : "हमारी बोलचाल की भाषा के सभी वाक्य, वास्तव में वे जैसे हैं, तार्किक दृष्टि से पूर्णतः ठीक हैं।"[1]

किन्तु साधारण भाषा इतनी जटिल है कि ऊपर से उसका तार्किक आकार स्पष्ट नहीं होता।

"बोलचाल जो भाषा मानव शरीर-रचना का एक भाग है और उससे कम जटिल नहीं है।"

इससे मनुष्य के लिए यह असम्भव है कि सीधे-सीधे भाषा के तार्किक स्वरूप को जाना जा सके।

भाषा विचार को छिपाता है, जिससे परिधान के बाह्य आकार को देखकर विचार के आकार का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिधान का बाह्य आकार शरीर के अभिज्ञान के लिए नहीं बल्कि भिन्न उद्देश्य के लिए बनाया गया है।[2]

अतः विट्गेंस्टाइन रसल का अनुसरण करते हुए वाक्यों के विश्लेषण पर बल देता है। विश्लेषण के द्वारा ही साधारण भाषा के वाक्यों को सरल वाक्यों में विभक्त किया जाता है। यदि एक मिश्र वाक्य है तो उसके घटकों के रूप में सरल वाक्यों का होना आवश्यक है। इन सरल वाक्यों के सत्य-मूल्य पर ही मूलवाक्य का सत्य-मूल्य निर्भर करता है। सरल वाक्य केवल नामों के संस्थान हैं। नाम एक मूल (अपरिभाषेय) चिह्न है, जिसका अर्थ सरल

---

1. "All propositions of our colloquial language are actually, in order." *Tractatus*. 5.55-63 [इसके बाद इसे संक्षेप में T से निर्दिष्ट किया जायगा]।
2. "Colloquial language is a part of the human organism and is not less complicated than it From it is impossible to gather immediately the logic of language. Language disguises the thought; so that from the external form of the clothes one can not infer the form of the thought they clothe, because the external form of the clothes is constructed with quite another object than to let the form of the body be recognized." Ibid., p. 4.002.

(अविश्लेष्य) वस्तु है। विट्गेंस्टाइन के अनुसार अनिश्चित अर्थ नहीं हैं, और निश्चित अर्थ प्राप्त करने के लिए सरल वाक्यों का होना आवश्यक है। जब तक सरल वाक्य नहीं प्राप्त होते विश्लेषण की प्रक्रिया चालू रहती है। यदि सरल वाक्यों का उदाहरण देना सम्भव न हो तब भी सरल वाक्य आवश्यक हैं, क्योंकि वे सार्थक भाषा की अनिवार्य शर्तें हैं। विट्गेंस्टाइन एक और निष्कर्ष निकालता है। जो वाक्य वस्तु-स्थिति (तथ्य) के चित्र नहीं हैं। इस प्रकार तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि के वाक्य निरर्थक हैं। अतः कथनीय वाक्यों की निश्चित सीमा हैं। केवल तथ्यों (वास्तविक या संभावित) से सम्बन्धित वाक्य ही सार्थक हैं। विट्गेंस्टाइन कहता है।[1]

"जो भी कहा जा सकता है, स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है, और जिस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता मौन आवश्यक है।"

विट्गेंस्टाइन के अनुसार दर्शन प्राकृतिक विज्ञान नहीं है (T. 4.111) दर्शन मनोविज्ञान (T. 4.1121) और ज्ञानमीमांसा (T. 4.1121) भी नहीं है। उनके अनुसार दर्शन का क्षेत्र ज्ञान या सत्य नहीं है। दर्शन का सम्बन्ध केवल अर्थ से है। दर्शन सिद्धान्तों का समवाय नहीं, अपितु क्रिया है (T. 4.112), दर्शन का परिणाम दार्शनिक वाक्य नहीं है बल्कि वाक्यों का स्पष्टीकरण है (T. 4.112)। अतः विट्गेंस्टाइन के अनुसार : "सम्पूर्ण दर्शन भाषा की आलोचना है।"[2] दर्शन भाषा का स्पष्टीकरण है।

उपर्युक्त विवरण से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आते हैं :

(1) दर्शन केवल भाषा-विश्लेषण की क्रिया है,

(2) दार्शनिक समस्याएँ भाषा का तार्किक स्वरूप न समझने के कारण उत्पन्न होती हैं, और

(3) साधारण भाषा ठीक है।

ये सभी निष्कर्ष सर्वप्रथम विट्गेंस्टाइन ने, रसल और मूर से भी अधिक साहस एवं स्पष्टता के साथ, दार्शनिकों के समक्ष रखे। और इन बातों ने भावी दर्शन के लिए पूर्णतः नये मार्ग का निर्माण किया। किन्तु ट्रैक्टेटस में विट्गेंस्टाइन प्रागनुभविक विश्लेषण के इतना अधिक प्रभाव में था कि वह स्वयं इनका पूरा महत्त्व न समझ सका। उसकी कुछ प्रमुख भूलें ये हैं :

---

1. "What can be said at all can be said clearly; and whereof one cannot speak thereof one must be silent." T. p., 27.
2. "All philosophy is 'Critique of language.'." T. 4 0031.

(1) सार्थक भाषा केवल वर्णनात्मक है, वाक्यों की सार्थकता तथ्यों का चित्र होने में निहित है,

(2) सरल पदों का अर्थ सरल वस्तुएँ हैं,

(3) भाषा का तर्कीय रूप प्रच्छन्न रहता है और उसे सत्य व्यापारीय विश्लेषण से स्पष्ट किया जा सकता है,

(4) अर्थ पूर्णतः निश्चित एवं स्पष्ट रहता है, अस्पष्ट अर्थ नहीं है,

(5) अर्थ देने की क्रिया मानसिक है।

स्वयं विट्गेंस्टाइन ने 1933 के बाद इन त्रुटियों का निराकरण किया और उसके बाद साधारण भाषा दर्शन अपने पूर्णरूप में प्रतिष्ठित हो गया। ट्रैक्टेटस के अभाव में इसकी उत्पत्ति होती या नहीं, कहना कठिन है।

विट्गेंस्टाइन के सरल वाक्यों को तर्कीय अनुभववादियों ने निरीक्षण वाक्यों में परिवर्तित कर दिया। साथ ही उन्होंने ज्ञानमीमांसा की आवश्यकता भी स्वीकार की, क्योंकि निरीक्षण वाक्यों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ज्ञानमीमांसा किसी न किसी स्तर पर अनिवार्य हो जाती है (कारनप ने ज्ञानमीमांसा को मनोविज्ञान से पृथक् करने के उद्देश्य से, वाक्य मीमांसा का एक भाग माना)। किन्तु दर्शन के स्वरूप, भाषा के कार्य आदि विषयों पर तर्कीय अनुभववादियों ने विट्गेंस्टाइन के विचारों को काफी हद तक स्वीकार किया।

तर्कीय अनुभववाद एक दार्शनिक आन्दोलन के रूप में 1922 में वियना में प्रारम्भ हुआ। श्लिक्, कारनप, न्यूराथ तथा अन्य कई विचारकों ने मिलकर 'वियना सर्किल', की स्थापना की। ब्रिटेन में ए० जे० एअर ने इसका प्रतिनिधित्व किया जिसकी पुस्तक 'लेंग्वेज ट्रुथ एण्ड लाजिक' इस मत की सर्वाधिक स्पष्ट एवं सरल व्याख्या है। तर्कीय अनुभववाद एक ओर ह्यूम और माख के अनुभववाद से प्रेरणा लेता है, दूसरी ओर फ्रेगे, रसल एवं विट्गेंस्टाइन के तर्कशास्त्र से। समय के साथ इसमें भी आन्तरिक मतभेद बढ़ते गये और इसके आधारभूत सिद्धांत 'सत्यापन सिद्धांत' पर मतैक्य नहीं हो सका।

---

1. "There are no specific philosophical truths which would contain the solution of specific 'philosophical' problems, but philosophy has the task of finding the meaning of all problems and their solutions. It must be defined as the activity of finding meaning."

   M. Schlick, *The Future of philosophy*.

अनुभववादियों के अनुसार भी दर्शन विज्ञान या अतिविज्ञान नहीं है। दर्शन का क्षेत्र अर्थ है।

ऐसे विशेष दार्शनिक सत्य नहीं हैं, जिनमें विशेष 'दार्शनिक' समस्याओं के समाधान निहित हैं, बल्कि दर्शन का कार्य सभी समस्याओं एवं उनके समाधानों का अर्थ निश्चित करना है। इसकी परिभाषा अर्थ निश्चित करने की क्रिया के रूप में होनी चाहिए[1]।'

किन्तु कुछ तर्कीय अनुभववादी दार्शनिक कथनों का अस्तित्त्व मानते हैं, पर इसके अनुसार भी ये कथन भाषिक ही हैं तथ्यात्मक नहीं। अतः यहाँ भी दर्शन भाषा विश्लेषण है, किन्तु इनके विश्लेषण को समझने के लिए इनका अर्थ सिद्धान्त जानना आवश्यक है। तर्कीय अनुभववादी भाषिक संवाद को दो कोटियों में विभाजित करता है : संज्ञानात्मक और संवेगात्मक। केवल संज्ञानात्मक संवाद 'कथनों' को व्यक्त करता है। संवेगात्मक संवाद के अन्तर्गत प्रवृत्तियों, अनुभूतियों, संवेगों आदि की अभिव्यक्तियाँ आती हैं। केवल संज्ञानात्मक वाक्यों में शाब्दिक अर्थ (Literal meaning) या संज्ञानात्मक अर्थ (Cognative meaning) होता है। संवेगात्मक वाक्यों में संज्ञानात्मक या शाब्दिक अर्थ नहीं होता। वे केवल लेखक या वक्ता के भावों, संवेगों आदि को व्यक्त करते हैं या वैसे ही भाव संवेग पाठक या श्रोता में उत्पन्न करते हैं या दोनों।

तर्कीय अनुभववादी संज्ञानात्मक वाक्यों को दो कोटियों में विभाजित करते हैं : विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक। एअर के अनुसार 'कोई वाक्य विश्लेषणात्मक है जब इसकी वैधता केवल इसमें प्रयुक्त प्रतीकों की परिभाषा पर निर्भर हो और संश्लेषणात्मक जब इसकी वैधता अनुभव के तथ्यों से निर्धारित होती है।"[1] विश्लेषणात्मक वाक्य तथ्यात्मक नहीं होते। केवल संश्लेषणात्मक वाक्य तथ्यात्मक होते हैं। सभी संश्लेषणात्मक वाक्य अनुभव सापेक्ष होते हैं। यदि उनके अनुरूप तथ्य हैं तो वे सत्य हैं, अन्यथा असत्य। सभी संश्लेषणात्मक

---

1. There are no specific philosophical truths which would Contain the solution of specific 'philosophical' problems, but philosophy has the task of finding the meaning of all problems and their solutions. It must be defined as the activity of finding meanings.—Schlick, M., *The Future of Philosophy*.

वाक्यों के सार्थक होने के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनका अनुभव से सम्बन्ध आवश्यक है। अतः तर्कीय अनुभववादी के अनुसार 'कथन (वाक्य) का अर्थ इसके सत्यापन की विधि है'। अर्थ का यह सिद्धान्त कई रूपों एवं व्याख्याओं से गुजरा है किन्तु सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि कोई संश्लेषणात्मक वाक्य तभी सार्थक है जब यह वास्तविक या सैद्धांतिक रूप से अपरोक्षतः अथवा परोक्षतः अनुभव द्वारा सत्यापनीय हो। अन्यथा यह निरर्थक है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्त्वमीमांसा के वाक्य मननात्मक नहीं, असत्य नहीं, बल्कि निरर्थक हैं। केवल विज्ञान और दैनिक व्यवहार के कथन सार्थक हैं। तत्त्वमीमांसा केवल इसलिए संभव हुई कि दार्शनिकों ने शब्दों एवं वाक्यों के अर्थों का पर्याप्त विश्लेषण नहीं किया था। दर्शन का कार्य विभिन्न प्रकार के वाक्यों का अर्थ स्पष्ट करना है।

जहाँ तक तर्कीय अनुभववादी भाषा विश्लेषण को दर्शन का क्षेत्र मानता है, उसकी मान्यता साधारण भाषा दर्शन के अनुरूप है, किन्तु उसका अर्थ सिद्धांत, नवस्तरीय विश्लेषण की धारणा, तथा तत्त्वमीमांसा का सतही निषेध बहुत ही संकुचित एवं कृत्रिम पूर्वाग्रहों पर आधारित है। साधारण भाषा दर्शन को इन सिद्धांतों के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में लिखा जा सकता है। रसल और पूर्ववर्ती विट्गेंश्टाइन की भाँति तर्कीय अनुभववादी भी मानते हैं कि भाषा का मुख्य कार्य तथ्यों अथवा इन्द्रियानुभवों का वर्णन करना है। अपने पूर्वाग्रहों के कारण वे यह नहीं समझ सके कि भाषा के अनेक कार्य हैं और प्रत्येक प्रकार के वाक्य का अपना विशिष्ट तर्कशास्त्र है। भाषा के कार्यों को समझने के लिए शब्दों एवं वाक्यों के वास्तविक प्रयोगों को जानना (देखना) आवश्यक है। कोई भी अर्थ-सिद्धांत, जो वास्तविक प्रयोगों की अपेक्षा करता है, एक पक्षीय, कृत्रिम एवं संकुचित है तथा स्वयं एक तत्त्वमीमांसीय प्रस्तावना है। यही बात नव स्तरीय विश्लेषण पर भी लागू होती है। यह मानना कि सभी वाक्यों का विश्लेषण हो सकता है, विट्गेंश्टाइन के सरल वाक्यों में या तार्किक अनुभववादी के मूलवाक्यों में—गलत है। शब्दों और वाक्यों को उनके वास्तविक प्रयोगों में देखकर ही उनके तर्कीय रूपों को स्पष्ट किया जा सकता है। इस साक्षात्कार के साथ ही साधारण भाषा दर्शन का प्रारम्भ होता है।

साधारण भाषा दर्शन की सामान्य विशेषताएँ

एकबार एक पत्रकार ने आर० एम० हेयर से पूछा कि क्या साधारण भाषा दर्शन को समझाने की कोई एक कुन्जी है। 'नहीं', हेयर ने उत्तर दिया,

ऐसी कोई कुंजी नहीं है, जिससे उस दर्शन की व्याख्या की जा सके जिसका हम प्रयोग करते हैं। हेयर का उत्तर गर्वोक्ति नहीं है। साधारण भाषा दार्शनिक, या संक्षेप में भाषिक, इतनी विभिन्न विधियों का उपयोग करते हैं कि पारिभाषिक अर्थ में कोई इकाई नहीं है। उनका दर्शन कोई प्रोग्राम या आन्दोलन नहीं है। वे जानबूझ कर सम्प्रदाय से बचते हैं या राइल के शब्दों में कोई पक्ष नहीं लेते। फिर भी 'पारिवारिक साम्य' के रूप में उनमें कुछ समान विशेषताएँ हैं, और यह जानते हुए भी कि सामान्यीकरण हानिकर होता है, हम कुछ सामान्य लक्षणों का उल्लेख आवश्यक समझते हैं।

भाषिक दर्शन का प्रारम्भ विट्गेंस्टाइन के 1930 के बाद के चिन्तन, व्याख्यान एवं लेखन से होता है। अब तक विट्गेंस्टाइन ने ट्रैक्टेटस के दर्शन की कृत्रिमता एवं भ्रामकता का आभास पा लिया था और सम्पूर्ण ईमानदारी से उनका निराकरण करने में लग गया था। यद्यपि मूर तथा अन्य दार्शनिकों ने साधारण दर्शन को प्रभावित किया किन्तु विट्गेंस्टाइन अकेला दार्शनिक है जिसने इसका प्रारम्भ किया और इसे एक निश्चित गति दी। उसके अभाव में इस दर्शन की कल्पना नहीं की जा सकती। ट्रैक्टेटस की ओर संकेत करते हुए ए० एम० क्विटन लिखता है: "यदि विट्गेंस्टाइन ने अपने निषेधों को अक्षरशः लिया होता तो पिछले चालीस वर्षों में ब्रिटिश दर्शन बहुत ही भिन्न एवं हीन होता।"[1] इसी प्रकार स्ट्रॉसन के अनुसार—"ठीक या गलत, विट्गेंस्टाइन के विशेष सिद्धान्त सर्वाधिक रुचि एवं महत्त्व के हैं। किन्तु दार्शनिक विधि के नमूने के रूप में इस पुस्तक (फिलासाफिकल इंवेस्टीगेशंस) का महत्त्व इससे भी अधिक है। (यहाँ मेरा संकेत पुस्तक की शैली एवं आकार की विशिष्टता की ओर नहीं है)। इससे वह दार्शनिक क्रान्ति सुदृढ़ होगी, जिसके लिए किसी अन्य से अधिक इसका लेखक उत्तरदायी था।"[2] चैपेल के शब्दों में

---

1. "British philosophy in the last forty years would have been a very different, and poorer thing if wittgenstein had taken his own prohibitions literally."

   A. M. Quinton, Excerpt from Contemporary British Philosophy, reprinted in *Witgenstein* ed. by. Pitcher.

2. P. F. strawson : "Right or wrong, wittgenstein's particular doctrines are of the greatest interest and importance. But the value of the book as a model of *philosophical* method

"....विट्गेंस्टाइन ने बहुत बड़ी संख्या में दार्शनिकों को इस मत में दीक्षित किया कि दर्शन अनिवार्यतः भाषिक है। अधिकांश रूप में इसी के कारण आज आंग्ल अमरीकी दर्शन में यह मत सुदृढ़ है।"[1]

साधारण भाषा दर्शन विट्गेंस्टाइन के प्रभाव में कैम्ब्रिज में प्रारम्भ हुआ और बाद में राइल और आस्टिन के प्रभाव से आक्सफोर्ड में विकसित हुआ। धीरे-धीरे आक्सफोर्ड इसका मुख्य केन्द्र बन गया। आक्सफोर्ड में इसमें नवीन आयाम जुड़ते गये, जिसके फलस्वरूप यहाँ का दर्शन विट्गेंस्टाइन के दर्शन से कई बातों में भिन्न हो गया। आज इसी विचारधारा का प्रसार अधिक है और कभी 'साधारण भाषा दर्शन' और 'आक्सफोर्ड दर्शन' पर्यायवाची समझ लिये जाते हैं। स्पष्ट है कि साधारण भाषा दर्शन का विकास दो भिन्न दिशाओं में हुआ। प्रथम धारा में वे दार्शनिक आते हैं जो सीधे विट्गेंस्टाइन से प्रभावित हैं। उनमें प्रमुख हैं: विजडम, माल्क, वायसमान, आंसकाम्ब, बाउस्मा, लेजरोवित्स इत्यादि। दूसरी धारा के प्रमुख दार्शनिक हैं राइल, आस्टिन, स्ट्रासन, हार्ट, हेयर अर्मसन, वार्नाक इत्यादि। पासमोर के शब्दों में "आक्सफोर्ड में विट्गेंस्टाइन के विचार कैम्ब्रिज से बहुत ही भिन्न दार्शनिक वातावरण में प्रवेश करते हैं। आक्सफोर्ड दार्शनिक अधिकांशतः, दर्शन की शिक्षा ऐसे पाठ्यक्रम के अन्तर्गत करते हैं, जो क्लासिकल शिक्षा पर आधारित है, विशेषकर अरस्तू का प्रभाव जितना आक्सफोर्ड में है उतना कैम्ब्रिज में नहीं....। आक्सफोर्ड में विट्गेंस्टाइन के विचार अरस्तू के भाषाशास्त्रीय तने पर आरोपित किये गये,

---

is greater still. (Here I do not refer to idiosyncracies of style and form). It will consolidate the philosophical revolution for which, more than any one else, its author was responsible." "Review of philosophical Investigation." reprinted in *Wittgenstein* ed. by Pitcher, p. 64.

1. "....Wittgenstein converted large number of philosophers to the view that philosophy is essentially linguistic. It is in large part owing to his work that this view is dominant in Anglo—American philosophy to-day."—V. C. Chappell *Ordinary Language*, p. 1-2.

Note : Similar views have been expressed by Ryle, Urmson, Warnock etc.

इस तने से ऐसे फल उत्पन्न हुए; जो अन्य बातों के साथ, कैम्ब्रिज फलों की अपेक्षा अधिक शुष्क और ठण्डे हैं।"[1] अतः संक्षेप में दोनों धाराओं का अन्तर समझ लेना उपयोगी होगा।

आक्सफोर्ड दार्शनिकों ने विट्गेंस्टाइन की कुछ सामान्य बातों को स्वीकार कर लिया है। विट्गेंस्टाइन की भाँति वे भी आदर्श, पूर्ण या कृत्रिम भाषाओं की रचना के विरोधी हैं। उनके अनुसार भी साधारण भाषा ठीक एवं उचित है। उसके स्थान पर किसी कृत्रिम भाषा की रचना कर न तो दार्शनिक समस्याओं को समझा जा सकता है, न उनका वास्तविक समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार उन्होंने यह भी माना कि दार्शनिक समस्याएँ भाषा से अनिवार्यतः सम्बन्धित हैं। अधिकतर समस्यायें भाषा का वास्तविक प्रयोग न समझ पाने से उत्पन्न होती हैं। उनके समाधान के लिए भाषा के वास्तविक साधारण प्रयोगों को समझना आवश्यक है। वे भी मानते हैं कि दार्शनिक गवेषणा मूलतः भाषिक है, तथ्यात्मक या बौद्धिक नहीं। समस्याओं के समाधान न तथ्यात्मक साक्ष्य पर निर्भर हैं, न बौद्धिक चिन्तन पर। वे भी प्राचीन शैली की तत्त्वमीमांसा को असम्भव मानते हैं। किन्तु निम्न बातों में दोनों मतों में अन्तर है।

(1) विट्गेंस्टाइन तथा अन्य कैम्ब्रिज दार्शनिक विशेष समस्याओं को लेकर दार्शनिक गवेषणाएँ करते हैं, किन्तु आक्सफोर्ड दार्शनिक सामान्य रूप से समस्याओं के समाधान में रुचि रखते हैं। भाषा के साधारण प्रयोगों के आधार पर एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के पक्ष या विपक्ष में विस्तार से संप्रत्ययात्मक निष्कर्ष निकालते हैं। अधिकतर संप्रत्ययों के तर्कीय चार्ट निर्धारित करते हैं। राइल ने दि 'कंसेप्ट आव माइण्ड' में मानसिक संप्रत्ययों के तर्कीय स्वरूप एवं सम्बन्धों का स्पष्टीकरण किया है। मानसिक शब्दों और वाक्यों के प्रयोग

---

1. "At oxford Wittgenstein's ideas entered a very different philosophical atmosphere from that which prevailed at Cambridge....At oxford, then, Wittgenstein's ideas were grafted on to an Aristotelian philological stock, the stock has influenced the resultant fruits which, amongst other things, are considerably drier and cooler than their Cambridge counterparts."

Passmore, *A Hundred Years of philosophy*., pp. 440-41.

के आधार पर उसने देकार्त तथा उससे मिलते जुलते सिद्धान्तों का खंडन किया है एवं मानसिक व्यवहार की व्याख्या के लिए एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार स्ट्रॉसन ने इडिवीजुअल्स में व्यक्ति के संप्रत्यय का विस्तार में अध्ययन कर एक विशेष दार्शनिक सिद्धान्त दिया है।

(2) विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याएँ शब्दों के दुरुपयोग से (शब्दों को उनके वास्तविक सन्दर्भों से पृथक् कर सोचने) उत्पन्न होती हैं। वे वास्तविक समस्याएँ न होकर केवल मानसिक रोग, बौद्धिक जड़ता या भ्रांतियाँ हैं उनके समाधान की नहीं बल्कि निराकरण की आवश्यकता है। अतः विट्गेंस्टाइन के अनुसार दर्शन मनश्चिकित्सा या रोगोपचार है। आक्सफोर्ड दार्शनिक मानते हैं कि कुछ समस्याएँ मात्र उलझनें हैं और उनका निराकरण किया जा सकता है, किन्तु दर्शन रचनात्मक भी है। चिकित्सीय उद्देश्य दर्शन का महत्त्वपूर्ण भाग है किन्तु सम्पूर्ण दर्शन नहीं। उनके अनुसार साधारण भाषा का सुव्यवस्थित, वैज्ञानिक अध्ययन अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। आस्टिन ने इस प्रकार के अध्ययन को "भाषिक दृश्य प्रपंचशास्त्र" (linguistic phenomenology) या 'व्याकरण का विकसित विज्ञान' (expanded science of grammar) कहा है। उसके अनुसार शब्दों के विभिन्न वास्तविक प्रयोगों, उनके सम्बन्धों, वर्गीकरणों के विस्तृत अध्ययन एवं उस पर आधारित सामान्य निष्कर्षों का अपने आप में महत्त्व है—केवल दार्शनिक समस्याओं के निराकरण या समाधान के रूप में नहीं।

(3) विट्गेंस्टाइन के अनुसार दर्शन का कार्य केवल वास्तविक प्रयोगों का वर्णन करना है, उसके लिए सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करना नहीं। उसके अनुसार 'दर्शन का कार्य किसी भी रूप में भाषा के वास्तविक प्रयोग में हस्तक्षेप करना नहीं, यह केवल इसका वर्णन कर सकता है। यह इसके लिए कोई आधार भी नहीं प्रस्तुत कर सकता। यह प्रत्येक वस्तु को यथावत् रहने देता है।"[1] आस्टिन इससे सहमत नहीं। उसने साधारण भाषा को दार्शनिक विश्लेषण का आधार मानने के लिए तर्क दिया है और इस प्रकार वह साधारण भाषा दर्शन का आधार बताकर उसके औचित्य का प्रयास करता है। उसके अनुसार "शब्दों के हमारे भंडार में वे सभी अन्तर निहित हैं, जिन्हें मनुष्यों ने

---

1. *Philosophical Investigations*, 124, "philosophy may in no way interfere with the actual use of language, it can in the end only describe it."

नोट : इस ग्रन्थ को आगे P I के संक्षेप द्वारा निर्दिष्ट किया जायगा।

स्वीकार करने योग्य माना है, ऐसे सभी सम्बन्ध भी इसमें हैं जिन्हें उन्होंने अनेक पीढ़ियों के जीवन में मानने योग्य पाया है : ये निश्चित ही अधिक संख्या वाले और अधिक दृढ़ हैं, क्योंकि ये सर्वोत्तम के संजीवन की लम्बी परीक्षा में खरे उतरे हैं और कम से कम सभी सामान्य और तर्कतः व्यावहारिक मामलों में, ये उन सभी से अधिक सूक्ष्म हैं जिन्हें आप या मैं किसी शाम को कुर्सियों पर बैठकर सोचते हैं—जो सर्वाधिक प्रिय वैकल्पिक विधि है।"[1]

(4) अन्त में कुछ दार्शनिकों ने ऐसे विशेष संप्रत्ययों का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है जिन्हें वे अपने दर्शन एवं विधि के लिए उपयोगी समझते हैं। विट्गेंस्टाइन ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था। उसने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'संप्रत्यय प्रयोग' का भी स्पष्टीकरण नहीं किया किन्तु राइल, आस्टिन, स्ट्रासन आदि ने अपने संप्रत्ययों को परिभाषित एवं स्पष्ट किया है। राइल ने 'कोटि' (category) का स्पष्टीकरण किया है। उसने 'आर्डिनरी लैंग्वेज' में 'प्रयोग, (use) का स्वरूप स्पष्ट किया है। इसी प्रकार आस्टिन नें अपने लेखों एवं 'हाऊ टु डू थिंग्स विथ वर्ड्स' में अनेक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्याएँ दी हैं।

उपरोक्त भेदों से दोनों धाराओं की कुछ विशेषताओं का पता चलता है, और हम कुछ ऐसे लक्षणों का उल्लेख करना चाहते हैं जो कमोवेश रूप में, सभी भाषिक दार्शनिकों को मान्य हैं।

दर्शन-स्वरूप, विधि एवं प्रयोजन

'दर्शन न सत्ता का अध्ययन है, न सत्य की खोज। दर्शन भाषा विश्लेषण

---

1. "....our common stock of words embodies all the distinction men have found worth drawing, and the connexions they have found worth making, in the lifetimes of many generation : these surely are likely to be more numerous, more sound, since they have stood up to the long test of the survival of the fittest, and more subtle, at least in all ordinary and reasonably practical matters, than any that you or I are likely to think up in our armchairs of an afternoon—the mostfavoured alternative method." "A Plea for Excuses" reprinted in his *Philosophical Papers*, p. 130.

है'। भाषिक दर्शन का लक्षण बताते समय इन कथनों का उपयोग नारों के रूप किया जाता है। इसमें कुछ हानि भी नहीं है, किन्तु भ्रान्तियों से बचने के लिए इनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। कांट पहला दार्शनिक है जिसने दर्शन के स्वरूप एवं विधि के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया। उसके अनुसार दर्शन न तो आनुभविक तथ्यों पर आधारित है, न आकारिक या प्रतीकात्मक निरूपण पर। भाषिक दर्शन इससे सहमत है। दर्शन तथ्यात्मक ज्ञान की वृद्धि नहीं करता। दार्शनिक समस्याओं का समाधान नये तथ्यों की अपेक्षा नहीं रखता। राइल ने 'दि कंसेप्ट आव माइंड' की भूमिका में लिखा है : "........किन्तु यह मन के सम्बन्ध में नयी सूचना नहीं देती। हमारे पास पहले ही मन के सम्बन्ध में बहुत-सी सूचनाएँ हैं, ऐसी सूचनाएँ जो न तो दार्शनिकों की युक्तियों से प्राप्त होती हैं न उनसे परिवर्तित होती हैं। इस पुस्तक में जो युक्तियाँ दी गयी हैं उनका उद्देश्य मन से सम्बन्धित हमारे ज्ञान में वृद्धि करना नहीं, बल्कि पहले ही से प्राप्त ज्ञान के तर्कीय भूगोल में संशोधन करना है। विट्गेंस्टाइन ने 'फिलासफिकल इन्वेस्टीगेशंस' में लिखा है : दार्शनिक का कार्य एक विशेष उद्देश्य के लिए अनुस्मारक एकत्रित करना है।' (127) दार्शनिक समस्याओं का समाधान नवीन सूचना देने से नहीं, बल्कि प्राप्त ज्ञान को व्यवस्थित करने से होता है, भाषा द्वारा उत्पन्न भ्रमजाल के विरुद्ध दर्शन एक युद्ध है (109)।[1]

किन्तु भाषिक स्पष्टीकरण का स्वरूप क्या है ? पूर्ववर्ती विट्गेंस्टाइन के अनुसार अस्पष्ट वाक्यों का विश्लेषण सरल वाक्यों में और मूर के अनुसार स्पष्ट तथा निश्चित वाक्यों में होता है। तर्कीय अनुभववादियों के अनुसार वस्तु वाक्यों का इन्द्रिय प्रदत्त वाक्यों में अनूदित होना आवश्यक है। तर्कीय अणु-

---

1. The work of the philosopher consists in assembling reminders for a particular purpose" PI, 127. "the problems are solved, not by giving new information, but by arranging what we have always known. Philosophy is a battle against the bewitchment of our intelligence by means of language." PI, 109.
   Philosophy simply puts everything before us, and neither explains nor deduces anything...."
   PI, 126.

वाद एवं तर्कीय अनुभववाद दोनों विश्लेषण का नव-स्तरीय रूप (new-level analysis) स्वीकारते हैं। इस विश्लेषण में कई कठिनाइयाँ हैं, और इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि यह पूर्णतः कृत्रिम एवं प्रागनुभविक मान्यताओं पर आधारित है। इसमें भाषा की विविवता की उपेक्षा की जाती है। इन दर्शनों ने दर्शन को भाषा विश्लेषण तो माना किन्तु इन्होंने भाषा विश्लेषण के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा। साधारण भाषा दर्शन शब्दों एवं वाक्यों के वास्तविक प्रयोगों का वर्णन है। विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याएँ इसलिए उत्पन्न होती हैं कि हम वास्तविक प्रयोगों की उपेक्षा करते हैं, शब्दों को वास्तविक सन्दर्भों से बाहर लाकर उनके विषय में चिन्तन करते हैं।" हमारे पास भाषा का स्पष्ट दृश्य नहीं रहता (फि० इ० 122)। शब्दों के विभिन्न प्रयोगों का वर्णन करने से ही दार्शनिक समस्याओं का समाधान या निराकरण सम्भव है। किन्तु इस विषय में विट्गेंस्टाइन की चेतावनी महत्त्वपूर्ण है : "कोई एक दार्शनिक विधि नहीं है, विधियाँ अवश्य हैं, जैसे विभिन्न चिकित्साएँ हैं।"[1] साधारण भाषा दार्शनिकों का लेखन देखते हुए यह और स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि वे सभी साधारण भाषा एवं शब्दों के वास्तविक प्रयोगों को अपनाते हैं किन्तु उनका प्रयोग अपने विशिष्ट ढंग से करते हैं।

इस प्रकार दार्शनिक क्रिया के कई उद्देश्य हैं। विट्गेंस्टाइन के अनुसार इसका उद्देश्य दार्शनिक समस्याओं का, जो वास्तव में व्याकरणात्मक या भाषिक भ्रममात्र हैं, निराकरण करना है। यह निषेधात्मक लगता है। किंतु विट्गेंस्टाइन के अनुसार यह केवल निरर्थकता का निषेध है। जान विजडम के अनुसार दार्शनिक विरोधाभासों से केवल भाषिक भ्रांति का ही नहीं भाषिक विचक्षणता (linguistic penetration) का भी ज्ञान होता है। उनके द्वारा उन शब्दों की ओर आकर्षित होता है जो साधारण भाषा द्वारा प्रच्छन्न समताओं एवं भेदों को व्यक्त करते हैं। आक्सफोर्ड दार्शनिकों के अनुसार भाषा विश्लेषण का चिकित्सीय प्रयोग दर्शन का केवल एक भाग है। इसके अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भी है। सभी दार्शनिक समस्यायें मात्र भ्रम नहीं हैं। भाषा विश्लेषण द्वारा महत्त्वपूर्ण समस्याओं का समाधान हो सकता है। राइल ने मानसिक संप्रत्ययों का, स्ट्रासन ने व्यक्ति के संप्रत्यय का विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार वार्नाक, अर्मसन, हार्ट, ग्राइस, हैम्पशायर, हेयर आदि ने विभिन्न समस्याओं का

---

1. There is not a philosophical method, though there are indeed, methods like different therapies.'' PI. 133.

समाधान साधारण भाषा के विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया है। आस्टिन की मान्यता है कि उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों के अतिरिक्त भाषा विश्लेषण अपने आप में महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

क्या इसका यह अर्थ है कि भाषा विश्लेषण मात्र शाब्दिक विश्लेषण है और तथ्यों पर इससे कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। रसल ने 'माई फिलासाफिकल डेवलपमेंट' में लिखा है कि विट्गेंस्टाइन गम्भीर चिंतन से थका प्रतीत होता है, और उसने ऐसे सिद्धांत निकाले हैं, जिनसे ऐसे चिंतन की आवश्यकता नहीं रह जाती है। रसल ने यह भी लिखा है कि भाषिक दार्शनिकों के अनुसार जगत् को समझने की इच्छा एक बीती हुई मूर्खता है। इस आलोचना का एक आधार 'भाषिक' शब्द का प्रयोग है। यदि भाषिक दर्शन का गम्भीरता से अध्ययन किया जाय तो ऐसी भ्रांतियां सहज ही उत्पन्न हो सकती हैं। दार्शनिक समस्याओं को भाषिक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ये व्याकरण, भाषाशास्त्र, स्वर-विज्ञान, अलंकार शास्त्र, छन्द शास्त्र आदि की समस्याएँ हैं।[1] इन्हें 'भाषिक' कहने से एक प्रकार की भ्रान्ति होती है और अर्थ, संप्रत्यय या तर्क-वाक्य की समस्याएँ कहने से दूसरे प्रकार की। इस प्रकार 'विश्लेषण' के प्रयोग से यह सोचा जा सकता है कि दार्शनिक का कार्य प्रयोग-शाला या पुलिस में कार्य करने की भाँति है। राइल के अनुसार दार्शनिक के कार्य की तुलना जासूस या रसायन-शास्त्री की अपेक्षा मानचित्रकार के अधिक निकट है।[2]

वास्तव में भाषा दार्शनिक की समस्याएँ अधिकतर वही हैं जो उसके पूर्वजों की थीं। केवल उन्हें समझने एवं हल करने की दृष्टि में मौलिक एवं क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। इससे सभी सहमत होंगे कि दर्शन का विषय संप्रत्ययात्मक विश्लेषण है। दार्शनिक संप्रत्ययों और कोटियों की बात करता है। किंतु संप्रत्ययों की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से ही होती है। उनकी अपरोक्षा-नुभूति नहीं होती, न उन्हें अन्तर्दृष्टि या मानसचक्षु से देखा जा सकता है। स्पष्ट है संप्रत्ययों का अध्ययन उन शब्दों के अध्ययन से ही सम्भव है, जिन्हें इन्हें व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है। दार्शनिक शब्दों में केवल शब्दों के लिए रूप में रुचि नहीं लेता। अतः भाषिक विश्लेषण मात्र शाब्दिक अध्ययन

---

1. G. Ryle, "The Theory of Meaning" published in *British Philosophy in the Mid-century*, p 263.
2. वही, पृ० 264.

नहीं है। संप्रत्ययों का स्पष्टीकरण उन समस्याओं का स्पष्टीकरण भी है जो मात्र भाषिक नहीं हैं। जो समस्याएँ केवल भाषिक अन्धता पर आधारित हैं, उनका निराकरण होता है और वास्तविक समस्याओं का—यदि तथ्यात्मक साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है, समाधान। एक उदाहरण लीजिए : ऐच्छिक कार्यों का अध्ययन करते समय प्राय: दार्शनिक दो ही शब्दों—'ऐच्छिक' और 'अनैच्छिक' पर ध्यान देते हैं। उनके अनुसार कोई कार्य या तो ऐच्छिक है या फिर अनैच्छिक। किन्तु आस्टिन ने अनेक शब्दों की ओर ध्यान दिया है जिनका क्रियाओं के विशेषण के रूप में प्रयोग किया जाता है : 'जान-बूझकर', 'साभिप्राय', 'सप्रयोजन', जानते हुए आदि तथा 'संयोग से', भूल से' 'असावधानी से' 'अनजाने से', 'बलात्' इत्यादि। यह सोचा जा सकता है कि इन शब्दों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह होगा कि इन शब्दों का प्रयोग व्यर्थ ही होता है, इनसे कोई संप्रत्ययात्मक अन्तर नहीं पड़ता। स्पष्ट ही यह बहुत बड़ी भूल है। शब्दों के वास्तविक प्रयोगों के वर्णन के आधार पर भाषिक दार्शनिकों ने अनेक परम्परागत दार्शनिक समस्याओं का समाधान किया है (उनके निष्कर्षों से सहमत होना आवश्यक नहीं है) जिनका ज्ञान उसकी पुस्तकों एवं लेखों को पढ़ कर ही किया जा सकता है।

साधारण भाषा :

साधारण भाषा दर्शन, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, मुख्यतया साधारण भाषा की परीक्षा पर आधारित है। जो दार्शनिक इस दर्शन की आलोचना करते हैं उनकी बातें बहुत स्पष्ट नहीं हैं। यदि इस दर्शन की उत्पत्ति एवं हेतुओं पर ध्यान दिया जाय तो स्थिति काफी साफ हो जाती है। जब विट्गेंस्टाइन ने ट्रैक्टेटस में लिखा कि साधारण भाषा पूर्णत: ठीक है तो उसका उद्देश्य यह था कि साधारण भाषा अपने कार्य-तथ्यों के चित्रण में सक्षम है। साधारण भाषा को किसी कृत्रिम भाषा से हटाने की आवश्यकता नहीं है। निश्चित ही साधारण भाषा द्वयर्थक एवं अस्पष्ट है और अपने तर्कीय आकार को आच्छादित करती है; और इन आकारों को स्पष्ट करने के लिए वाक्यों का सरल वाक्यों में विश्लेषण आवश्यक है, किन्तु साधारण भाषा के वाक्य तथ्यों के परोक्ष चित्र हैं। इस प्रकार साधारण भाषा को ठीक कहने का एक तात्पर्य आकारित भाषा से इसकी तुलना करना है। कारनप और क्वाइन ने ऐसी कृत्रिम भाषाओं की रचना की जिसके अनुसार साधारण भाषा तर्कीय मापदण्डों पर खरी नहीं उतरती। कारनप और क्वाइन ने फ्रेंगे एवं रसल की परम्परा को आगे बढ़ाया है। इनकी

तर्कीयकंकाल-भाषा में प्रत्येक पद एवं वाक्य का अर्थ पूर्णतः निश्चित है। यह भाषा नहीं है, किन्तु इसी कारण यह भाषा साधारण भाषा से श्रेष्ठ मानी गयी है। इस भाषा द्वारा संप्रत्ययों को साधारण भाषा की कमियों एवं उलझनों से मुक्त कर उनका स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु ये संप्रत्यय हमारी रोज-रोज की बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त होते हैं। विट्गेंस्टाइन के शब्दों में इनका घर साधारण भाषा है। ये संप्रत्यय स्वयं जटिल हैं। अतः इनका स्वरूप कृत्रिम भाषा के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता। यदि साधारण भाषा जटिल, द्वयर्थक, अस्पष्ट है तो इसका कारण यह है कि संप्रत्यय स्वयं जटिल एवं अस्पष्ट हैं। भाषा को कृत्रिम ढंग से आकारिक बनाकर संप्रत्ययों को सरल बनाया जा सकता है, किन्तु उनसे सम्बन्धित समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। स्ट्रॉसन के अनुसार यदि हम किसी जानवर की आदतों एवं जीवन का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें उसके प्राकृतिक आवास में उसके व्यवहार का अध्ययन करना चाहिए। किसी कृत्रिम माडेल के आधार पर यह नहीं किया जा सकता। यही बात हमारे संप्रत्ययों पर लागू होती है। "यदि हम जानना चाहते हैं कि वे कैसे कार्य करते हैं तो उन्हें कार्य करते हुए देखना आवश्यक है।"[1] यदि तर्कीय अणुवादी एवं तर्कीय अनुभववादी विश्लेषण में असफल हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि साधारण भाषा दोषयुक्त है, बल्कि उनके विश्लेषण का प्रोग्राम त्रुटिपुर्ण, कृत्रिम एवं अपर्याप्त है। संप्रत्ययों का वास्तविक स्वरूप तभी जाना जा सकता है जब उन शब्दों एवं वाक्यों के वास्तविक प्रयोगों को स्पष्ट किया जाय, जिनमें उनकी अभिव्यक्ति होती है। 'फिलासाफिकल इनवेस्टीगेशंस' 'कान्सेप्ट आव माइंड', 'इंडीविजुअल्स', 'फिलासाफिकल पेपर्स' तथा 'सेंस एण्ड सेंसिबिलिया' में विट्गेंस्टाइन, राइल, स्ट्रासन और आस्टिन ने विभिन्न प्रकार के संप्रत्ययों का उनके वास्तविक प्रयोगों के आधार पर स्पष्टीकरण किया है।

आश्चर्यजनक रूप से साधारण भाषा के विरोध में दो विरोधी आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। एक ओर कहा जाता है कि भाषिक दार्शनिक साधारण भाषा को पवित्र मानते हैं और वे रूढ़िवादी हैं क्योंकि वे भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन या संशोधन सम्भव नहीं मानते। दूसरी ओर कहा जाता है कि साधारण भाषा निरन्तर परिवर्तनशील तथा अस्थिर है तथा उसके आधार पर संप्रत्ययों का स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। ये आपत्तियाँ उचित नहीं

---

1. P. F. Strawson, "Construction And Analysis" published in the *Revolution in philosophy*.

हैं। भाषिक दार्शनिक न रूढ़िवादी हैं, न साधारण भाषा को पवित्र मानते हैं। विट्गेंस्टाइन तथा आस्टिन दोनों के अनुसार जहाँ नवीन तथ्य या नवीन भेद दिखें उनके लिये नवीन शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। शब्दों के नवीन पारिभाषिक अर्थों की भी आवश्यकता पड़ती है। किन्तु दार्शनिक शब्दों का असाधारण प्रयोग बिना किसी आवश्यकता के करते हैं। शब्दों का असाधारण प्रयोग, या सभी प्रयोगों पर ध्यान न देना, या कुछ शब्दों पर ध्यान देना ही गलत दार्शनिक समाधानों या समस्याओं का मूल कारण है। इसी प्रकार साधारण भाषा आवश्यकतानुसार ही विकसित एवं परिवर्धित होती है। अतः उससे जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उन पर विचार करना आवश्यक है।

साधारण भाषा का विश्लेषण इस कारण आवश्यक है कि उसी से दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। 'काल', 'दिक्', 'कारण', 'आगमन', 'उत्तरदायित्व', 'सद्गुण', 'अच्छा', 'बुरा', 'सुन्दर', 'असुन्दर', 'मन', 'मानसिक', 'सोचना', 'समझना', 'सुख', 'दुःख', 'संवेदन', 'बुद्धि', 'बौद्धिक' इत्यादि संप्रत्ययों का साधारण भाषा में प्रयोग होता है। उन्हीं के सम्बन्ध में दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अतः उनका निराकरण या समाधान तभी हो सकता है, जब उनके प्रयोगों का स्पष्ट विवरण हमारे समक्ष हो। किन्तु विट्गेंस्टाइन यह नहीं कहता कि सभी समस्याएँ साधारण भाषा से ही उत्पन्न होती हैं। विशेष क्षेत्रों में, कृत्रिम भाषाओं में भी, समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। विट्गेंस्टाइन ने गणित में ऐसी ही समस्याओं पर विचार किया है।[1] मूल बात यह है कि भाषा चाहे जैसी हो, प्राकृतिक या कृत्रिम, जब कोई समस्या है तो उसका निराकरण या समाधान उससे सम्बन्धित शब्दों का उस भाषा में वास्तविक या मानक प्रयोग दिखाकर ही किया जा सकता है। असाधारण या परिभाषिक शब्दों के भी साधारण या भ्रामक प्रयोग होते हैं, उन्हीं से उनका अर्थ निर्धारित होता है, अतः उनके वर्णन से ही समस्या पर प्रकाश डाला जा सकता है। यहाँ एक बात और स्पष्ट होती है। दार्शनिक की रुचि केवल शब्दों में नहीं, बल्कि शब्दों के वास्तविक प्रयोगों में है। और साधारण प्रयोग का तात्पर्य सामान्य व्यक्तियों द्वारा प्रयोग नहीं, बल्कि साधारण, मानक या वास्तविक सन्दर्भों में प्रयोग है। यह आपत्ति कि भाषा विचारों एवं प्रत्ययों को व्यक्त करने में अक्षम है, सभी भाषाओं पर लागू होती है और तथ्यों से ही स्पष्ट है कि भ्रांतियों पर आधारित

---

1. G. Ryle, "Ordinary Language."

हैं एवं गलत हैं।[1]

भाषा के विविध कार्य एवं शब्दों के वास्तविक प्रयोग :

तर्कीय अनुभववाद एवं तर्कीय अणुवाद के अनुसार भाषा का मूल प्रयोग तथ्यों का वर्णन करना और भाषिक रूढ़ियों का विवरण देना है। विट्गेंस्टाइन ने 'ब्ल्यू एण्ड ब्राउन बुक्स' तथा 'फिलासाफिकल इन्वेस्टीगेशंस' में इस मिथ्या धारणा का खण्डन किया। "कितने प्रकार के वाक्य हैं ?·····वे अनेक प्रकार के हैं। 'प्रतीकों', 'शब्दों', 'वाक्यों' के अनेक विभिन्न प्रयोग हैं और यह विविधता निर्धारित नहीं है।" (फि० इ० 23) वह शब्दों की तुलना औजारों एवं खेतों से करता है। जैसे इनके अनेक प्रकार और कार्य हैं एवं उनमें केवल 'पारिवारिक साम्य' है वैसे ही शब्दों के भी। यह सोचना गलत है कि उनमें कुछ अवश्य ही सामान्य हैं। वह कहता है : "सोचो मत, देखो" (फि० इ० 66)। भाषा जीवन का अंग है और उसी की तरह जटिल तथा विविध है। उसके कुछ कार्य हैं : वर्णन, मूल्यांकन, क्रियात्मकता, विश्लेषण, निगमन, अभिव्यक्ति, व्याख्या, उत्तेजित करना, अर्थान्वित करना इत्यादि-इत्यादि। भाषा निर्धारित नियमों या गणित के आदर्श पर कार्य नहीं करती। स्वयं नियम सार्थक होने के लिए प्रयोगों पर निर्भर हैं। वास्तविक सन्दर्भों को देखकर ही भाषा के कार्यों का पता चलता है। आस्टिन ने इन अनेक प्रकारों के व्यवस्थित वर्गीकरण एवं वर्णन को आवश्यक माना है। उसने स्वयं अनेक प्रकारों का वर्गीकरण किया है और उनकी मानसिक शक्ति का विश्लेषण किया है। राइल ने 'प्राप्तिशब्दों', 'कार्यशब्दों' तथा 'प्रक्रीय शब्दों' का अध्ययन किया है। अर्मसन ने 'आन ग्रेडिंग' में मूल्यांकन शब्दों का विवेचन किया है। हेयर, नोवलस्मिथ तथा टाल्मिन ने नैतिक शब्दों की तार्किक शक्ति का विश्लेषण दिया है। इस विविधता को देखते हुए इस कथन का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है : 'प्रत्येक कथन का तर्कशास्त्र अलग है'।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण कथन है : 'अर्थ मत पूछो, प्रयोग पूछो' प्रायः समझा जाता है कि : 1. शब्द का अर्थ वस्तु है, 2. वाक्य का अर्थ तथ्य है 3. सामान्य पद का अर्थ प्रत्यय है और अर्थ की क्रिया मानसिक है। साधारण भाषा दार्शनिक इन सभी का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार शब्द का अर्थ प्रयोगों पर निर्भर करता है। मूल प्रश्न है : शब्दों का प्रयोग किन सन्दर्भों में

---

1. Alice Ambrose, "The problem of Linguistic Inadequacy" reprinted in *Philosophical Analysis* ed. by M. Black.

किया जाता है ? उनका घर क्या है ? साधारणतया उनका प्रयोग कैसे होता है ? उन्हें हम कैसे सीखते हैं ? विशेष उद्देश्यों के लिए नवीन अर्थ दिये जा सकते हैं किन्तु विशेष उद्देश्यों के लिए ही। शब्द का अर्थ वस्तु नहीं है, क्योंकि वस्तु के अभाव में भी शब्द सार्थक है। राइल ने भी इस 'फोडो-फीडो'[1] सिद्धांत की आलोचना की है। वार्नाक ने[2] सत्यापन सिद्धांत की आलोचना करते हुए दिखाया है कि अर्थ और सत्य भिन्न-भिन्न हैं। सत्य की दशाएँ अर्थ की दशाएँ नहीं हैं। अनेक वाक्य जो सत्य या असत्य नहीं हैं, सार्थक हैं। स्ट्रासन ने 'आन रेफरिंग' में अर्थ और सत्य की भिन्नता दिखायी है। विट्गेंस्टाइन के अनुसार जिस प्रकार विभिन्न खेलों में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जो सामान्य हो वैसे ही शब्दों के विभिन्न प्रयोगों में कोई सामान्य तत्त्व नहीं है। जिसे प्रत्यय मानकर शब्द का अर्थ निर्धारित किया जाय। डो० एफ० पियर्स[3] ने 'यूनीवर्सल्स' में सामान्य प्रत्ययों का खंडन किया है। शब्दों के विभिन्न प्रयोगों में केवल 'पारिवारिक साम्य' होता है। विट्गेंस्टाइन ने यह भी दिखाया है कि शब्दों का अर्थ मानसिक क्रिया पर नहीं; सन्दर्भों पर निर्भर करता है। तर्कीय दृष्टि से वैयक्तिक भाषा या अर्थ असम्भव है।

तत्त्वमीमांसा :

भाषिक दर्शन जान बूझकर किसी प्रोग्राम के आधार पर, तत्त्वमीमांसा का खंडन नहीं करता। वार्नाक के अनुसार यह दर्शन तत्त्वमीमांसा की उपेक्षा भले ही करता हो, किन्तु इसका विरोधी नहीं है।[4] निश्चित ही भाषिक दार्शनिक किसी विश्व-दृष्टि की रचना नहीं करते, किन्तु उसका मूल्य मानते हैं।

विट्गेंस्टाइन के अनुसार तत्त्वमीमांसा निरर्थक है, किन्तु तुच्छ नहीं। विज़डम के अनुसार इनका सम्बन्ध भाषिक अर्न्तदृष्टि से है। लेजरोवित्श के अनुसार तत्त्वमीमांसा के सिद्धांत अचेतन मन की अभिव्यक्ति है। स्ट्रासन अन्य भाषिक दार्शनिकों से अधिक तत्त्वमीमांसा का समर्थक है। उसके अनुसार

---

1. G. Ryle. "The Theory of Meaning"
2. Warnock. 'Verification and the use of Language" 1951.
3. D. F. pears, "Universals,' collected in Logic and Language, ed. by A. G. N. Flew.
4. Warnock, *English philosophy since 1900*, p. 160.

तत्त्वमीमांसा दो प्रकार की होती है : परिकल्पनात्मक या संशोधक (speculativ or revisionary) और वर्णनात्मक (descriptive) परिकल्पनात्मक दर्शन असम्भव है किन्तु वर्णनात्मक सम्भव ही नहीं आवश्यक है। स्ट्रासन का आदर्श कांट है। अनुभव के कुछ अनिवार्य सम्प्रत्यय हैं। उनके स्वरूप एवं सम्बन्धों का विश्लेषण वर्णनात्मक तत्त्वमीमांसा है। इस सम्बन्ध में स्ट्रासन एक सीमा के बाद साधारण भाषा से आगे जाने की भी बात करता है।[1]

उपरोक्त सामान्य विवरण के बाद हम दोनों धाराओं के एक-एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों के सिद्धांतों का संक्षेप में उल्लेख करेंगे जिससे इनका कुछ विस्तृत ज्ञान हो सके। प्रथम हम विट्गेंस्टाइन का और बाद में आस्टिन का दर्शन लेंगे।

लुडविग विट्गेंश्टाइन (1889–1951)

विट्गेंश्टाइन ने ट्रैक्टेटस की भूमिका में लिखा : मेरा मत है कि समस्याओं का अन्तिम रूप से समाधान कर दिया गया है। इसके पश्चात् वह दर्शन से विरत हो गया। किन्तु कुछ समय बाद उसका विश्वास बदलने लगा, और 1933 के बाद से उसके चिंतन में एक पूर्णतः नया मोड़ आया। पहले अपने लेक्चर्स में (जो 'ब्लू ऐण्ड ब्राउन बुक्स' नाम से प्रकाशित हुए हैं) और फिर 'फिलासाफिकल इन्वेस्टीगेशंस' में उसने जिस दर्शन का प्रारंभ किया वह पूर्ववर्ती दर्शनों से पूर्णतः भिन्न है। इसमें मूलतः प्रश्न वही हैं जो ट्रैक्टेटस में थे, किन्तु उनके उत्तर नितान्त भिन्न हैं। इसमें ट्रैक्टेटस कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का खण्डन है और भाषा के सम्बन्ध में पूर्णतः नवीन व्याख्यायें हैं। 'फिलासाफिकल इन्वेस्टीगेशंस' सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध पुस्तक नहीं है। उसमें चर्चित विषय 'इधर-उधर सभी दिशाओं में फैले हैं।' विट्गेंश्टाइन के अनुसार यह पुस्तक विभिन्न दृश्यों एवं चित्रों की अल्बम मात्र है। हम यहाँ तीन भागों में विट्गेंश्टाइन के विचारों का विवरण देंगे : भाषा, दर्शन तथा संवेदन।

भाषा

विट्गेंश्टाइन 'ट्रैक्टेटस, में माना था कि प्रत्येक सरल वाक्य का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट एवं निश्चित होता है। 'इंवेस्टीगेशंस' में वह बताता है कि यह मात्र

---

1. P. F. Strawson, Individuals, preface.

'पूर्वाग्रह' है, वास्तविक विश्लेषण का परिणाम नहीं (फि० ई० 108)। वह लिखता है[1] :

'जो व्यक्ति दार्शनिक उलझन में पड़ा है, उसे किसी शब्द के प्रयोग में एक नियम दिखाई पड़ता है।' (ब्ल्यू एण्ड ब्राउन बुक्स, पृ० 27)।

'हम कहना चाहते हैं कि तर्कशास्त्र में कोई अस्पष्टता नहीं हो सकती। यह विचार हमें इस तरह जकड़ लेता है कि यह आदर्श वास्तव में 'अवश्य' है।' (फि० इ० 101)

'जब यह मानते हैं कि हमारी वास्तविक भाषा में यह नियम होना चाहिए, हम 'वाक्यों', 'शब्दों' 'चिह्नों' से असंतुष्ट हो जाते हैं। वाक्य और शब्द जिनसे तर्कशास्त्र का सम्बन्ध है, शुद्ध और स्पष्ट समझे जाते हैं और हम अपना दिमाग चिह्नों के वास्तविक स्वरूप में उलझाये रहते हैं।' (फि० इ० 105)।

उनके अनुसार 'अर्थ' या 'वाक्य' की पूर्णतः सुनिश्चित सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। यदि हम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर वास्तविक प्रयोगों को देखें तो पायेंगे कि वास्तविक भाषा इन नियमों के अनुसार नहीं है। 'निश्चित' शब्द मूल्यात्मक है और अलग-अलग सन्दर्भों में इसका अर्थ भिन्न है इसी प्रकार सरल वाक्यों के सम्बन्ध में वह मानता है कि यह कहान है कि प्रत्येक वाक्य का विश्लेषण सरल वाक्यों में हो सकता है और प्रत्येक स्थिति में सरल वाक्यों का अर्थ वही है जो मूल्य वाक्य का।

'ट्रैक्टेटस' में दी गई अर्थ की धारणा भी गलत है। वहाँ विट्गेंस्टाइन

---

1. "The man who is philosophically puzzled sees a law in the way a word is used, and in trying to apply this law consistently, comes up against cases where it leads to paradoxical results." BB, p. 27.

"We want to say that there cann't be any vagueness in logic. The idea now absorbs us that the ideal 'must' be found in reality." PI, 109.

"When we believe that we must find that order, must find the ideal, in our actual language, we become dissatisfied with what are ordinarily called 'propositions', 'words', 'Signs'." PI, 105.

ने माना था कि शब्द का अर्थ वह वस्तु है, जिसके लिए इसका प्रयोग होता है। नाम का अर्थ वस्तु है। अब वह मानता है कि वस्तु निर्देश है, अर्थ नहीं। आगस्टाइन का उदाहरण देते हुए वह इसका स्पष्टीकरण देता है। वस्तुओं के लिए शब्दों का प्रयोग भाषा का एक कार्य है, सम्पूर्ण कार्य नहीं। बहुत से शब्द किसी वस्तु का निर्देश नहीं करते। 'लेकिन' 'और' 'है' 'शायद' इत्यादि का प्रयोग वस्तुओं के लिए नहीं होता। केवल विस्मयसूचक शब्दों की विविधता देखिये :

पानी !
दूर !
ओह !
मदद !
सुन्दर !
नहीं !

क्या ये नाम हैं (फि० इ० 27) ? किन्तु जिन शब्दों का प्रयोग वस्तुओं के नाम के रूप में होता है, उनके अर्थ भी वस्तुएँ नहीं हैं। यदि 'राम' का अर्थ राम व्यक्ति है तो उसकी मृत्यु के पश्चात् यह शब्द निरर्थक हो जायगा। किन्तु ऐसा नहीं है। इसी तरह यह कहना ठीक है कि 'राम मर गया', किन्तु 'राम' का अर्थ 'मर गया' गलत है। अतः अर्थ वस्तु नहीं हैं। विट्गेंस्टाइन के अनुसार[1] अधिकतर स्थितियों में—यद्यपि सबके लिए नहीं—जिनमें 'अर्थ' का प्रयोग होता है, इसकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है : किसी शब्द का अर्थ भाषा में उसका प्रयोग है।' (फि० इ० 43)।

विट्गेंस्टाइन इस धारणा का भी खण्डन करता है कि अर्थ मानसिक क्रिया है। तो यह संभव होना चाहिए कि 'हम' 'अ-ब-स' कहें और हमारा अर्थ हो 'मौसम सुन्दर है'। किन्तु ऐसा नहीं है (फि० इ०, 508)। इसी प्रकार वह कहता है कि यदि वाक्य का प्रयोग और अर्थ दोनों की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है तो बिना वाक्य के मानसिक क्रिया सम्भव होनी चाहिए। किन्तु यह सम्भव है। अतः वह लिखता है।[2] अर्थ को मानसिक क्रिया मानने से ज्यादा

1. "For a large class of cases—though not for all in which we employ the word meaning it can be defined thus : the meaning of a word is its use in the language." PI, 43.
2. "And nothing is more wrong-headed than calling meaning a mental activity." PI, 693.

गलत कुछ नहीं है' (फि० इ० 713)। किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोग पर निर्भर है। अर्थ न वस्तु है, न मानसिक क्रिया।

'ब्ल्यू एण्ड ब्राउन बुक्स' में विट्गेंस्टाइन लिखता है कि 'सामान्यीकरण की इच्छा' और 'पृथक्-पृथक् स्थितियों के प्रति घृणा की प्रवृत्ति इस मत के लिए उत्तरदायी है कि भाषा कुछ निश्चित नियमों और तर्कीय रूपों के अनुसार कार्य करती है (पृ० 17-18)। उदाहरण के लिए हम मान लेते हैं कि सभी वाक्य 'बिल्ली चटाई पर है', सभी संज्ञाएँ 'वृक्ष', सभी क्रियायें 'दौड़ना' के समान हैं और सामान्य शब्दों के निर्देश सामान्य प्रत्यय हैं। हम भूल जाते हैं कि भाषा के अनेक कार्य हैं। वह लिखता है[1] :

किन्तु कितने प्रकार के वाक्य हैं ? जैसे कथन, प्रश्न, आज्ञा ?—अनेक प्रकार हैं : जिन्हें हम 'प्रतीक', 'शब्द', 'वाक्य' कहते हैं ? उनके प्रयोग के

---

1. But how many kinds of sentences are there ? Say assertion. question, and command ? There are countless kinds : countless different kinds of use of what we call 'symbols', 'words', 'Sentences'. And this multiplicity is not something fixed, given once for all; but new types of language, new language-games, as we may say, come into existence. And others become obsolete and get forgotten. (we can get a rough picture of this from the changes in Mathematics.) Here the term 'language—game' is meant to bring into prominence the fact that speaking of language is part of an activity, or of a form of life.
Review rhe multiplicity of Language-games in the following examples, and in others.
Giving orders and obeying them—
Describing the appearance of an object, or giving its measurements—
Constructing an object from a description (a drawing)—
Reporting an event—
Speculating about an event—
Forming and testing a hypothesis—

अनगिनत विभिन्न प्रकार हैं और यह विविधता सदा के लिए निर्धारित नहीं है, बल्कि भाषा के नवीन प्रकार या नवीन भाषा-लेख अस्तित्व में आते रहते हैं और दूसरे पुराने पड़ जाते हैं और विस्मृत हो जाते हैं....निम्न तथा अन्य उदाहरणों में भाषा खेलों की अनेकता देखें :

'आदेश देना और उनका पालन करना—
किसी वस्तु के आभास का वर्णन करना या इसकी माप देना—
वर्णन से वस्तु की रचना करना (एक चित्र बनाना)—
किसी घटना की रिपोर्ट देना—
किसी घटना के सम्बन्ध में कल्पना करना—
किसी प्राक्कल्पना की रचना एवं परीक्षा करना—
तालिकाओं एवं चित्रों द्वारा किसी प्रयोग के परिणामों को व्यक्त करना—
कहानी लिखना और उसे पढ़ना—
नाटक करना—
धुनें गाना—
पहेलियां बूझना—
चुटकुला बनाना, कहना—
व्यावहारिक गणित में समस्याएं हल करना—
एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना—
पूछना, धन्यवाद देना, श्राप देना, अभिवादन करना प्रार्थना करना ।

—(फि० इ० 23)

Presenting the results of an experiment in tables and diagrams—
Making up a story and reading it—
Play—acting—
Singing catches—
Guessing riddles—
Making a joke; telling it—
Solving a problem in practical arthetic—
Translating from one language into another—
Asking, thanking cursing, greeting, praying."

PI, 23

हमारी भाषा जीवन का अंग है और उतनी ही जटिल है जितना हमारा जीवन या संस्कृति। "एक नयी भाषा की कल्पना एक नये जीवन रूप की कल्पना है।" (19) विट्गेंस्टाइन शब्दों के विभिन्न प्रयोगों की तुलना खेलों से करता है और वह इस तुलना से इतना अधिक प्रभावित है कि उनके विभिन्न प्रयोगों, रूपों प्रकारों को विभिन्न भाषा-खेल (Language-game) कहता है। 'खेल' शब्द का प्रयोग विभिन्न खेलों के लिए होता है, जैसे : बोर्ड के खेल, ताश के खेल, गेंद के खेल इत्यादि। ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जो इन सब में विद्यमान हो। उनमें केवल कुछ मिलती-जुलती विशेषताएँ हैं। इन्हें वह 'पारिवारिक साम्य' कहता है। यही बात किसी शब्द के विभिन्न प्रयोगों के लिए भी सत्य है। कोई ऐसा प्रत्यय या गुण नहीं है जो किसी शब्द के सभी प्रयोगों में विद्यमान रहता हो। भाषा को समझाने के लिए विट्गेंस्टाइन शब्दों की तुलना यन्त्रों से भी करता है। शब्दों के कार्य वैसे ही भिन्न-भिन्न हैं जैसे विभिन्न यन्त्रों या उपकरणों के (फि० इ०, 11)। अतः भाषा के विभिन्न स्वरूप समझने के लिए शब्दों और वाक्यों के वास्तविक प्रयोगों (सन्दर्भों) को देखना आवश्यक है। इस प्रकार का विश्लेषण व्याकरणात्मक है, किन्तु यह सतही व्याकरण नहीं बल्कि गहन व्याकरण है। इसका सम्बन्ध शब्दों के प्रयोगों, या भाषा खेलों से है। भाषा-खेल के अन्तर्गत विट्गेंस्टाइन सभी प्रकार के प्रासंगिक तत्त्वों को सम्मिलित करता है उससे शब्दों के प्रयोग, सन्दर्भ, नियम, कार्य उद्देश्य सभी आ जाते हैं। किसी शब्द का अर्थ (कुछ क्षेत्रों को छोड़ कर) उसका प्रयोग है। उदाहरण के लिए "पाँच का क्या अर्थ है ? निरर्थक है। सार्थक वाक्य है "पाँच का प्रयोग कैसे किया जाता है ?" उसके शब्दों में : भाषा एवं तत्सम्बन्धित क्रियाओं की पूर्णता को 'भाषा-खेल' कहता हूँ।" (फि० इ० 7) "इसका अनुमान नहीं किया जा सकता है कि कोई शब्द कैसे कार्य करता है। इसके प्रयोग को देखकर ही इसे सीखा जा सकता है (फि० इ० 340)"। "प्रत्येक चिह्न अपने आप में मृत है। इसे जीवन क्या देता है ?—या प्रयोग इसका जीवन है ? (फि० इ०, 432)।"

भाषा खेलों पर लिखते हुए डैविडपोल कहता है[1] कि विट्गेंस्टाइन रूढ़िवादी है और भाषा में किसी भी परिवर्तन की सम्भावना नहीं मानता। किन्तु यह गलत है। विट्गेंस्टाइन विशेष उद्देश्यों के लिए परिभाषिक शब्दों को मानता है। नये शब्द भी बनाये जा सकते हैं। वह केवल इतना कहता है कि भाषा सदैव सन्दर्भों से जुड़ी रहती है और सन्दर्भ इसका अर्थ निश्चित करते हैं।

---

1. D. pole, The Later philosophy of Wittgenstein.

दर्शन :

विट्गेंस्टाइन के अनुसार अधिकांश दार्शनिक समस्याएँ वास्तविक नहीं हैं। वे केवल व्याकरणात्मक या भाषिक भ्रान्तियाँ हैं। दर्शन[1] विज्ञान या सैद्धान्तिक व्याख्या नहीं है (फि० इ० 109)। यदि दर्शन में कोई सिद्धान्त दिया भी जाय तो सभी इससे सहमत होंगे (फि० इ० 128)। प्रत्येक वस्तु स्पष्ट रहती है अतः व्याख्या के लिए कुछ नहीं है। (फि० इ० 126)। कुछ भी गुप्त या प्रच्छन्न नहीं है (फि० इ० 435)। सभी व्याख्याओं से मुक्त होकर केवल वर्णन देना आवश्यक है (फि० इ० 109)। दार्शनिक क्रिया करते समय हम पाते हैं कि हमारे सामने सभी तथ्य रहते हैं, फिर भी हम स्पष्ट मार्ग नहीं देख पाते। दार्शनिक समस्या का रूप है : "मैं मार्ग नहीं जानता" (फि० इ० 123) विट्गेंस्टाइन ने एक बार माल्कम[2] से कहा था कि दार्शनिक भ्रांति में पड़ा हुआ व्यक्ति ऐसे मनुष्य की तरह है जो एक कमरे से बाहर निकलना चाहता है किन्तु यह नहीं जानता कि कैसे ?

विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याएँ बौद्धिक रोग या संप्रत्यात्मक बीमारी है। दर्शन का कार्य इनका उपचार करना या इनसे मुक्त होना है।[3]

---

1. "It was true to say that our considerations could not be scientific ones." PI, 109.
   "It one tried to advance these in philosophy it would never be possible to debate them, because every one would angree to them." PI, 128.
   "Since everything lies open to view there is nothing to explain", PI, 126.
   "For nothing is concealed," PI, 435."
   "we must do away with all explanation, and description alone must take its place." PI, 109.
   "philosophical problem has the form : 'I don't know my way about," PI, 123.
2. N. Malcoln. Memoir. p. 51.
3. L. Wittgenstein, Remarks on the Foundation of Mathematics. IV, p. 531. "The philosopher's treatment of a question is like the treatment of an illness. PI, 255.

"दार्शनिक प्रश्न का उपचार वैसे ही करता है, जैसे किसी रोग का (फि० इ० पृ० 255) । अत: विट्गेंस्टाइन कहता है[1] : 'दर्शन में तुम्हारा उद्देश्य क्या है मक्खी को बोतल से निकलने का रास्ता दिखाना ।" (फि० इ० 309) दर्शन का उद्देश्य भ्रांतियों, उलझनों का पूर्ण निराकरण है । इससे प्रश्न का समाधान नहीं मिलता बल्कि समस्या हो जाती है[2] ? (फि० इ० 133) ।

ये उलझनें भाषा का वास्तविक प्रयोग न समझने से उत्पन्न होती हैं । साधारण भाषा पूर्णत: ठीक है, किन्तु जब शब्दों के विभिन्न प्रयोगों की उपेक्षा की जाती है, उनका सामान्यीकरण कर दिया जाता है, या किसी प्रागनुभविक सिद्धांत द्वारा व्याख्या करने का प्रयास किया जाता है तो वास्तविक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं । दार्शनिक क्रिया करते समय हम किसी चित्र के प्रभाव में रहते हैं । भाषा हमें भ्रमित करती है (फि० इ० 115) । दर्शन का वास्तविक लक्ष्य इन भाषाजनित भ्रांतियों से मुक्त होना ।

"दर्शन भाषा द्वारा हमारी बुद्धि के सम्मोहन के विरुद्ध युद्ध है ।" (फि० इ० 109) ।

"दार्शनिक समस्याएँ तभी उत्पन्न होती हैं जब भाषा किसी इंजन की तरह विश्राम करती है, कार्य नहीं करतो ।''—(फि० इ० 132) ।

"दार्शनिक समस्याएँ तब उत्पन्न होती है जब भाषा छुट्टी पर रहती है ।" (फि० इ० 38) ।

---

1. "What is your aim in philosophy ?—To show the fly the way out of the fly—bottle," PI, 309.
   "For the clarity that we are aiming at is indeed complete clarity, But this simply means that the philosophical problem should completely disappear, PI, Sec. 133.
2. "A picture held us captive." PI, 115.
   "Philosophy is a battle against the bewitchment of our intelligence by means of language." PI. 109.
   ' The confusion which occupy use arise when language is like an engine idling, not when it is doing work." PI, 109.
   "For philosophical problems arise when language goes on holiday." PI, 38.

अर्थात् जब दार्शनिक शब्दों को उनके वास्तविक सन्दर्भों से बाहर निकाल कर उनके स्वरूप पर चिन्तन करता है, किसी तार्किक नियम के आधार पर उनकी व्याख्या करता है और वास्तविक प्रयोग पर ध्यान नहीं देता दार्शनिक समस्याएँ उठती हैं। उदाहरण के लिए हम सोचते हैं कि काल नदी की भाँति एक प्रवाह है, दिक् एक कमरे की तरह है, मन आध्यात्मिक वस्तु है, शुभ एक विशेष गुण है। अतः विट्गेंस्टाइन के अनुसार दार्शनिक समस्याओं का निराकरण शब्दों का वास्तविक प्रयोग बताकर किया जा सकता है[1] :

"जब दार्शनिक किसी शब्द—'ज्ञान', 'सत्ता', 'वस्तु', 'मैं', 'वाक्य', 'नाम' का प्रयोग करते हैं और इसका मूल रूप ग्रहण करना चाहते हैं, तो यह पूछना आवश्यक है : क्या यह शब्द कभी वास्तव में उस भाषा-खेल में, जो इसका मूल घर है, इस रूप में प्रयुक्त होता है ?—

हम शब्दों को उनके तत्त्वमीमांसीय प्रयोग से वापस प्रत्येक दिन के प्रयोग पर लाते हैं।" (फि० इ०, 116)।

किन्तु निरुद्देश्य वर्णन या सम्पूर्ण भाषा का वर्णन आवश्यक नहीं। वर्णन का उद्देश्य किसी दार्शनिक समस्या का निराकरण है और इसके लिए प्रासंगिक शब्दों एवं सन्दर्भों का वर्णन ही आवश्यक है। कभी-कभी मध्यवर्ती स्थितियों की कल्पना की जाती है, कभी सरल भाषा-खेलों की कल्पना। किन्तु विट्गेंस्टाइन के अनुसार कोई दार्शनिक विधि नहीं है (फि० इ० 133)।

संवेदन :

ऊपर हमने देखा कि विट्गेंस्टाइन के अनुसार भाषा किस प्रकार वास्तविक सन्दर्भों से जुड़ी हुई है और किस प्रकार इसे न समझने से दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इस भाग में, संक्षेप में, हम विट्गेंस्टाइन द्वारा कुछ समस्याओं का विश्लेषण देखेंगे। शब्द एवं वाक्य ध्वनियों एवं चिन्हों के रूप में मृत प्रतीत

---

1 "When philosophers use a word—'knowledge', 'being 'object', 'I', 'proposition', 'name'—and try to grasp the essence of the thing, one must always ask oneself : is the word ever actually used in this way in the language-game which is its original home ?—
What we do is to bring words back from their metaphysical to their every day use." PI, 110.

होते हैं। लगता है उन्हें जीवन मानसिक प्रक्रियाओं से मिलता है। जब हम कुछ कहते हैं तो सार्थक होने के लिए उसे मानसिक क्रिया की अभिव्यक्ति होना चाहिए। सुनने वाला उसे तभी समझ सकता है जब उनके मन से उपयुक्त क्रिया उत्पन्न हो। इस प्रकार अर्थ देने एवं समझने की क्रियाएँ मानसिक हैं। विट्गेंश्टाइन इसका खंडन करता है। उसके अनुसार 'सोचना', 'स्मरण करना', 'अनुभूति', 'समझना' इत्यादि शब्दों का प्रयोग सदैव एवं केवल मानसिक प्रक्रियाओं का निर्देश करने के लिए नहीं होता। इनका प्रयोग कुछ सन्दर्भों में होता है। इन सन्दर्भों में ही ये सार्थक हैं। विट्गेंश्टाइन मानसिक प्रक्रियाओं का निषेध नहीं करता। उसके अनुसार[1] : इस समय जो घटित हो रहा है इन परिस्थितियों में सार्थक है। परिस्थितियाँ ही इसे महत्त्व देती हैं (फि० इ०, 183)।" समझना मानसिक प्रक्रिया के घटित होने पर निर्भर नहीं है। किसी चीज का समझना इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति उसे सफलतापूर्वक पूरा कर सकता था नहीं (फि० इ०, 151)। जब भी किसी संज्ञा का प्रयोग किया जाता है हम मान लेते हैं कि इसके द्वारा किसो वस्तु का निर्देश होता है। जब भी किसी क्रिया का प्रयोग होता है, यह मान लिया जाता है कि इसका प्रयोग किसी प्रक्रिया के लिए हुआ है। जब हम इनके अनुरूप कोई निरीक्षणीय वस्तु या प्रक्रिया नहीं पाते तो मानसिक वस्तु या प्रक्रिया की कल्पना कर लेते हैं। यदि दौड़ना क्रिया है तो सोचना या समझना भी क्रिया है, और यदि इसे हम देख नहीं पाते तो अवश्य ही यह हमारे मन में घटित होती। विट्गेंश्टाइन के अनुसार इस प्रकार सोचना इन शब्दों के तर्क को न समझने के कारण ही है। इन शब्दों का वास्तविक कार्य किसी वस्तु या क्रिया का निर्देश या वर्णन करना नहीं है, बल्कि विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को व्यक्त करना है।

यह कहा जा सकता है कि यदि सोचना, समझना, अर्थ देना मानसिक क्रियाएँ न भी हों, तो कम से कम, संवेदनों के सम्बन्ध में, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे अवश्य ही मानसिक एवं वैयक्तिक हैं। विट्गेंश्टाइन इसका भी खण्डन करता है। किन्तु यहाँ एक चेतावनी आवश्यक है। जो कुछ विट्गेंश्टाइन कहता है उसे दो रूपों में लिया जा सकता है। एक रूप में यह माना जा सकता है कि वह संवेदनों का निषेध करता है और पूर्णतः व्यवहारवादी है। दूसरे रूप में वह संवेदनों का निषेध नहीं करता, केवल संवेदन-शब्दों के तार्किक रूप की व्याख्या करता है। मेरे विचार से दूसरा रूप हो अधिक उपयुक्त है।

---

1. What is happening now has significance in thease surrouud-ings. The surroundings give it its importanoe.; PI, 583.

ऐसा समझा जाता है कि संवेदन-शब्द, जैसे 'दर्द', 'क्रोध', 'मनोदशा', 'खुजली' आदि का प्रयोग विशेष संवेदन के नाम के रूप में होता है—ऐसा संवेदन जिसे केवल मैं जानता हूँ जो पूर्णतः व्यक्तिगत है। इस मत की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं :

(1) संवेदन व्यक्तिगत है, दूसरों को मेरे संवेदन का अनुभव नहीं हो सकता,

(2) संवेदन-शब्द चेतना के व्यक्तिगत विषयों का नामकरण या वर्णन करते हैं,

(3) संवेदन-शब्दों के अर्थ विशेष संवेदन हैं,

(4) केवल मैं जान सकता हूँ कि मुझे संवेदनों का अनुभव हो रहा है। दूसरे केवल अनुमान कर सकते हैं।

विट्गेंस्टाइन इनका खण्डन करता है, किन्तु वह केवल एक विशेष दार्शनिक मत का खण्डन करता है। न तो वह संवेदनों का निषेध करता है, न इस बात का कि कभी-कभी संवेदन शब्दों का प्रयोग वर्णन के लिए होता है। पहले दूसरे के ज्ञान के प्रश्न को लीजिए।[1] "यदि हम 'जानना' शब्द का साधारण अर्थ में प्रयोग करते हैं (और दूसरा प्रयोग क्या है ?) तो जब मुझे दर्द होता है तो दूसरे लोग प्रायः जानते हैं कि मुझे दर्द हो रहा है।" (फि० इ० 246) "दूसरों के संवेदन के सम्बन्ध में मैं उतना ही निश्चित हो सकता हूँ जितना किसी तथ्य के विषय में। किसी वास्तविक स्थिति में इस पर संशय करने का प्रयास कीजिये कि दूसरे व्यक्ति को दर्द हो रहा है, वह भयभीत है।" (फि० इ० 303)। विट्गेंस्टाइन का तात्पर्य यह है कि कुछ वास्तविक परिस्थितियों में मैं उतना ही निश्चित हूँ कि दूसरा व्यक्ति दर्द का अनुभव कर रहा है जितना अपने अपने विषय में। यदि कोई व्यक्ति एक कार से कुचल गया है, खून बह रहा है, छटपटा रहा है, तो मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि उसे दर्द हो रहा है। यहाँ संशय के लिए कोई स्थान नहीं (फि० इ० 288)। यह कहा

---

1. "If we are using the word 'to know' as it is normally used (and how else are we to use it ?), then other people very often know when I am in pain." PI, 246.
"Just try-in a real case—to doubt someone else's fear or pain." PI, 303.
"But I can't be in error here." PI, 288.

जा सकता है कि दूसरा व्यक्ति केवल दिखावा कर रहा है या बहाना बना रहा है। कुछ स्थितियों में यह संभव है किन्तु सभी में नहीं। बिना आधार या साक्ष्य के सन्देह निरर्थक है। संदेह की कल्पना मात्र संदेह करना नहीं।

विट्गेंस्टाइन के अनुसार कहना गलत है कि मैं जानता हूँ कि मुझे दर्द है'। किन्तु यह केवल व्याकरणात्मक व्याख्या है, तथ्यात्मक नहीं। 'जानना' और 'निश्चित होना' का प्रयोग वहीं होता है जहाँ संशय के लिए स्थान हो। किन्तु अपने विषय में कोई संशय नहीं हो सकता। यदि 'मैं जानता हूँ कि मुझे दर्द है' ठीक है तो ये प्रश्न भी ठीक हैं: 'तुम कैसे जानते हो कि तुम्हें दर्द हो रहा है?' 'क्या तुम निश्चित हो?' और ये वाक्य भी ठीक होने चाहिए : मैं सोचता हूँ कि मुझे दर्द हो रहा है, किन्तु मैं गलत हो सकता हूँ।' 'मुझे पता नहीं कि मुझे दर्द हो रहा है या नहीं।' किन्तु ये प्रश्न और कथन दोनों गलत हैं। अतः यह कहना ठीक है 'मैं जानता हूँ कि उसे दर्द हो रहा है' और 'मैं जानता हूँ कि मुझे दर्द हो रहा है' गलत है।

विट्गेंस्टाइन व्यक्तिगत भाषा की संभावना का खण्डन कर पारंपरिक सिद्धान्त की आलोचना करता है। उस सिद्धान्त के अनुसार संवेदन-शब्दों का अर्थ हमारे व्यक्तिगत संवेदनों से जुड़ा है। परिणामतः 'दर्द' तथा अन्य संवेदनों का अर्थ व्यक्तिगत है और व्यवहार तथा परिस्थितियों से पूर्णतः स्वतन्त्र है। हममें से प्रत्येक संवेदन-शब्द का अर्थ स्वयं देता है। ऐसी भाषा व्यक्तिगत भाषा होगी। विट्गेंस्टाइन के अनुसार ऐसी भाषा असंभव है। इस भाषा में संवेदन का अर्थ केवल मैं जानता हूँ और दूसरा कोई व्यक्ति इसे नहीं जान सकता। मान लीजिये मुझे कोई संवेदन होता है। मैं इसे 'द' नाम देता हूँ। फिर वैसा ही संवेदन होने पर 'द' नाम देता हूँ। किन्तु विट्गेंस्टाइन के अनुसार किस कसौटी के आधार पर मैं जानता हूँ कि यह वही संवेदन है? प्रत्यभिज्ञान के लिए कसौटी आवश्यक है अन्यथा सही और गलत में कोई भेद नहीं रहेगा (फि० इ० 258)।[1] अतः इस व्यक्तिगत भाषा में कोई नियम नहीं हो सकता—यह कोई भाषा नहीं है (260-61) तर्कीय दृष्टि से दूसरे व्यक्ति ही नहीं, मैं भी इसका अनुसरण नहीं कर सकता। यह कहा जा सकता है कि स्मृति ही इस स्थिति में कसौटी या मापदण्ड है, किन्तु विट्गेंस्टाइन के अनुसार स्मृति अपने आप में—आप मापदण्डों के अभाव में—निश्चित मापदण्ड नहीं हो सकती (फि० इ०, 265)।

---

1. "But in the present case I have no criterion of correctness" PI, 258.

यह कहा जा सकता है कि कोई चीज अवश्य है जिसके लिए 'दर्द' का प्रयोग होता है। विट्गेंश्टाइन इपका खण्डन नहीं करता, किन्तु उसके अनुसार भाषा-खेल में इसका महत्त्व नहीं है[1] :

'और बार बार तुम इस निष्कर्ष पर आते हो कि संवेदन अपने आप में कुछ नहीं है'—बिल्कुल नहीं। यह कुछ चीज नहीं है, किन्तु कुछ नहीं भी नहा है। निष्कर्ष मात्र इतना था कि जिस चोज के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता उसका उपयोग उतना ही है जितना कुछ नहीं का। हमने केवल उस व्याकरण का निषेध किया है जो हमारे ऊपर हावी होता है।' (फि० ई० 304)।

विट्गेंश्टाइन के अनुसार 'दर्द' का अर्थ दर्द भाषा-खेल से प्राप्त होता है। और दर्द व्यवहार, दर्द शान्त करने वाले व्यवहार और उन तमाम विशेषताओं का महत्त्व है जो 'दर्द' की स्थिति से सम्बद्ध हैं; व्यक्तिगत संवेदन का नहीं। संवेदनों को व्यक्तिगत कहने का केवल व्याकरणात्मक महत्त्व है। इसके आधार पर किसी दार्शनिक सिद्धान्त की रचना नहीं की जा सकती।

विट्गेंश्टाइन 'मुझे दर्द हो रहा है' और 'उसे दर्द हो रहा है' वाक्यों के व्याकरणों में अन्तर करता है। प्रथम वाक्य केवल शिष्ट दर्द व्यवहार की अभिव्यक्ति है। बच्चे को जब चोट लगतो है, वह कराहता है, चिल्लाता है। धीरे-धीरे दूसरों का अनुकरण करते हुए वह कराहने या चिल्लाने के स्थान पर केवल कहता है। 'मुझे दर्द हो रहा है।' अतः यह वाक्य न दर्द का कथन है न दर्द व्यवहार का, बल्कि शिष्ट दर्द व्यवहार है। इसका व्याकरण वैसा ही है जैसा अरे !', 'ओह !', का ! किन्तु द्वितीय वाक्य कथन है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह व्यक्तिगत संवेदन या व्यवहार का कथन है। यहाँ भी संवेदन शब्द व्यवहार एवं परिस्थिति से सम्बद्ध है। जहाँ व्यवहार की सम्भावना है वहीं संवेदन शब्द का प्रयोग होता है व्यवहार रहित वस्तु जैसे पत्थर के लिए नहीं,

---

1. "And yet you again and again reach the conclusion that the sensation itself is a nothing—Not at all. It is not a something, but not a nothing either. The conclusion was only that a nothing would serve just as well as a something about which nothing could be said. We have only rejected the grammer which tries to force itself on us here."

   PI, 303.

(फ़ि॰ इ॰ 284)। यह सत्य है कि दर्द छिपाया जा सकता है और उसका अभिनय भी किया जा सकता है, किन्तु यहाँ भी परिस्थिति ही निर्णायक होती है। इसी प्रकार हम संवेदनों के सम्बन्ध में बातें करते हैं, उन्हें नाम देते हैं। विट्गेंस्टाइन का उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि इन सबका आधार व्यक्तिगत-संवेदन नहीं, बल्कि सम्पूर्ण परिस्थिति है (फ़ि॰ इ॰ 580)[1]।

जॉन लैंगशा आस्टिन (1911-1960)

विट्गेंस्टाइन के विपरीत आस्टिन ने दर्शन का विधिवत् अध्ययन किया था और उसकी शिक्षा अरस्तू की परम्परा में हुई थी। उसे भाषा-विज्ञान का अच्छा ज्ञान था जिसका उसने अपने दर्शन में भरपूर उपयोग किया। उसका विश्वास था कि दार्शनिक समस्याएँ एवं उनके समाधान अस्पष्ट हैं और इसका मूल कारण सभी तथ्यों पर ध्यान न देकर जल्दबाजी में सिद्धान्तों की रचना करना है। उसके अनुसार दर्शन में प्रगति तभी हो सकती है, जब अनेक प्रश्न उठाये जायें, अनेक तथ्यों का सर्वेक्षण किया जाय तथा अनेक युक्तियों का विस्तार में विश्लेषण किया जाय[2]। आस्टिन का दर्शन अंग्रेजी भाषा के इतने सूक्ष्म विश्लेषण पर आधारित है कि किसी अन्य भाषा में उसे यथावत् नहीं व्यक्त किया जा सकता, न उसका संक्षिप्तीकरण किया जा सकता है। अतः इस लेख में हम केवल उसके मूल गंतव्यों को प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हम तीन विषयों पर विचार करेंगे : विधि, रचनात्मक दर्शन और आलोचनात्मक दर्शन।

विधि :

एक-दो लेखों को छोड़कर कहीं भी आस्टिन सीधे दार्शनिक समस्याओं को नहीं उठाता। पहले वह सम्बद्ध क्षेत्र का पूर्ण सर्वेक्षण करता है और केवल प्रासंगिक अवसरों पर उनका उल्लेख करता है। 'इफ्स एण्ड कैंस'[3] में उसका बयान कुछ अतिरंजित है। साधारणतया वह यही मानता है कि उसकी विधि दर्शन में निश्चित परिमाण उत्पन्न करती है, किन्तु यही एक मात्र विधि

---

1. "An 'inner process' stand in need of outward criteria.', PI, 580.
2. G. I. Warnock, "John Langshaw Austin, A Biographical sketch" collected in *Symposium on J. L. Austin* ed. by K. T. Fann, to be referred further as symposium.
3. J. L. Austin, *Philosophical papers*, pp. 153–180.

नहीं है। यह विधि उसकी रुचि एवं शिक्षा के अनुरूप थी तथा वह इससे इतना प्रभावित था कि अन्य किसी विधि की स्पष्ट कल्पना भी नहीं कर सकता था। यह विधि साधारण भाषा के विस्तृत सर्वेक्षण पर आधारित है। उसके अनुसार 'निश्चित ही साधारण भाषा अन्तिम शब्द नहीं है: सिद्धान्त में इसे सर्वत्र सम्पूरित और संशोधित किया जा सकता है एवं हटाया जा सकता है। केवल याद रखिये, यह प्रथम शब्द है।'[1] किसी भी दार्शनिक अनुशीलन के पूर्व, किसी पारिभाषिक शब्दावली की की संरचना करते समय भी, उनके स्रोत, साधारण भाषा का अध्ययन आवश्यक है। आस्टिन के अनुसार साधारण भाषा के विस्तृत एवं क्रमबद्ध अध्ययन का अपना अलग से भी महत्त्व है। इसी प्रकार वह मानता है कि हमारे व्यवहार के लिए साधारण भाषा में इतने अधिक सूक्ष्म अन्तर विद्यमान हैं कि कुर्सी पर बैठकर इनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।[2]

आस्टिन पर एक आक्षेप यह लगाया जाता है कि वह दर्शन में पारिभाषिक पदों की आलोचना करता है जबकि उसने स्वयं अनेक पारिभाषिक शब्दों की रचना की है। किन्तु यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि वह पारिभाषिक पदों का विरोधी नहीं है। वह केवल इतना मानता है कि अधिकतर पारिभाषिक पदों का प्रयोग जल्दबाजी में बिना किसी आवश्यकता के किया गया है। 'सेंस एण्ड सेंसिबिलिया' में आस्टिन ने 'सेंस-डेटा' शब्दावली का इसी आधार पर विरोध किया है। यह भी कहा जाता है कि आस्टिन साधारण भाषा को पवित्र मानता है। यह गलत है। उसके अनुसार साधारण भाषा का सभी क्षेत्रों में संशोधन एवं परिवर्धन किया जा सकता है। अत्यंत परिचित स्थितियों में भी साधारण भाषा अपर्याप्त हो सकती है। किन्तु किसी परिवर्तन के पूर्व सम्बन्धित तथ्यों का पूर्व सर्वेक्षण आवश्यक है। किसी भी संशोधन के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि किस चीज का संशोधन किया जा रहा है। इसका परीक्षण आवश्यक है कि हमें कब क्या

---

1. "Certainly then, ordinary language is not the last word, In principle it can everywhere be supplemented and improved upon and superseded. Only remember, it is the first word."

—'A plea for Excuses",

2. Austin, "The meaning of a word." p. 37.

कहना चाहिए और इसलिए इसका क्यों और क्या अर्थ है।[1] शब्द उपकरण हैं और कम से कम हमें साफ-सुथरे उपकरणों का प्रयोग करना चाहिए : 'हमें जानना चाहिए कि हमारा अर्थ क्या है और क्या नहीं है और हमें भाषा के फंदों से सावधान रहना चाहिए'।[2]

आस्टिन ने किसी निश्चित दार्शनिक विधि का प्रतिपादन नहीं किया है। किन्तु उसकी अपनी विधि का एक मोटे तौर पर वर्णन किया जा सकता है। कोई दार्शनिक या दार्शनिक-समूह पहले एक निश्चित क्षेत्र का चुनाव करता है। तब इससे सम्बन्धित पदों को एकत्रित किया जाता है—पहले सभी पदों को सोचकर उनकी सूची बनाई जाती है (सभी पदों की, केवल महत्त्वपूर्ण पदों की नहीं) फिर उनके पर्यायवाची एवं पर्यायवाचियों के पर्यायवाचियों को एकत्रित किया जाता है (शब्दकोशों एवं अदार्शनिक साहित्य से)। फिर उन वाक्यों एवं वाक्यांशों को लिया जाता है जिनमें इन शब्दों का प्रयोग होता है। दूसरी अवस्था में इन शब्दों के प्रयोगों पर आधारित कहानियाँ या वर्णन प्रस्तुत किये जाते हैं जिससे इनके अर्थ साम्य तथा वैषम्य का ज्ञान हो सके। इनके सन्दर्भ में तथ्यों की व्याख्या की जाती है। यहाँ यह दिखाना आवश्यक है कि ऊपर से जिन शब्दों का प्रयोग हो सकता है, वास्तव में उनका प्रयोग क्यों नहीं हो सकता। इस अवस्था में यह दिखाना भी आवश्यक है कि इस विषय में अन्य दार्शनिकों तथा वैयाकरणों ने क्या कहा है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में भाग लेने वाले अन्वेषकों में सहमति ही प्रामाणिकता की कसौटी है। इसीलिए आस्टिन दर्शन में सामूहिक प्रयास स्वीकार करता है। उसके अनुसार यह विधि आनुभविक एवं वैज्ञानिक है और इसके द्वारा निश्चित परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं और पारम्परिक दार्शनिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

---

1. ....'By examining what we should say when, and so why and what we should mean by it."

—"A plea for excuses." Fp. p. 129.

2. "First, words are our tools, and, as a minimum, we should use clean tools; We should know what we mean and what we do not, and we must forearm ourselves against the traps that language sets us."

—"A plea for excuses", p. 129-130.

रचनात्मक दर्शन :

आस्टिन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'इल्लोक्युशनरी फोर्स' (illocutionary force) का है, जिसका उसने 'हाऊ टु डू थिंग्स विथ वर्ड्स' में विवेचन किया है। आस्टिन ने अदर माइंड्स' (1946) लेख में 'मैं जानता हूँ' वाक्य की व्याख्या करते हुए 'पर्फार्मेंटिव अटरेंस' का विवेचन किया। इन वाक्यों को देखिये : मैं वादा करता हूँ', 'मैं इस जहाज का नाम विक्रान्त देता हूँ', 'मैं आप लोगों का अभिवादन करता हूँ'। ये वाक्य किसी तथ्य का वर्णन नहीं करते, बल्कि इनका उच्चारण करने वाला इन वाक्यों द्वारा सम्बन्धित क्रियायें भी करता है। उदाहरण के लिए, जब मैं कहता हूँ, 'मैं वादा करता हूँ' तब मैं इस वाक्य द्वारा वादा करने की क्रिया करता हूँ। ऐसा नहीं है कि मैंने वादा कर लिया है और इस वाक्य द्वारा केवल इसकी सूचना दे रहा हूँ। आस्टिन उपयुक्त सन्दर्भों में से ऐसे वाक्यों को 'पर्फार्मेंटिव अटरेंस' कहता है। इन वाक्यों की तुलना वह सूचनात्मक वाक्यों से करता है जिन्हें वह कांस्ट्रेटिव (constrative) कहता है। कांस्ट्रेटिव वाक्य तथ्यों की सूचना देते हैं तथा सत्य या असत्य होते हैं। पर्फार्मेंटिव वाक्य सत्य या असत्य नहीं होते। किन्तु बाद में आस्टिन इस अन्तर के प्रति शंकालु हो जाता है। 'पर्फार्मेंटिव अटरेंसेज' (1956) के अनुसार लगभग प्रत्येक कथन 'पर्फार्मेंटिव' कहा जा सकता है क्योंकि वर्णन के अतिरिक्त इसका कुछ प्रभाव होता है और इसका उद्देश्य प्रभाव होता रहता है। 'पर्फार्मेंटिव' कथन उत्तम, मध्यम या अन्य पुरुष में हो सकता है। 'सत्य या असत्य न होना' इसका पर्याप्त लक्षण नहीं है। फिर इसे अनिवार्य लक्षण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि सत्य के गुण इसमें भी हो सकते हैं। "मैं कहता हूँ कि........" पर्फार्मेंटिव हो सकता है किन्तु यह सत्य या असत्य है। इसी प्रकार कांस्ट्रेटिव भी पर्फार्मेंटिव में परिणत हो जाता है। इन वाक्यों को लीजिये : "मैं तुम्हें चेतावनी देता हूँ कि ट्रेन आ रही है", "मेरा अनुमान है ट्रेन आ रही है", "मैं कहता हूँ कि ट्रेन आ रही है" और "ट्रेन आ रही है"। प्रथम चेतावनी की क्रिया है, द्वितीय अनुमान की, तृतीय कथन की और चतुर्थ इनमें से सन्दर्भानुसार, कोई भी हो सकता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कांस्ट्रेटिव पर्फार्मेंटिव का ही एक उप-वर्ग है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि पर्फार्मेंटिव कथन अप्रीतिकर (unhappy) हो सकते हैं, जैसे मेरे पास घड़ी न होने पर मैं किसी को अपनी घड़ी देने का वादा करूँ। किंतु 'हाऊ टु डू थिंग्स विथ वर्ड्स' के ग्यारहवें अध्याय में आस्टिन इसका भी खण्डन करता है प्रथम, क्रिया और कथन में अन्तर नहीं किया जा सकता। दूसरा पर्फार्मेंटिव की तरह कांस्ट्रेटिव भी अनुपयुक्त या अप्रीतिकर हो सकते हैं। जैसे किसी वस्तुस्थिति का

कथन करना यदि इसमें मेरा विश्वास नहीं है। अन्त में, आस्टिन के अनुसार यह कहना गलत है कि कांस्ट्रेटिव सत्य या असत्य है "फ्रांस षड्भुजाकार है" फ्रांस का मोटे तौर पर वर्णन है, सत्य या असत्य अथवा नहीं। इन बातों के आधार पर आस्टिन ने पर्फार्मेटिव का अन्तर त्याग दिया। इसके स्थान पर उसने इल्लोक्युशनरी शक्तियों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।[1]

पूर्ण अर्थ में कुछ भी कहने के कई पहलू हैं। आस्टिन इस रूप में स्पीच ऐक्ट्स (वाक् कार्यों) को तीन वर्गों में विभाजित करता है : लोक्युशनरी ऐक्ट, इल्योक्युशनरी ऐक्ट, और पलोक्युशनरी ऐक्ट। "कुछ कहने का कार्य इस पूर्ण अर्थ में लोक्युशनरी ऐक्ट करना है"[2]। इस प्रकार लोक्युशनरी ऐक्ट का अर्थ है पूर्ण अर्थ में कुछ भी कहने का कार्य। कोई भी सार्थक कथन करना लोक्युशनरी ऐक्ट करना है। लोक्युशनरी के तीन पहलू हैं : फोनेटिक ऐक्ट, फैटिक ऐक्ट और र्‌हेटिक ऐक्ट।"[3] फोनेटिक ऐक्ट का अर्थ है 'ध्वनियों का उच्चारण, फैटिक ऐक्ट का अर्थ है "किसी भाषा के शब्दों एवं व्याकरण के अनुसार ध्वनियों का उच्चारण एवं रहेटिक ऐक्ट का अर्थ है अर्थ एवं निर्देशपूर्ण ध्वनियों का उच्चारण। कोई भी सार्थक कथन लोक्युशनरी ऐक्ट है और इसमें तीनों ऐक्ट विद्यमान हैं। इसके बाद इल्लोक्युशनरी और पर्लोक्युशनरी ऐक्ट आते हैं। लोक्युशनरी ऐक्ट करने में इल्लोक्युशनरी ऐक्ट और लोक्युशनरी ऐक्ट द्वारा पलोक्युशनरी ऐक्ट किया जाता है[4]। उदाहरण के लिए 'दरवाजा खुला है' एक लोक्युशनरी ऐक्ट है। इसका एक निश्चित अर्थ है जिसमें तात्पर्य और निर्देश निहित है। इस ऐक्ट को करने में (एक निश्चित सन्दर्भ में इस वाक्य का कथन करने में मेरा उद्देश्य कथन, संकेत, चेतावनी, सूचना, भावाभिव्यक्ति आदि हो सकता है। आस्टिन के अनुसार ये विभिन्न कार्य इल्लाक्युशनरी ऐक्ट हैं। अन्त में इल्लोक्युशनरी ऐक्ट द्वारा, अर्थात् संकेत देकर में तुमसे यह दरवाजा बन्द करवाने में सफल हो सकता हूँ। इस प्रकार इल्लोक्युशनरी एवं पर्लोक्युशनरी

1. *How to do things with Words*, ed. by Urmson. To be referred as "*Words*".
2. "The act of saying something' in this normal sense I call, i, e, dub performance of a locutionary act...." *Words*, p. 94.
3. *Words*, p. 92—('phonetic act.' 'phatic act', 'rhetic act')
4. "....to say something is to do something' or in saying something we do something, and even by saying something we do something"—*Words*, p. 94.

कार्यों में मुख्य अन्तर यह है कि पहला वाक्यों के कथन में ही पूर्ण हो जाता है, किंतु दूसरे के लिए तब तक सफलता का दावा नहीं किया जा सकता जब तक कि श्रोता पर वक्ता के शब्दों का प्रभाव न पड़े। किसी कार्य को करने के लिए तैयार करना, विक्षुब्ध कर देना, प्रसन्न करना, भ्रमित कर देना, उदास कर देना इत्यादि पर्लोक्यशनरी ऐक्ट हैं किंतु आस्टिन दोनों के अन्तर को पूर्णतः निश्चित नहीं कर पाता (बर्ड्स, पृ० 109-10)। अन्तिम अध्याय तक आते-आते पर्लोक्युशनरी ऐक्ट लगभग लुप्त ही हो जाते हैं। बहरहाल आस्टिन का मुख्य विषय इल्लोक्युशनरी ऐक्ट है।

आस्टिन इल्लोक्युशनरी ऐक्य को पाँच उपवर्गों में विभक्त करता है :

(1) वर्डिक्टिव—(verdictives) अभिनिर्णय देने का इल्लोक्युशनरी ऐक्ट, जैसे 'मुक्त करना' 'अपराधी होने का निर्णय देना', 'मूल्यांकन करना' इत्यादि।

(2) एक्सरसिटिव (exercitives)—शक्ति या अधिकार प्रयोग के कार्य, जैसे किसी को नियुक्त या वस्तु को नाम देना।

(3) कमिसिव (commissives)—वचनबद्धता के कार्य, जैसे वादा करना, प्रतिज्ञा करना, शर्त लगाना इत्यादि।

(4) बिहैविटिव (behabitives)—सामाजिक व्यवहार के कार्य, जैसे क्षमा माँगना, धन्यवाद देना, कोसना। और अन्त में

(5) एक्सपोजिटिव (expositives)—विवरणात्मक कार्य, जैसे कथन करना, उत्तर देना, वर्णन करना, सहमत होना; प्रमाणित करना इत्यादि।

आस्टिन तीनों कार्यों के सम्बन्ध के विषय में बहुत स्पष्ट नहीं है। कहीं ऐसा लगता है कि तीनों कार्यों को वह वाक्कार्य (speech act) के प्रकार मानता है (वर्ड्स पृ० 99, 101, 103, 107, 109)। किन्तु अन्त में वह कहता है लोक्युशनरी ऐक्ट और इल्लाक्युनरी ऐक्ट केवल स्पीच ऐक्ट के पहलू हैं (वर्ड्स, पृ० 144-5)। प्रत्येक स्पीच ऐक्ट दोनों हैं।[1] उसका उद्देश्य सम्पूर्ण वाक् स्थिति में पूर्ण वाक्कार्य का स्पष्टीकरण करना है।[2]

---

1. "....The locutionary act as much the illocutionary is an abstracion only : every genuine speech act is both." words. p. 146.
2. "The total speech act in the total speech situation is the only actual phenomenon which in the last resort, we are engaged in elucidatiting."—*Words*. p. 147.

आस्टिन की संक्षिप्त 'लिंग्विस्टिक फेनोमेनोलाजो' के पश्चात् एक-दो आपत्तियों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। वाल्टर कर्फ[1] के अनुसार साधारण भाषा में 'पर्फार्मिंग ऐन ऐक्ट' का प्रयोग प्रायः सर्कस तथा नाटकों इत्यादि में ही है। भाषा के विविध प्रयोगों के लिए नहीं। कोहेन[2] के अनुसार आस्टिन अर्थ एवं इल्लोक्युशनरी फोर्स में अन्तर करता है, किन्तु अर्थ से भिन्न इल्लोक्युशनरी फोर्स मानने का कोई औचित्य नहीं है। आस्टिन अर्थ का संप्रत्यय स्पष्ट नहीं करता। सम्भवतः इसीलिए वह इल्लोक्युशनरी फोर्स का अस्तित्व मानता है। यदि अर्थ को व्यापक अर्थ में लिया जाय तो इल्लोक्युशनरी फोर्स की आवश्यकता नहीं रहती। कोहेन ने इल्लोक्युशनरी फोर्स मानने के अन्य कई कारण भी दिये हैं किन्तु उसके अनुसार इनमें कोई भी संतोषजनक नहीं है।

आलोचनात्मक दर्शन :

'हाऊ टु डू थिंग्स विद वर्ड्स' में आस्टिन मुख्य रूप से वाक्कार्यों का स्पष्टीकरण करता है और पारम्परिक दार्शनिक समस्याओं का बहुत ही कम उल्लेख हुआ है। किन्तु 'सेंस एण्ड सेंसिबिलिया' में आस्टिन ज्ञानमीमांसा की एक मुख्य समस्या का स्पष्टीकरण करता है और उसकी आलोचना विशेष कर एअर, प्राइस एवं वार्नाक के विचारों पर केन्द्रित है। आस्टिन की विधि की सभी विशेषताएँ इस पुस्तक में भी विद्यमान् हैं, किन्तु उनका क्रम बदल गया है। इसमें पहले वह पारम्परिक दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख करता है और फिर भाषिक तथा अन्य वास्तविक तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए उन पारम्परिक सिद्धान्तों की कमियाँ दिखाता है।

'सेंस एण्ड सेंसिबिलिया' (आगे इसे सेंसिबिलिया लिखा जायगा) में आस्टिन भ्रमयुक्ति पर आधारित इस सिद्धान्त की परीक्षा करता है कि हम कभी अपरोक्ष रूप में जड़ वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं करते, हमारा प्रत्यक्ष केवल इन्द्रिय प्रदत्तों तक सीमित है। उसके अनुसार इस सिद्धान्त के दो मुख्य कारण हैं[3] : प्रथम, केवल कुछ शब्दों पर ध्यान देना और उनके प्रयोगों का अति-

---

1. Walter Cerf, "Critical Review of How To Do Things With Words" collected in *Symposium*.
2. L I. Cohen. "Do Illocutionary Forces Exist ?" colleced in *Symposium*.
3. "My general opinion about this doctrine is that it is a typically scholastic view, attributable, first, to an obses-

सरलीकरण, ठीक-ठीक न समझना या ठीक से वर्णन करना, और द्वितीय, केवल कुछ. अपूर्ण ढंग से विश्लेषित, तथ्यों पर विचार करना। हमारी साधारण भाषा के शब्द बहुत ही सूक्ष्म हैं तथा उनमें अनेक भेद निहित हैं। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के तथ्य बहुत ही विविध तथा जटिल हैं। दार्शनिकों ने इन दोनों की उपेक्षा की है।

सर्वप्रथम हम भ्रमयुक्ति को लेते हैं। आस्टिन के अनुसार इस युक्ति में कई गड़बड़ियाँ हैं :

(1) इसमें भ्रम (illussion) और मतिभ्रम (delusion) को मिला दिया जाता है।

(2) भ्रम की परिभाषा इस रूप में ही दी जाती है : "जहाँ जड़ वस्तु न हो वहाँ जड़ वस्तु देखना" किन्तु सभी भ्रम इस रूप में नहीं होते, उदाहरण के लिए जब एक रेखा दूसरी बराबर लम्बाई वाली रेखा से बड़ी दिखती है,

(3) भ्रम में उन उदाहरणों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है, जो भ्रम हैं ही नहीं, जैसे किसी छड़ी का जल में झुकी हुई दिखाई पड़ना। इन कमियों के बाद आस्टिन विस्तार से उन शब्दों के प्रयोग में अन्तर बताता है जिन्हें प्रायः एक ही अर्थ में लिया जाता है। उसके अनुसार 'looks' 'seems' तथा 'appears[1]' के प्रयोगों में महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं। इसी प्रकार वह 'reality' का विश्लेषण करते समय 'artificial', 'false', 'bogus' 'toy' 'synthetic', 'illusory' 'apparent' आदि शब्दों के प्रयोगों की चर्चा करता है। आस्टिन के अनुसार 'real' का कोई एक सामान्य अर्थ नहीं है क्योंकि यहाँ मुख्य महत्त्व इसके निषेधात्मक प्रयोग का है।[2] 'real' का अर्थ जिससे इसका विरोध दिखाया जाता है, उस पर निर्भर है।

आस्टिन के अनुसार पूर्णतः सत्य एवं निश्चित कथनों की खोज भी उपर्युक्त सिद्धान्त के लिए उत्तरदायी है। इसके अनुसार कथनों को दो वर्गों में विभाजित

---

sion with a few particular words, the uses of which are oversimplified, not really understood or carefully studied or correctly described; and second, to an obsession with a few (and nearly always the same) half studied 'facts.'—*Sense And Sensibilia*, p. 3.

1. Ibid., p. 5.
2. Ibid., p. 70.

करना, जिनमें एक केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का वर्णन करता है, पूर्णतः सत्य है और वस्तु-कथनों का साक्ष्य प्रस्तुत करता है, और दूसरा वस्तुओं के विषय में है जो कभी भी निश्चिन्त नहीं है, गलत है। उदाहरण के लिए "यह लाल दिखता है" कथन वापस लिया जा सकता है या संशोधित किया जा सकता है और 'यह सुअर है' पूर्णतः निश्चित हो सकता है। आस्टिन मानता है कि किसी कथन में विश्वास उसके सन्दर्भ पर निर्भर करता है, आकार पर नहीं[1]। उसके अनुसार : "प्रमाण क्या है, निश्चित क्या है, संदिग्ध क्या है, प्रश्नों का कोई सामान्य उत्तर नहीं हो सकता।"....यदि ज्ञानमीमांसा इन प्रश्नों के उत्तर में निहित है तो यह संभव नहीं[2]। सन्दर्भों के अनुसार इन प्रश्नों के उत्तर परिवर्तित होते रहते हैं।

आस्टिन उस सिद्धान्त का ही खण्डन करता है, जिसके अनुसार हम केवल इन्द्रिय-प्रदत्तों का ही प्रत्यक्ष करते हैं, वस्तुओं का नहीं। वह केवल इस मत की समर्थक युक्तियों की आलोचना नहीं करता, बल्कि इस द्वैत का भी निषेध करता है। प्रत्यक्ष के विषय किसी एक सामान्य प्रकार के अन्तर्गत नहीं आते। यह कहना निरर्थक है कि सामान्य व्यक्ति एक ही प्रकार की चीजें देखता है। हम व्यक्ति ध्वनि, नदियाँ, लपटें, इन्द्रधनुष, वाक्य छाया, प्रतिमा, शीशी क्रीम, आदि देखते हैं।[3] जिन्हें एक प्रकार में नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार यह गलत है कि हम पानी में सीधी छड़ी वैसे ही देखते हैं, जैसे पानी के बाहर झुकी हुई छड़ी। पश्चात् प्रतिमा दीवार पर पड़े रंग के धब्बे की तरह नहीं दिखती। आस्टिन यह भी दिखाता है कि जो प्रत्यक्ष ठीक नहीं होते उनके कारण हमारी इन्द्रियों के दोष, या माध्यम की गड़बड़ी या गलत रचना हैं और इन सबका एक आधार नहीं होता।

---

1. Ibid., pp. 42-43.
2. "....it would be a mistake in principle to suppose that the something could be done for knowledge in general. And this is because there could be no general answer to the question what is evidence for what, what is certain, what is doubtful, what needs or does not need evidence, can or can't be verfied, If the theory of knowledge consists in finding grounds for such an answer, there is no such thing."

   Ibid., p. 124.

3 Ibid , p. 7-8.

आस्टिन के विरोध में कहा जाता है कि उसकी विधि वास्तविक दर्शन नहीं है। आस्टिन इसका कोई उत्तर नहीं देता। जो लोग अन्य विधियों को अपनाना चाहते हैं स्वतंत्र हैं उसके विरोध में यह भी कहा जाता है कि आस्टिन द्वारा वर्णित शब्दों के प्रयोग उसकी वैयक्तिक इच्छा को व्यक्त करते हैं वास्तविक प्रयोगों को नहीं। यदि यह सत्य भी है तो इससे उसके मूल मन्तव्य का खंडन नहीं होता, केवल उसके परिणामों पर प्रश्नचिह्न लगता है।

कुछ आलोचनाएँ :

अन्त में साधारण भाषा-दर्शन के विरोध में उठाई गई कुछ आपत्तियों का संक्षेप में उल्लेख कर हम इस लेख को समाप्त करेंगे। एक आपत्ति यह की जाती है कि साधारण भाषा दार्शनिकों में कई महत्त्वपूर्ण मतभेद हैं। दो उदाहरण लीजिये। 'आस्टिन ने 'तथ्य' का प्रयोग तात्त्विक सत्ता के लिए उचित माना है किन्तु स्ट्रासन के अनुसार 'सत्य' का प्रयोग किसी तात्त्विक सत्ता के लिए नहीं होता। इसी प्रकार राइल के अनुसार 'ऐच्छिक' का प्रयोग केवल उन संदर्भों में किया जाता है, जिनमें कुछ गड़बड़ी रहती है, जहाँ कार्य वांछित नहीं होता[1], किन्तु आस्टिन के अनुसार वांछित कार्यों के लिए भी इसका प्रयोग होता[2] है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि साधारण भाषा-दर्शन अनुपयुक्त है। इसके विरोध में दो बातें कही जा सकती हैं : (1) ऐसे मतभेद सभी दर्शनों में हैं, (2) इस मतभेद का कारण यह है कि किसी एक दार्शनिक ने या सभी दार्शनिकों ने साधारण भाषा का पूर्ण विश्लेषण नहीं किया अतः यह आलोचना निराधार है।

दूसरी आपत्ति यह है कि साधारण भाषा दार्शनिकों की प्रणाली प्रागनुभविक एवं वैयक्तिक (Apriori and intuitional) है[3]। इसके अनुसार साधारण भाषा दार्शनिक मनमाने ढंग से शब्दों का चयन करते हैं और अपनी रुचि के अनुसार उनकी सैद्धांतिक व्याख्या करते हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता कि साधारण भाषा दार्शनिकों का उद्देश्य साधारण भाषा का वास्तविक यथार्थपरक विश्लेषण है। यह हो सकता है कि विश्लेषण करते समय कुछ त्रुटियाँ रह जायें। किन्तु उन्हें सभी विधि से दूर किया जा सकता है। शब्द-प्रयोग की

---

1. Ryle, "The Concept of Mind".
2. Austin, "A Plea for Excuses".
3. JJ. Katz, "The Philosophy of Language, and
C. W. K. Mundle, A Critique of Linguistic philosophy.

व्याख्या में यह खतरा अधिक है किन्तु इसका भी निराकरण प्रयोगों पर अधिक से अधिक ध्यान देकर दिया जा सकता है।

मेरे विचार से इस दर्शन के प्रति एक अधिक गंभीर आक्षेप उठाया जा सकता है, किन्तु यह आक्षेप उन सभी दर्शनों के प्रति है, जो तथ्यों की उपेक्षा कर दार्शनिक निष्कर्ष प्रतिस्थापित करते हैं। केवल भाषा-विश्लेषण या विचार-विश्लेषण के आधार पर सत्ता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा सकता। भाषा या विचार का अपना स्वतंत्र, सार्वभौम, प्रागनुभविक आकार मानना गलत है। भाषा का प्रयोग, प्रयोग करने वालों के अर्जित या सर्जित विश्वासों को व्यक्त करता है न कि सत्ता का स्वरूप। इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा सत्ता का स्वरूप व्यक्त ही नहीं कर सकती। मेरा उद्देश्य केवल यह बताना है कि भाषिक विश्लेषण के साथ-साथ अतिभाषिक साक्ष्य भी आवश्यक है।

5. विज्ञान-दर्शन

विज्ञान दर्शन का इतिहास :

विज्ञान का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से बहुत गहरा है। दोनों सदैव एक दूसरे के लिए अनिवार्य थे, किन्तु उन्नीसवीं शती से दोनों के सम्बन्ध में एक नये युग का आरम्भ हुआ। इसके पूर्व विज्ञान को प्राकृतिक दर्शन (Natural Philosophy) कहा जाता था और इस प्रकार वह दर्शन की एक शाखा था। किन्तु उन्नीसवीं शती के अन्त में प्राकृतिक दर्शन ने एक स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण किया और उसने दर्शनशास्त्र को अपने क्षेत्र से बहिष्कृत किया। बीसवीं शती में दर्शनशास्त्र का निराकरण कर दिया गया और दार्शनिकों का कर्तव्य केवल उन संप्रत्ययों का विश्लेषण करना निश्चित किया गया जो वैज्ञानिकों के लिए उपयोगी हैं। इस विश्लेषण को विज्ञान-दर्शन कहा गया। सारांश यह है कि बीसवीं शती में दर्शन विज्ञान के अधीन हो गया, ठीक वैसे ही जैसे पहले विज्ञान-दर्शन के अधीन था। यदि दर्शन के आदि और अन्त पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि 'सृष्टि विज्ञान' ही दर्शन का आदि रूप था, जिसका विकास धीरे-धीरे विज्ञान के रूप में हुआ और फिर दर्शन का अन्तिम रूप विज्ञान-दर्शन या विज्ञान का आत्मालोचन कहा जा सकता है।

वास्तव में विज्ञान की प्रगति जिस विधि से हुई है, वह सदा से दर्शनशास्त्र के अन्दर समझी जाती थी। वह ज्ञान प्राप्त करने की विधि है। इस विधि से जो विषय खोजा जाता था, वह भी मूलतः दर्शन का ही विषय था। इस प्रकार विधि और विषय दोनों को दर्शनशास्त्र से लेकर विज्ञान ने इतना विकसित किया कि अब आगे दर्शनशास्त्र का अध्ययन बिना विज्ञान की सहायता के नहीं हो सकता। एक अर्थ में विज्ञान सदैव दर्शनशास्त्र का उन्नायक रहा है। प्लेटो ने ज्यामिति को दार्शनिक चिन्तन के लिए अनिवार्य बताया था। आधुनिक विज्ञान के कारण ही देकार्ट, लाइबनित्स और लॉक के दर्शन अवतरित हुए। पुनः भौतिक विज्ञान तथा गणितशास्त्र की प्रगति से तर्कशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विकास हुए। आज जिसे 'प्रतीक तर्कशास्त्र' कहा जाता है वह वास्तव में एक तर्कगणित है, जिसने न केवल भौतिक विज्ञान और गणितशास्त्र को अभिन्न कर दिया है, अपितु तर्कशास्त्र और गणित को भी एकमेक कर दिया है। हम ज्ञान प्राप्त करने

की विधि को यदि तर्कशास्त्र कहें तो यह तर्कशास्त्र जैसे दर्शन का सर्वस्व है वैसे ही वह विज्ञान का भी सर्वस्व है। इस दृष्टिकोण से तर्कशास्त्र का सम्पूर्ण इतिहास विज्ञान का भी इतिहास है।

पुनश्च दार्शनिकगण पदार्थों का विवेचन आदिकाल से करते रहे हैं। अरिस्टाटिल के दर्शन में उन सभी पदार्थों का समावेश है, जिनको ग्रीक दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने विकसित किया था। इसी प्रकार कांट के दर्शन में उन सभी पदार्थों का विवेचन है, जिनको सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शती के विज्ञान ने विकसित किया था। उन्नीसवीं और बीसवीं शती के विज्ञान ने इन पदार्थों का पुनर्विचार किया और इसके फलस्वरूप बीसवीं शती के दर्शन में जो भी पदार्थ विवेचन किया जाता है, वह वैज्ञानिक पदार्थ विवेचन के परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है। किन्तु यह विवेचन अरिस्टाटिल और कांट के विवेचनों के ही उत्तराधिकार में है। अतः जैसे अपनी विधि के इतिहास में विज्ञान-दर्शन दर्शन का ऋणी और पुरस्कर्ता है वैसे ही वह पदार्थ विवेचन में भी दर्शन का उत्तराधिकारी और विकासकर्ता है। अरिस्टाटिल का ग्रंथ "पोस्टीरियर एनालिटिक्स, ह्यूम की कृति 'ऐन इन्क्वायरी कंसरनिंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिग्' और कांट की रचना 'द क्रिटिक आफ प्योर रीज़न' आज भी विज्ञान-दर्शन के श्रेष्ठ ग्रंथ हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर आज तक विज्ञान-दर्शन के जो श्रेष्ठ-ग्रंथ हैं, उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(1) जान स्टुअर्ट मिल रचित 'ए सिस्टम आफ लाजिक', 1843.
(2) अर्न्स्ट मख रचित 'द साइंस आफ मेकेनिक्स', 1883,
(3) कार्लपियर्सन रचित 'द ग्रामर आफ साइंस', 1892.
(4) हाइनरिख हर्त्ज रचित 'द प्रिंसिपल्स आफ मेकेनिक्स', 1894.
(5) हेनरी प्वाइन्कर रचित 'साइंस एंड हाइपोथिसिस', 1901.
(6) पी० डब्ल्यू० ब्रिजमन कृत 'लाजिक आफ माडर्न फिजिक्स', 1927.
(7) ए० एस० एडिंग्टन रचित 'द फिलासफी अफ फिजिकल साइंस', 1939.
(8) हांस राइखेनवाख रचित 'द राइज आफ साइंटिफिक फिलासफी', 1951 और 'माडर्न फिलासफी आफ साइंस' 1959.
(9) कार्ल आर० पापर रचित 'द लाजिक आफ साइंटिफिक डिस्कवरी', 1959.
(10) हर्बर्ट फाइग्ल और ग्रामर मैसवेल संपादित—'करेन्ट इश्यूज इन द फिलास्फी आफ साइंस', 1961.

इन ग्रन्थकारों के अतिरिक्त जिन अन्य वैज्ञानिकों ने विज्ञान-दर्शन को अपने योगदानों से विकसित किया है, उनमें से मुख्य हैं—क्वाइंटम थियरी के जनक मैक्स पलैंक् (1858 से 1947), वर्नर हाइसेनबर्ग (जन्म 1902) जिन्होंने विद्युत् अणुओं के व्यवहार में अनियमितता का आविष्कार किया और आल्बर्ट आइन्स्टाइन (1879-1955) जिन्होंने सापेक्षतावाद का सिद्धान्त दिया। आइन्स्टाइन बीसवीं शती के प्रमुखतम वैज्ञानिक-दार्शनिक हैं। उनके दर्शन पर विविध विद्वानों ने एक ग्रन्थ लिखा है जिसका सम्पादक प्रोफेसर पालशिल्प ने किया है और जिसका नाम अल्बर्ट आइन्स्टाइन—फिलास्फर साइंटिस्ट है। यह ग्रन्थ भी विज्ञान दर्शन का एक ग्रन्थ है।

विज्ञान दर्शन का स्वरूप :

विज्ञान दर्शन मूलतः तत्त्वमीमांसा है। यह उल्लेखनीय है कि समकालीन दर्शन ने यहाँ वितर्कात्मक तत्त्वमीमांसा का निराकरण किया है, वही समकालीन विज्ञान-दर्शन ने उसका समर्थन ही नहीं अपितु विकास भी किया है। प्रोफेसर ए० एन० ह्वाइटहेड ने 'प्रोसेज एण्ड रीयलिटी' नामक ग्रन्थ लिखकर एक वितर्कात्मक तत्त्वमीमांसा तथा नया सृष्टि विज्ञान दिया है। विज्ञान-दर्शन दृश्यमान जगत् को सत्य मानता है और उसके बारे में अनुसंधान करता है। वह सम्पूर्ण विश्व के प्रत्येक क्षेत्र के अध्ययन में संलग्न है और सही अर्थ में जगत् की वैसी ही व्याख्या कर रहा है जैसे प्राचीन ग्रीक सृष्टि वैज्ञानिकों, औपनिषद, सांख्य एवं वैशेषिक दार्शनिकों ने की थी। अतः विज्ञान दर्शन तत्त्वमीमांसा का नवीनतम रूप है। अरिस्टाटिल के ग्रन्थों के सम्पादक ने जब उसकी उस कृति का नाम 'मेटाफिजिक्स' रखा जो उसके ग्रन्थ फिजिक्स के बाद लिखी गयी थी, तब उसका तात्पर्य 'मेटाफिजिक्स' नहीं अपितु विज्ञान दर्शन ही था। विज्ञान-दर्शन विज्ञान का दर्शन होने के कारण मूल अर्थ 'मेटाफिजिक्स' है।

यूँ तो स्वयं विज्ञान जगत् के विभिन्न क्षेत्रों के बारे में अनुसन्धान करता है, तथापि विज्ञान और विज्ञान-दर्शन के प्रश्नों में अन्तर है। उदाहरण के लिए, विज्ञान प्रश्न करता है—"पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति क्या है?" "पारा के अन्तर्तत्त्व क्या हैं?" विद्युत-प्रवाह की व्याख्या कैसे की जाय?" स्पष्टतः ये प्रश्न दार्शनिक नहीं हैं; किन्तु, भौतिक तत्त्व की बनावट कैसी है? प्राणतत्त्व की उत्पत्ति क्या भौतिक प्रक्रियाओं से हो सकती है? प्रकाश धारा-रूप है या अणु-रूप या दोनों या दोनों नहीं? ये और ऐसे अन्य प्रश्न दार्शनिक हैं जिनका विवेचन विज्ञान-दर्शन कर रहा है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि विश्व के सभी तत्त्व विद्युत् शक्ति के रूपान्तर हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना तथा

गति वैसी ही है जैसी एक अणु की। 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' का सिद्धान्त आज अक्षरशः चरितार्थ हो गया है। पिंड और ब्रह्मांड—दोनों का नमूना सौर मंडल है, जिसमें सूर्य के चारों ओर पृथ्वी आदि नव नक्षत्र परिक्रमा कर रहे हैं। प्रत्येक अणु एक सौरमंडल है जिसकी नाभि में सूर्य जैसा एक गतिशील बिंदु है और जिसकी परिधि में नक्षत्रों जैसे अनेक गतिशील विद्युत्कण हैं।

तत्त्वमीमांसा क्या, क्यों और कैसे के प्रश्न उठाती है। प्रकाश क्या है? प्रकाश कैसे आता है? प्रकाश क्यों आता है? इन जैसे प्रश्नों का उत्तर आज विज्ञान-दर्शन दे रहा है। क्या और कैसे के प्रश्न सामान्यतः विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं, और क्यों का प्रश्न विज्ञान-दर्शन के अन्तर्गत आता है। तत्त्व की छानबीन यदि तत्त्व-मीमांसा का विषय है तो फिर विज्ञान ही तत्त्व-मीमांसा है और विज्ञान-दर्शन तब तत्त्वमीमांसा कहा जायेगा।

विज्ञान-दर्शन मुख्यतः विज्ञान के स्वरूप और विधियों तथा पदार्थों का विवेचन करता है। इस दृष्टिकोण से इसके तीन प्रमुख विभाग हैं, जिनका विवेचन आज जितनी सूक्ष्मता से हो रहा है, उतना पहले कभी नहीं हुआ था। इस विवेचन के फलस्वरूप ही विज्ञान-दर्शन 'विज्ञान' तथा 'दर्शन' दोनों से भिन्न तथा दोनों के सार को लेता-हुआ एक नया शास्त्र बन गया है। विज्ञान दर्शन इस प्रकार न तो दर्शन है और न विज्ञान, क्योंकि वह दर्शन और विज्ञान दोनों है। वह न तो विज्ञान का इतिहास है और न तो दर्शन का मनन, न तो वैज्ञानिक की प्राक्कल्पना है और न ही दार्शनिक की अनुभूति। इन सबसे भिन्न विज्ञान-दर्शन समग्र ज्ञानप्रक्रिया का सुव्यवस्थित अनुशीलन है। इस कार्य को पहले ज्ञानमीमांसा सम्पन्न करती थी, किन्तु वह ज्ञानमीमांसा साधारण लोकज्ञान पर आधारित थी। विज्ञान लोकज्ञान का ही विकसित और सुव्यवस्थित रूप है अतः विज्ञान के विकास के साथ ज्ञानमीमांसा में तदनुरूप विकास होना अनिवार्य था। समकालीन विज्ञान-दर्शन समकालीन विज्ञान पर आधारित ज्ञान-मीमांसा है। विज्ञान-दर्शन ने ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में जिन सिद्धान्तों को विकसित किया है, वे तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी उसके सिद्धान्तों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आजकल उच्चतर ज्ञानमीमांसा का तात्पर्य प्रायः विज्ञान-दर्शन से लिया जाता है।

आरम्भ में विज्ञान-दर्शन का तादात्म्य केवल भौतिक विज्ञान के दर्शन से किया गया था। ब्रिजमन हर्त्ज, स्टेबिंग, एडिंग्टन ने इस तादात्म्य पर विशेष बल दिया है किन्तु जीव-विज्ञान और समाजविज्ञान के अनुसंधानकर्ताओं ने सिद्ध किया है कि विज्ञान का एकमात्र रूप भौतिक विज्ञान नहीं है। उन्होंने निश्चित

किया कि जीवविज्ञान और समाजविज्ञान भी उसी प्रकार वैज्ञानिक विधि और ज्ञान का प्रयोग करते हैं जैसे भौतिक विज्ञान। विज्ञान का व्यावर्तक लक्षण उसका विषय नहीं अपितु उसकी विधि है। इस प्रकार विज्ञान शब्द का अर्थ-विस्तार हो जाने से विज्ञान-दर्शन का अर्थ भी विस्तृत हो चला है और विज्ञान के विषयों की अपेक्षा उनकी विधि से उसका विशेष सरोकार हो गया है। कहना नहीं होगा कि विज्ञान-दर्शन के अभ्युदय के ही कारण विज्ञान का यह अर्थ-विस्तार सम्भव हुआ है।

3. विज्ञान का स्वरूप

प्राचीन काल में विज्ञान का अर्थ केवल गणित और खगोल विज्ञान था। किंतु सत्रहवीं शती में विज्ञान का तात्पर्य प्राकृतिक हो गया जिसके अन्तर्गत भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान आते हैं। फिर जीव-विज्ञान और वनस्पति-विज्ञान भी विज्ञान के अन्दर मान लिये गये। आगे चलकर ऐतिहासिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और आदर्श विज्ञान या नियामक विज्ञान भी विज्ञान कहे जाने लगे। नृतत्व विज्ञान और भूगर्भ विज्ञान में ऐतिहासिक विज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका होने के कारण प्राकृतिक विज्ञान को भी ऐतिहासिक और सामाजिक विज्ञानों को स्वीकार करना पड़ा। पुनश्च, नीतिशास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र का भी प्रभाव प्राकृतिक विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों पर पड़ा है। इस कारण उनको भी विज्ञान की श्रेणी में रखा गया।

किंतु विज्ञान की इस विविधता के होते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का एक और वैशिष्ट्य है। यह दृष्टिकोण अनुभवमूलक बुद्धिवाद है। इस दृष्टिकोण से जिस भी विषय का विवेचन किया जाय, उसे विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। यह दृष्टिकोण इतना उदार, उन्मुक्त और व्यापक है कि जादू-टोना लोकज्ञान, धर्मशास्त्र आदि तथाकथित विज्ञान विरोधी ज्ञान भी विज्ञान के विकास की अवस्थाएँ बन गये हैं। विज्ञान दर्शन के अनुयायियों का कहना है कि वास्तव में प्रत्येक विद्या एक विशिष्ट 'मॉडेल' या प्रतिदर्श और पदार्थ (Category) का प्रयोग करती है। जादू-टोना, धर्मशास्त्र, दर्शन, नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, भौतिकविज्ञान आदि के अपने-अपने मॉडेल और पदार्थ हैं, जिनके द्वारा ये अपने प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हैं। विज्ञान-दर्शन इन समस्त मॉडेलों और पदार्थों का अध्ययन करता है। इस कारण वह एक सार्वभौम विज्ञान या समस्त विज्ञानों का ऐक्य प्रदान कर इस कार्य में वह समस्त विशिष्ट विज्ञानों का वर्गीकरण करता है, उनके मॉडेलों का निरूपण और परीक्षण करता है तथा उनके

पदार्थों का वर्णन, परिष्कार और मूल्यांकन करता है। इस प्रकार विशिष्ट विज्ञानों के क्षेत्रों का निर्धारण करना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करना तथा उनके निष्कर्षों का परीक्षण करना विज्ञान-दर्शन का एक मुख्य कार्य है। यदि ज्ञान को उपमा हम ग्लोब से दें तो इस ग्लोब का चित्र खींचना और उसके विभिन्न देशों तथा प्राकृतिक दृश्यों को रेखांकित करना विज्ञान-दर्शन का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

'मॉडेल' का संप्रत्यय विज्ञान-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण संप्रत्यय है। 1913 में नील्स बोर ने सर्वप्रथम 'मॉडेल' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने हाइड्रोजन अणु का जो वर्णन प्रकाशित किया था, उसके लिए उन्होंने 'मॉडेल' शब्द का प्रयोग किया। तब से यह शब्द विज्ञान-दर्शन में बहुत प्रचलित हो गया। प्रत्येक सिद्धान्त का एक 'मॉडेल' होता है जो अंशतः या पूर्णतः उस सिद्धांत की व्याख्या करता है। किन्तु वह उस सिद्धान्त से भिन्न होता है, और एक प्रकार से वह स्वयं सिद्धान्त होता है। वह एक रूपक या सादृश्य-निर्धारक है। उदाहरण के लिए, सौर मण्डल को हम हाइड्रोजन को समझने के लिए एक मॉडेल मान सकते हैं। अथवा नाना मंजिलों वाली इमारतों को हम बीसवीं शती की सभ्यता का 'मॉडेल' मान सकते हैं। या तीन वाक्यों से बने न्यायों से बने न्यायवाक्य को यूनानी ज्ञान का 'मॉडेल' और दो दर्जन से भी अधिक वाक्यों से बने आधुनिक तकनीकी ज्ञान का 'मॉडेल' मान सकते हैं।

'मॉडेल' अपने मूल (वस्तु) के स्वरूप को स्पष्टता से प्रकट करता है। उसमें वे भी अंश होते हैं जो मूल में नहीं रहते और जो अंश मूल में रहते हैं, उनमें से कुछ अंश उसमें नहीं भी रहते। इस प्रकार यद्यपि 'मॉडेल' के द्वारा मूल का ज्ञान स्पष्टता से होता है, तथापि 'मॉडेल' वैज्ञानिक की मनोनिर्मित व्याख्या है। सारा विज्ञान हमें मूल का ज्ञान न देकर केवल उसके मॉडेल का ज्ञान देता है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान जो ज्ञान देता है, वह वास्तव में वस्तु-सत् के सर्वथा अनुरूप नहीं है। इसलिए यहाँ पर प्रश्न उठता है कि ज्ञान और वस्तु का सम्बन्ध क्या है ? प्रतिवस्तु (मॉडेल) और वस्तु का सम्बन्ध क्या है ?

4. ज्ञान और सत् का सम्बन्ध :

ज्ञान और वस्तु के सम्बन्ध में दो मत उल्लेखनीय हैं—एक तत्त्ववाद और दूसरा निमित्तवाद। गैलीलियो और कोपरनिकस मानते थे कि वे जो कुछ देखते हैं वह वस्तु सत् है। यदि पृथ्वी उनके ज्ञान में सूर्य के चारों ओर घूम रही है तो वास्तव में भी पृथ्वी सूर्य से चारों ओर घूम रही है। वैज्ञानिक

विवरण वस्तुओं के स्वरूप का वर्णन है। वैज्ञानिक वस्तुओं को देखकर अपने सिद्धान्त का परीक्षण कर सकते हैं। उनके इस मत को 'तत्त्ववाद' (Essentialism) कहा जाता है। इसके अनुसार वैज्ञानिक वस्तुओं के स्वरूप की अकाट्य व्याख्या कर सकते हैं और ज्ञान सद्रूप है।

किन्तु माख डूहेम और प्वाइन्कर आदि वैज्ञानिकों का अभिमत तत्त्ववाद के विपरीत है। इनका कहना है कि वैज्ञानिक विवरण तथ्यों के विवरण नहीं हैं, अपितु दृश्य तथ्यों के विवरण हैं। स्पष्ट है कि इनका मत प्रत्ययवादी है। इनके मत को निमित्तवाद (Instrumentalism) कहा जाता है। आइन्स्टाइन, बोर और हाइसेनबर्ग के द्वारा भी यह मत स्वीकृत किया गया है। इसके अनुसार ज्ञान सत् को समझने का मात्र निमित्त या साधन है।

तत्त्ववाद और निमित्तवाद का विवाद (Realism) और प्रत्यक्षवाद (Idealism) के विवाद के समान है। वैज्ञानिक सिद्धान्त तथ्यों का व्याख्यान करते हैं या दृश्य तथ्यों का ? यह प्रश्न ठीक वैसे ही है जैसे यह प्रश्न करना कि हमारा ज्ञान वस्तुसत् के बारे में है या दृश्य वस्तुसत् के बारे में।

कार्ल आर० पापर ने इन दोनों मतों के गुण-दोष का विवेचन करते हुए एक तीसरा मत दिया है। उनके अनुसार वैज्ञानिक सिद्धान्त यथार्थ प्राक्कल्पनाएँ हैं, जो तभी तक मान्य हैं जब तक उनका निराकरण या खण्डन नहीं कर दिया जाता। संक्षेप में, आखण्डन यथार्थ प्राक्कल्पनाएँ हैं। प्रो० पापर आगे कहते हैं कि तत्त्ववाद निमित्तवाद दोनों निराकरण की अवहेलना करते हैं और इस कारण दोनों वास्तविकता से बहुत दूर हैं। इतना होते हुए भी विचार करने पर पापर का मत तत्त्ववाद की अपेक्षा निमित्तवाद के ही अधिक सन्निकट है। निमितवाद ने ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में एक नयी क्रान्ति की है। इसके अनुसार प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धान्त में जिन सामान्यों का प्रयोग होता है वे वस्तु-सत् की रचना में विद्यमान नहीं रहते हैं। बिना सामान्यों का प्रयोग किये कोई वैज्ञानिक विवरण सम्भव नहीं है, किन्तु ये सामान्य वस्तु-सत् नहीं, हैं। सभी सामान्य वर्णन के प्रकार हैं, न कि वस्तु-सत् के विशेषण। उपनिषद् की भाषा में वे केवल वाचारम्भण विकार हैं, न कि वस्तु-सत्। वे इस प्रकार वाणी के विलास या कथन के आकार-प्रकार हैं। सामान्यों के निराकरण में यह एक नया तर्क है।

किन्तु कुछ भी हो, वैज्ञानिक सिद्धान्त का महत्त्व वस्तु-सत् के महत्त्व से अधिक प्रतीत होता है क्योंकि उसका ज्ञान हमें वैज्ञानिक सिद्धान्त की खोज में

ही होता है अतः वैज्ञानिक सिद्धान्त की खोज ही हमारे लिए सत्य की खोज हो जाती है।

5. वैज्ञानिक विधि :

ज्यों-ज्यों विज्ञान का विकास होता गया, त्यों-त्यों वैज्ञानिक विधि का भी विकास हुआ है। विकास-क्रम में निम्नलिखित सोपान उल्लेखनीय हैं :

(क) निगमनविधि : प्राचीन काल में यूक्लिड की ज्यामिति श्रेष्ठ विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित थी। उसकी विधि निगमन विधि है। आरिस्टाटिल ने अपने तर्कशास्त्र में इस विधि का शास्त्रीय वर्णन किया है जो निगमन तर्कशास्त्र कहा जाता है। आधुनिक युग में डेकार्ट और स्पिनोजा ने इस विधि का विकास किया और इसका उपयोग अपने-अपने तत्त्वज्ञान में किया। लाइबनीज ने इस विधि में एक नया आयाम जोड़ा, जिसे तर्कगणित कहा जाता है। समकालीन प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र निगमन-विधि का सबसे अधिक विकसित रूप है।

इस विधि में मुख्यतः दो सोपान होते हैं—प्रातिभज्ञान और निगमन। जैसे दो + दो = चार और तीन + एक = चार, ये ज्ञान प्रातिभज्ञान हैं। फिर इनके आधार पर अनुमान किया जाता है कि तीन + एक = दो + दो। आधुनिक युग में निगमन-विधि का और अधिक विश्लेषण किया गया और यह निश्चित किया गया कि यह विधि कुछ स्वयंसिद्धियों और उनसे सम्बन्धित निष्कर्षों पर निर्भर है। स्वयंसिद्धियों का निर्माण करना बुद्धि की वितर्कात्मक शक्ति है और उनसे निष्कर्ष निकालना वाक्यों के आधार-सम्बन्ध के ज्ञान पर निर्भर करता है। निष्कर्ष निकालने का मुख्य आधार अपादान (Implication) है, यद्यपि योग, विभाग और निषेध आदि भी निष्कर्ष के आधार हैं। प्रतीक तर्कशास्त्र ने निगमन के अनेक प्रकारों का अन्वेषण किया है, जिनके फलस्वरूप समस्त गणित और तर्कशास्त्र एक-दूसरे से अभिन्न हो गये हैं।

निगमन विधि के बारे में डेविड ह्यूम का मत आज बहुत आदर से देखा जाता है। उसका कहना है कि निगमन विधि विश्लेषणात्मक वाक्यों का ज्ञान दे सकती है। और उससे संश्लेषणात्मक वाक्यों का ज्ञान नहीं हो सकता है दूसरे शब्दों में, निगमन-विधि नियम ज्ञान देती है और तथ्य ज्ञान नहीं दे सकती। इस कारण निगमन-विधि किसी तथ्य की खोज में सहायक नहीं हो सकती है।

विज्ञान-दार्शनिकों ने निगमन-विधि का उपयोग अपनी खोज के विवरण के सत्यापन में किया है। उनके लिए निगमन-तर्कशास्त्र खोज की विधि नहीं है, वह केवल प्रामाण्य की कसौटी है।

(ख) आगमन विधि—वैज्ञानिक खोज की विधि के रूप में बेकन ने एक नया तर्कशास्त्र बनाया जिसका नाम आगमन तर्कशास्त्र है। जान स्टुअर्ट मिल ने इस तर्कशास्त्र का अधिक विकास किया और अन्वयविधि, व्यतिरेक विधि, अन्वय व्यतिरेक संयुक्त विधि सहचार-विधि और अवशेष-विधि नामक पाँच विधियों का आविष्कार किया। उसने दावा किया कि ये विधियाँ खोज के साधन और प्रामाण्य की कसौटी दोनों हैं। आगमन तर्कशास्त्र के विद्वानों ने अनेक वैज्ञानिक खोजों को इन विधियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। इससे इन विधियों का महत्त्व बढ़ गया। किन्तु वैज्ञानिकों ने इनकी सत्यता और चरितार्थता पर शंका की और सिद्ध किया कि ये प्रामाण्य की कसौटी भले ही मान ली जायँ किन्तु नये ज्ञान की खोज के रूप में इनका उपयोग नगण्य है।

पुनश्च तर्कविदों ने आगमन तर्कशास्त्र की जड़ पर ही अधिक विचार किया और आगमन की समस्या को एक महत्त्वपूर्ण समस्या बना दिया। यह समस्या यों है—

"किसी एक घटना की या कई घटनाओं की जानकारी के आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना कैसे सम्भव है ? उदाहरण के लिए न्यूटन ने एक सेव को पेड़ से गिरते देखकर कैसे निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी तथा सभी वस्तुओं में गुरुत्वाकर्षक की शक्ति है। इस समस्या को ह्यूम ने अच्छी तरह से उठाया था, इसलिए इसे ह्यूम की समस्या भी कहा जाता है। स्वयं ह्यूम ने आगमन का निषेध किया है और उसके अनुसार किसी विशेष ज्ञान से कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। ह्यूम के इस संशयवाद के उत्तर में अनेक दार्शनिकों ने भाग लिया है। उनके योगदानों को हम निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं :

(1) प्रतिगोचरवादी समाधान : कांट ने ह्यूम की समस्या का समाधान प्रतिगोचरवाद (Transcendental Deduction) के आधार पर दिया है। उसका कहना है कि आगमन का आधार देशकाल और वर्गणाएँ हैं जो स्वयं न तो गोचर हैं और न अगोचर अपितु प्रतिगोचर हैं। प्रत्ययवादियों ने कांट के उत्तर को स्पष्ट करते हुए कहा कि ज्ञान के प्रत्येक रूप में निगमन और आगमन दोनों रहते हैं। उनके अनुसार आगसन का आधार निगमन है।

(2) प्रातिभवादी समाधान : पियर्स ने पुनः प्रवेश (Retroduction) नामक एक प्रक्रिया को सुझाया है जिसके अनुसार दृश्य तथ्यों से सिद्धान्तों या प्राक्कल्पनाओं तक पहुँच जाना एक प्रातिभ छलांग है जो बुद्धि की एक सहज मूल प्रवृत्ति है। इस प्रकार आगमन की छलांग (Inductive-Leap) एक प्रातिभ

छलांग है। अर्थात् आगमन का आधार प्रतिभा ज्ञान है। प्रोफेसर जोखिम ने इसको बौद्धिक प्रातिभ ज्ञान कहा है।

(3) **विशेषवादी समाधान** : आधुनिक भाववादियों ने विशप बर्कले से प्रेरणा पाकर आगमन की समस्या का समाधान करते हुए कहा कि वास्तव में आगमन विशेष से सामान्य का निष्कर्ष न होकर विशेष से विशेष का ज्ञान है। इस प्रकार सामान्यीकरण कोई समस्या नहीं है, क्योंकि वह होता ही नहीं है। समस्त ज्ञान विशेष का विशेष के प्रति संकेत है।

(4) **प्रसंभाव्यतावादी समाधान** : आधुनिक तर्कविदों ने प्रसंभाव्यता-सिद्धान्त के द्वारा आगमन की समस्या को हल किया है। उन्होंने आगमन की समस्या का रूपांतर प्रसंभाव्यता-सिद्धान्त या सांख्यिकी अनुमान की समस्या में किया। पैस्कल ने सर्वप्रथम प्रसंभाव्यता के गणितीय सिद्धांत को जन्म दिया। उसने कहा कि संयोगवश काम करना बुद्धिपूर्वक काम करना है, क्योंकि बुद्धि जिसको प्रायः सत्य पाती है, उस पर आचरण करती है। इस प्रकार बुद्धि के कर्म का मूल आधार प्रायिकता अथवा प्रसंभाव्यता का सिद्धान्त है।

इस प्रकार ह्यूम की समस्या का समाधान उचित रूप से उपरोक्त प्रकार से हो गया या नहीं, इस पर दार्शनिकों में विवाद है। अधिकांश दार्शनिकों का कहना है कि जिस रूप में ह्यूम ने समस्या रखी थी उस रूप में उसका समाधान नहीं किया जा सकता। जिन लोगों ने इस समस्या का समाधान किया है, उन्होंने समस्या का ही रूपांतरण कर दिया है। कुछ भी हो, आगमन की समस्या व्यवहार जगत् में नहीं है। प्रायः सभी लोग नित्यप्रति आगमन-अनुमान करते हैं, और ह्यूम भी इसका अपवाद नहीं था। इस वास्तविकता का यथार्थ बौद्धिक निरूपण न हो पाना यह सिद्ध करता है कि आगमन प्रक्रिया के अतिरिक्त ज्ञान में कोई अन्य प्रक्रिया है। जिससे आगमन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। यह मान्यता सिद्ध करती है कि संयोग आगमन का महत्त्व चाहे जितना अधिक हो किन्तु वह वैज्ञानिक विधि के रूप में पर्याप्त नहीं है। आगमन ज्ञान नहीं है अतएव उसकी समस्या का समाधान मात्र उसी के आधार पर नहीं हो सकता।

(ग) **सांख्यकीय अनुमान-विधि** : प्रसंभाव्यता-सिद्धान्त ने एक नये तर्कशास्त्र को जन्म दिया है, जिसके आधार पर सांख्यकीय नामक एक नया विज्ञान बन गया है। इस विज्ञान का अधिकाधिक उपयोग अर्थशास्त्र और समाजविज्ञान में हो रहा है। इसके आधार पर अनेक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भविष्यवाणियाँ की जाती हैं तथा भावी कार्यक्रमों को निश्चित किया जाता है।

केन्स के अनुसार प्रसम्भाव्यता एक अपरिभाषेय तार्किक सम्बन्ध है, जो दो कथनों के बीच रहता है। यह सम्बन्ध दो अतियों भिन्न से है। एक अति अनुलग्नता (Entailment) जिसकी असम्भाव्यता एक मानी जाती है और दूसरी अति असामंजस्य (Incompatibility) है जिसकी असंभाव्यता शून्य मानी जाती है। स्पष्ट है कि प्रसंभाव्यता का मूल्य सदैव शून्य और एक के बीच में रहता है। कुछ दार्शनिकों का कहना है कि प्रसंभाव्यता ज्यों-ज्यों शून्य से आगे एक तक बढ़ती है, त्यों-त्यों वह कार्य-कारण भाव-से अभिन्न हो जातो है। प्रसंभाव्यता-सिद्धान्त ने प्रश्न उठाया है कि जिस घटना की प्रसंभाव्यता शून्य है, क्या वह घटना घट नहीं सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में नियंत्रणवाद और अनियंत्रणवाद के विवाद उठ खड़े हुए हैं।

"रैम्जे ने प्रसंभाव्यता की एक दूसरी व्याख्या की है। उनका कहना है कि प्रसंभाव्यता कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है, अपितु प्रत्याशा मात्र है। (i) किसी घटना की प्रसंभाव्यता की मात्रा को हम उस विश्वास से नापते हैं जो उसके घटने के बारे में किया जाता है। इसी प्रकार किसी प्राक्कल्पना की प्रसंभाव्यता को हम उस विश्वास की मात्रा से नापते हैं जो हमारे अन्दर उसकी सत्यता के बारे में है। स्पष्ट है कि रैम्जे का दृष्टिकोण व्यक्तिनिष्ठ तथा मनोवैज्ञानिक है।

यद्यपि प्रसंभाव्यता-सिद्धान्त ने एक गणितीय तर्क का रूप धारण कर लिया है तथापि तर्क की अन्य विधियों की भाँति वह केवल खोज का सिद्धान्त न होकर खोज के सत्यापन का ही सिद्धान्त है। इस प्रकार खोज का सिद्धान्त क्या है ? यह समस्या हमारे लिए अभी ज्यों की त्यों बनी है। अधिकांश विज्ञान-दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्राक्कल्पनात्मक विधि का अनुसंधान किया है।

(घ) **प्राक्कल्पनात्मक विधि** : वैज्ञानिक विधि का स्वरूप जिस विधि में पूर्णतया सुरक्षित है वह प्राक्कष्पनात्मक विधि है। अन्य विधियों ने वास्तव में प्राक्कल्पना के महत्त्व को उचित स्थान नहीं दिया है। इस कारण वे वैज्ञानिक विधि से दूर रह गयीं। कार्ल पापर ने वैज्ञानिक विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि वास्तव में समस्त ज्ञान की एक ही विधि है और वह विधि प्रयत्न तथा भूल (Trial and Error) द्वारा सीखना है। प्रत्येक मनुष्य सीखने में प्रयत्न करता है और भूल करता है किन्तु वह भूल को पुनः-पुनः सुधारता रहता है। मनोविज्ञान में प्रयत्न तथा भूल विधि को ठीक ही सीखने की एक विधि माना गया है। पापर इसी को सुधारते हुए कहते हैं कि वैज्ञानिक विधि प्राक्कल्पना और असत्यापन की विधि है। वैज्ञानिक सिद्धान्त एक प्राक्कल्पना है। उसका खण्डन

यदि सम्भव है तो वह गलत मान लिया जाता है और जब तक उसका खण्डन सम्भव नहीं होता, तब तक उसको सत्य माना जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक वैज्ञानिक सिद्धान्त इसलिए सत्य नहीं होता है कि वह अखंडनीय है, प्रत्युत् इसलिए सत्य होता है कि अभी तक उसका खण्डन सम्भव नहीं है। टॉलमी का खगोल सिद्धान्त तब तक सत्य था जब तक कोपरनिकस के सिद्धान्त ने उसके खण्डन को सम्भव नहीं कर दिया। इसी प्रकार न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त तब तक सही था जब तक आइन्स्टाइन ने नहीं सिद्ध कर दिया कि देश की वक्रता वस्तुओं की स्थिति का कारण है। संक्षेप में, वैज्ञानिक विधि वही है जिसे वेदांत में अध्यारोप और अपवाद की विधि कहा जाता है। वेदांतियों ने आत्म-तत्त्व की खोज में अध्यारोप और अपवाद की विधि का आविष्कार किया था। पापर की शब्दावली में, अध्यारोप प्राक्कल्पना है और अपवाद असत्यापन है। असली वैज्ञानिक-विधि का इस प्रकार एक उत्कृष्ट नमूना अद्वैत वेदांत प्रदान करता है। कदाचित् यही विधि प्रत्येक प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने की सर्वाधिक प्रमाणिक विधि है। निश्चय ही अद्वैत वेदांत ने आत्मतत्त्व का अनुसंधान वैज्ञानिक विधि से किया है।

निष्कर्ष यह है कि वैज्ञानिक विधि कोई तार्किक विधि नहीं है। विज्ञान के सिद्धांतों को खोजने के लिए कोई राजमार्ग नहीं है। वैज्ञानिक की प्रतिभा और संयोग का प्रभाव उसकी खोज पर अवश्य पड़ता है, परन्तु इससे खोज विधि का नमूना निश्चित नहीं होता। प्राक्कल्पना की संरचना वैज्ञानिक विधि का प्राण है। इसके लिए कोई विशेष नियम या सूत्र या उपाय नहीं बताया जा सकता है। हाँ यदि कोई प्राक्कल्पना है तो उसके सत्यापन के नियम या सूत्र बनाये जा सकते हैं। मोटे तौर से जो बात प्राक्कल्पना की संरचना के बारे में सत्य है, वह ज्ञान मात्र के बारे में भी सत्य है। ज्ञान की प्रगति जितनी संभावनात्मक है, उतनी निश्चयात्मक नहीं और फिर इसकी सम्भावना क्या है ? यह प्रश्न दर्शन-शास्त्र के लिए एक पहेली है और बना रहेगा।

6. विज्ञान-दर्शन की पदार्थ-विवेचना :

विज्ञान-दर्शन ने दर्शन की जिन समस्याओं पर नूतन प्रकाश डाला है, उनमें से देश-काल, जड़, गति, कारणता, जीव और मन मुख्य हैं। अब हम क्रमशः इनका विवेचन करेंगे।

(क) देश-काल की समस्या : न्यूटन ने देश और काल को दो स्वतंत्र और निरपेक्ष तथा रिक्त सत् माना था जो समस्त वस्तुओं के धारक हैं। उसने उनका

सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ा था। कांट ने देश-काल को मानव प्रत्यक्ष के आकार के रूप में चित्रित किया। आइन्स्टाइन के सापेक्षतावाद ने इन दोनों मतों का खंडन किया और निश्चित किया कि देश और काल एक-दूसरे से अपरिहार्य हैं। पुनश्च, वे गति और जड़ तत्त्व से भी अपरिहार्य हैं। वास्तव में देश और काल न तो स्वतंत्र हैं और न रिक्त हैं, न तो निरपेक्ष हैं और न तो आकारिक हैं। एक मूल सत्ता है जिसे देश-काल संतति (Space-Time continuum) कहा जाता है। यदि समस्त वस्तुओं की मूल प्रकृति अर्थात् समस्त वस्तुएँ देश-काल संतति की गतिशीलता से प्रकट होती हैं।

देश में लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई या गहराई—ये तीन आयाम होते हैं। इन तीनों आयामों के साथ एक चौथा आयाम है, जिसे काल कहा जाता है। इस प्रकार देश-काल संतति के चार आयाम हैं। देश-काल विषयगत हैं। लोबाचेस्की, रीमान आदि ने यूक्लिड-भिन्न ज्यामितियों का सृजन करके सिद्ध किया कि देश-काल के विषय में कांट का मत गलत है और देश-काल प्रागनुभविक नहीं है। जो लोग देश-काल को विषयगत मानते थे, उनके मत का भी खण्डन विज्ञान-दर्शन ने कर दिया।

देश-काल एक इकाई है। किसी वस्तु की स्थिति का ज्ञान चार आयामों द्वारा होता है। इससे स्पष्ट है कि कोई वस्तु स्थिर, पुनरावर्तित या किसी अन्य वस्तु के साथ विद्यमान नहीं है। काल का आयाम जुड़ जाने से प्रत्येक वस्तु चल, अनुपम या अपूर्व और क्रमागत हो गयी है। इस प्रयोग में काल का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। इससे सिद्ध है कि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता क्योंकि इसकी प्रत्येक घटना एक विशेष है।

एडिंग्टन ने थर्मोडाइनामिक्स के द्वितीय नियम से निष्कर्ष निकाला कि काल के पास एक बाण है, जिसे काल-बाण (Time's arrow) कहा जाता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि काल-बाण का अभिप्राय है कि काल की गति एक दिशा में होती है। काल अपरिवर्तनीय है। तथा वह भविष्योन्मुखी है। किन्तु आधुनिक विज्ञान-दार्शनिकों में काल-बाण के प्रति मतभेद है। हैन्स राइखेनबाख काल के बाण को स्वीकार करते हैं, किन्तु ह्वाइट आदि का कहना है कि कालबाण-रहित है। उनके मत से काल ज्ञान में भविष्यक्रम और अतीतक्रम का ज्ञान निहित है। काल केवल भविष्योन्मुख ही नहीं अपितु अतीतोन्मुख भी है। इतिहास की घटनाओं का क्रम निश्चित करने में हम काल की अतीतो-न्मुखता का साक्षात्कार करते हैं और भविष्यवाणियों को सत्यापित करके हम उसकी भविष्योन्मुखता का परिचय प्राप्त करते हैं। काल-क्रम इस प्रकार एक

दिशागत न होकर उभय दिशागत है। वास्तव में क्रम के तीन लक्षण हैं— संचारी, असमितीय और सुसम्बद्ध। ये तीनों लक्षण उदाहरण के लिए दीर्घतर अंकों के क्रम में देखे जा सकते हैं जैसे—1-2-3-4-5-6-7-8 आदि। किन्तु ये तीनों लक्षण दीर्घतर सम्बन्ध के प्रतिलोम सम्बन्ध में अर्थात् न्यूनतर सम्बन्ध में भी लक्षित होते हैं। जैसे, 10-9-8-7-6-5-4-2 आदि में। इसी प्रकार काल-क्रम में भी दो क्रम हैं—एक पूर्व पूर्वतर और दूसरा उत्तरोत्तर। ये दोनों क्रम एक-दूसरे के प्रतिलोम हैं। काल-क्रम दोनों क्रमों से युक्त है। अतएव कालगति एक दिशा में न होकर दो दिशाओं में रहती है। इस प्रकार काल-बाण का संप्रत्यय गलत सिद्ध हो जाता है।

ऐसा नहीं है कि आधुनिक विज्ञान दर्शन में काल-बाण के पक्ष में सुचिन्तित विचार नहीं किये गये। अनेक विज्ञान दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकारों से काल-बाण की सत्यता का प्रतिपादन भी किया है, किन्तु इस विषय में अभी वैज्ञानिकों का मतैक्य नहीं हो पाया है और इसके पक्ष तथा विपक्ष दोनों के समर्थन में सुचिन्तित विश्लेषण उपलब्ध हैं।

(ख) जड़ : डेकार्ट ने जड़ की परिभाषा देते हुए कहा कि जड़ का गुण विस्तार (Extension) है। यदि देश-काल के चार आयामों में इस परिभाषा को रखा जाय तो जड़बद्ध वह है जिसमें य, र, ल, क चार मान होते हैं जिनमें से य, र, ल मान देश के तीन आयामों से और क मान काल के आयाम से नापा जाता है। जो तथ्य किसी विशेष काल में घटता है उसे घटना कहते हैं और जो तथ्य काल-क्रम में घटित होता है, उसे प्रक्रिया कहते हैं। सामान्य भाषा में जिसे हम वस्तु कहते हैं उसको हम केवल देश में स्थित यत्किंचित् मानते हैं। सापेक्षतावाद ने घटना, प्रक्रिया और वस्तु के रूपों में जड़ की कल्पना नहीं की है। उसके अनुसार जड़ वह है जो य, र, ल, क इन चार आयामों में घटित होता है। इसके गुण विस्तार, पिण्ड (Mass) वजन, गति, गतिशीलता, निष्क्रियता, प्रतिरोध, दुर्भेद्यता, आकर्षण और विकर्षण है। विज्ञान-दर्शन ने जड़ के इन गुणों में से पिंड (Mass) और विस्तार को लेकर एक नया लक्षण किया है, जिसके अनुसार जड़ एक विशिष्ट शक्ति रूप है। शक्ति की परिभाषा निम्न सूत्र के द्वारा अभिव्यक्त की जाती है : $E = MC^2$ जबकि E = शक्ति, M = Mass (पिंड) और C = पिंड में प्रकाश की गति।

इस समीकरण के आधार पर पिंड (Mass) का रूपान्तरण शक्ति में और शक्ति का रूपान्तरण पिंड (Mass) में हो जाता है। इस रूपान्तरण से सिद्ध है कि जड़ वास्तव में एक प्रकार की शक्ति या ऊर्जा है। इस शक्ति के विविध

प्रकारों का अन्वेषण विज्ञान ने किया है जिनका वर्णन करना प्रासंगिक नहीं है। किन्तु यह कहना प्रासंगिक है कि विज्ञान ने एक प्रकार के अद्वैतवाद की स्थापना की है जिसकी तुलना केवल अद्वैत-वेदान्त से की जा सकती है। अनेक विद्वानों का अभिमत है कि देश-काल संतति में जो शक्ति या ऊर्जा सन्निहित है उसी के अन्दर जैविक, मानसिक और ईश्वरीय शक्तियों का भी समावेश है। किन्तु यह सत्य है कि इस विषय पर भौतिकवाद, मानसवाद, प्राणवाद और ईश्वरवाद जैसे विरोधी मत प्रचलित हैं और इन विरोधों को दूर कर सकना विज्ञान की परिधि के बाहर है।

आधुनिक विज्ञान के मूल जड़तत्त्वों की खोज में परमाणुवाद को उपयोगी पाया है जिनकी कल्पना यूनान में डेमोक्राइटस ने और भारत में कणाद ने की थी। किन्तु आधुनिक परमाणुवाद परमाणुओं को अविभाज्य और अविश्लेष्य नहीं मानता यद्यपि मूर्तिमान जगत् में परमाणुओं के संघात ही उपलब्ध होते हैं तथापि परमाणुओं का सैद्धान्तिक विश्लेषण और विभाजन संभव है। आधुनिक विज्ञान ने हाइड्रोजन आदि 104 तत्त्वों (elements) की खोज की है जिसने पंचमहाभूत या पंचतत्त्व के प्राचीन सिद्धान्त को सदा के लिए दफना दिया है। इन तत्त्वों का विश्लेषण आण्विक रचना के माध्यम से किया जाता है। यह भी निश्चित हुआ है कि इन सब तत्त्वों का आपस में रूपान्तरण भी सम्भव हैं। पुनश्च, प्रत्येक परमाणु के विश्लेषण से सिद्ध हुआ है कि उसकी संरचना में विद्युत अणु है जो भावात्मक और निषेधात्मक दो प्रकार के होते हैं इस प्रकार आधुनिक परमाणुवाद की पराकाष्ठा विद्युत् परमाणुवाद में है। कहा जाता है कि जब नव्य नैयायिक रघुवंश शिरोमणि मर रहे थे तो उन्होंने कहा था 'पीलवः पीलवः' अर्थात् एकमात्र अणु ही सत्य हैं। अन्तिम सत्य इस प्रकार आज अणु ही सिद्ध हुए हैं वैज्ञानिकगण मरते समय भी 'नारायण नारायण' न कहकर 'पीलवः पीलवः' कहते हैं। यह तथ्य सिद्ध करता है कि उनकी आस्था जिस परम तत्त्व में रहती है वह केवल परमाणु है।

(ग) गति : गति के बारे में प्राचीन दार्शनिकों में दो मत थे। एकमत पार्मेनाइडीज और उसके शिष्य ज़ीनो का था जो कहते थे कि गति बुद्धिगम्य नहीं है। और इस कारण दृश्य होते हुए भी वह सत्य नहीं है। दूसरा मत हेराक्लाइटस् का था जो कहता था कि गति ही एकमात्र सत्य है और वह बुद्धिगम्य है। आधुनिक विज्ञान ने गति का विशेष अध्ययन किया है और उसको बुद्धिगम्य बना दिया है। पुनश्च, सापेक्षतावाद ने सिद्ध किया है कि गति का अनिवार्य सम्बन्ध देश, काल तथा पिण्ड से है। गतिशीलता देश-काल संतति

का स्वाभाविक गुण है। विराम या अगति सापेक्ष गति है। अधिक गतिशील वस्तु की अपेक्षा में हम अत्यन्त कम गतिशील वस्तु की अवस्था को विराम कहते हैं। ज़ीनो ने गति को देश, काल तथा पिण्ड से भिन्न करके एक अमूर्त प्रत्यय के रूप में लिया था जिसके कारण उसने गति में विरोधाभास देखा। यदि गति को देश, काल तक पिंड की सापेक्षता में लिया जाय तो गति के विरोधाभास असत्य सिद्ध हो जाते हैं। बर्ट्रैंड रसल ने ज़ीनो के विरोधाभासों को आधुनिक विज्ञान के आधार पर गलत सिद्ध कर दिया है। विज्ञान ने गति के नियमों का अनुसंधान किया और उनके आधार पर अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें कीं। इसलिए आज गति की यथार्थता का प्रश्न असंभावित हो गया है और गति दर्शन का विषय न होकर शुद्ध विज्ञान का विषय हो गयी है।

(घ) कारणता : विज्ञान-दर्शन ने कारणता का विशद विश्लेषण किया है और सिद्ध किया है कि कारणता अनेक पदार्थों का संघात है। अतः कारणता कोई एकल तत्त्व या वर्गणा नहीं है होन्स राइखेनवाख ने उसके अन्दर निम्नलिखित पदार्थों को पाया है।

(1) कारणता का आगमनात्मक सिद्धान्त। करणता-सिद्धान्त कहता है कि प्राकृतिक घटनाएँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और ज्ञात घटनाओं से अज्ञात घटनाओं के बारे में पूर्वकथन किया जा सकता है। इस प्रकार कारणता मुख्यतः आगमन के आधार के रूप में उपलब्ध होती है। इस रूप में कारणता एक गौण सम्बन्ध (Functional Relationship) है। जो दृश्य वस्तुओं को अदृश्य वस्तुओं से जोड़ता है।

(2) देश और काल से निरपेक्षता। कारणता-सिद्धान्त कहता है कि कार्य और कारण के सम्बन्ध में देश और काल का कोई स्थान नहीं है। वस्तुएँ या घटनाएँ स्वयं इस सम्बन्ध के द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

(3) देशगत निरन्तरता। कारणता-सिद्धान्त का अर्थ है कि कार्य देश में निरन्तर अपनी सन्तान-परम्परा को फैलाता है।

(4) घटनाओं का काल-क्रम। कारणता-सिद्धान्त मानता है कि कारण सदैव काल-क्रम में कार्य के पूर्व घटित होता है।

(5) नियमितता प्रायः कारणता को प्रकृति की नियमितता समझा जाता है।

राइखेनबाख प्रथम चार तत्त्वों को पाँचवें तत्त्व से अधिक उपयोगी पाया है, क्योंकि वे आगमन-सिद्धान्त में उपयोगी हैं। उनको लेकर उन्होंने

कारणता-सिद्धान्त का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। कारणता के तीन वैज्ञानिक सम्प्रत्यय हैं :

हेतुहेतुमद्‌भाव—इस मत के अनुसार कारणता का ज्ञान प्रागनुभविक प्रातिभ ज्ञान से होता है और कारणता एक तार्किक सम्बन्ध है। कांट का यही मत है।

(2) आनुभविक सम्प्रत्यय—यह मत ह्यूम का है। इसके अनुसार कारणता एक आदतजन्य व्यवहार है और प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव जिन्हें बार-बार आगे पीछे घटित होते देखता है, उन्हें वह कारण और कार्य से जनित कह देता है।

(3) प्रसंभाव्यतामूलक सिद्धांत—यह मत आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है। इसके अनुसार कारणता वास्तव में प्रसंभाव्यता है और वह भौतिक जगत् के बारे में एक विषयगत प्रकथन है।

वस्तुतः विज्ञान-दर्शन के कारणता के विवेचन में द्रव्य को भी उपयोगी नहीं पाया है। कार्य कारण के नियम अब केवल गौण सापेक्षता के नियम बन गये हैं और इस सापेक्षता के लिए द्रव्य का कोई महत्व नहीं है। बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पादवाद और वेदान्तियों का विवर्तवाद आधुनिक कार्यकारणवाद के अधिक समीप है।

(ङ) जीव : का अध्ययन जीवविज्ञान में किया जाता है। उसमें सजीव वस्तुओं के जो लक्षण निश्चित किये गये हैं वे आत्म-संचालन, संतानोत्पत्ति, पाचनक्रिया, विकास समंजन स्फूर्ति आदि हैं। कुछ वैज्ञानिक मानते हैं कि जीवतत्त्व का अन्तर्भाव अजीव तत्त्वों में किया जा सकता है। उनको प्रायः यांत्रिकतावादी कहा जाता है। किन्तु अन्य लोग मानते हैं कि जीव तत्त्व एक मौलिक तत्त्व है और सभी जीवों का विकास उसी से हुआ है। वह तत्त्व प्राण-शक्ति है और वह अनादि तथा अनन्त है। फिर आरम्भिक विकासवादी (Emengent evolutionist) मानते हैं कि यद्यपि जीवतत्त्व अजीवतत्त्व से भिन्न है तथापि वह आविर्भूत होता है और अनादि नहीं है। इस प्रकार यद्यपि जीवतत्त्व के बारे में मतभेद है तथापि उसके कार्यों पर मतैक्य है। यह देखा गया है कि जैविक शरीर में जितनी एकता, सुसम्बद्धता और सप्रयोजनता है उतनी मशीनों में नहीं है। जीवविज्ञान में प्रयोजन और यांत्रिकतावाद आज भी प्रचलित हैं। प्राकृतिक वरण, योग्यतम की विजय और उत्क्रान्ति द्वारा परिवर्तन कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनके द्वारा जीवों के विकास की व्याख्या की जाती है। जनन करने वाले जीन (Gene) कहे जाते हैं जो क्रोमोसोम (Chromo-

some) के अंग हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम में सैंकड़ों जीन होते हैं। क्रोमोसोम के जोड़ों की संख्या जीवों की जाति निर्धारित करती है। मनुष्य के कोषाणु में 23 क्रोमोसोम युग्म होते हैं, मच्छर के कोषाणु में 3 क्रोमोसोम युग्म होते हैं एवम् आदि।

क्रोमोसोम की संरचना का विशेष अध्ययन आधुनिक जीवविज्ञान में किया जा रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप एक क्रान्ति हो गयी है। किंतु सभी प्रश्नों से बड़ा प्रश्न यह है—क्या अजीव और जीव में बुनियादी ऐक्य है ? क्या जीव अजीव से निरन्तर होने वाले क्रमिक विकास से जीव उत्पन्न होता है ? प्रकृति की एकरूपता को मानने वाले जीव तथा अजीव की बुनियादी एकता की ओर जिज्ञासा भरी आँखों से देख रहे हैं। किन्तु अभी इस दिशा में अजीववाद की विजय नहीं हुई है। अजीव से जीव उत्पत्ति अभी वैज्ञानिक ढंग से प्रदर्शित या सिद्ध नहीं की जा सकी है। जीव की उत्पत्ति जीव से ही होती है।

(च) मन : जैसे अजीव और जीव के बीच में एक खाईं सामान्यतः मानी जाती है वैसे जीव और मन के बीच में भी एक खाईं समझी जाती है। तथापि ये दोनों खाइयाँ अभी तक पटी नहीं हैं तथापि इनकी गहराई काफी कम हो गयी है। जीव और अजीव दोनों को प्रकृति कहा जाता है, दोनों में कुछ एकता है जो जीव और मन में नहीं है मन और प्रकृति का द्वैत डेकार्ट ने आरम्भ किया था। यह द्वैत अभी समाप्त नहीं हुआ किन्तु अधिकांश दार्शनिक डेकार्ट के मन-विषयक सिद्धान्त को गलत मानते हैं। व्यवहारवादी मनोविज्ञान तथा मनो-विश्लेषण ने डेकार्ट के मत का खण्डन कर दिया है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान ने तो दिखलाया है कि मन नामक कोई वस्तु या गुण विकार है ही नहीं। उसके अनुसार मन का अर्थ कुछ व्यापार है, जिन्हें आज कल मशीन भी कर रही हैं अतः आजकल प्रश्न उठाया गया है—क्या मशीनें सोच सकती हैं ? यह उल्लेखनीय है कि सोचना डेकार्ट के अनुसार मन का गुण था। अनेक दार्शनिकों ने सोचने की क्रिया का विश्लेषण किया है। कुछ लोगों ने कहा है कि सोचना प्रश्न हल करना है और यह कार्य मशीनें कर रही हैं, अतः मशीनें सोच रही हैं। अन्य लोगों का कहना कि सोचना अपने चरित्र का निर्माण करना है और यह कार्य मशीनें कर रही हैं इसीलिए मशीनें नहीं सोच नहीं सकती हैं।

मनोविश्लेषण ने व्यवहारवादी मनोविज्ञान का खंडन करते हुए मन को एक मौलिक और स्वतंत्र तत्त्व माना है जो मुख्यतः इच्छा करता है। फ्रायड

ने इसका सूक्ष्म विवेचन किया है और अब सामान्यतः उन व्यापारों को भी मानसिक समझा जाने लगा है जिन्हें पहले पूर्णतया शारीरिक माना जाता था। फ्रायड के मनोविश्लेषण के अनुसार इड, ईगो और सुपर—ईगो ये तीन मन के रूप हैं। इड अचेतना है; ईगो अहं-चेतना (अहंकार) है और सुपर-ईगो नैतिक चेतना है। किन्तु मन की समस्या का हल केवल मनोविज्ञान के भरोसे नहीं किया जा सकता। इतिहास, समाज-विज्ञान, राजनीति, नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र भी इस समस्या के हल प्रस्तुत करते हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इन सभी विज्ञानों के प्रभाव से आधुनिक युग में मन की समस्या प्रतीक निर्धारणवाद और स्वातंत्र्यवाद की समस्या है। मानव स्वतंत्रता क्या है? क्या मनुष्य के कार्य यंत्रवत् निर्धारित हैं? अथवा क्या वह किसी अर्थ में स्वतंत्र है? स्पष्ट है कि आधुनिक विज्ञान-दर्शन में इस प्रश्न के दो हल हैं। एक हल कहता है कि मनुष्य स्वतंत्र है और दूसरा कहता है कि मनुष्य नियंत्रित है। हाइसेनबर्ग की खोजों से निर्धारणवाद स्वयं भौतिक जगत् की व्याख्या में असफल हुआ है।

अब स्पष्ट है कि यद्यपि विज्ञान-दर्शन ने प्राचीन दर्शन की अनेक समस्याओं का हल प्रस्तुत किया है तथापि कुछ ऐसी भी समस्याएँ हैं जिनका हल उसने नहीं दिया है। जो लोग मानते हैं कि विज्ञान-दर्शन ही दर्शन है उनके सामने अभी तक हल न किये गये प्रश्नों की चुनौती है किन्तु जो लोग मानते हैं कि दर्शन का क्षेत्र विज्ञान-दर्शन के क्षेत्र से बड़ा है और विज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त भी दर्शन की शाखाएँ हैं जो उसके द्वारा हल न किये गये प्रश्नों का हल कर सकती हैं उनके लिए विज्ञान-दर्शन तथा दर्शन के समन्वय की चुनौती है। हर प्रकार से विज्ञान-दर्शन अनुपेक्षणीय है। दार्शनिक जगत् की वर्तमान क्रियाओं पर सबसे अधिक प्रभाव जिस विचारधारा का पड़ रहा है वह विज्ञान-दर्शन ही है। अतः विज्ञान-दर्शन की पद्धति का अनुसरण करना और अभी तक हल न किये गये प्रश्नों के हल की ओर उस पद्धति से बढ़ना एक युगीन दार्शनिक कार्य है।

6. सर्जनात्मक विकासवाद : बर्गसां

बर्गसां के योगदान का पुनर्मूल्यांकन :

समकालीन दर्शन के अन्तर्गत हेनरी बर्गसां का अपना एक विशिष्ट स्थान है। उन्होंने दार्शनिक चिन्तन से संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण पूर्व-धारणाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया और उन्हें निराधार तथा भ्रामक सिद्ध करने की चेष्टा की है। दार्शनिक चिन्तन निःसन्देह उनके इन प्रयासों से समृद्ध ही नहीं हुआ अपितु उसे इनसे अपनी नवीन दिशाएँ भी प्राप्त हुई हैं। फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्व-वाद जैसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोणों की पृष्ठभूमि में बर्गसां के चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और उन्हें यदि चिन्तन की इन नूतन कड़ियों के प्रवर्तक के रूप में प्रस्तुत किया जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। यही कारण है कि वर्तमान में पुनः इनके दृष्टिकोण के पुनर्मूल्यांकन का प्रयास हो रहा है और इन्हें फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद की एक महत्त्वपूर्ण पूर्व-कड़ी के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही है। अपनी सम्पादित पुस्तक 'फिलॉसफी इन दि ट्वेन्टीयथ सेन्चुरी' के तृतीय खंड में बैरेट पुनर्मूल्यांकन की इस आवश्यकता पर विशेष बल देते हैं।[1] वे कहते हैं कि हमें बर्गसां के परिकल्पनात्मक दर्शन को स्वीकार करने में संकोच हो सकता है क्योंकि इतिहास जिस मोड़ पर है, उसमें परिकल्पनात्मक दर्शन में आस्था की सम्भावना पुनः उभरती हुई दिखलाई नहीं देती। परिकल्पनात्मक दर्शन की अवहेलना ही आज के युग के चिन्तन की विशेष माँग है। किन्तु बर्गसां के दर्शन का वह दूसरा पक्ष, जिसमें उन्होंने 'मूर्त' अनुभूति की ओर प्रत्यावर्तन की माँग व्यक्त की है, विशेष महत्त्वपूर्ण है

---

1. A revaluation "that will avoid the excess of acclaim at the high peak of his fame or the present low-water mark of disparagement, in any case, it is certainly time that he was re-read," p, 137.

और आगामी दार्शनिक चिन्तन के पथ को प्रशस्त करनेवाला है। बर्गसां के चिन्तन का यह पक्ष स्पष्ट रूप से फेनॉमेनॉलॉजोकीय तथा अस्तित्ववादी दार्शनिकों के लिए प्रारम्भ बिन्दु प्रदान करता है, यद्यपि कहीं भी बर्गसां ने अपनी दार्शनिक अध्ययन विधि को इन नामों से प्रस्तुत नहीं किया है।

बर्गसां के चिन्तन में मूर्त की ओर इस प्रत्यावर्तन से संबद्ध एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है कि 'प्रज्ञा'[1] उस मूर्त को व्यंजित करने में मूलतः असमर्थ है। बर्गसां की दृष्टि में प्रज्ञा केवल सतही ज्ञान प्रस्तुत करती है, उसका एक व्यावहारिक महत्त्व भी है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से उस ज्ञान का मूल्य शून्यप्राय ही है। अतएव यदि हमें सत् को उसके यथार्थ रूप में जानना है तो हमें अपनी इस सहजवृत्ति का, सत् को प्रज्ञा की कोटियों में बाँधने की प्राकृतिक वृत्ति का, परित्याग करना होगा। पुनः, बर्गसां के विचार में प्रज्ञा की अपेक्षा सहजवृत्ति, अन्ततः अन्तःप्रज्ञा—यथार्थता के अधिक निकट है। अन्तःप्रज्ञा सहज तादात्म्य द्वारा जानती है और इसलिए तात्त्विक दृष्टि से प्रज्ञा की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतएव तत्त्व को जानने की दृष्टि से प्रज्ञा के प्रयास कुछ उसी तरह के प्रतीत होते हैं जिस प्रकार कोई हिपोपोटैमस मटर की फली को उठाने के लिए अनवरत प्रयास करे फिर भी असफल रहे।[2] पुनः प्रज्ञा की गतिविधि के बारे में किर्कगार्ड की भाषा का प्रयोग करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह तो एकान्तिक विभाजनों–'आइदर ऑर'–की बात करती है, किन्तु यथार्थ के विषय में इस प्रकार की एकान्तिकता की चर्चा करना निश्चित ही भ्रामक है। अन्य शब्दों में, यथार्थ को प्रज्ञा द्वारा सर्जित कृत्रिम द्वैतों में बाँधने का प्रयास कभी भी सफल नहीं हो सकता।

प्रज्ञा सम्बन्धी बर्गसां के इन निष्कर्षों की अध्यात्मवादी[3] दार्शनिकों के निष्कर्षों से पर्याप्त सदृशता है। समकालीन भारतीय दार्शनिकों को यदि छोड़ भी दिया जाय तो भी पाश्चात्य दार्शनिकों में से अनेक ऐसे मिलेंगे जिन्होंने अपने चिन्तन में प्रज्ञा की सीमाओं को पर्याप्त स्पष्टता के साथ व्यंजित करने

---

1 (इस अध्याय में प्रज्ञा शब्द का प्रयोग Intellect के लिए किया गया है।

2. "A hippopotamus struggling to pick up a pea", Philosophy in the 20th Century. Vol. III, p. 139.

3. इस अध्याय में आइडियलिज्म के लिए अध्यात्मवाद शब्द का प्रयोग किया गया है।

की चेष्टा की है। बहुत निकट के दार्शनिकों में यदि हम ब्रैडले को ही लें तो स्पष्ट हो जायेगा कि 'प्रज्ञा' के माध्यम से ही उन्होंने प्रज्ञा की सीमाओं को अपूर्व कौशल के साथ प्रस्तुत किया है। उनके बृहत् ग्रन्थ 'अपियरेन्स एण्ड रियेलिटी' का प्रथम खण्ड इस निष्कर्ष को एक विशेष सार्थकता के साथ प्रस्तुत करता है कि प्रज्ञा की विभिन्न कोटियों की मध्यस्थता से हम सत् को नहीं प्रत्युत् उसके आभासी स्वरूप को ही प्राप्त कर सकते हैं। अतः सत् को ठीक उसी रूप में जिस रूप में वह यथार्थतः है, हम प्रज्ञा के माध्यम से अनावृत नहीं कर सकते। सत् की प्राप्ति हेतु हमें 'प्रज्ञा' का अतिक्रमण कर एक उच्चतर अनुभूति में अवस्थित होना होगा। इस ध्वनि विशेष की दृष्टि से ही इस अनुभूति को उन्होंने 'अतिप्राज्ञ' या 'अतिसम्बन्धात्मक' कहा है। पुनः, अपनी सम्पूर्णता के लिए प्रज्ञा स्वयं 'अतिप्राज्ञ' की अपेक्षा करती है, इस बात को भी ब्रैडले ने नितान्त सहजता एवं स्पष्टता के साथ बार-बार अनेक सन्दर्भों में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। वे इस माँग की पृष्ठभूमि में विद्यमान सत् के स्वरूप को भी अनावृत करना नहीं भूलते। उनका कहना है कि इस समर्पण तथा अतिप्राज्ञ बोध में अवस्थित होने की कामना के मूल में प्रज्ञा का वस्तुतः एक अधिक बृहत्, व्यापक एवं मूर्त चेतना से आप्लावित होना है। यदि प्रज्ञा मात्र प्रज्ञा होती, तो किसी भी स्थिति में अपनी विशिष्टता का समर्पण करना उसके लिए सम्भव न होता, किन्तु प्रज्ञा के वैशिष्ट्य के मूल में ,एक अधिक व्यापक चेतना विद्यमान है, जिससे वह आप्लावित है किंतु जिसकी उपस्थिति के प्रति वह सामान्यतः उदासीन रहती है। सत् के साक्षात् का मार्ग प्रशस्त करने के लिए इस उदासीनता का परित्याग नितान्त अनिवार्य है।

युक्तियों के वैषम्य के बावजूद ब्रैडले के इन विचारों की प्रतिध्वनि हमें बर्गसां में भी मिलती है। वे भी 'प्रज्ञा' में एक अधिक मूल एवं व्यापक चेतना को अन्तर्भूत मानते हैं। इस मूल सत् को इन्होंने, 'एलान-वाइटल' तथा 'चेतना' जैसे शब्दों के माध्यम से प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की है। किन्तु वे स्पष्ट कहते हैं कि इन शब्दों के प्रयोग से वे मात्र उसकी गत्यात्मकता[1] तथा प्रज्ञा के माध्यम से व्यंजित होने की असम्भावना को ही प्रस्तुत करना चाहते हैं।

प्रज्ञा विषयक इन निषेधात्मक निष्कर्षों की दृष्टि से बर्गसां अध्यात्मवाद के

---

1. वर्तमान सन्दर्भ में बर्गसां द्वारा 'गत्यात्मकता' शब्द का प्रयोग सामान्य से भिन्न अर्थ में किया गया है। यह 'गत्यात्मकता' प्रज्ञा के 'गत्यात्मक-अगत्यात्मक' विभाजन के अन्तर्गत बाँधी हुई 'गत्यात्मकता' से भिन्न है।

विरोधी होते हुए भी उसके अत्यधिक निकट आते प्रतीत होते हैं। सम्भवतः जिस अध्यात्मवाद का उन्होंने खण्डन किया है वह विशुद्ध प्रज्ञा-केन्द्रित अध्यात्मवाद है। ब्रैडले, कांट आदि महान् पाश्चात्य दार्शनिक तथा श्री अरविन्द, कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य आदि समकालीन भारतीय दार्शनिक निश्चित ही इस कोटि में नहीं आते और न ही बर्गसां तथा अस्तित्ववादी आलोचनाओं से उनके दृष्टिकोण को तथा उससे सम्बद्ध अध्यात्मवादी निष्कर्षों को कोई क्षति ही पहुँची है।[1]

अतएव विषय की ओर प्रत्यावर्तन करते हुए हम कहना चाहेंगे कि बर्गसां का दृष्टिकोण मूलतः एक प्रज्ञा विरोधी दृष्टिकोण है। उन्होंने प्रज्ञा के व्यावहारिक पक्ष की—उसकी उपादेयता की—विस्तृत चर्चा की है, किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि सत् को प्रस्तुत करने की उसकी महत्वाकांक्षा एक विकृत महत्वाकांक्षा है और दार्शनिकों ने उसकी इस महत्वाकांक्षा के अनौचित्य पर गौर न कर उसके समक्ष शत-प्रतिशत अपने आपको समर्पित कर अपने को गुमराह ही किया है। 'क्रियेटिव एवोल्यूशन' तथा उनकी अन्य पुस्तकें विभिन्न सन्दर्भों में इसी आशय को अत्यधिक सुस्पष्टता से प्रस्तुत करने के अनवरत प्रयास की परिणाम हैं।

इन निष्कर्षों के समर्थन में बर्गसां प्रज्ञा द्वारा सर्जित काल को यथार्थ काल से—जो एक अपूर्व एवं सहज प्रक्रिया है, पृथक् करते हैं।[2] प्रज्ञा द्वारा सर्जित काल, जिसका हम व्यवहारिक स्तर पर तथा विज्ञान के अनुसंधानों में निरन्तर प्रयोग करते हैं, एक कृत्रिम संरचना है, जिसके घटक अपरिवर्तनीय एक जैसी अनगिनत इकाइयाँ हैं और इस परिवर्तन से अछूती एक जैसी इकाइयों के क्रम को सामान्यतः काल की संज्ञा दी जाती है। ये अपरिवर्तनीय इकाइयाँ मात्र एक क्रम में प्रस्तुत होकर किस प्रकार उस सत् का, जिसे बर्गसां

---

1. ब्रैडले के विद्यार्थी परिचित ही होंगे कि किस प्रकार ब्रैडले एक ओर 'आत्मा' (Self) को और दूसरी ओर 'स्वयं अपने में वस्तुएँ (Things in themselves) को समान रूप से आभास मानते हैं। वर्तमान सन्दर्भ में 'आभास' शब्द से उनका अभिप्राय सत् के उस रूप से है जो प्रज्ञा एवं उसकी कोटियों की मध्यस्थता से व्यंजित होता है और जो तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से अपर्याप्त है।
2. बर्गसां के दर्शन में प्रक्रिया शब्द को भी प्रज्ञा प्रदत्त सामान्य ध्वनि से नियुक्त करके ही समझना होगा।

ने काल की संज्ञा दी है, प्रतिनिधित्व कर सकती हैं, जो एक अनवरत प्रक्रिया है और जिसके घटकों की तथा उन घटकों की परस्पर सम्बद्धता की सुस्पष्ट, साफ ढली हुई कल्पना सम्भव ही नहीं है ? यह प्रक्रिया एक सतत प्रवाह है—जल के प्रवाह के सदृश, जिसमें सुस्पष्ट इकाइयों तथा उनके बीच की विभाजन रेखाओं के अस्तित्व की कल्पना हो ही नहीं सकती। उन इकाइयों का सृजन तथा उनकी सीमाओं तथा विभाजन रेखाओं में क्रमशः निखार तो प्रज्ञा का ही कार्य है, जो प्रवाह को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। अन्य शब्दों में, प्रज्ञा की चयनात्मक ग्रहण विधि ही उस प्रवाह में खंडों का, यानी सुस्पष्ट इकाइयों का सृजन कर देती है। पुनः वह उन स्वनिर्मित खंडों तथा घटकों को अनेक कृत्रिम सूत्रों द्वारा आबद्ध कर सम्पूर्ण को उनके माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास करती है। अतएव प्रज्ञा को इस विशिष्ट शैली की अनिवार्यता या विवशता को यदि हम सत् पर आरोपित करें तो यह सर्वथा अनुचित होगा। क्योंकि प्रज्ञा की चयनात्मक विधि का एक व्यावहारिक प्रयोजन है और इसी दृष्टि से उसकी सार्थकता भी है; पर व्यावहारिक दृष्टि से सार्थक एवं महत्वपूर्ण होते हुए भी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से उसका मूल्य नगण्यप्राय है।

अतः यदि सत् को या काल को (बर्गसां के दर्शन में इन दोनों ही शब्दों को पर्यायवाची माना गया है) उसकी यथार्थता में ग्रहण करना है, तो हमें उसे अविभक्त रूप में ग्रहण करना होगा और उसके स्वरूप से परिचित होने के लिए हमें मानवीय चेतना के अन्तरतम में प्रविष्ट होना होगा। इस सन्दर्भ में बर्गसां आत्मा विषयक सामान्य कल्पना की अपर्याप्तता को प्रस्तुत करते हैं। अपनी पुस्तक 'टाइम एण्ड फ्री विल' के द्वितीय अध्याय में इस प्रश्न पर वे अपने विचार विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मनोविज्ञान के अन्तर्गत 'आत्मा' का जो स्वीकृत रूप है और जिसका समर्थन दार्शनिक जगत् में अनेक वादों के अन्तर्गत हुआ है, उसमें वह मनःस्थितियों के अखंडित क्रम के रूप में ही प्रस्तुत की जाती है। इस 'अखंडित क्रम' की पृष्ठभूमि में विद्यमान स्वीकृतियों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बेर्गसां कहते हैं कि इन स्वीकृतियों के कारण चेतना का मूल रूप निश्चित ही विकृत हो जाता है।

इस सन्दर्भ में बर्गसां दो प्रकार के वैविध्य को स्वीकारते हैं। एक तो ठोस पदार्थ-जगत् का वैविध्य है, जिसका प्रत्येक घटक वैशिष्ट्यसम्पन्न एक स्वपर्याप्त इकाई है और अन्य अपनी जैसी इकाइयों से पृथक् तथा बाह्य है और उनके साथ केवल 'सानिध्य' के सम्बन्ध से सम्बन्धित है। अन्य शब्दों में,

ये सभी इकाइयाँ तथा इनका वैविध्य 'देश' जैसे सजातीय माध्यम[1] की अपेक्षा करती हैं। और 'देश' में अवस्थित होने के कारण ही इन्हें गिना जा सकता है। विपरीततः, चेतना के स्वरूप का यदि हम अध्ययन करें तो वहाँ भी हमें एक 'वैविध्य' का साक्षात्कार होता है, किन्तु उस वैविध्य के घटकों को हम इस प्रकार वैशिष्ट्य सम्पन्न, एक दूसरे से बाह्य और सहअस्तित्ववान नहीं पाते। एक-एक घटक, या वर्तमान सन्दर्भ में यदि इन घटकों के लिए हम 'पल' शब्द का प्रयोग करें तो एक-एक पल, विशिष्ट एवं अपूर्व है। किन्तु वह 'विशिष्ट' एक दूसरे अर्थ में है। प्रत्येक 'पल' बीते हुए पलों की प्रकृति से रंजित और भावी पलों को रंजित करने वाला है यानी अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के 'पल' एक दूसरे में सम्पूर्ण रूप से अन्तर्प्रविष्ट रहते हैं। इनके बीच निश्चित सीमाओं का निर्धारण असम्भव है। अन्य शब्दों में, प्रत्येक 'पल' की विशेष ध्वनि-निर्माण में अतीत पल भी समग्र रूप सम्मिलित हैं। अतएव उनमें इस प्रकार की 'बाह्यता' की कल्पना सम्भव नहीं जिस प्रकार की बाह्यता रेखा के अनगिनत बिन्दुओं के बीच होती है।

किन्तु सामान्यतः हम अपनी आदत के कारण इन पलों को भी प्रथम प्रकार के वैविध्य की भाँति ही चित्रित कर लेते हैं और ठोस पदार्थ-जगत् की विभिन्न इकाइयों के विषय में जो सत्य है, ठीक उसे ही चेतन जगत् के सन्दर्भ में भी सत्य मान लेते हैं। अन्य शब्दों में, इन पलों को हम एक दूसरे से पृथक् एवं बाह्य, वैशिष्ट्सम्पन्न तथा एक विभिन्न अनुक्रम की सदस्यता ग्रहण करते हुए ही प्रस्तुत करते हैं और अनुक्रम के इन सदस्यों को साहचर्य के नियम से नियंत्रित भी मान लेते हैं। पर सादृश्यानुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैविध्य सम्बन्धी प्रथम प्रकार की कल्पना की भाँति आन्तरिक जगत् की घटनाओं से सम्बन्धित यह कल्पना भी अनिवार्यतः 'देश' सदृश एक-एक रूप-माध्यम की अपेक्षा करती है जिसे 'काल' की संज्ञा दी जाती है। पुनः, परोक्षरूप से इस एकरूप माध्यम की स्वीकृति के कारण यह भी सोच लिया जाता है कि पलों की भी उसी प्रकार की गणना सम्भव है जिस प्रकार पदार्थ-जगत् की विभिन्न वस्तुओं की गणना सम्भव है। किन्तु उनकी समग्रता, अपूर्वता एवं विशिष्टता के कारण, इन पलों की गणना सम्भव नहीं।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि गणितीय काल एक 'चिह्न' है; एक 'प्रतीक' है; अन्ततः एक ऐसी कल्पना है जिसकी एक विशेष दृष्टि से, उपादेयता है।

---

1. Homogeneous medium.

सामान्य जीवन में तथा गणित एवं विज्ञान में जहाँ परिमाण ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण होता है, सत् के गुणात्मक पक्ष की अवहेलना की जाती है। यही नहीं, 'गुण' को परिमाण के आधार पर स्पष्ट करने की चेष्टा की जाती है। किन्तु चेतन जगत् से सम्बद्ध तथ्यों के विषय में इस प्रकार का सरलीकरण—किसी विशेष प्रयोजन की दृष्टि से भले ही अनिवार्य हो, तात्त्विक दृष्टि से वह अवांछनीय ही नहीं, घातक भी है।

चेतन जगत् से सम्बद्ध विभिन्न तथ्य—यानी हमारी विभिन्न मानसिक स्थितियाँ, इतनी तरल एवं अस्थायी होती हैं, कि उन्हें सुस्पष्ट, आण्विक एवं बाह्य रूप से सम्बन्धित इकाइयों में परिवर्तित करने का प्रयास अनुचित है। अपनी पिघलने वाली तथा अन्तःप्रवेशकारी प्रवृत्ति एवं प्रकृति के कारण इन्हें पृथक् एवं एक-दूसरे से बाह्य प्रस्तुत करना निश्चित ही उनकी प्रकृति को विकृत करना है। बर्गसां कहते हैं कि यदि इनमें से किसी भी एक 'पल' पर, अनुभूति के किसी एक जीवंत क्षण पर, अधिक समय तक हम अपने ध्यान को बनाये रखें तो यह निश्चित है कि उसमें अपनी इस प्रक्रिया द्वारा हम गुणात्मक परिवर्तन ले आयेंगे। अतएव इन विशुद्ध गुणात्मक मनःस्थितियों को मात्र परिमाण में प्रस्तुत करने का प्रयास निश्चित ही भ्रामक है और हमारी उस ज्यामितीय वृत्ति का परिचायक है, जो एक विशेष क्षेत्र एवं विशिष्ट प्रयोजन के लिए अनुकूल एवं उपयोगी होते हुए भी वर्तमान प्रयोजन की दृष्टि से स्पष्टतः अननुकूल है। इसी प्रवृत्ति के अधीन होकर हम रेखा में अवस्थित सह-अस्तित्वान बिन्दुओं की भाँति इन पलों की कल्पना कर लेते हैं और इन्हें एक 'अनुक्रम' में वाह्य रूप से सम्बद्ध सह-अस्तित्वान् इकाइयों के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[1] अन्य शब्दों में, इस अनुक्रम का प्रत्येक सदस्य जैसा कि पहले ही

---

1. "We exteriorize them "alongside one another; in a word, we project time into space. we express duration in terms of extensity, and succession thus takes the form of a continuous line on a chain, the parts of which touch without penetrating one another"

"We cannot introduce order among terms without first-distinguishing them and then comparing the places which they occupy; hence we must perceive them as multiple, simultaneous and distinct; in a word, we set them side by side, if we introduce an order in what is successive,

कहा जा चुका है, एक सुस्पष्ट एवं निश्चित इकाई है, एक दूसरे से वाह्य है और मात्र साहचर्य के नियम से सम्बन्धित है। पर बर्गसां के विचार में किसी भी 'पल' के विषय में, यानी किसी भी जीवंत अनुभूति के विषय में इस प्रकार की दृष्टि भ्रामक है। क्योंकि इन अनुभूतियों में किसी प्रकार के अपरिवर्तनीय आंतरिक तत्त्व की कल्पना सम्भव ही नहीं है। पर उपरोक्त चित्र इसी परोक्ष स्वीकृति और अन्ततः देश जैसे एक भिन्न, एक रूप माध्यम सम्बन्धी स्वीकृति पर आधारित है। पुनः बर्गसां कहते हैं 'देश' तथा 'काल' यदि दो एकरूप माध्यम हैं तो अन्ततः वे दो न होकर एक ही है। वस्तुतः 'देश' तथा 'काल' उसी एकरूप माध्यम के विभिन्न संदर्भों में दिये हुए दो नाम हैं और इनका महत्व केवल प्रतीकात्मक है।

निष्कर्षतः वे कहते हैं, विशुद्ध पल एक वैषम्य[1] है। दो पल कभी एक जैसे हो ही नहीं सकते। जब हम एक-जैसे पलों की कल्पना करते हैं तो वस्तुतः विशुद्ध काल को देश जैसे माध्यम में किये हुए प्रक्षेपण से विकृत कर देते हैं। एक ऐसे पल की यदि हम कल्पना करें जो सहसा 'सचेतन' हो सके तो वह अपने को केवल एक सतत परिवर्तनशील गति के रूप में ही अनुभव करेगा किन्तु उसके बाद यदि एक तटस्थ होकर वह अपने को 'विषय' रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करे तो निश्चित ही वह अपने को एक सुनिश्चित इकाई के रूप में और अपनी जैसी अन्य इकाइयों से भिन्न ही प्रस्तुत करेगा। लेकिन यह भी निश्चित है कि इस कल्पना में 'देश' में उसका परोक्ष प्रक्षेपण हो चुका है[2] और विशुद्ध काल के रूप में उसका अपनी अस्तित्व उसके इस प्रयास द्वारा आच्छादित हो चुका है।

इस देश जैसे एक रूप माध्यम के रूप में 'काल' की कल्पना प्रज्ञा की दृष्टि से अनिवार्य है, किन्तु सत् की तात्त्विक प्रस्तुति की दृष्टि से निश्चित ही

---

the reason is that succession converted into a simultaneity and is projected into space," *Time and Free will.*, pp. 101-2.

1. Heterogeneity—"from the moment when you attribute the least homogeneity to duration, you surreptitiously introduce space." Time and Free will, p. 104.
2. What we call measuring time is nothing—but "counting simultaneities." Ibid., p. 103, 105. & 109.

वह भ्रामक है।[1] विशुद्ध सत् जो, अन्ततः विशुद्ध काल है, और जिसके स्वरूप की झलक हमें चेतना के अनवरत प्रवाह में मिलती है, उसमें मनः स्थितियों की सांतरता का प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

इस प्रसंग में सुषुप्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि हम काल को मापने नहीं वरन् उसका अनुभव करते हैं और इस दृष्टि से परिमाण से वह गुण में प्रत्यावर्तित होता हुआ दिखायी देता है।[3]

प्रश्न यह है कि फिर हमें वैषम्य रहित एकरूप काल का भ्रम कैसे होता है ? प्रत्युत्तर में बर्गसां कहते हैं कि हमारी चेतना केवल सतही रूप से बाह्य जगत् के संपर्क में आती है। इस संपर्क के फलस्वरूप जो संवेदनाएं हमें प्राप्त होती हैं वे क्रम में आती हुई, परस्पर एक दूसरे में पिघलती हुई भी एक दूसरे से किंचित वाह्यता बनाये रखती हैं। संभवतः इस वाह्यता को वे अपने स्रोत से प्रतिबिंबित करती हैं। इस प्रकार स्रोत से अनिवार्य साहचार्य के कारण ये मनःस्थितियाँ, जो मूलतः अपृथक् हैं, यानी एक दूसरे से आन्तरिक रूप से संबद्ध एवं रंजित हैं, एक रूप माध्यम में प्रक्षेपित होने के कारण (जो प्रज्ञा तथा उससे संबद्ध जीवन के लिए नितान्त अनिवार्य है) सांतर एवं बाह्य प्रतीत होती हैं।[4]

---

1. "Time is a medium in which our conscious states form a discrete series so as to admit of being counted, if on the other hand our conception of number ends in spreading out in space everything which can be directly counted, it is to be presumed that time understood in the sense of a medium in which we make distinctions and count is nothing but space."
   Ibid, p. 91, pp. 125–126.
2. The deep seated self which ponders and decides, which heats and blazes up, is a self whose states and changes permeate one another and undergo a deep alteration as soon as we separate them from one another in order to set them out in space." Ibid., pp. 125–126.
3. "We no longer measure duration, but we feel it; from quantity it returns to the state of quality." Ibid., p. 126.
4. "Our ego comes in contact with the external world at its

चेतना की इसी सतही कृत्रिम संरचना को बर्गसां प्रज्ञा की दृष्टि से अनिवार्य मानते हैं। इसका अपना एक व्यावहारिक महत्त्व भी है किन्तु एक प्रक्षेपण के अतिरिक्त इसकी वास्तविकता ही क्या हो सकती है ? ब्रैडले के विद्यार्थी 'आभास और सत्' के प्रथम खण्ड में 'काल' विषयक उनके निष्कर्षों से और प्रज्ञा द्वारा सर्जित विश्व की सीमा सम्बन्धी सामान्य निष्कर्षों से भलीभांति परिचित हैं। उन निष्कर्षों की एक अपूर्व प्रतिध्वनि हमें बर्गसां में मिलती है जबकि वे यह कहते हैं कि इस प्रकार की विखण्डित आत्मा, सामान्य रूप से सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से और विशेष रूप से भाषा की आवश्यकताओं की दृष्टि से अधिक उपयोगी है किन्तु अनिवार्यतः सापेक्ष संरचना होने के कारण इसमें आत्मा के मूल स्वरूप की अवहेलना होती है।[1]

पुनः इस प्रकार की विखंडित आत्मा सामाजिक आवश्यकताओं से नियंत्रित एक अनिवार्य सर्जना है--अपने इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए बर्गसां कहते हैं कि सफलतापूर्वक सामाजिक जीवन् व्यतीत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी संवेदनाओं एवं अनुभूतियों को शब्दबद्ध करें किन्तु शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया में हम इस बात को भूल जाते हैं कि जिस तथ्य को शब्दबद्ध किया जा रहा है, वह नितान्त तरल एवं परिवर्तनीय है, और उसे शब्दों का एक कृत्रिम बाना अभिव्यंजना की अनिवार्यता के लिए ही पहनाया जा रहा है। इसके साथ ही जिस मूलस्रोत से वह संबद्ध है, उसकी स्थैतिकता भी नितान्त सहजता के साथ उसमें प्रक्षेपित हो जाती है। इस प्रकार जो तरल है, प्रवहमान है, उसे आकार एवं सुनिश्चितता सम्पन्न विशिष्ट सांतर इकाई का रूप प्राप्त हो जाता है।[2]

---

surface; our successive sensations, although dissolving into one another retain something of the mutul externality which belongs to their objective causes; and thus our superficial psychic life comes to be pictured without any great effort as set out in a homogeneous medium." Ibid., p. 125.

1. Thus refracted, "the self is better adapted to the requirements of social life in general and language in particular, consciousness prefers it and gradually loses sight of the fundamental self" *Time and free Will*, p. 128.
2. "Our outer and, so to speak, social life is more practically

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि बर्गसां आत्मा के दो स्वरूपों के अंतर को स्पष्ट करते हैं। एक उसका स्पष्ट, सुनिश्चित किन्तु निर्वैयक्तिक स्वरूप है, जिसे अनुभववादी दार्शनिक अपने तरीके से प्रस्तुत करते हैं और दूसरा अव्यवस्थित, सतत परिवर्तित एवं अवर्णनीय स्वरूप हैं जिसकी तरलता तथा अंतर्प्रवेशकारिता को उन्होंने 'काल' की संज्ञा दी है।[1]

इनमें से प्रथम जड़, निष्क्रिय एवं निष्प्राण[2] मनःस्थितियों का, जो साहचर्य के नियम से बँधी हुई है, संघात है। इसी को बर्गसां सतही आत्मा की संज्ञा देते हैं। ह्यूम ने सम्भवतः उसके इसी रूप को अन्तिमता प्रदान की है। दूसरी आत्मा इस सतही आत्मा की कल्पना के लिए एक सतत चुनौती प्रस्तुत करती है। इनमें मनःस्थितियों का अपूर्व मिश्रण है। यहाँ सांतरता का प्रश्न ही नहीं उठता और इसी कारण स्थूल, स्थैतिक, वाह्य इकाइयों की भाँति इन मनःस्थितियों की गणना नहीं हो सकती। इसको वे मूल आत्मा या अंतरंग व्यक्तित्व की संज्ञा देते हैं। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सामाजिक आवश्यकताओं के दबाव के कारण हम इस व्यक्तित्व के प्रति न्याय नहीं कर पाते। हम निजी व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध आवश्यकताओं के कारण तरल को स्थूल सांतरता में परिवर्तित करने के लिए सतत प्रेरित होते रहते हैं और यही नहीं कि ये मनःस्थितियाँ अपने में एक दूसरे से वाह्य प्रतीत होती हैं, वे क्रमश

---

important to us than our inner and individual existence. We instinctively tend to solidify our impressions in order to express them in language. Hence we confuse the feeling itself, which is in a perpetual state of becoming, with its permanent external object, and especially with the word which expresses this object." Ibid., p. 130. Also pp. 131 132.

1. "Each state can be considered in time as quality in which it is produced, or in the time as quantity into which it is projected."—Ibid, p. 129.
2. "By separating these moments from each other by spreading out time in space, we have caused this feeling to lose its life and colour."....Ibid., p. 133, Also, p. 136.

हमसे भी पृथक् एवं वाह्य भी प्रतीत होने लगती हैं ।[1]

किन्तु इसी सन्दर्भ में बर्गसां एक महत्त्वपूर्ण सम्भव भ्रान्ति का भी निराकरण करते हैं । वे वर्तमान सन्दर्भ में जब दो आत्माओं की बात करते हैं तो मानवीय व्यक्तित्व में सह-अस्तित्वान दो व्यक्तियों की चर्चा नहीं करते । विपरीततः, वे कहते हैं, यदि हम सतही व्यक्तित्व की ओर निकटता से ध्यान दें तो हम यह स्पष्ट अनुभव करेंगे कि उसकी सांतरता नितान्त सहजता के साथ स्वतः काफूर हो जाती है और तथाकथित इकाइयाँ एक-दूसरे में पिघलने लगती हैं और यह सब इतनी सहजता से होता दिखाई देता है कि फिर हमारे लिए इस अनुभूति के अन्तर्गत उनके पूर्वस्वीकृत मात्रात्मक वैविध्य को कायम रखना असम्भव हो जाता है । वस्तुतः मनःस्थितियों की सांतरता को हम तभी बनाये रख सकते हैं जब हम उन्हें उनकी वर्तमान यथार्थता में न ग्रहण कर उनके अतीत स्वरूप का ही अध्ययन करें ।[2] एक कृत्रिम मनोविज्ञान कुछ-कुछ ऐसा ही करने की चेष्टा करता है और इसके साथ उसके इन प्रयासों के पीछे परोक्षतः विद्यमान उस मूल परिकल्पना की अयुक्तिपरता का भी हमें स्पष्ट अहसास होता है, जो काल को देश में प्रसारित करती है और आनुक्रमिकता को समकालिकता के केन्द्र में स्थापित करती है ।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि 'आत्मा' के स्वरूप की प्रस्तुति में बर्गसां एक ऐसे 'अव्यवहितत्त्व' की चर्चा करते हैं, जिसे प्रज्ञा की कोटियों में बाँधने का प्रयास कृत्रिम है और इसी कारण तात्त्विक दृष्टि के अनुचित भी है । अपनी पुस्तक 'अपियरेंस एण्ड रियेलिटी' के प्रथम खण्ड में ब्रैडले ने बड़े

---

1. "Little by little, they break off not only from one another but from ourselves. Henceforth, we no longer perceive them except in the homogeneous medium in which we have set their image, and through the word which lends them its common place colour."—Ibid., p. 138.
2. If it restricts itself to the study of what has taken place and leaves out what is going on."—Ibid., p. 139.
3. 'All its efforts will only bring into clearer light the absurdity of the fundamental hypothesis by which it spreads out time in space and puts succession at the very centre of simultaneity."—Ibid., p. 139.

विस्तार से इसी निषेधात्मक निष्कर्ष को प्रस्तुत करने की चेष्टा की है कि अपने अपूर्व वैशिष्ट्य के साथ सत् अनुभूति में ही अभिगम्य है। प्रज्ञा की कोटियों में उसे बाँधने की चेष्टा केवल अनगिनत कठिनाइयों को ही प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि ये प्रयास स्वयं प्रज्ञा को भी स्थायी रूप से संतोष नहीं प्रदान कर पाते हैं। पुनः दूसरे खण्ड में वे यह स्थापित करते हैं कि प्रज्ञा का यह असन्तोष प्रज्ञा को एक ऐसे 'अव्यवहितत्त्व' में अपने को समर्पित करने के लिए प्रेरित करता है जिसमें सत् की अनुभूति उसकी अविभक्त वैशिष्ट्य सम्पन्न सम्पूर्णता में होगी। इस 'अव्यवहितत्त्व' को वे अतिप्राज्ञ अव्यवहितत्त्व[1] की संज्ञा देते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भावात्मक अथवा अभावात्मक दोनों ही दृष्टियों से सामान्यतः प्रज्ञा की सीमाओं के प्रश्न पर और विशेषतः काल के स्वरूप के प्रश्न पर बर्गसां के विचार ब्रैडले के विचारों का समर्थन करते हैं और महत्त्वपूर्ण अर्थ में ये फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववादी चिंतन का सूत्रपात करते हैं।

विश्व के स्वरूप की तत्त्वमीमांसीय प्रस्तुति : 'प्रवाह' (काल) का स्वरूप

बर्गसां के काल सम्बन्धी विचारों की उपर्युक्त प्रस्तुति से स्पष्ट हो गया होगा कि उनकी दृष्टि से गणितीय काल की सीमाओं का स्पष्ट बोध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनसे पूर्व तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से जिन भी सिद्धान्तों ने किसी न किसी रूप में 'गत्यात्मकता' को महत्त्वपूर्ण माना है, ये सभी सम्भवतः गणितीय काल की कल्पना से प्रभावित होने के कारण उसकी तथ्यता के साथ न्याय नहीं कर सके हैं। उन सभी के चिन्तन के मूल में उनका प्रज्ञा-केन्द्रित दृष्टिकोण है और विशुद्ध गत्यात्मकता के साथ न्याय करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि प्रज्ञा केन्द्रीय दृष्टिकोण का अतिक्रमण किया जाय।[2] 'प्रज्ञा' मूलतः कार्य से

---

1. "Supra-relational immediacy."
2. यही नहीं बर्गसां कहते हैं कि प्रज्ञा-केन्द्रित दृष्टिकोण तो हम सभी में विद्यमान है, और उसी के अनुरूप हमारा चिन्तन होता है और इसी को हमारे भीतर का दार्शनिक भी सहज रूप से स्वीकार कर लेता है। वे कहते हैं—

   "The metaphysician that we each carry unconsciously within us....has its fixed requirements, its ready made explanations, its irreducible propositions : all unite in denying concrete duration."—*Creative Evolution*, p. 17.

संलग्न है और उसी दिशा में सक्रिय है—सम्भवतः इसी के लिए प्रकृति ने उसका विशेष रूप से निर्माण भी किया है।[1]

विश्व के जैविकीय तथ्यों का यदि अध्ययन किया जाय तो हमें सर्वत्र सतत परिवर्तनीयता हीं दिखलायी देती है। और यदि इन जैविक तथ्यों के संकेत के आधार पर 'जीवन' को परिभाषित किया जाय तो वह एक ऐसी धारा' दिखलायी पड़ती है जो विकसित अंगियों के माध्यम से बराबर जीवाणु से जीवाणु को सम्प्रेषित होती रहती है।[2]

अतएव जैविकीय जीवन के स्वरूप को यदि हम एक शब्द में प्रस्तुत करना चाहें तो यह कहेंगे कि वह एक ऐसी सत्ता है, जिसमें 'ठहराव' है—'स्थायित्व' एवं सातत्य है। इन शब्दों के प्रयोगों द्वारा यहाँ पर जिस बात को व्यक्त करने की चेष्टा की जा रही है वह यह है कि उसमें अतीत विलम्बित होकर वर्तमान में केवल विद्यमान ही नहीं रहता बल्कि उसमें सक्रिय भी रहता है। इस दृष्टि से अतीत एवं वर्तमान दो पृथक् अस्तित्व नहीं हैं, जो वाह्य एवं आकस्मिक सम्बन्धों से युक्त हैं, बल्कि अतीत स्वयं निलम्बित होकर वर्तमान में परिवर्तित हो जाता है और अपनी अपूर्व ध्वनि से समृद्ध करता है। अन्य शब्दों में, जैविकीय जीवन का प्रत्येक जीवंत क्षण अतीत के भार से बोझिल है और क्योंकि कोई भी ऐसे दो क्षण एक से अतीत का विलम्बन नहीं हो सकते, इसलिए कितनी भी वाह्य सदृशता उनमें क्यों न हो, आन्तरिक दृष्टि से वे एक जैसे हो हो नहीं सकते। प्रौढ़न, परिपक्वन या पकाव—इन शब्दों में उपरोक्त ध्वनि विद्यमान है। बर्गसां कहते हैं कि शब्दों का प्रयोग मूलतः शरीर के लिए किया जाता है। चेतना के लिए तो इन शब्दों का प्रयोग हम केवल आलंकारिक रूप में ही करते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जहाँ भी किसी जीवंत इकाई का अस्तित्व है, वहीं पर हम काल की अमिट छाप प्रत्येक पल अंकित होते हुए देखते हैं।

बर्गसां केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं। वे भौतिक वस्तुओं में भी 'जीवन' के लक्षण देखते हैं। सामान्यतः भौतिक वस्तुएँ उपरोक्त से विपरीत विशेषताओं को प्रस्तुत करती हुई दिखलाई देती हैं। या तो वे ज्यों की त्यों

---

1. Ibid., p. 29.
2. "Life is like a current passing from germ to germ through the medium of developed organism."—Ibid., p. 27.

अपरिवर्तनीय दिखलाई देती हैं या फिर उनमें यदि परिवर्तन होता दिखलाई भी देता है, वह परिवर्तन बाह्य शक्तियों से ही नियंत्रित प्रतीत होता है। पुनः जिन भौतिक इकाइयों के परिवर्तन की बात यहाँ पर हो रही है, वे मूलतः अपरिवर्तनीय ही रहती हैं—केवल उनके अपने स्थान में बदलाव आता रहता है।

एक अन्य स्वीकृति भी इसी के साथ अनिवार्यतः सम्बन्धित है और वह यह कि कालान्तर से इन इकाइयों का अपने पूर्व स्थान पर वापस होना भी सम्भव है।

बर्गसां के अपने सिद्धान्त में भौतिक इकाइयों से सम्बद्ध इन स्वीकृतियों का हमें स्पष्ट निषेध मिलता है। इस जगत् में अस्तित्ववान् कथाकथित भौतिक अथवा अभौतिक सभी इकाइयाँ परस्पर सम्बन्धित हैं। और एक के प्रभाव से शेष सभी अछूती नहीं रहतीं यानी भौतिक एवं अभौतिक सभी इकाइयों का परस्पर साहचर्य है और जिस प्रवाह द्वारा अभौतिक इकाइयों का जीवन अपनी जीवंतता एवं परिपक्वता प्राप्त करता है, उसके स्पर्श द्वारा भौतिक इकाइयों का अस्तित्व भी एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में प्रवाहित होता है।[1] एक उदाहरण द्वारा वे इसे स्पष्ट करते हैं : वे कहते हैं कि यदि मुझे शर्बत बनाने के लिए शक्कर तथा पानी को एक ग्लास में मिलना है तो मुझे शक्कर के घुलने तक रुकना पड़ेगा। इस एक तथ्य के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है और इस 'रुकने' का सीधा सम्बन्ध उस काल से है, जो कल्पित न होकर यथार्थ है और हमारी 'व्यग्रता' में व्यंजित होता है और उससे एकरूप भी है।[2]

निष्कर्षतः वे कहते हैं कि तत्त्वमीमांसीय अर्थ में 'काल' उस प्रवाह का नाम है जिसमें इकाइयों का जीवन 'ढलता' है, यानी 'परिपक्वता' एवं प्रौढ़ता प्राप्त करता है। इस काल में प्रत्येक तथाकथित वर्तमान पर अतीत' की तूलिका का स्पर्श स्पष्ट एवं अमिट होता है। ये सारी विशेषताएँ हमें 'चेतना' में भी मिलती हैं—वह भी इसी अर्थ में सतत प्रवहमान होकर ही अपनी सातत्यता बनाये रखती है।

---

1. ' Wherever anything lives, there is open somewhere, a register in which time is being inscribed."—Ibid ,- p. 16.
2. "It is no longer something thought, it is something lived. It is no longer a relation, it is an (italicized) absolute". Ibid., p. 10.

पुनः इसी सन्दर्भ में गणितीय काल को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि यह तो केवल मानव द्वारा आविष्कृत कृत्रिम तंत्रों पर लागू होता है पर इन तन्त्रों में यथार्थ 'तत्त्वमीमांसीय काल' की गति का सर्वथा निषेध होता है और यदि इनमें काल को स्वीकार किया भी जाता है तो वह प्रभावहीन काल ही है जिसका घटनाओं के आविर्भाव से—उनके ढलाव में, कोई सक्रिय योग नहीं रहता। पुनः बर्गसां कहते हैं कि इन कृत्रिम तंत्रों का आविष्कार निश्चित ही विभिन्न विज्ञानों के अन्तर्गत होता है पर इनका निर्माण कोरा काल्पनिक नहीं है। इनका वस्तुनिष्ठ आधार है। और इस सन्दर्भ में बर्गसां 'जड़' की चर्चा करते हैं जो अपने में बँधे 'तंत्रों के निर्माण की सहज प्रवृत्ति रखता है। इसी प्रवृत्ति को उसकी अन्तिम सीमा तक पहुँचाने का कार्य मानवीय प्रज्ञा का है।

इस प्रश्न पर अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि ये आविष्कृत तंत्र जीवन से ही अपकर्षित हैं और अन्ततः स्पष्ट सूत्रों से उसीसे सम्बद्ध भी हैं। पर अपने सीमित प्रयोजनों के कारण विज्ञान इन सूत्रों की उपेक्षा करता है। पर इन सूत्रों की अन्तंसंबद्धता का यदि अध्ययन किया जाय तो वे उस तंत्र को विश्व की सहज तंत्रता में पुनः अवस्थित करने की दिशा की ओर संकेत करते हैं और इस जीवंत सहज तंत्र में, जिसमें ये अपनी परिपूर्णता प्राप्त करते हैं, काल का अस्तित्व एवं उसकी सार्थकता है। इसी विचार को एक शब्द में बाँधने की चेष्टा करते हुए बर्गसां कहते हैं कि विश्व में 'ऍड्योरेन्स' है, यानी उसमें 'ठहराव' है गति है; और गति द्वारा प्रदत्त है एक अनिवार्य सातत्य।

यंत्रवाद एवं प्रयोजनवाद का खंडन

इसी सन्दर्भ में बर्गसां प्रज्ञा द्वारा विश्व के तत्त्वमीमांसीय स्वरूप को प्रस्तुत करने के विभिन्न प्रयासों की अपर्याप्तता सिद्ध करते हैं। सामान्यतः प्रज्ञा विश्व के स्वरूप को दो कोटियों के माध्यम से प्रस्तुत करने की चेष्टा करती है। और ये क्रम से यंत्रवाद एवं प्रयोजनवाद हैं।

प्रथम 'कोटि' का प्रयोग सामान्यतः विज्ञान में होता है क्योंकि विज्ञान का सम्बन्ध कृत्रिम रूप से आविष्कृत तंत्रों के अध्ययन से है और इस अध्ययन का जीवन यापन की दृष्टि से महत्त्व है। पर सीमित प्रयोजन की दृष्टि से आविष्कृत इन तंत्रों के अध्ययन से जिन निष्कर्षों को प्राप्त किया जाता है उन्हें जीवन की तत्त्वमीमांसीय व्याख्या में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना उनके अपने विचार में

अनुचित है।[1]

इन तंत्रों के स्वरूप का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि इनमें स्वीकृत घटक अपनी वास्तविक प्रकृति की दृष्टि से तथा आपेक्षिक रूप से स्थायी होते हैं पर 'तंत्र' की व्याख्या में इनके स्थायित्व को निरपेक्ष रूप से सत्य मान लिया जाता है। पुनः इन आपेक्षिक रूप से स्थायी घटकों को एक निरपेक्ष स्थायित्व प्रदान करते हुए इन्हें आकस्मिक रूप से सम्बन्धित करते हुए इनसे निर्मित तंत्रों को व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

फलस्वरूप इन 'तंत्रों' में जो कुछ भी प्रस्तुत होता है उसे सम्पूर्णंतः, यानी बिना किसी अवशेष के, उसके घटकों एवं सम्बन्धों में वितरित किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, इन तंत्रों में आप केवल वही प्राप्त करते हैं जो इसके घटकों में बिना अवशेष के विश्लेषणीय हैं। ये सारे घटक आकस्मिक सूत्रों से आबद्ध हैं और इस कारण पुनः स्थापनीय हैं। इस निष्कर्षों को यान्त्रिक इकाइयों के माध्यम से यथा इञ्जन, रेडियो आदि द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

पुनः, इस प्रकार के तंत्रों में यदि गति की कल्पना की भी जाती है तो वह बाह्य नियंत्रित होने के कारण इन तंत्रों के घटकों एवं उनके सम्बन्धों को मूलतः प्रभावित नहीं करती। अन्य शब्दों में, यह गति उन घटकों को केवल स्थानांतरित ही कर सकती है। यही कारण है कि कालान्तर में ये घटक अपने पूर्व स्थान को पुनः प्राप्त कर लेते हैं।

इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार इन तंत्रों की गति एवं उसकी दिशा के विषय में पहले ही से सूचना दी जा सकती है और यदि इस सूचना की सत्यता में कभी कोई अन्तर आता भी है तो, व्यवहारतः, हुआ यह मान लिया जाता है कि वैसा मानवीय गणना की परिमितता के कारण होगा। सिद्धान्ततः तो यह स्वीकार किया ही जाता है कि एक अपरिमित बोध के लिए इस भूल की कोई सम्भावना नहीं हैं। सौर्यमंडल के नक्षत्रों की गति

---

1. "The universe endures-duration means invention the creation of forms, the continued elaboration of the absolutely new, The systems marked off by science endure only because they are bound up inseparatly with the rest of the universe." Ibid., p. 11.

"Its past in its entirety is prolonged into the present and abides there, actual and acting." Ibid., p. 15.

विधि के बारे में पंचांग में वर्ष के प्रारम्भ में ही सूचना दे दी जाती है और यह सूचना प्रायः ठीक ही रहती है।

अतएव यान्त्रिक तंत्रों के आधार पर जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने वालों के विरुद्ध अपने विचार प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि इस प्रकार के तंत्र की कल्पना में 'काल' की निरर्थकता की स्पष्ट ध्वनि हमें मिलती है। कालान्तर में इनमें जो कुछ भी घटित होना है वह एक अपरिमित प्रज्ञा के लिए गणनीय है, यानी उसके लिए वह एक दीर्घकालीन विलम्बित वर्तमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[1] पुनः, जीवन के सन्दर्भ में स्थानान्तरित घटकों का बार-बार अपने पूर्व स्थान को प्राप्त कर लेने की कल्पना को भी वे उचित नहीं मानते। जीवन की यह व्याख्या विज्ञान की सीमित आवश्यकताओं के लिए उपयोगी हो सकती है पर वह जीवन की जीवन्तता के साथ न्याय नहीं कर सकती।

उनके विचार में 'जीवन' की कल्पना 'लुढ़कते हुए बर्फ के खण्ड' के माध्यम से की जा सकती है, जो सतही तौर से देखने में एक ही दीखता है पर जिस किसी भी वस्तु के स्पर्श में आता है उसे अपने साथ समेटता चलता है और इस प्रकार 'परिपक्वता' प्राप्त करता है। जीवन की परिपक्वता में 'स्मृति' का बहुत बड़ा हाथ होता है। यही कारण है कि उसमें पूर्वस्थिति की आवृत्ति की कोई गुंजाइश नहीं रहती। दो बिलकुल एक-सी दीखने वाली स्थितियाँ भीतर से एक-सी नहीं होतीं; यदि उनमें और कुछ अन्तर नहीं तो कम से कम इन दो की मध्यस्थता करनेवाले पलों का अन्तर तो है ही और आन्तरिक रचना की दृष्टि से इस दूरी की अवहेलना नहीं हो सकती। पर यान्त्रिक दृष्टिकोण में हमें इसी तथ्य की अवहेलना मिलती है।

निष्कर्षतः वे कहते हैं कि यदि हमें चेतना की प्रवहमानता के आधार पर प्रकृति की सतत परिवर्तनीयता का बोध हो, तो सम्भवतः उसके स्वरूप के साथ न्याय कर सकने में हम अधिक सफल होंगे।

यन्त्रवादी व्याख्या की अपर्याप्तता सिद्ध करने के पश्चात् वे प्रयोजनवादी

---

1. "The essence of mechanical explanation....is to regard the future and the past as calculable function of the present, and thus to claim all is given. On this hypothesis, past, present and future would be open at a glance to a supper-human intellect capable of making the calculation," Ibid., p. 37.

दृष्टिकोण का—जिसे नियतिवादी दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है, परीक्षण करते हैं।

प्रज्ञा की यह भी एक महत्त्वपूर्ण कोटि है और इसके आधार पर की हुई व्याख्याओं में लाइबनिज के 'पूर्वस्थापित सामंजस्य' के सिद्धांत को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है। लाइबनिज कहते हैं कि विश्व का स्वरूप ईश्वर की सर्जना से नियंत्रित है। इसमें कालान्तर में जो कुछ भी घटित होने को है वह पूर्व नियत है और उसमें एक आंतरिक संगति भी है। 'सभी कुछ ईश्वर की 'कल्पना' से नियंत्रित है'—इसको सिद्ध करने के लिए वे एक घड़ीसाज की कल्पना प्रस्तुत करते हैं जिसने अपनी शिल्पज्ञता द्वारा दो ऐसी घड़ियों का निर्माण किया है, जो अपनी गति में—परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के अभाव में भी, अपूर्व संगति रखती हैं, यानी एक-सा समय बतलाती हैं। इसके साथ ही वे एक अन्य कल्पना भी प्रस्तुत करते हैं। आरकेस्ट्रा में विभिन्न वाद्य सम्मिलित होते हैं पर सभी वाद्य स्वतन्त्र होकर अपनी धुनें इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि उनका परिणाम एक अपूर्व संगति होती है। कुछ इसी प्रकार विश्व का प्रत्येक चिद्‌विन्दु अपने भीतर से इस प्रकार संचालित होता है कि वह अन्य से सहज संगति स्थापित करने में सफल हो जाता है। इस संचालन का श्रेय ईश्वर की अपूर्व दृष्टि एवं सर्जना को है।

प्रयोजनवाद का यह रूप बर्गसां को स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि इसमें भी 'काल' को उसकी 'सक्रियता' से—फलस्वरूप उसकी उपादेयता से, मुक्त कर दिया गया है। इस वाद के अंतर्गत भी कालान्तर में जो कुछ भी स्पष्ट होने को है, एक अपरिमित दृष्टि के सम्मुख वह 'दीर्घकालीन एवं विलंबित वर्तमान' के रूप में प्रस्तुत है। पर काल की यथार्थता इसी में है कि वह अपने स्पर्श से वस्तुओं को ढालता है। अतएव उसके स्पर्श से मुक्त इकाइयों के अस्तित्व की कल्पना भ्रामक है। इसी बात को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि 'वास्तविक काल वह है जो वस्तुओं को अपने दाँतों में समेटता है और उन पर अपनी छाप छोड़ देता है'। पुनः वे कहते हैं 'यदि प्रत्येक वस्तु काल के प्रभाव के अधीन है तो प्रत्येक वस्तु भीतर से परिवर्तित होती है और ऐसी स्थिति में एक-सी ही घटना कभी दोबारा नहीं घटती'।[1]

---

1. "Which gnaws on things and leaves on them the mark of its tooth"....."If everything is in time, everything changes invardly, and the same concrete reality never recurs." Ibid., p. 46.

अतः सामान्यतः अथवा विशेष रूप से विज्ञान के संदर्भ में भी जब 'पुनरावृत्ति' की बात की जाती है तो संभवतः हम जीवन को यथार्थता से दूर अपकर्षित तंत्रों के विषय में ही चर्चा करते होते हैं, अन्य शब्दों में, बार-बार जिस घटना के आवर्तन की हम कल्पना करते हैं, वह जीवन का एक ऐसा पक्ष होता है, जिसे हमारी बुद्धि ने जीवन की समग्रता से इसलिए अपकर्षित कर लिया है कि वह हमारे व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि पूर्व प्रसंगों से स्पष्ट है, बुद्धि कार्य में रुचि रखती है, और कार्य की सफलता के लिए पक्षों के चयन की आवश्यकता है।[1]

यंत्रवाद एवं नियतिवाद की सीमाओं को प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि प्रज्ञा के परिमित माध्यम से सत् के जिस रूप को हम ग्रहण कर पाते हैं, 'जीवन' उससे कहीं अधिक व्यापक है। अतएव यदि हमें जीवन को उसकी मूर्तता में ग्रहण करना है तो हमें प्रज्ञा की कोटियों से मुक्त होकर ही उसे देखना पड़ेगा। और तब हम देखेंगे कि वह 'नवीन का एक अविरत आविर्भाव है'[2] और आविर्भाव के तुरन्त बाद ही वह नितान्त सहजता के साथ अतीत का हो जाता है और इस अवस्था में ही वह प्रज्ञा की पकड़ में आ पाता है। क्योंकि एक बार जब वह सक्रिय वर्तमान से अतीत का हो जाता है तभी वह शेष के साथ क्रमबद्ध किया जा सकता है और तब चाहे हम यंत्रवादी परिकल्पना को स्वीकार करते हुए उसे पूर्ववर्ती स्थितियों के परिणाम के रूप में प्रस्तुत करें अथवा उसमें किसी कल्पित मॉडल की पूर्ति देखें जिसके सभी तत्त्व चिंतन अथवा कल्पना के माध्यम से पूर्व निश्चित हैं, इससे उसकी प्रस्तुति में कोई मूल अन्तर नहीं आता। पर अपने आविर्भाव के पूर्व मूल कार्य या घटना के प्रारूप के विषय में पहले से किसी प्रकार की भविष्यवाणी संभव नहीं क्योंकि जैसा कि अनेक प्रसंगों में कहा जा चुका है, प्रत्येक घटना काल के स्पर्श से विशिष्ट एवं अपूर्व होती है।

बर्गसां पुनः कहते हैं कि यदि यंत्रवाद एवं नियतिवाद दोनों विकल्पों के बीच हमें चुनाव करना ही है, तो प्रथम की अपेक्षा द्वितीय ही सत्य के

---

1. "What is repeated is some aspect that our senses, and especially our intellect have singled out from reality, just because our action....can move only among repetitions." Ibid., p. 46.
2, "A ceaseless upspringing of something new."

अधिक निकट प्रतीत होता है। वे तत्त्वतः विश्व में 'संगति' को स्वीकार करते हैं पर विश्व की यह विशेषता एक संपन्न तथ्य के रूप में अस्तित्ववान नहीं है। वस्तुतः विश्व के तथ्य संगति के स्थान पर असंगति का समर्थन करते हैं। अतएव मूल प्रवृत्ति की एकता के आधार पर ही वे विश्व में संगति की संभावना को स्वीकार करते हैं।[1] परम्परागत नियतिवाद से अपने दृष्टिकोण को पृथक् करते हुए वे कहते हैं कि उसमें एक साथ ही हमें अतिशयोक्ति भी मिलती है और अल्पोक्ति भी। अल्पोक्ति इसलिए कि उसके अनुसार विश्व की प्रक्रिया का चित्र ठीक वही है, जिसे प्रज्ञा प्रस्तुत करती है और प्रज्ञा की सीमाएँ एवं उसकी एकान्तिकता उपरोक्त युक्तियों के आधार पर पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो गयी होगी। पुनः, जिस स्रोत से प्रज्ञा का आविर्भाव हुआ है, उसके साथ एवं उसकी अनगिनत दिशाओं में सक्रिय सर्जना शक्ति के साथ वह कैसे न्याय कर सकता है? और बर्गसां कहते हैं कि यह अतिशयोक्ति इस कारण है क्योंकि इसके अनुसार एक प्रत्यय के रूप में संपूर्ण भविष्य एक विलंबित वर्तमान में ही अस्तित्ववान् है और कालान्तर में उसका अनावृत होना केवल एक आकस्मिक प्रक्रिया है। अन्य शब्दों में, भविष्य के निर्माण में इस प्रक्रिया का कोई वर्णनीय योगदान नहीं है। पर सर्जनात्मक विकासवाद के अनुसार भविष्य के ढालने में काल की प्रक्रिया का अपूर्व योगदान है और अपने आविर्भाव के पूर्व वह एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में अपूर्व दृश्य है।[2]

अपने इन निष्कर्षों का समर्थन बर्गसां जैविकीय तथ्यों के आधार पर करते हैं। इसी प्रसंग में वे विभिन्न विकासवादी सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में अपने सिद्धांत के औचित्य को भी प्रस्तुत करते हैं।

सर्वप्रथम डार्विन के यंत्रवादी सिद्धांत को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि इसके अनुसार जैविक विकास की प्रक्रिया, यानी नूतन जातियों का निर्माण वातावरण से समायोजन की अचेतन यांत्रिक प्रक्रिया से नियंत्रित है। ये अलक्ष्य अचेतन प्रक्रिया से नियंत्रित परिवर्तन कालान्तर में सुरक्षित रहते हैं और संप्रेषण की यांत्रिक प्रक्रिया के आधार पर संप्रेषित होते रहते हैं। फलस्वरूप नवीन जातियों का निर्माण होता रहता है।

---

1. "Harmony, therefore, exists in principal"....it is "rather behind us than before....it is due to an identity of impulsion and not to a common aspiration." Ibid., p. 51.
2. वही, पृ० 52.

इस व्याख्या के विरुद्ध आपत्ति करते हुए बर्गसां कहते हैं कि यदि उपरोक्त व्याख्या सत्य है तो प्रश्न यह है कि किस प्रकार इस परिकल्पना के आधार पर हम कुछ जैविकीय तथ्यों का—जिनकी अवहेलना संभव नहीं, स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर सकते हैं ? प्रायः देखने में आता है कि विकास की दो विभिन्न रेखाओं पर—यानी दो नितांत विभिन्न परिवेशों में एक जैसे जैविकीय परिवर्तन एक ही क्रम में घटित हो और संप्रेषण की प्रक्रिया द्वारा संप्रेषित होते हुए कालान्तर में नवीन जातियों का निर्माण करने में सफल होते हैं।[1] एक उदाहरण द्वारा वे इस कठिनाई की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं—क्या यह संभव है कि दो विभिन्न पथों को तय करने वाली जीवित ईकाइयाँ अपना रास्ता तय करते हुए बिल्कुल एक जैसी वक्र रेखा अंकित करेंगी ?[2] आरथोजेनेसिस के सिद्धांत के विरुद्ध भी उनकी कुछ इसी प्रकार की आपत्ति है : उनका कहना है कि हमारे लिए यह सोचना कठिन है कि किस प्रकार विभिन्न भौतिक रासायनिक परिवेश में एक जैसे परिवर्तन हो सकते हैं ?

लामार्क के सिद्धांत को वे यांत्रिक दृष्टिकोणों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि इसमें इस महत्त्वपूर्ण बात को स्वीकार किया गया है कि परिवेश के प्रति जीव की प्रक्रिया नितांत यांत्रिक नहीं है। इस सिद्धांत में समस्त परिवर्तनों के मूल में अचेतन के स्थान पर चेतन प्रकृति को स्वीकार किया गया है। यह उचित ही है। विकास परिवेश से नियंत्रित होता है—यह सत्य होते हुए भी एक नितांत अमहत्त्वपूर्ण में ही सत्य है। विकास की संपूर्ण प्रक्रिया का अन्तिम निर्धारक एक चेतना या एक प्रेरणा है जिसे लामार्क तथा उनके अनुयायियों ने 'संकल्प' के रूप में प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि विभिन्न दिशाओं में होनेवाले परिवर्तनों में और उनके क्रम में अनेक दृष्टियों से विभिन्नताओं के बावजूद समता है। यह समता किसी अन्य परिकल्पना के आधार पर स्पष्ट नहीं हो सकती।

बर्गसां लामार्क के इस निष्कर्ष से सहमत हैं। पर वे उस मूल चेतन प्रवृत्ति को, जो विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अन्तिम निर्धारक है, केवल 'संकल्प' के रूप में नहीं स्वीकार कर पाते। वह केवल एक ही दिशा में नहीं प्रत्युत् अनेक दिशाओं में घटित हो रही है। इनमें से तीन दिशाएँ प्रमुख हैं और मूल प्रवृत्ति से नियंत्रित होने के बावजूद ये तीनों एक दूसरे को पूरक

---

1. वही, पृ० 68.
2. वही, पृ० 60.

होते हुए भी सापेक्षतः स्वतंत्र हैं। इन तीनों में से सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि के रूप में केवल एक पथ पर मानवीय चेतना से एकीकृत मान लेना उचित नहीं है, क्योंकि वह तो उसको ही अभिव्यंजनाओं के अनेक प्रकारों में से केवल एक ही हैं।

इस प्रकार 'संकल्प' रूप में उसे अस्वीकार करते हुए बर्गसां उसे एक अधिक व्यापक मूल चेतना के रूप में प्रस्तुत करते हैं जो मानवीय चेतना की तुलना में अपनी सर्जनात्मक सामर्थ्य की दृष्टि से सापेक्षतः अपरिमित है। बर्गसां स्पष्टतः इस आलोचना में मानव की सहज मानवत्वारोपी प्रकृति को अस्वीकार करते हुए मूल सत् की सापेक्ष परमता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं : अपनी इस युक्ति द्वारा वे अपरोक्षतः अध्यात्मवादो दृष्टिकोण के परिपक्वतम रूप से संयुक्त हो जाते है।

सर्जनात्मक विकासवाद : आमूल नियतिवाद का निरसन

नव्य-लामार्कियन दृष्टिकोण से अपने दृष्टिकोण को पृथक् करते हुए बर्गसां कहते हैं कि सर्जनात्मक विकासवाद को परिकल्पना जीवन के विविध जैविकीय तथ्यों के साथ न्याय करने में अधिक समर्थ है।[1] इस परिकल्पना के अन्तर्गत जिस बात पर बल दिया गया है वह यह है कि जैविकीय विकास क्रमबद्ध होकर एक ही दिशा में अग्रसर नहीं होता। जैविकीय प्रवृत्ति, जिसे उन्होंने 'एलान-वाइटल' शब्द प्रतीक के माध्यम से प्रस्तुत किया है, 'शैल' की भाँति विस्फोटक है। अतएव किन दिशाओं मे वह शक्ति सक्रिय होगी—उसकी भावी दिशा क्या होगी, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कह सकना असम्भव है।

जीवन के तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनेक दिशाओं में सक्रिय होते हुए भी वह समान रूप से सभी दिशाओं में सक्रिय नहीं है।

---

1. मूल जैविकीय प्रेरणा के प्रयासों को मानवीय प्रयासों की तुलना में प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं :
"an effort of far greater depth than the individual effort, far more independent of circumstances, an effort common to most representatives of the same species. inherent in the germs they bear rather than in their substance alone, an effort thereby assured of being passed on to their descendants.' Ibid., p. 87.

और न ही सभी दिशाओं में उसकी सक्रियता 'विकास' के अर्थ में लक्षित हो रही है। कहीं-कहीं तो प्रगति के स्थान पर ठहराव दिखायी देता है—लगता है उसकी गत्यात्मकता में विरोध आ गया है और अन्ततः वह सुषुप्ति की स्थिति में परिवर्तित हो जायेगी। पुनः कहीं पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी सक्रियता का क्रमशः ह्रास हो रहा है और जिस प्रकार रेगिस्तानी तल पर पानी की धारा क्षीण से क्षीणतर होते हुए धीरे-धीरे विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार उसकी प्रगति भी अति मन्द हो चुकी है। केवल तीन प्रमुख दिशाओं में जो क्रम से वेजिटेटिव, अर्थोपॉड्स तथा वर्टिब्रेटस हैं, यह धारा बड़े वेग से प्रवहमान है और नित्य नवीन रूपों के सृजन में व्यस्त है।

इस जीवनी शक्ति को बर्गसां एक मूल प्रेरणा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसकी कार्यविधि बुद्धि की गतिविधि से विपरीत है। जैविक तथ्यों के विस्तृत अध्ययन के आधार पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि जीवनी शक्ति कतिपय मूल तत्वों को सम्बद्ध करके अथवा उन्हें जोड़कर निर्माण नहीं करती प्रत्युत सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर विभाजन की प्रक्रिया द्वारा ही नवीन आकृतियों को ढालती है।[1]

पुनः वे कहते हैं : मूल प्रेरणा की समन्वित एकता के बावजूद विभिन्न विपथगामी दिशाओं में व्यंजित उसकी मूल प्रवृत्तियों के रूपों में उत्तरोत्तर जटिलता में अभिवृद्धि दिखायी देती है। लेकिन रचनागत जटिलता के बावजूद प्रत्येक दिशा की मूल प्रवृत्ति दूसरी दिशाओं की मूल प्रवृत्तियों के साथ आन्तरिक रूप से सम्बद्ध और पूरक तत्त्वों की भाँति सहअस्तित्वान् दिखायी देती है। मूल प्रवृत्ति की एकता का प्रभाव एक और रूप में स्पष्ट दिखायी देता है—विभिन्न विपथगामी दिशाओं में ढले हुए रूपों में परिस्थितियों की विभिन्नता के बावजूद कुछ समानताएँ लक्षित होती हैं। बर्गसां के विचार में इन समानताओं का स्पष्टीकरण यांत्रिक विकासवादी दृष्टिकोण, जो आकस्मिक परिवर्तनों को जैविक विकास का आधार मानता है, के अन्तर्गत सम्भव नहीं है। केवल वाह्य परिस्थितियों से यंत्रवत् समायोजित होने के फलस्वरूप जीवों में आकस्मिक परिवर्तन इतनी अधिक सदृशता रखें—यह असम्भव प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, आँख के ही आविर्भाव को यदि हम लें तो देखेंगे कि प्रमुख विपथगामी दिशाओं में विकसित जीवों की आँख में रचनागत सरलता अथवा

---

1. "Life proceeds not by association and addition of elements, but by dissociation and division. Ibid" p. 89.

जटिलता के बावजूद अपने प्रत्येक रूप में कार्य करने की एक अपूर्व सरलता दिखायी देती है।[1]

प्रकृति की इस अनवरत सर्जनात्मकता को बुद्धि अपनी विश्लेषण एवं संश्लेषण की संयुक्त पद्धति से प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है। जिन विभिन्न प्रकृतियों एवं रूपों को प्रकृति अपनी सर्जनात्मक प्रक्रिया द्वारा ढालती है उनमें, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रचनागत जटिलता के बावजूद एक अपूर्ण संगति है, जिसके कारण उनके लिए कार्य करना अत्यधिक सरल होता है। कार्य की इस सरलता को बुद्धि अपनी विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है। इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए बर्गसां अपनी अपूर्व शैली में कहते हैं: 'सरलता वस्तुगत है, जबकि जटिलता कृत्रिम रूप से उन पर बुद्धि द्वारा आरोपित है।'[2]

प्रकृति की सर्जना कला के अधिक निकट है। बड़ी सहजता के साथ कलाकार अपनी 'प्रेरणा' को तूलिका के सहारे अंकित करता है पर उसी चित्र की यदि हम अनुकृति प्रस्तुत करना चाहें तो प्रेरणा के अभाव में हम उसकी समन्वित एकता को अनगिनत खण्डों में वितरित करके एक-एक को पुनः आकस्मिक सम्बन्धों से संयुक्त करते हुए प्रस्तुत करेंगे। पर मूल चित्र की रचना निश्चित ही इस रूप में नहीं हुई थी।[3]

---

1. "As it evolves it "grows in complexity of structure as well as in simplicity of function," Ibid., p. 38.
2. Complexity pertains to the "views we take in turning around it, to the symbols by which our senses or intellect represent it to us, or move generally, to elements of a different order, with which we try to imitate it artifically, but with which it remains incommensurable, being of a different nature." Ibid., p. 89.

   "Eye may be just such a "simple act of vision." "divided for us into a mosaic of cells, whose order seems marvell-ous to us because we have conceived the whole an assemblage." Ibid., p. 90.
3. A work of Art "is the projection of an indivisible intuition But to obtain an exact equivalent of the figure "we have

इसी बात को एक अन्य रूप में प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि प्रकृति 'संगठित' करती है, 'निर्माण' नहीं करती। उसके भीतर 'विस्फोटन' की प्रवृत्ति विद्यमान है और इसलिए उसकी रचना-प्रक्रिया मानव की निर्माण प्रक्रिया से भिन्न रूप में व्यक्त होती है यानी प्रकृति केन्द्र से परिधि की ओर जबकि निर्माण-प्रक्रिया इसके विपरीत परिधि से केन्द्र की ओर विकसित होती है।[1] फलस्वरूप प्रकृति सर्जना जिस भी बिन्दु पर रुकती है, नितान्त सहजता के साथ एक साम्य स्थिति अवस्थित हो जाती है। पर साम्य स्थिति की यह प्राप्ति उसके लिए न तो आंशिक ही होती है और न स्थायी ही। बार-बार वह नवीन 'साम्य स्थिति' के निर्माण में प्रयत्नशील रहती है। आँख के ही विकास को लें। अनेक जीवों में उसके विभिन्न आकार और रूप दिखाई देते हैं पर सभी रूपों में एक अपूर्वता और संपूर्णता दिखलाई देती है।[2] साथ ही इन परिमित, किन्तु पूर्ण, प्रयासों का एक और भी अर्थ दिखायी देता है : यह कि प्रकृति में उन रूपों को और अधिक संपूर्ण बनाने की अपरिमित क्षमता विद्यमान है।

उपरोक्त प्रस्तुति से यन्त्रवाद एवं नियतिवाद—दोनों ही दार्शनिक दृष्टिकोणों की सीमाएँ हो जायेंगी। नियतिवाद में बर्गसां विशेष रुचि रखते हैं पर उनका अपना नियतिवादी दृष्टिकोण सामान्यतः प्रतिपादित दृष्टिकोण से भिन्न है। सामान्यतः इस दृष्टिकोण के अनुसार उद्देश्य क्रमशः विश्व की प्रक्रियाओं के माध्यम से समवेत रूप से मूर्तमान होता है। अतएव सम्पूर्ण प्रक्रियाओं के एक

---

to break up its simble indivisible unity into "an infinity of elements presenting an infinity of shades." Ibid., pp. 89-90.

1. It works "the centre to the periphery" quite opposite to manufacturing process which proceeds from "periphery to centure." Ibid, p. 92.
2. "the order is necessarily complete and perfect. It could not be partial, because, once again the real process which gives rise to it has no pacts, Ibid., p. 95.

   "In reality, the cause, thogh more or less intense cannot propduce its effiect except in one piece and completely finished." Ibid., 95.

साथ समन्वित होने के पश्चात् ही विश्व की प्रक्रियाओं की सार्थकता हमें स्पष्ट हो सकती है, इससे पूर्व नहीं ।

बर्गसां का दृष्टिकोण इस स्वीकृत कल्पना में आमूल परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है । उनके अपने मत में प्रकृति की विपथगामी दिशाओं में मूल प्रेरणा की एकता ही उनके समन्वयन का विन्दु है । उसी के आधार पर विकास की विपथगामी दिशाओं में हमें जो कहीं-कहीं एकरूपता दिखायी देती है, उसका स्पष्टीकरण हो सकता है । इन विपथगामी दिशाओं को क्रमबद्ध करते हुए किसी 'संपूर्ण' का चित्र प्रस्तुत करने की कोशिश निरर्थक है । यही संभवतः अरस्तू से लेकर बाद सभी दार्शनिकों की भूल रही है । उन्होंने विपथगामी दिशाओं को एक ही 'अनुक्रम' पर अवस्थित करने की चेष्टा की है ।[1] और उनके माध्यम से एक वृहत् 'योजना' के साकार होने की बात की है—ठीक वैसे ही जैसे मानवीय जगत् में घटित होता है । पर प्रकृति में इसके बिल्कुल विपरीत घटित होता है । प्रकृति में प्रयास की एकता जरूर है पर परिणाम की सफलता आवश्यक नहीं है । प्रायः उस महत् प्रयास को जिन बाधाओं का सामना करना पड़ता है उनके कारण विफलतायें ही हाथ आती हैं, और इन सभी अधूरे विफल प्रयासों को क्रमबद्ध करने का प्रयास सर्वथा अनुचित है । पुनः जहाँ वे सफल भी होते हैं, वहाँ भी अभिव्यक्ति की पार्थिवता में बँधा हुआ उसका प्रयास उसकी ही दया का भिक्षुक बन जाता है । वे पुनः कहते हैं[2] : इस बात की सत्यता का अहसास हम सभी को उन अवसरों पर हो सकता है जहाँ उन्मुक्त होकर कार्य करने के पश्चात् उन कार्यों की क्रमशः बान पड़ने से हम स्वयं उनसे यूँ बँध जाते हैं कि फिर उनसे मुक्त होना नहीं चाहते—एक विचित्र-सी शिथिलता अपने भीतर अनुभव करते हैं । यह प्रवृत्ति जीवन की सर्जनात्मक

---

1. "The cardinal error which from Aristotle onwards has vitiated most of the philosophies of nature, is to see in vegetative, instinctive and rational life, three successive degrees of the development of one and the same tendency, whereas three are divergent directions of an activity that has split up as it grew." Ibid., p. 149.
2. The errors and puerilities of radical finalism are due to the misapprehension of this point. It has represented the whole of the living world as a construction, and a cons-

प्रवृत्ति की विरोधी है और इससे निश्चित ही उसके कार्य में विरोध उत्पन्न होता है।[1]

जीवनी शक्ति के विषय में भी यही सत्य है। जीवनी शक्ति एक सतत प्रेरणा है जो नित्य नूतन की रचना में संलग्न है। पर प्रत्येक 'रचना' स्वयं उस मूल धारा की आत्मा के विपरीत—यदि आत्मा शब्द का प्रयोग वर्तमान सन्दर्भ में हम कर सकते हैं—अपने में ही सीमित रहने की प्रवृत्ति रखती है। यह प्रवृत्ति निश्चित ही 'मूल प्रवृत्ति' की विरोधी है, पर इस विरोध के साथ ही यही नहीं इसके बावजूद जैविकीय शक्ति को अपने आपको आगे बढ़ाते रखना है। इसी विरोध को अपनी अपूर्व शैली में प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि 'प्रत्येक जीवित इकाई एक सामान्य पथ है, पर जीवनी शक्ति का सार उस गति में है जिसके माध्यम से एक इकाई से दूसरी इकाई में जीवन संप्रेषित होता रहता है।[2] और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें माँ की अपूर्व ममता में मिलता है।[3]

---

truction analogous to a human work....Each species has its reason for existence, its part to play, its allotted place, and all join together, as it were, in a musical concert, wherein the seeming discords are really meant to bring out a fundamental harmony.', Ibid., p. 140.

1. "Even in its most perfect works, though it seems to have triumphed over external resistances, and also over its own, it is at the mercy of the materiality which it has had to assume"....Ibid., p. 141.

   "Evolution in general would fair go on in a straight line, each special evolution is a kind of circle—" Ibid., p. 141

2. "living being is above all a thoroughfare, and the essence of life is in the movement by which life is trans-mitted." Ibid., p. 142.

3. We have this sudden illumination before certain forms of maternal love, so striking and in most animals so touching observable even in the solicitude the plant for its seed. This love....may possibly deliver us life's secret." Ibid. p. 142.

विपथगामी दिशाओं का विस्तृत अध्ययन :

सर्जनात्मक विकासवादी सिद्धान्त की विशेषताओं को प्रस्तुत करते हुए बर्गसाँ कहते हैं कि इस दृष्टिकोण के अनुसार जैविकीय शक्ति एक प्रवृत्ति है जो 'शीफ'[1] यानी गट्ठे या पलिन्दे के रूप में विकसित होती है और विकास के दौरान नवीन विपथगामी दिशाओं का सृजन करती हैं। इस विकास की विशेषता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि इसकी तुलना शैशवावस्था से की जा सकती है। शैशवावस्था एक से अधिक प्रवृत्तियों का समन्वित अस्तित्व है। उसमें किसी एक विशेष प्रवृत्ति का ही आगे चलकर विकास होना है, पर शेष सभी उसी मूल स्थिति में तरलावस्था में विद्यमान रहती हैं। प्रकृति की मूल प्रवृत्ति में भी इसी प्रकार एक से अधिक प्रवृत्तियाँ समन्वित रूप से अस्तित्ववान् रहती हैं पर विपथगामी दिशाओं में उनमें से केवल एक ही प्रवृत्ति विकास होता है। शेष सभी सुषुप्तावस्था की स्थिति में रहती हैं और मौका मिलने पर उसमें अभिव्यक्त भी हो जाती हैं पर इस सम्भावना के बावजूद किसी एक विपथगामी पथ पर उनमें से केवल एक ही का अन्ततः विकास होता है।

इस दृष्टि से विपथगामी दिशाओं की चर्चा करते बर्गसां तीन प्रमुख दिशाओं तथा अनगिनत आकस्मिक दिशाओं की चर्चा करते हैं। तीन प्रमुख दिशाएँ—(1) वेजिटेटिव, (2) आर्थोपाड्स, तथा (3) वर्टिब्रेट्स। इनमें से प्रथम में वनस्पति वर्ग का, द्वितीय में कीड़े-मकोड़ों का और तीसरे में पशुओं का और पशुओं में श्रेष्ठ मनुष्य का विकास होता है। इन प्रमुख दिशाओं में भी प्रकृति की मूल प्रवृत्ति की दिशा की दृष्टि से द्वितीय और तृतीय महत्त्वपूर्ण हैं यद्यपि स्वरूप सम्बन्धी संपूर्ण चित्र के अंकन की दृष्टि से किसी भी प्रवृत्ति की अवहेलना करना उचित नहीं है। क्योंकि जैसा कि अनेक प्रसंगों में पहले ही कहा जा चुका है मूल प्रकृति में इन तीनों प्रवृत्तियों का उनकी तरलावस्था में समन्वय है।

इस दृष्टि से हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि 'मानव' जो कि इन तीन विपथगामी दिशाओं में से केवल एक पर अवस्थित है बुद्धि के माध्यम से अपने स्रोत के विषय में जो भी कल्पना प्रस्तुत करेगा, वह स्पष्टतः अधूरी ही होगी। अतएव प्रज्ञा के स्तर पर प्रकृति के विकास की प्रक्रिया से सम्बन्धित समय-समय पर जो कल्पनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं उनकी एकांतिकता और अपूर्णता

1. Ibid., p. 99. Also p. 117.

को हमें भूलना नहीं चाहिए। यांत्रिक विकासवादी दृष्टिकोण ने वाह्य समायोजन पर बल दिया है पर वाह्य समायोजन महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विकास की प्रक्रिया को मूल दिशा को अंकित करने में सर्वथा असमर्थ है। इस सम्बन्ध में एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि 'सड़क' बनाते समय जमोन के वैशिष्ट्य का हमें ध्यान रखना ही होगा। इस दृष्टि से वह सड़क के आकार और उसके रूप का महत्त्वपूर्ण अर्थ में निर्धारक है। पर 'सड़क' का निर्माण जिस कारण हुआ है उसका स्पष्टीकरण इन वैशिष्ट्यों द्वारा सम्भव नहीं है। सड़क का मुख्य प्रयोजन किसी भी प्रदेश को नगर से संयुक्त करना है और जिस प्रदेश के बीच से वह निकाली गयो है उसके वैशिष्ट्य को प्रस्तुत करने से तथा उन वैशिष्ट्यों से समायोजित होने की आवश्यकता पर बल देने से ही उसकी रचना के प्रयोजन को स्पष्ट करना सम्भव नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी आवश्यक है : वह यह कि प्रकृति के विकास में इस प्रकार के अन्तर्वर्ती उद्देश्य की उपस्थिति आवश्यक नहीं है और न ही इस बात की आवश्यकता है कि हम यह कल्पना करें कि सम्पूर्ण विकास की प्रक्रिया की दिशा एक ही है।[1]

इसी प्रकार परम्परागत नियतवादी दृष्टिकोण, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, योजनाबद्ध विकास में विश्वास करना है। पर पूर्व विवरण से पर्याप्त स्पष्ट हो चुका होगा कि मुक्त सर्जना में इस प्रकार की 'योजना' और परिणामस्वरूप उससे शत-प्रतिशत नियंत्रित विकास का कोई स्थान नहीं है। सर्जना स्वयं अपने पथ को—बिना किसी पूर्वकल्पना के ढाल लेती है। इसी में उसकी स्वतंत्रता है।

अपने दृष्टिकोण के समर्थन में वे कहते हैं कि यदि आमूल नियतिवाद सत्य होता तो ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते जाते उत्तरोत्तर संगति का भी विकास होता। पर तथ्य ठीक इसके विपरीत है। संगति के स्थान पर विसंगति ही प्रत्येक दिशा में लक्षित होती है।[2] जो नियतिवादी दृष्टिकोण के प्रतिकूल, पर सर्जनात्मक विकासवाद के अनुकूल है। विकास की प्रक्रियाओं में केवल मूल-प्रेरणा की एकता है। और यह प्रेरणा 'शीफ' की भाँति त्रिपथगामी दिशाओं में उत्तरोत्तर विकसित होती है। इसी के साथ बर्गसां कहते हैं कि एक ही दिशा में भी विकास सीधी रेखा में न होकर कभी रुकता हुआ सा और कभी

---

1. वही, पृ० 102.
2. "All is not coherent in nature". Ibid., p. 104.

पीछे की ओर वापस आता हुआ दिखाई देता है। प्रकृति अपनी मूल प्रेरणा की दृष्टि से विस्फोटक है और विस्फोटन की दिशाओं को किसी भी पूर्व दृष्टि के आधार पर अंकित करना सम्भव नहीं है। वर्तमान अध्ययन के उद्देश्य को करते हुए वे कहते हैं कि उसका उद्देश्य मानव तथा पशु के परस्पर सम्बन्ध को और उसके माध्यम से सभी जैविक इकाइयों से मानव के सम्बन्ध को स्पष्ट करना है। बर्गसां सामान्यतः प्रतिपादित इस विचार को कि प्रत्येक जैविक वर्ग विशिष्ट है और अन्य वर्गों से कतिपय विशिष्टताओं के कारण पृथक् है और उन्हीं विशिष्टताओं के माध्यम से परिभाषित किया जा सकता है, अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक जैविकीय वर्ग में यथा वेजिटेटिव, आर्थोपाड्स तथा वर्टिब्रेट्स में कुछ प्रमुख वृत्तियाँ हैं जिन्हें वह अपने माध्यम से व्यंजित करता है और वर्ग को समझने की दृष्टि से इन्हीं को समझना आवश्यक है। इस दृष्टि से प्रथम दो वर्गों को यदि देखें तो स्पष्ट होगा कि स्थैतिकता और गत्यात्मकता ही दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं—जिनमें से वनस्पति वर्ग में प्रथम और पशु में द्वितीय विशेष रूप से देखने को मिलती है। पुनः वे कहते हैं स्थैतिकता और गत्यात्मकता ये दो प्रवृत्तियाँ अन्ततः जीवन की मूल माँग, यानी अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए कार्बन तथा नाइट्रोजन को किसी प्रकार प्राप्त करने से सम्बन्धित हैं। वनस्पति वर्ग स्थैतिक रहकर ही इस माँग को सीधे परिवेश से प्राप्त कर लेता है और पशु वर्ग अपनी सहज गत्यात्मकता के कारण परोक्ष रूप से उन इकाइयों के माध्यम से उन इकाइयों के माध्यम से प्राप्त कर लेता है जिन्होंने पूर्व पद्धति के अनुसार प्राप्त करके अपने में सुरक्षित रखा है।[1]

पर इतना स्मरण रखना चाहिए कि दोनों प्रवृत्तियों कहीं भी एकांतिक रूप से अस्तित्ववान् नहीं हैं, ये दोनों परस्पर इस प्रकार संग्रथित हैं कि कभी-कभी हमें एक की सक्रियता में दूसरे की उपस्थिति का स्पष्ट अहसास होता है जिससे भ्रम होने लगता है कि दोनों एक ही प्रकार की हैं।[2] पर वस्तुतः इनमें प्रकार भेद है। ये दो प्रवृत्तियाँ मूलतः दो विपथगामी दिशाओं में विकसित

---

1. The divergence is explained in terms of choice exercised in regard to "convenience in the way of procuring the carbon and nitrogen they need." Ibid., p. 113.
2. 'बर्गसां इस सम्बन्ध में फ्रिंज' (Fringe) की बात करते हैं जिससे ये एक दूसरे को कभी-कभी प्रभावित भी करती हैं।—देखिये पृ० 136.

होती हैं, और ज्यों-ज्यों ये विकसित होती जाती हैं, इनकी अभिव्यंजना शैली भी भिन्न होती जाती है।

ठीक यही बात आर्थोपाड्स और वर्टिब्रेट्स—जिस पर मानव अवस्थित है, के विषय में भी सही हैं। आर्थोपाड्स में सहजवृत्ति अपने परिपूर्णतम रूप में अभिव्यक्त होती है, पशु वर्ग में भी यद्यपि संपूर्ण जीवन मूल रूप से सहज-वृत्यात्मक ही रहता है तथापि उसकी दिशा मुख्यतः प्रज्ञा के विकास की ओर ही लक्षित होती है।[1] पर पशुओं में प्रमुख मानव में जीवन की पूरी बागडोर सीधी प्रज्ञा के हाथ में ही आ जाती है। फलस्वरूप आर्थोपाड्स तथा पशु की तुलना में मानव के जीवन में पर्याप्त अनिश्चितता रहती है, पर इसी अनिश्चितता के कारण वह बुद्धि के मुक्त प्रयोग द्वारा अपने लिए अनेक अर्थों में सापेक्षतः एक अधिक उन्नत एवं पूर्ण जीवन का सृजन कर लेता है। मानवीय इकाई वस्तुतः उस 'बिन्दु' को प्रस्तुत करती है जो सहजवृत्ति तथा प्रज्ञा की एक एक दूसरे से पूर्णरूपेण पृथकता का द्योतन करता है।[2] इसके पश्चात् ये दो मूलतः पूरक पर विथगामी प्रवृत्तियाँ पूर्णतः विपथगामी हो जाती हैं। अन्य शब्दों में, मनुष्य में सहजवृत्ति की दिशायें अत्यन्त सरल होती हैं और प्रज्ञा के सहारे ही व्यंजित होती हैं।

सहजवृत्ति तथा प्रज्ञा : विपथगामी किन्तु पूरक प्रवृत्तियाँ

उपरोक्त से स्पष्ट हो गया होगा कि मूल प्रेरणा ने जीवों का आविर्भाव दो विपथगामी दिशाओं में किया है और उनके माध्यम से उसने अपने में निहित अनगिनत सम्भावनाओं में से दो महत्त्वपूर्ण सम्भावनाओं को दो पंथों पर पृथक्-पृथक् विकसित किया है पर पृथक्-पृथक् विकसित करते हुए भी उसने इन्हें कभी भी संपूर्ण रूप से अलग नहीं होने दिया है। इस बात को बर्गसां उन्हें पूरक पर विपथगामी प्रवृत्तियों के रूप में प्रस्तुत करके व्यक्त करते हैं। जिसका सीधा आशय यह है कि ये मूल प्रेरणा में तो समन्वित हैं ही, विपथगामी अभिव्यंजनाओं में भी मूलतः संग्रथित रहती है। पुनः वे कहते हैं कि

---

1. "Instinct is still central but intelligence is present and is active by performing as many variations as possible on it." Ibid., p. 142.
2. Man represents "the final leave taking between intelligence and instinct," and has the value of a "pre-historic document." Ibid., p. 143.

'हाशिये' के रूप में एक का दूसरे के साथ समुपस्थित होने ही से प्रायः दार्शनिकों को यह भ्रम होता रहा है कि ये दोनों एक ही प्रकार की हैं। वस्तुतः ये समुपस्थित हैं क्योंकि ये पूरक हैं और पूरक हैं क्योंकि ये एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।[1]

इन दोनों ही प्रवृत्तियों के माध्यम से प्रकृति ने जीवों को ऐसी क्षमता से युक्त किया है कि मूल जैविक प्रवृत्ति की अभिव्यंजना के सार्थक माध्यम बन सकें। इन दोनों क्षमताओं को अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं जिन्हें बर्गसां विस्तार से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इन विशिष्टताओं के अध्ययन के लिए हमें प्रत्येक विपथगामी दिशा में विकसित श्रेष्ठतम जीव को उदाहरण के रूप में लेना पड़ेगा। इस दृष्टि से आर्थोपाड्स में हेमेनोप्टेरा और वर्टिब्रेट्स में मनुष्य का अध्ययन उपयोगी होगा। सहजवृत्ति को प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि वह प्रकृति-प्रदत्त एक ऐसी सामर्थ्य है जो प्रकृति-प्रदत्त तंत्रों का सहज उपयोग कर सकती है।[2] पुनः वे कहते हैं कि यदि सभी सहजवृत्तियों को इस परिभाषा के अन्तर्गत न भी लाया जा सके तो भी कम से कम वह हमारे समक्ष उस आदर्श सीमा को तो प्रस्तुत करती ही है जिसकी ओर सभी सहजवृत्तियाँ प्रयत्नशील हैं।[3]

सहजवृत्तियों को एक दूसरी दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि इन प्रवृत्तियों के माध्यम से प्रकृति संघटन के अपने कार्य को आगे बढ़ाते हुए दिखायी देती है और कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह उसे परिपूर्णता प्रदान करती है।[4] पुनः कहीं-कहीं पर तो प्राकृतिक तथा सहजवृत्या-

1. In reality, they accompany each other only because they are complementary and they are complementary only because they are different, what is instinctive in instinct being opposite to what is intelligent in intelligence." Ibid, p. 136.
2. "It is a natural ability to use an inborn mechanism," Ibid., p. 139.
3. The ideal limit towards which they are travelling." Ibid., p. 139.
4. "Most instincts are only the continuance, or rather the consummation of the work of organization itself," Ibid, p. 136.

त्मक की विभाजन रेखा इतनी तरल है कि यह कहना कठिन है कि कहाँ पर प्राकृतिक समाप्त होकर सहज ही सहजवृत्यात्मक का बाना पहन लेता है। यह देखने में आता है कि सहजवृत्तियों से नियन्त्रित जैविक इकाइयाँ कालांतर में अपने जैविक व्यक्तित्व को क्रमशः विकसित कर लेती हैं। अतएव सहज-वृत्तियों के विषय में यदि यह कहा जाय कि वे जैविक संरचना से अभिन्न रूप से सम्बन्धित हैं, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।[1] उदाहरणार्थ कुछ जीवों में जैसे चींटियों तथा मधुमक्खियों में, जहाँ श्रमविभाजन, देखने को मिलता है, सहजवृत्तियों के भिन्न-भिन्न होने के साथ ही हमें संरचना का भेद भी देखने को मिलता है।

सहजवृत्ति की इस विशेषता के साथ ही एक और बात की ओर बर्गसां ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि सहजवृत्ति सहज को प्रकृति प्रदत्त तन्त्रों का प्रयोग करती है इसलिए उसकी कार्यविधि भी, और वह पथ भी जिसकी मध्यस्थता से वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति करती है, पूर्वनियत रहता है। फलतः सफलता सुनिश्चित रहती है। अन्य शब्दों में, प्रारम्भ से अन्त तक उसकी सम्पूर्ण क्रिया का स्वरूप इस प्रकार पूर्णरूपेण नियन्त्रित होता है कि उसमें कभी भी किसी प्रकार की कोई कमी नजर नहीं आती। ऐसा प्रतीत होता है कि उस सम्पूर्ण प्रक्रिया का संचालन कोई अचूक बुद्धि ही कर रही है; पर वस्तुतः अपने आप सम्पूर्ण प्रक्रिया सहज ही सम्पन्न होती चली जाती है। सफलता की इस सुनिश्चितता का एक दूसरा पहलू भी है। क्योंकि सहजवृत्तियों के उद्‌देश्य भी पूर्वनियोजित होते हैं इसलिए सहज-वृत्तियों के माध्यम से जैविक इकाइयाँ सीमित उद्‌देश्यों को ही प्राप्त कर सकती हैं। पुनः ये उद्देश्य विभिन्न जैविक इकाइयों में भिन्न-भिन्न रहा करते हैं और सर्वाधिक विकसित जैविक इकाइयों में भी इनकी परिधि भी सीमित ही होती है।

ठीक इसके विपरीत वर्टिब्रेट्स में जब हम मनुष्य को देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रज्ञा' के आविर्भाव द्वारा प्रकृति ने जैविक इकाइयों को एक ऐसी अपूर्व सामर्थ्य से युक्त किया है जिसके प्रयोग से वे सापेक्षतः अपरिमित-सफलता प्राप्त कर सकती हैं। ये इकाइयाँ अपने-अपने परिवेश से परिस्थितियों पर प्रयोजनों के अनुरूप कृत्रिम साधनों का सृजन कर सकती हैं। अतएव मानव के सन्दर्भ में प्रज्ञा की मूल विशेषता को प्रस्तुत करते हुए यह कहा

---

1. 'Instinct perfected is a faculty of using and even of constructing organized instruments,' Ibid., p. 140.,

जा सकता है कि उसकी प्रकृति कृत्रिम साधनों के आविष्कार की दिशा में चल रही है। इस साधनों के आविष्कार में उसकी सूझबूझ अपूर्व है और इन्हीं के माध्यम से वह नित नये परिवेश में अपने को समायोजित कर लेता है।

इस दृष्टि से मानवीय इतिहास का यदि अध्ययन किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि आविष्कार की यह सहज प्रवृत्ति ही मानव के विकास की मूल दिशा को अंकित करती है। मनुष्य से निम्न पशुओं—यथा हाथियों तथा वानरों में, प्रज्ञा का विकास आविष्कार की सामर्थ्य के रूप में न होकर कृत्रिम साधनों के प्रयोग की दक्षता के रूप में ही हो सका है और उनसे भिन्न निम्न स्तर के पशुओं, उदाहरणार्थ, लोमड़ी, में कृत्रिम वस्तुओं को केवल पहचान लेने की सामर्थ्य के ही रूप में हुआ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अपने प्रारम्भिक रूपों में प्रज्ञा सोच समझ सकने तथा अतीत के अनुभवों से वर्तमान में लाभान्वित हो सकने की सामर्थ्य में ही अभिव्यक्त हुई और यही सामर्थ्य आगे चलकर मानव में आविष्कार की सामर्थ्य के रूप में विकसित हुई है। इसी बात को यूँ भी कहा जा सकता है कि आविष्कार की दक्षता उस आदर्श सीमा को प्रस्तुत करती है जिसकी ओर पशुप्रज्ञा सहज ही प्रयत्नशील है परन्तु जिसे वह अपने में उस रूप में प्राप्त न कर सकी जिस रूप में मानव में वह उपलब्ध होती है।

प्रज्ञा की इस विशेषता के साथ ही एक अन्य विशेषता भी संलग्न है। हम पूर्व प्रसंग में देख चुके हैं कि सहजवृत्ति की सम्पूर्ण प्रक्रिया का पथ पूर्व नियत है। अतएव सहज सम्पन्न हो जाता है और सफलता भी उसके लिए शत-प्रतिशत सुनिश्चित ही है। पर प्रज्ञा की कार्यविधि क्योंकि पूर्वनियत नहीं है, इस कारण वह यन्त्रवत् सम्पन्न नहीं होती। पुनः, क्योंकि कृत्रिम साधनों को जुटाने का कार्य भी सरल नहीं है, अतएव अपने प्रयासों में हम सफल हो सकेंगे अथवा नहीं, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। अनेक प्रकार की आनुसंगिकताओं के बीच हमें कार्य करना पड़ता है। इसलिए सब कुछ अनिश्चित ही रहता है। पर कृत्रिम साधनों के आविष्कार की सहज प्रवृत्ति के सहारे हम परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें नवीन रूप तथा प्रयोग दे सकते हैं। इसलिए सुनिश्चित न होते हुए भी इस सफलता में निश्चित ही एक प्रकार से भेद आ जाता है। अन्य शब्दों में, मानव की प्रत्येक सफलता भावी सफलताओं का पथ प्रशस्त करती है और मानवीय जैविक अस्तित्व को समुन्नत करती चलती है।

एक अन्य दृष्टिकोण से सहजवृत्ति तथा बुद्धि के अन्तर को प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि सहजवृत्ति बोध के जिस प्रकार को प्रस्तुत करती है, वह प्रज्ञा से मूलतः भिन्न है। सहजवृत्ति सहज ही जानती है। वह मूल प्रेरणा की दिशा की ओर ही प्रवृत्त है, उसी के कार्य को विस्तारित करने वाली है, अतएव उसे वह अभिन्न होकर ही जानती है। पर बुद्धि किसी भी वस्तु के अन्तरतम में प्रविष्ट होकर उसे नहीं जानती। उसका जानना सतही होता है और जो भी वह जानती है, उसके प्रति वह अन्त तक एक तटस्थता बनाये रखती है। यही नहीं, उसका दृष्टिकोण चयनात्मक होता है और यह सब केवल इसलिए कि वह वस्तु को केवल जानने के लिए नहीं जानती बल्कि उस जानने को व्यावहारिक लक्ष्यों की पूर्ति में प्रयुक्त करती है। अन्य शब्दों में, जीवन को सफल बनाने के लिए ही उसका आविर्भाव हुआ है—इससे अधिक कुछ की उससे आशा करना व्यर्थ है।[1] इस प्रयोजन की दृष्टि से सहजवृत्ति तथा बुद्धि—दोनों ही सहज हैं और एक ही दिशा में सक्रिय हैं। दोनों की कार्य शैली में स्पष्ट विभिन्नता है।

इसी सन्दर्भ में बर्गसां दोनों की सहजता पर भी प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि सहज वृत्ति में साधनों और उन विषयों का, जिनके वे साधन हैं, बोध सहज होता है। परन्तु बुद्धि में सम्बन्धों को स्थापित करने का यानी उन्हें ढूंढ निकालने का बोध सहज होता है। अन्य शब्दों में, एक ज्ञान विशिष्ट है और केवल विशिष्ट उपादान से सम्बन्धित है और दूसरा विशुद्ध आकारिक है। पर, जैसा कि पूर्व प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है, द्वितीय की अपनी निश्चित उपयोगिता है और मानवीय विकास के इतिहास द्वारा उसकी उपयोगिता प्रमाणित भी होती है। साथ ही विशुद्ध आकारिक ज्ञान में क्योंकि प्रयोग की एक तरलता होती है इसलिए वह अपने तत्कालिक व्यावहारिक प्रयोग से पृथक् भी प्रयुक्त हो सकता है। इसी संभावना से मनुष्य एक विशिष्ट अर्थ में सम्बन्धित है। वस्तुतः यहीं से परिकल्पनात्मक चिन्तन, यानी दर्शन का आविर्भाव होता है। पर इस सम्भावना को स्वीकार करते हुए बर्गसां इस बात का संकेत करते हैं कि यद्यपि बुद्धि इस विशुद्ध आकारात्मक बोध की क्षमता अपने में सहज रखती है फिर भी इसके माध्यम से वह तत्वतः सत्ता को नहीं जान सकती। यद्यपि

---

1. We regard the human intellect, on the contrary as relative to the need of action. Postulate action and the very form of the intellect can be deduced from it." Ibid., p. 168.

उसे इस रूप में जानने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहती है। इसी तथ्य को किंचित् विरोधाभास में प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं—"कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं, जिन्हें केवल बुद्धि ही जान सकती है किन्तु जिसे वह स्वयं अपने माध्यम से जान नहीं सकती।" पुनः "ये ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें केवल सहज वृत्ति ही जान सकती है पर जिन्हें वह जानने की चेष्टा नहीं करती।"[1]

इसी प्रसंग में वे बुद्धि की गतिविधि के विषय में कुछ और आवश्यक बातें बतलाते हैं। बुद्धि निष्क्रिय जड़-पदार्थ में ही सहज कार्य कर पाती है क्योंकि उसे ही वह नित्य नवीन आविष्कारों का रूप दे सकती है और इस प्रकार निर्मित साधनों के माध्यम से वह अपनी कार्य क्षमता में वृद्धि करती है।[2] अपनी इस आदत का समर्पण करने में वह असमर्थ है। यही कारण है कि जब वह सत्ता—जो तरल है, प्रवहमान है, अथवा प्रवहमानता है, को तत्त्वतः जानने की चेष्टा करती है तो उसे भी वह अविश्लेषणीय अणुओं में वियोजित करके पुनः आकस्मिक सम्बन्धों के माध्यम से संश्लेषित करते हुए विशिष्ट इकाइयों के रूप में प्रस्तुत करती है।[3] इसी निष्कर्ष को अपनी अपूर्व शैली में प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि बुद्धि जीवन को ग्रहण करने की एक

---

1. These are that things intelligence alone is able to seek, but which, by itself it will never find. These things instinct alone could find; but it will never seek them." Ibid., p. 167.
2. That is why the intellect always behaves as if it were fascinated by the contemplation of inert matter It is life looking outward. Putting itself outside itself, adopting the ways of unorganised nature in principle, in order to direct them in fact." Ibid., 178.
3. "Hence its bewilderment when it turns to the living and is confronted with organization, it does what it can, it reasolves the organized into the unorganised, for it cannot, without reversing its natural direction 'and twisting about on itself, think true cotinuity real mobility, reciprocal penetration in a word, that creative evolution which is life." Ibid., p. 178, p. also 179, 181.

सहज अक्षमता से युक्त है ।[1]

विपरीततः सहजवृत्ति 'मूलप्रेरणा' की सहज दिशा में ही सक्रिय होने के कारण यानी उसी के कार्य को आगे विस्तारित करने के कारण उसे सहज ही जान सकती है ।[2] इस दृष्टि से उसे केवल अपने लक्ष्यों में परिवर्तन लाकर अपनी सहज संकुचितता का समर्दण करना होगा और तत्पश्चात् बिना किसी प्रयास के वह सहज ही उस जीवनधारा से संलग्न हो जायेगी जिसे उसे जानना है ।[3] इस सहज ज्ञान को बुद्धि के प्रत्ययों के माध्यम से प्रस्तुत करना अनुचित ही नहीं असम्भव भी है । इसी बात को प्रस्तुत करते हुए बर्गसां कहते हैं कि सहजवृत्ति में जो कुछ भी सहजवृत्यात्मक है, उसे बुद्धि के पदों के माध्यम से प्रस्तुत करना असम्भव है और इसी कारण वह विश्लेषणीय भी नहीं है ।[4] उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि बुद्धि तो इस बात का विश्वास ही नहीं कर सकती कि कोई भी दूरी बिना मध्यस्थ बिन्दुओं को पार किये हुए पार की जा सकती है । पर दृष्टि प्रतिदिन इस कार्य को सहज ही कर लेती है । सहजवृत्यात्मक ज्ञान भी इसी प्रकार का है; सहजवृत्ति वस्तुओं की उस दूरी को—जिससे तिल-तिल करके और बड़े श्रम से बुद्धि पार करती है, बिना किसी प्रयास के सहज ही पार कर लेती है ।[5] पर साथ ही यह भी

---

1. "The intellect is characterised by a natural inability to comprehend life." Ibid., p. 182.
2. "It only carries out further the work by which life organizes matter so that we cannot say....where organization ends where instinct begins." Ibid., p. 182.
   Again,
   "The most essential of the primary instincts are realy, therefore, vital processes." Ibid , p. 182.
3. It would only have to expand itself more Widely, and dive into its own depth completely, to be one with the generative force of life" Ibid., p. 183.
4. "That which is instinctive, instinct cannot be expressed in terms of intelligence, nor, consequently, can it be analysed." Ibid., p. 185.
5. Ibid., p. 185.

सच है कि इस ज्ञान को हम बुद्धि के स्थैतिक प्रत्ययों के माध्यम से व्यक्त नहीं कर सकते।[1]

किन्तु अन्तर्बोध के माध्यम से हम मूल जैविक प्रेरणा को तत्त्वतः जानते हैं और अन्तर्बोध सहजवृत्यात्मक ज्ञान का वह रूप है, जिसमें सहजवृत्ति ने अपनी प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमाओं का सहज अतिक्रमण कर लिया है। अन्य शब्दों में, अन्तर्बोध सहजवृत्ति का वह रूप है जिसमें उसने तटस्थता को विकसित कर लिया है। वह आत्मबोध सम्पन्न हो चुकी है और अपने विषयों को अपरमित रूप में विस्तारित करने की सामर्थ्य प्राप्त कर ली है।[2]

पुनः, अन्तर्बोध एक नितान्त काल्पनिक सम्भावना नहीं है। कलात्मक अभिव्यंजनाओं में हमें इसका स्पष्ट साक्षात्कार होता है।[3] बोध एवं अभिव्यंजना सम्बन्धी इस सामर्थ्य के माध्यम से ही हम विशिष्ट वस्तुओं में निहित सौन्दर्य का आस्वादन कर सकते हैं और उसे शब्दों अथवा तूलिका के माध्यम से व्यंजित भी कर सकते हैं। पर यदि इस सामर्थ्य को उस बिंदु तक विकसित किया जाय—जिस पर पहुँचकर हम उसकी परिधि में सम्पूर्ण सत् को समाविष्ट कर लें तो फलतः हमें एक ऐसी दार्शनिक दृष्टि प्राप्त होगी जो अन्तर्बोध से नियन्त्रित होगी। इस दार्शनिक दृष्टि से सम्बद्ध बोध को सुनिश्चित ज्ञान कहना तो अनुचित होगा परन्तु इसमें हमें वह सब कुछ मिलेगा जिसे बुद्धि अपने स्तर पर प्राप्त करने अथवा प्रस्तुत करने में सर्वथा असमर्थ है।[4]

अतएव अन्तर्बोध के माध्यम से सत्ता को तत्त्वतः हम जान सकते हैं। इस सम्भावना की स्वीकृति के साथ बुद्धि की कोटियों की सीमाएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि सम्पूर्ण चित्र के निर्माण में बुद्धि के योगदान की अवहेलना करना उचित न होगा। यही नहीं हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यदि बुद्धि का आविर्भाव न हुआ होता तो मानव के लिए

1. "Intelligence—will deliver to us more and more Completely the secret of physical operations of life, it brings us ....a translation in terms of inertia." Ibid., p. 195.
2. But it is to the very inwardness of life that intution leads us—by intuition I mean instinct that has become disinterested, self—conscious, capable of reflecting upon its object and of enlarging it indefiniely" p. 194.
3. Ibid., p. 194.
4. Ibid., p. 195.

'अन्तर्बोध' की सम्भावना भी प्रस्तुत न होती।[1] अतएव बुद्धि मानव के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अर्थ में केन्द्रीय है। पर बर्गसां हमें अत्यधिक आशावादिता के विरुद्ध चेतावनी देते हुए कहते हैं कि बुद्धि का समुन्नत रूप हमें वहीं देखने को मिलता है जहाँ वह अन्तर्बोध से प्रेरित होती है।[2]

इसी सन्दर्भ में बर्गसां अपनी ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से संयुक्त करते हुए उसके औचित्य का समर्थन करते हैं। साथ ही इस विषय में परम्परागत दृष्टिकोण में निहित भ्रांति का भी स्पष्टीकरण करते हैं।

विज्ञान एवं दर्शन :

परम्परागत दार्शनिक दृष्टिकोण ने 'बुद्धि' को केन्द्रीय एवं अन्तिम मानकर ही सत्ता के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। अतएव यदि इस प्रकार के दार्शनिक दृष्टिकोण को वैज्ञानिक दृष्टिकोण का केवल विस्तार कहा जाय तो अनुचित न होगा। तुलनात्मक मनोविज्ञान एक 'दिशा' को स्वीकार करता है जिस ओर पशुविकास उत्तरोत्तर अग्रसर हो रहा है। सृष्टि-विज्ञान में विश्व को पदों के समन्वित तंत्र के रूप में स्वीकार किया गया है और चेतना को उसी तंत्र में ही ''उसके अनुरूप ही अस्तित्ववान् माना गया है।''

इन दोनों ही विज्ञानों में 'बुद्धि को परोक्ष रूप से स्वीकार कर लिया गया है क्योंकि जिन स्वीकृतियों पर ये विज्ञान आधारित हैं, वे स्पष्टतः बुद्धि की पूर्वस्वीकृति पर निर्भर करती है।

पर यदि बुद्धि से नियन्त्रित इन स्वीकृतियों का एक मुक्त दृष्टिकोण से परीक्षण किया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि सुस्पष्ट, एक दूसरे से पृथक् एवं वाह्य और आकस्मिक सम्बन्धों से संबंधित, पदों के रूप में विश्वतंत्र की कल्पना को (बुद्धि के अनुरूप होते हुए भी) अन्तिमता नहीं दी जा सकती है। यह कल्पना जड़-तत्त्व के साथ न्याय कर सकती है पर जीवित इकाइयों के संघटन की मूल प्रवृत्ति के साथ न्याय करने में वह सक्षम नहीं है। जड़-तत्त्व विश्लेषणीय है। पर जड़-तत्त्व भी एक प्रवृत्ति है जो जैविकीय प्रवृत्ति के ही विपरीत दिशा में

---

1. 'But though it thereby transcends intelligence it is from intelligence that has come the push that has made it rise to the point it has reached." Ibid., p. 195.
2. Such as it is, fugitive and incomplete, it is in each system what is worth more than the system and survives it." Ibid., p. 238.

प्रवहमान होने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। यही कारण है कि जड़-तत्त्व (जो स्थूल है क्योंकि वह प्रवाह का संघनन है) को विशेषताओं को बुद्धि सहज ग्रहण कर लेती है और अपने अनुकूल प्रयोग में भी ले आती है। जड़तत्त्व और बुद्धि में संगति है जिसके कारण वे एक दूसरे के अनुकूल हैं, पर यह अनुकूलता आनुसंगिक नहीं है। दोनों ही मूल जैविकीय प्रेरणा से उत्पन्न हैं और इसीलिए उनमें उपरोक्त संगति है।[1] जैविकीय प्रेरणा बुद्धि का निर्माण व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करती है और अपने ही माध्यम से उस सत्ता को भी उत्पन्न करती है जिसके माध्यम से उन लक्ष्यों की पूर्ति होती है। इसलिए विज्ञान में, जिसका मुख्यतः एक व्यावहारिक प्रयोजन है, बुद्धि की केन्द्रीयता स्वीकृति है और यह स्वीकृति उचित भी है। बुद्धि के माध्यम से उस मूलस्रोत को भी जानने का प्रयास करना, जिसने उसे उत्पन्न किया है, असम्भव है; पर असम्भव बनाने का यही प्रयास परम्परागत दार्शनिक वादों में हमें देखने को मिलता है। यहाँ पर बर्गसां अनेक वादों, मुख्यतः हेगलवाद, का परीक्षण प्रस्तुत करते हैं जिसके विरुद्ध ही उनका दार्शनिक दृष्टिकोण प्रमुख रूप से प्रतिपादित हुआ है।[2] और यही उस 'आशावादिता' के मूल में भी है जो इस बात का समर्थन करती है कि बुद्धि जीवन के अन्तिम रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकने में सर्वथा सक्षम है।[3]

उपरोक्त खण्डों में पर्याप्त स्पष्ट हो चुका है कि बुद्धि मूलतः ज्ञान का साधन नहीं है। वह कार्य से संलग्न है और उसी की पूर्ति के लिए मुख्यतः उसका आविर्भाव हुआ है। बर्गसां कहते हैं, क्योंकि मूल प्रेरणा से बुद्धि पूर्णतः नियुक्त नहीं हुई है, इसलिए मूल प्रेरणा से विपरीत कार्य करने के

---

1. "The same movement by which the mind is brought to form itself into intellect, that is to say, into distinct concepts brings matter to break itself up into objects excluding one another. The more consciousness is intellectualized, the more is matter spatialized." Ibid., p. 189.
2. Ibid., pp. 169-190.
3. "Hence the exaggerated confidence of philosophy in the powers of the individual mind....Philosophy is generally the work of a philosopher a single and unitary, Vision of the whole. It is to be taken or left." Ibid., p. 191.

बावजूद उसमें उसी दिशा में 'प्रवहमान' होने की सामर्थ्य भी निहित है। इसी सम्भावना को 'अन्तर्बोध' के रूप में प्रस्तुत किया गया है और इसका पर्याप्त परिचय हमें सौन्दर्यात्मक बोध एवं सर्जनात्मक सामर्थ्य में मिलता है। इसी को विस्तारित करने से दृष्टि का विकास होता है—यदि उसे मूल जैविकीय प्रेरणा के साथ न्याय करना है।[1] पर इसके साथ ही हमें इस बात का भी स्मरण रखना चाहिए कि 'अन्तर्बोध' प्रज्ञा के केवल विस्तारित होने का ही परिणाम नहीं है। हम कितना भी बुद्धि को—उसकी सामर्थ्य को, विस्तारित क्यों न कर लें उससे 'अन्तर्बोध' को प्राप्त नहीं कर सकते।[2] पर एक बार उसे यदि प्राप्त कर लें तो बुद्धि के साथ उसकी संगति भी स्वतः स्पष्ट हो जायेगी।[3]

इस दृष्टिकोण से परम्परागत दृष्टिकोण की सीमाएँ स्पष्ट हो गयी होंगी। प्रायः यह मान लिया जाता है कि दर्शन का कार्य विज्ञान के कार्य को केवल आगे बढ़ाना है। विभिन्न विज्ञान अपने सीमित क्षेत्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं और दर्शन उनके इस विशिष्ट ज्ञान को समन्वित करने की चेष्टा करता है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि विज्ञान दर्शन को उसके कार्य हेतु आधार सामग्री प्रदान करते हैं।

यदि दर्शन का केवल यही कार्य है तो निश्चित ही विज्ञान से अपने दृष्टिकोण में वह मूलतः भिन्न नहीं है। अन्य शब्दों में, विज्ञान विश्व सम्बन्धी जिन मूल स्वीकृतियों पर आधारित है, उन्हें अनालोचनात्मक रूप से स्वीकार करके ही दर्शन अपने कार्य को सम्पन्न करता है।[4] आकार तथा उपादान परस्पर

---

1. "Philosophy can only be an effort to dissolve again into the whole. Intelligence, reabsorbed into its principle, may thus live back again its own genesis." Ibid., 191.
2. "You must take things by storm, you must thrust intelligence outside itself by an act of will," Ibid., 193.
3. "Reason, reasoning on its powers, will never succeed in extending them, though the extension would not appear at all unreasonable once it were aclomplished," Ibid., p. 193.
4. He finds himself merely "formulating purely and simply in more precise terms the unconscious and consequently inconsistent metaphysics and critique which the very attitude of science to reality mark out." Ibid., p. 194.

निकटता से समन्वित हैं। अतएव जिस प्रकार 'उपादान' को विज्ञान व्यवस्थित होने के लिए प्रस्तुत करता है उसी के अनुरूप ही अन्ततः उसे दर्शन द्वारा आकार बद्ध भी होना है।[1]

पुनः बर्गसां कहते हैं बुद्धि में 'ज्यामितीय प्रवृत्ति' निहित है। यही कारण है कि जड़तत्त्व की प्रस्तुति में उसे एक सहज दक्षता प्राप्त है।[2] इसी का प्रयोग वह 'मूलप्रेरणा' की प्रस्तुति में भी करना चाहती है और अपनी इस सहजवृत्ति का अतिक्रमण करना उसके लिए सरल भी नहीं है। पर इस प्रयोग का—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, केवल एक व्यावहारिक महत्त्व[3] ही है। अतः यदि हमें सत् को तत्त्वतः जानना है तो दर्शन में बुद्धि की इस सहजवृत्ति का हमें अतिक्रमण करना है। अन्य शब्दों में, उससे सर्वदा मुक्त होकर ही सत्ता को ग्रहण करना है। अतिक्रमण की इस सम्भावना को न केवल बर्गसां स्वीकार करते हैं बल्कि वे दर्शन के लिए इसे ही एकमात्र सम्भावना के रूप में प्रस्तुत करते हैं। दर्शन को व्यवहारमूलक बौद्धिक दृष्टिकोण का सर्वथा समर्पण करते हुए ही सत् को जानना चाहिए।[4] उसका यह 'जानना' निश्चित हो विज्ञान के जानने से भिन्न होगा, पर वह 'दर्शन' शब्द में विद्यमान मूल ध्वनि को सही रूप में व्यंजित करने वाला होगा।[5] दर्शन के परम्परावादी दृष्टिकोण में इस मूल ध्वनि का सदैव अभाव रहा है। यही कारण है कि जीवंत सत् के साथ न्याय करने में वह असमर्थ रहा है। पुनः बर्गसां कहते हैं इस दृष्टिकोण ने विज्ञान एवं दर्शन के विरोध को समाप्त करने के प्रयास में अपने आप को ही भेंट चढ़ा दी है। इस भेंट द्वारा दोनों में से किसी का भी कल्याण

1. "Form and matter are indissolubly wedded in nature and on matter depends the form." Ibid., p. 195.
2. "Latent geometricism." Ibid., 195.
3. Ibid., p. 196.
4. "Examine the living without any resevation as to practical utility., by freeing itself from forms and habits that are strictly intellectual, Its own special object is to speculate, that is to say, to see...." Ibid., p. 1960.
5. "Its attitude towards the living should not be that of science, which aims only at action, and which, being able to act only by means of inert matter, presents to itself the rest of reality in this single respect." Ibid., p. 196.

न हो सका है—न विज्ञान ही समृद्ध हो सका है—और न दर्शन ही अपने निजी स्वरूप को प्राप्त कर सका है।[1] कारण स्पष्ट है। विज्ञान से प्रेरित होकर उसकी ही सीमाओं में अपने को बाँधते हुए दर्शन ने इसी स्वस्वीकृत किंतु अनुचित दृष्टिकोण के भीतर ही सत् को पुनः उसी रूप में प्रस्तुत किया है जिसे विज्ञान अपने संदर्भ में प्रस्तुत करता है।[2]

निष्कर्षतः बर्गसां बुद्धि तथा बुद्धि से सम्बद्ध पूर्वाग्रहों से मुक्त दार्शनिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। और उनके अपने मत में यह दृष्टिकोण वैकल्पिक न होकर अनिवार्य है—यदि दर्शन को अपने विशुद्ध रूप में अवस्थित होना है। दर्शन के इस दृष्टिकोण की विस्तृत चर्चा एक भिन्न सन्दर्भ में और अपूर्व सार्थकता के साथ फेनॉमेनॉलॉजी के अन्तर्गत होती है। इसलिए बर्गसां के दर्शन को इस दृष्टिकोण से जोड़ते हुए यहाँ पर हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि बर्गसां के परिकल्पनात्मक दर्शन की—सत् विषयक भावात्मक निष्कर्षों की भले ही अवहेलना की जाय, दर्शन सम्बन्धी इस 'विशुद्ध'—पूर्वाग्रहों से मुक्त-दृष्टिकोण की अवहेलना असम्भव है। यही नहीं, हमारा यह भी विश्वास है कि 'फेनॉमेनॉलॉजी के माध्यम से पाश्चात्य दर्शन एक महत्वपूर्ण अर्थ में अपने को सनातन प्राच्य दृष्टिकोंण से, जिसकी उज्ज्वलतम अभिव्यक्ति अद्वैत वेदान्त में हुई है, सम्बद्ध कर लेता है और यह भावी दार्शनिक समन्वय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अद्वैत वेदान्त ने विशुद्ध परमसत् को 'साक्षी' माना है और इस भाव की प्राप्ति तभी हो सकती है जब हम बुद्धि तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों के प्रति तटस्थता विकसित कर लें यानी उनसे नियन्त्रित होने से-या यूँ कहें गुमराह होने से, इंकार कर दें। तटस्थता की यह स्थिति 'बोध' की स्थिति तो है ही, यह व्यवहार को भी एक सामान्य से भिन्न दिशा प्रदान करने वाली है। 'स्थितप्रज्ञ' यानी 'मुक्त' का जीवन दोनों ही आदर्शों को अपने में समन्वित रूप से प्रस्तुत करता है। उसे ही भारतीय दर्शन में 'कैवल्य' की स्थिति कही गयी और उसकी विषद चर्चा प्रत्येक दर्शन में हुई है। यही नहीं, प्रत्येक दर्शन में

---

1. Having wished to prevent all conflict between science and philosophy, we have sacrificed philosophy without any appreciable gain to science," Ibid., p. 1970.
2. "Laboriously rediscovering by metaphysics a unity that was admitted blindly and unconsciously by the very act of abendoning the whole of experiance to science and the whole of reality to the pure understanding." Ibid., p. 197.

उस स्थिति की भावात्मक कल्पना भले ही भिन्न हो, निषेधात्मक रूप से प्रायः सभी इस बात पर एकमत हैं कि उसमें बौद्धिक दृष्टिकोण का निश्चित ही अतिक्रमण होना है।

सर्जनात्मक प्रेरणा तथा मानव :

सर्जनात्मक प्रेरणा के स्वरूप का पर्याप्त आभास उपरोक्त खण्डों में हो चुका है। बुद्धि के स्थैतिक प्रत्ययों के माध्यम से उसके स्वरूप को अंकित करने का प्रयास सहज होते हुए भी अनुचित है, पर सम्पूर्ण चित्र को प्रस्तुत करने में उसकी अवहेलना अवांछनोय होगो, इस बात पर भी बर्गसां पर्याप्त बल देते हैं। बुद्धि तथा जड़त्व में एक सहज संगति है, क्योंकि दोनों का आविर्भाव एक ही मूलप्रेरणा से एक ही प्रकार की प्रक्रिया द्वारा हुआ है। दोनों में ही सर्जनात्मक प्रेरणा विपरीत दिशा में प्रवहमान हैं।[1] पर इस सहज संगति का यह अर्थ नहीं कि इन दोनों में किसी प्रकार की पूर्व नियत संगति है।[2] विपरीततः यह संगति उन्हें कालान्तर में उपलब्ध हुई है। इस सर्जनात्मक प्रेरणा को बर्गसां 'चेतना' शब्द—द्वारा व्यक्त करते हैं। पर वह हमारी चेतना से भिन्न है। संकल्पात्मक क्रिया मैं हमें उसके स्वरूप का किंचित् अहसास होंता है। पर मूल सर्जनात्मक प्रेरणा, जिसकी अनुभूति हमें 'अन्तर्बोध' में होती है, के विशुद्ध स्वरूप का तो हमें अपने भीतर बहुत कम अहसास होता है। फिर भी जितना भी वह हमें उपलब्ध होता है उतना ही जीवन को उन्नत बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है।[3]

इस मूल प्रेरणा के स्वरूप को समझने के लिए हमें एक प्रचलित भ्रांति से अपने को मुक्त करना होगा। हम सामान्यतः यह विश्वास करते हैं कि संपूर्ण जीवन का आविर्भाव एक बार ही हो गया है और इसका सृजन एक अपरिमित शक्ति द्वारा हुआ है। इन दोनों ही प्रत्ययों को अस्वीकार करते हुए हमें सृष्टि के स्थान पर सतत सर्जना[4] और स्रष्टा के स्थान पर एक ऐसे केन्द्र को स्वीकार

1, "It is the same inversion of the same movement which created at once the intellectuality of mind and materiality of things." Ibid., p. 206.
2. Ibid., p. 206.
3. "Such as it is fugitive and incomplete, it is in each system, what is worth more than the system and survives it." Ibid., p. 238.
4. Ibid., p. 241.

करना होगा जो आतिशबाजी में राकेटों की तरह अनगिनत दिशाओं में अपनी निहित शक्ति का प्रसारण कर रहा है।[1]

पर इस उपमा के प्रयोग के साथ हमें स्मरण रखना चाहिए कि मूल प्रेरणा के लिए 'केन्द्र' शब्द के प्रयोग में किसी 'इकाई' को प्रस्तुत करने की ध्वनि विद्यमान नहीं है; विपरीततः वह अनवरत जीवन-क्रिया एवं सर्जना का प्रतीक है।

पुनः बर्गसां कहते हैं यह 'प्रेरणा' पूर्णतः स्वतन्त्र होकर कार्य करने में असमर्थ है क्योंकि इसे जड़त्व की सीमाओं के भीतर ही कार्य करना है फिर भी वह उसमें अधिकाधिक अनिश्चितता लाने के लिए प्रयत्नशील रहती है।

पुनः यह प्रेरणा अपनी सर्जनात्मक सामर्थ्य में सीमित है।[2] यदि ऐसा न होता तो विपथगामी दिशाओं में अन्य को पृष्ठभूमि में रखते हुए केवल एक ही प्रवृत्ति का क्यों विकास होता ? विपरीततः यदि वह सामर्थ्य सीमित न होकर असीमित होती तो निश्चित ही विकास समन्वित रूप से होता। यही नहीं विपथगामी दिशाओं में प्रवहमान जीवनी शक्ति के स्वरूप के अध्ययन से यह भी देखने में आता है कि वह अनेक बार रूपों को ढालने के कार्य में सफल होने की अपेक्षा विफल हो अधिक होती है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जीवनी शक्ति की सर्जनात्मक सामर्थ्य परिमित है।

पुनः उसके द्वारा ढाली हुई जातियाँ इस प्रकार आत्मकेन्द्रित हो जाती हैं कि वे यह समझने लगती हैं कि मूलप्रेरणा की अभिव्यक्ति की दृष्टि से वे ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हीं के आविर्भाव के लिए जीवनी शक्ति व्यग्र थी और अब इसमें एक ठहराव-सा आ गया है। फलतः वह केवल अपने लिए ही जीवित रहती है और कार्य करती है।

---

1. "A centre from which worlds shoot out like rockets in a firework display, provided, however, that I do not present this centre as a thing, but as a continuity of shooting out, God thus defined has nothing of the already made. He is unceasing life, action, freedom" Ibid., p. 28.
2. "Impulsion is finite and it has been given once for all." "The movement it starts is sometimes, turned aside, sometimes divided, always opposed; and the evolution of the organized world is the unroling of this conflict Ibid. p. 254.

पर मूल जीवनी शक्ति के स्वरूप को प्रस्तुत करने में बर्गसां का दृष्टिकोण अत्यधिक व्यापक है। यह शक्ति रूप में पृथ्वी पर अपने को व्यक्त कर रही है, उससे भिन्न रूप में उसके अस्तित्व की कल्पना असंभव नहीं है। वस्तुतः जीवन का आविर्भाव तो उसी क्षण हो जाता है जिस क्षण विपरीत दिशा में उस सर्जनात्मक शक्ति के प्रवहमान होने से जडत्व की उत्पत्ति होती है।[1]

इसी सन्दर्भ में एक रोचक प्रश्न को उठाते हुए बर्गसां कहते हैं कि क्या यह आवश्यक है कि वह मूल प्रेरणा अनेक आकारों में ही अपने को व्यंजित करें ? क्या उसके लिए यह संभव न था कि वह एक समन्वित अंगी के माध्यम से अपने को व्यंजित करती ?

प्रत्युत्तर में वे कहते हैं कि इस मूल प्रेरणा के लिए 'एक' और 'अनेक' जैसे प्रत्ययों का प्रयोग और उनसे सम्बन्धित प्रश्नों का उठाना एक संकुचित दृष्टिकोण का परिणाम है। अपने अन्तरंग व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते हुए क्या 'हम' एक अथवा अनेक प्रत्ययों का प्रयोग कर सकते हैं ? वह एक अपूर्व अर्थ में 'एक' भी है और 'अनेक' भी।[2] इसी प्रकार मूल शक्ति एक भी है और अनेक भी। वस्तुतः उसके स्वरूप को इन स्थैतिक प्रत्ययों में बांधने की चेष्टा ही अनुचित है।

पुनः वे कहते हैं कि 'जड़त्व' के सन्दर्भ में भले ही हम उसे 'प्रेरणा' शब्द से व्यक्त कर लें, वस्तुतः वह अपने में असंख्य प्रवृत्तियों एवं सम्भावनाओं का अपरिमित पुंज है। साथ ही हमें सचेत करते हुए वे कहते हैं कि इन 'असंख्य' संभावनाओं को हम केवल उस संकुचित दृष्टिकोण के अन्तर्गत कर सकते हैं, जो किसी भी सत्ता को तभी ग्रहण कर पाता है जब उसकी समन्वित एकता को अनगिनत एक दूसरे से बाह्य और पृथक् तत्वों में वह विश्लेषित कर लेता है।[3]

---

1. "Life springs forward at the very moment, when, as the effect of an inverse movement, the nebular matter appears." Ibld., p. 257.
2. "Unity and multiplicity are only views of my personality taken by an understanding that directs its categories at me....such is my inner life and such also is life in general." Ibid., p. 258.
3. "While in its contact with matter, life is comparable to an impulsion or an impetus, regarded in it self *it* is an

इसी सन्दर्भ में मानव तथा इस मूल चेतना के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए बर्गसां कहते हैं कि वर्टिब्रेट्स में श्रेष्ठ मानव इस मूल चेतना की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम रूप है। वह अपने में उस विन्दु को प्रस्तुत करता है जिस पर मूल चेतना ने जड़त्व से पूर्णतया मुक्त होकर कार्य करने की सामर्थ्य अपने में विकसित कर ली है।[1] इस दृष्टि से वह मूल चेतना की सतत प्रवहमानता के लिए एक महत्त्वपूर्ण 'उपलब्धि' के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है। पर इसके बावजूद यह कहना उचित न होगा कि इस 'उपलब्धि' के लिए वह प्रारम्भ से ही पूर्वनियत थी। साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि 'मानव' का आविर्भाव अनेक विपथगामी दिशाओं में से किसी एक दिशा में ही हुआ है। अतएव उसके माध्यम से 'मूलप्रेरणा' अपने में विद्यमान अनगिनत संभावनाओं में से केवल एक संभावना को ही विकसित कर सकी है।[2] और वह भी भारी कीमत चुकाने के बाद ही।[3] अपने विचार को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि

---

immensity of potentiality, a mutual encroachment of thousands and thousands of tendencies which nevertheless are thousands and thousands only when once regarded as outside of each other, that is when spatialized." Ibid., p. 258.

1. "With man, consciousness breaks the chain. In man and in man alone, it sets itself free....in the animal invention is never anything but a variation on the theme of routine ..." Ibid., p. 264.

   "From the limited to the unlimited there is all the distance between the closed and the open. It is not a difference of degree, but of kind." Ibid., p. 263.

2. "It is abundantly evident that the rest of nature is not for the sake of man." Ibid., p. 265.

   वे पुनः कहते हैं—

   "Man....continues the vital movement indefinitely, although he does not draw along with him all that life carries in itself," Ibid., p. 266.

3. "It is as if a vague and formless being, whom we may call, as we will, man or superman, had sought to realize

मानव जीवन, जैसा कि पूर्व प्रसंगों से पर्याप्त स्पष्ट हो चुका है, मूलतः प्रज्ञा-केन्द्रित है। उसमें 'अन्तर्बोध' के विकास की एक क्षीण संभावना ही लक्षित होती है[1] पर उसको विकसित करने में ही अन्ततः जीवन को परिपूर्णता मिलती है। ऐसा तभी हो सकता है जब वह मूल प्रेरणा के अनुरूप प्रज्ञा के अतिक्रम में सफल हो जाय? यानी अपनी वर्तमान 'उपलब्धियों' से पूर्णतः विमुक्त होकर विपरीत दिशा में सक्रिय हो जाय। तभी अभिन्न होकर सत् को उसकी सम्पूर्णता में जान सकेगा और अपने भीतर की सहज दार्शनिक प्रवृत्ति को सन्तुष्ट कर सकेगा। इसी दिशा में उसे अग्रसर होना है। इसी में अग्रसर होने का उसे आह्वान है और इसी में उसी की ही नहीं सम्पूर्ण जीवनी शक्ति की मूल सर्जनात्मक प्रवृत्ति की व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक—दोनों ही दृष्टियों से सार्थकता है।[2] अतएव बर्गसां आश्वस्त हैं कि यही भावी दर्शन की भी दिशा होगी और इस ओर बढ़ने का स्पष्ट आह्वान हमें उनकी रचनाओं में मिलता है और संभवतः यही उनकी दार्शनिक दृष्टि की वह श्रेष्ठता है जो काल के प्रभाव से अछूती रहेगी।

---

himself, and had succeeded only by abandoning a part of himself on the way." Ibid., p. 266-7.

1. "Vague" and "discontinuous." Ibid., p. 267, "It is a lamp almost extinguished, which only glimmers now and then, for a vew moments at most." Ibid., p. 267.
2. For with it we realize the integration of all mankind in a common surge, of mankind with nature," Ibid., p. 270.

7. फेनॉमेनॉलॉजी : हुसर्ल

फेनॉमेनॉलॉजी क्या है ?

फेनॉमेनॉलॉजी[1] को पाश्चात्य दर्शन की नवीनतम विचारधारा कहना अनुचित न होगा। इस विचारधारा का सम्यक् विकास जर्मन दार्शनिक एडमंड हुसर्ल (1859-1938) के हाथों हुआ, यद्यपि उसके पूर्व फ्रेंज ब्रेन्टानो (1838-1917) के दर्शन में इसका बीजारोपण हो चुका था और हुसर्ल ने उसके प्रति अपने को ऋणी स्वीकार किया है। जिस समय जर्मनी में फेनॉमेनॉलॉजी का प्रचार एवं प्रसार हो रहा था, उस समय इंग्लैंड तथा अमेरिका में तर्कीय प्रत्यक्षवाद, तर्कीय अणुवाद तथा विश्लेषणात्मक दर्शन का बोलबाला था। किन्तु आज दर्शन की ये विचारधारायें निश्चय ही पृष्ठभूमि में जा चुकी हैं, यद्यपि इसके कुछ समर्थक अभी भी आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज के विश्वविद्यालयों में, तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त करने वाले कुछ लोग भारतीय विश्वविद्यालयों में भी, विद्यमान हैं। विश्लेषणात्मक दर्शन भाषा-विश्लेषण को दर्शन का मुख्य विषय मानता है जबकि फेनॉमेनॉलॉजी अनुभव के वर्णन तथा व्याख्या को अपना प्रतिपाद्य विषय स्वीकार करता है। भारतवर्ष में, जो परम्परया इंगलैण्ड तथा अमेरिका से प्रेरित है, अभी इस दर्शन-विधा का विशेष प्रचार नहीं हो पाया है। यहाँ के विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रमों में जहाँ एयर, मूर, रसल तथा विटगेंश्टाइन आदि के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है वहीं पर हुसर्ल, शेलर, हार्टमन जैसे फेनॉमेनॉलॉजीवादियों को कोई स्थान नहीं दिया गया है अथवा उनका मात्र उल्लेख कर दिया गया है। हाँ, अस्तित्ववादियों का हमारे यहाँ पर्याप्त अध्ययन-अध्यापन हो रहा है और उसी के माध्यम से हुसर्ल आदि दार्शनिकों में भी निरन्तर रुचि बढ़ती जा रही है।

---

1. फेनॉमेनॉलॉजी का हिन्दी अनुवाद देना कुछ कठिन है। वस्तुतः इस दर्शन की 'फेनॉमेनॉलॉजी' संज्ञा दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि फेनॉमेनॉ से 'गोचर वस्तु' या 'प्रपंच' का बोध होता है जबकि यह दर्शन गोचर वस्तु का नहीं अपितु उनके तत्त्व का, अन्य शब्दों में, आत्मा या चेतना का अध्ययन करता है। इसी भ्रांति के नाते हमने इसे फेनॉमेनॉलॉजी ही शीर्षक दिया है।

फेनॉमिनॉलॉजी कोई व्यवस्थित दर्शन-तन्त्र अथवा परम्परा नहीं है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जितने फेनॉमिनॉलॉजीवादी दार्शनिक हैं, उतने ही फेनॉमिनॉलॉजिकीय दर्शन भी हैं। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि हाइडेगर, जो हुसर्ल की संस्तुति से फ्राईबुर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन का प्रोफेसर मनोनीत हुआ, ने स्पष्ट रूप से हुसर्ल के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रत्यान करके फेनॉमिनॉलॉजी को एक नया तथा स्वतंत्र रूप देने का प्रयास किया। यही बात अस्तित्ववादी दर्शन पर, जिसे कि फेनॉमिनॉलॉजी का तर्कीय परिणाम कहा जा सकता है, भी लागू होती है। वस्तुतः फेनॉमिनॉलॉजी दर्शन-तंत्र से अधिक एक दर्शन-प्रणाली (मेथाडोलाजी) है, जिसका उद्देश्य हमें दार्शनिकता के उस प्रारम्भ बिन्दु पर ले जाना है, जो सभी प्रकार की पूर्व मान्यताओं, पूर्वाग्रहों एवं पक्षपातों से रहित है, जो मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक एवं आदिम वस्तुवादी दृष्टिकोणों के दोषों से मुक्त है। इसी नाते हुसर्ल देकार्त के दर्शन को महत्त्वपूर्ण मानता है। यह सही है कि दार्शनिक ज्ञान का लक्ष्य पूर्णतया वैज्ञानिक ज्ञान होता है। इस अर्थ में वह प्राकृतिक विज्ञानों के समान है, किन्तु दर्शन प्राकृतिक विज्ञान नहीं है। उसका लक्ष्य समस्त ज्ञान की सामान्य एकता स्थापित करना है। इसी एकता से सभी विज्ञान अपनी युक्तता (रेशनेलिटी) ग्रहण करते हैं। समस्त प्राकृतिक विज्ञान, हुसर्ल के अनुसार, युक्त विज्ञान नहीं हो सके हैं क्योंकि वे आदिम प्रकृतिवाद से ग्रस्त हैं जिसमें प्राक्निर्णय है, विश्वास है, सिद्धान्त हैं, स्थापनायें हैं। ये निर्णय और विश्वास गोचर वस्तु (फेनॉमिनन) को इस भाँति आवृत्त कर लेते हैं कि उसका निष्पक्ष एवं वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव ही नहीं है। अतएव एक प्रणाली विज्ञान के रूप में फेनॉमिनॉलॉजी 'तटस्थ ज्ञानमीमांसीय साधन' है, जिसके माध्यम से चेतना में प्रस्तुत होने वाले प्रदत्तों को उनके उसी प्रदत्त रूप में अध्ययन किया जा सके। हुसर्ल के अनुसार प्राकृतिक दृष्टिकोण में ज्ञान की समस्या को न केवल उठाया ही नहीं जाता है अपितु वैज्ञानिक ज्ञान की संभावना को अनालोचनात्मक रूप से स्वीकार भी कर लिया जाता है। परिणामस्वरूप, ज्ञान एवं दर्शन की समस्या का पूर्ण रूप से अनावरण ही नहीं हो पाता। फेनॉमिनॉलॉजिकीय प्रविधि इस उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ है। हुसर्ल के अनुसार फेनॉमिनॉलॉजी एक दर्शन तंत्र तो है, लेकिन उससे भी आगे यह एक पद्धति है, बुद्धि का दृष्टिकोण है। यह एक दार्शनिक दृष्टिकोण एवं पद्धति है।[1]

---

1. The natural attitude of mind is as yet unconnected with the critique of cognition....we are turnad to the objects as

दार्शनिकों को 'वस्तुओं की ओर वापस चलें' का आह्वान करते हुए हुसर्ल यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनका फेनॉमेनॉलॉजिकीय दर्शन गोचरवस्तुओं (फेनॉमिनॉ) का उनके शुद्ध रूप में अध्ययन करने का विज्ञान है। गोचरवस्तुओं का अध्ययन प्रकारांतर से हमें शुद्ध चेतना के अध्ययन एवं वर्णन की ओर ले जाता है क्योंकि हुसर्ल यह भी स्वीकार करते हैं कि सत्य का निवास व्यक्ति के ही भीतर है, उसे प्राप्त करने के लिए बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है।[1] इस दृष्टिकोण से मॉरिसनाटंसन ने फेनॉमेनॉलॉजी की परिभाषा इस प्रकार से दी है : "फेनॉमेनॉलॉजी अनुभवातीत (ट्रांसेन्डेन्टल सब्जेक्टिविटी) में निहित विषयापेक्षी क्रियाओं के विषयिमूलक (नोएटिक) एवं विषयमूलक (नोएमेटिक) संरचनाओं का वर्णनात्मक परीक्षण है, और इसका लक्ष्य चेतना की पूर्ण

---

they are given to us each to time and as a matte of course.... What is taken for granted in natural thinking is the possibility of cognition....natural thinking finds no occasion to raise the question of cognition as such....Epistemological reflection first brings to light that the sciences of a natural sort are not yet the science of a being. We need a Science of being in the absolute sense....If we disregard any metaphysical purpose of the critique of cognition and confine ourselves purely to the task of clarifying the essence of cognition and of being an object of cognition, then this will be phenomenology of cognition....

Phenomenology denotes a science, system of scientific disciplines. But it also and above all denotes a method and an attitude of mind, the specially philosophical method.

—हुसर्ल : आइडिया आफ फेनॉमेनॉलॉजी, लेक्चर I, ऐल्पटन एवं नाखनिकियन द्वारा संपादित रीडिंग्ज इन ट्वन्टियथ सेंचुरी फिलासफी, दि फ्री प्रेस आफ ग्लेन्को, कालींस्मैकमिलन लि०, लंदन में यथातथ्य प्रस्तुत, पृ० 642-645.

1. देखिये, पेरिस लेक्चर्स, मार्टिनस निजोफ, दि हेग 1967, (अनु०—पीटर कोयस्टेनबॉम), पृ० 39 तथा कार्टीजियन मेडीटेन्स, मार्टिनस निजोफ, दि हेग (अनु०—डेरियन केयर्न्स), पृ० 57.

पुनर्संरचना है, जिसके माध्यम से विज्ञानों को उनका युक्त आधार मिल सकेगा, कला एवं धर्म को प्रामाणिकता प्राप्त हो सकेगी तथा दर्शन को उसका चरमोत्कर्ष प्राप्त होगा।"[1]

ऊपर हमने यह कहा है कि फेनॉमिनॉलॉजी गोचर वस्तुओं (फेनॉमेनॉ) का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। किन्तु यहाँ पर हमें सतर्क रहना होगा कि इस 'फेनॉमेनॉ' का अर्थ कांट के दर्शन में 'प्रयुक्त 'फेनॉमिनॉ' से भिन्न है। कांट के दर्शन में गोचर वस्तु (फेनॉमेनॉ) अगोचर वस्तु (नाउमेना) की प्रति-मूर्ति (काउन्टरपार्ट) है और अन्ततः उसकी सत्ता केवल आभासी (अपीयरेन्स) है। परन्तु फेनॉमिनॉलॉजी में गोचर एवं अगोचर, व्यवहार एवं परमार्थ का कोई भेद नहीं है। वस्तुतः फेनॉमिनॉलॉजी एक प्रकार से वस्तुवादी दृष्टिकोण के प्रति प्रतिबद्ध है, भले ही हुसर्ल के दर्शन में हम कांटीय परमार्थवाद अथवा प्रत्यय-वाद की ओर झुकाव देखते हैं। फेनॉमिनॉलॉजी इस मान्यता को अस्वीकार करती है कि गोचरवस्तु आभास अथवा आवरण है, जिसके पीछे कोई वास्तविक सत्ता विद्यमान है। इस दर्शन के अनुसार गोचर ही वास्तविक है। वह वास्तत्रिक को आवृत न करके उसे प्रदर्शित करता है। सार्त्र ने 'बीइंग एण्ड नथिंनेसग' की भूमिका में इसको बहुत सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है।[2]

---

1. Phenomenology is an essentially descriptive examination of the noetic and noematic structure of intentional acts as grounded in transcendental subjectivity; and its concern is with total reconstruction of consciouness, in terms of which science will acheive its rational ground, art and religion their validation, and philosophy its own consummation.

   —एस्सेज इन फेनॉमेनॉलॉजी सं० मॉरिस नाटंसन, मार्टिनन निजोफ, दि हेग, 1966, पृ० 19-20.

2. There is no longer an exterior for the existent if one means by that a superficial covering which hides from sight the true nature of the object—The appearances which manifest the existent are neither interior nor exterior they are all equal, they all refer to other appearances, and none of them is priviledged.

   —Sartre : *Being and Nothingness.*

यदि सिद्धांतों अथवा निष्कर्षों पर पारस्परिक सहमति की दृष्टि से देखा जाय तो फेनॉमेनॉलॉजी की कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं हो सकती, और फेनॉमेनॉलॉजी क्या है ?....इस प्रश्न का कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। उदाहरण के लिए, फेनॉमेनॉलॉजी का केन्द्रीय सिद्धांत चेतना का विषयापेक्षी स्वरूप है,[1] किन्तु ब्रेन्टानो, हुसर्ल, हाइडेगर, सार्त्र तथा मार्लो-पोंटी ने इसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। तब भी एक बात को लेकर सभी फेनॉमेनॉलॉजीवादियों में सहमति है, वह है—'फेनॉमेनॉलॉजिकीय पद्धति का सहारा लेकर दार्शनिकता में प्रवृत्त होना। फेनॉमेनॉलॉजिकीय प्रविधि का प्रथम उद्देश्य हमारे अव्यवहित अनुभव की सीमा को विस्तृत एवं गहन बनाना है।[2] इस योजना के दो पहलू हैं—निषेधात्मक एवं विधानात्मक। निषेधात्मक रूप से यह दर्शन उन सभी दर्शनों का विरोध एवं प्रत्याख्यान करता है जो परंपरया प्राप्त सिद्धांतों एवं विश्वासों को यथावत् स्वीकार करके उन्हें ही दार्शनिकता का प्रारम्भ बिन्दु मान लेते हैं। यह फेनॉमेनॉलॉजी का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है और इसी के अन्तर्गत हुसर्ल ने अपने विच्छेद अथवा इपाकी[3] की स्थापना की। किन्तु इस दर्शन का वास्तविक अर्थ इसके रचनात्मक अथवा भावात्मक पक्ष में निहित है। इसके अन्तर्गत फेनॉमेनॉलॉजी का लक्ष्य गोचर वस्तुओं के स्वरूप को अनावृत्त करना है जिससे कि उनके धर्मों (इसेन्सेज) का बोध होता है तथा चेतना का उसके शुद्ध रूप में अध्ययन हो सकता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए फेनॉमेनॉलॉजी में निम्न विधियों का सहारा लिया गया है[4] :

विशेष गोचरवस्तुओं की खोज करना,
उनके सामान्य धर्मों की खोज करना,
उन धर्मों के मौलिक संबंधों की खोज करना,
गोचरवस्तुओं की संरचना का चेतना में निरीक्षण करना,
गोचरवस्तुओं की सत्ता में विश्वास को स्थगित करना,
गोचरवस्तुओं के अर्थ की व्याख्या करना।

---

1. Intentional character of consciousness.
2. Herbert Spiegelberg : *Phenomenological Movement* Vol. II, Martinus Nijhoff, The Hague, 1965, p. 656.
3. Epoche.
4. See, Spiegelberg : *Phenomenological Movement* Vol, II p 659.

मॉरिस नाटंसन ने फेनॉमेनॉलॉजी के सामान्य सिद्धांतों एवं उद्देश्यों को संक्षिप्त रूप से इस प्रकार प्रस्तुत किया है[1] :

(1) फेनॉमेनॉलॉजी का उद्देश्य एक 'पूर्वमान्यतारहित' दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित एवं विकसित होना है।

(2) फेनॉमेनॉलॉजिकीय सिद्धांत स्वतः फेनॉमेनॉलॉजिकीय ढंग से कल्पित एवं सिद्ध हैं।

(3) फेनॉमेनॉलॉजी की माँग, हुसर्ल के शब्दों में, "स्वतः वस्तुओं की ओर लौटना है" जो अव्यवहित अनुभव में प्राप्त होती हैं।

(4) फेनॉमेनॉलॉजी प्राकृतिक विज्ञानों सहित समस्त उच्चस्तरीय विज्ञानों के मौलिक प्रत्ययों, पदों एवं कोटियों के अर्थ का स्पष्टीकरण करने का प्रयास करती है।

(5) फेनॉमेनॉलॉजी सभी तथाकथित 'प्रदेशीय सत्ता मीमांसाओं (रीजनल आंटोलोजीज) की प्रागनुभविक संरचना के स्पष्टीकरण एवं निर्धारण का प्रयास करती है।

(6) फेनॉमेनॉलॉजी में कांट के 'क्रिटिक आफ प्योर रीजन' की अनुभवातीत[2] पद्धति को अपनाया गया है, फिर भी इसमें कांटवाद की आलोचना है तथा उसके ऊपर सुधार हैं।

(7) फेनॉमेनॉलॉजी अनुभवातीत विषयिता की दृष्टि से चेतना के समस्त सीमा-क्षेत्र को उसके ही प्रत्ययात्मक संरचना (ईडेटिक स्ट्रक्चर) के माध्यम से पुनः संरचित करती हैं।

(8) फेनॉमेनॉलॉजी प्रकृति एवं इतिहास के अर्थ की उत्पत्ति की खोज करती है तथा हमारे अनुभव के विकास में निहित अर्थों के 'अवशेषों' का वर्णन करती है।

(9) फेनॉमेनॉलॉजी देकार्त एवं लाइब्नीज के आदर्श सार्वभौम गणित- को स्वीकार करती है, किन्तु उसका उद्देश्य एवं प्रारम्भ बिन्दु मानव का पूर्ण विज्ञान है।

(10) अन्त में, फेनॉमेनॉलॉजी का लक्ष्य उस जीवन-जगत् (लाइफ-वर्ल्ड) की पुर्नसंरचना है, जिसमें हम जन्मते, जीते एवं मरते हैं।

---

1. Essays in Phenomenology, p. 8.
2. इस लेख में अनुभवातीत शब्द अंग्रेजी के ट्रांसेन्डेन्टल (Transcendental) के लिए प्रयुक्त है, अनुभव से तात्पर्य इन्द्रियानुभव से है।

फेनॉमेनॉलॉजी के सामान्य स्वरूप का इस भाँति संक्षिप्त रेखांकन कर लेने के पश्चात् अब हम एडमंड हुसर्ल के फेनॉमेनॉलॉजिकीय दर्शन पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

हुसर्ल : जीवन वृत्त :

हुसर्ल का जन्म 8 अप्रैल 1859 में प्रासनिट्ज में हुआ जो मोराविया के बोहेमियन प्रांत में है। यह वर्ष दर्शन-जगत् के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसी वर्ष जॉन डिवी, सैमुएल अलेक्जेन्डर तथा हेनरी बर्गसां का भी जन्म हुआ था और इसी वर्ष डार्विन का 'ओरिजिन ऑफस्पिसीज' तथा मिल का 'ऐस्सेज आन लिबर्टी' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए थे। विद्यार्थी जीवन में हुसर्ल की रुचि ज्योतिष, गणित, भौतिकी, मनोविज्ञान जैसे विविध विषयों में थी। विचारों की परिपक्वता के साथ हुसर्ल की रुचियाँ भी परिवर्तित होती गयीं। प्रारम्भ में उसका लक्ष्य गणित के वैज्ञानिक आधार की खोज करना था, कालान्तर में उसने फेनॉमेनॉलॉजिकीय दार्शनिक प्रणाली का विकास किया और अन्त में अनुभवातीत आत्मा (ट्रांसेन्डेन्टल इगो) को स्वीकार करके वह कुछ अंश तक विज्ञानवादी भी हो गया।[1] वर्ष 1916 से 1929 तक हुसर्ल फ्राइबुर्ग विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद पर रहा। 1933 में जर्मनी पर नाज़ियों के अधिकार के नाते उसे इस पद से वंचित होना पड़ा, यहाँ तक कि दार्शनिक गोष्ठियों में एक व्यक्तिगत नागरिक की हैसियत से भी भाग लेने की अनुमति उसे नहीं थी। बाद में हुसर्ल को दक्षिणी कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय से प्रोफेसर के पद पर कार्य करने का आमंत्रण मिला किन्तु उसने उसे अस्वीकार कर दिया। वह अपने उस नगर को छोड़ना नहीं चाहता था जहाँ अध्ययन-अध्यापन में उसका सारा जीवन बीता था और अन्त में 79 वर्ष की अवस्था में वर्ष 1938 में हुसर्ल की मृत्यु हो गयी।

मृत्यु के समय हुसर्ल 40,000 पृष्ठों की अप्रकाशित पाण्डुलिपि तथा इसके अतिरिक्त 45,000 पुस्तकों का विशाल पुस्तकालय, जो उसकी महत्व-पूर्ण टिप्पणियों से भरा था, छोड़ गया था। हुसर्ल की विधवा पत्नी श्रीमती मालविन हुसर्ल अपने पति के कुछ मित्रों तथा तत्कालीन बेलजियम के प्रधान-मंत्री की सहायता से पाण्डुलिपियों को नाज़ियों द्वारा विनष्ट होने से बचा सकीं। अन्त में डा० फन ब्रेडा ने लुवने (बेलजियन) में हुसर्ल आर्काइव्ज की स्थापना

1. देखिए पीटर कोयस्टनबॉम : पेरिस लेक्चर्स की भूमिका : पृ० LXXX

एवं रक्षा की, जो इस समय हुसर्ल तथा उसके दर्शन पर शोध का केन्द्र बना हुआ है। हुसर्ल की प्रमुख कृतियाँ, जिनका अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है, निम्नलिखित हैं—

1. आइडियाज (Ideas)

2. कार्टिजियन मेडीटेशन्स (Cartesian Meditations)

3. आइडिया ऑफ फेनॉमेनॉलॉजी (Idea of Phenomenology)

4. पेरिस लेक्चर्स (Paris Lectures)

5. फार्मल एण्ड ट्रांसेन्डेन्टल लाजिक (Formal & Transcen dental logic)

6. लाजिकल इनवेस्टीगेशन्स (Logical Investigations)

7. दि क्राइसिस ऑफ यूरोपियन फिलासफी (The Crisis of Eu ropian philosophy)

हुसर्ल की दर्शन-योजना

ऊपर हम यह निर्देश कर चुके हैं कि फेनॉमेनॉलॉजी की उत्पत्ति पारंपरिक दर्शन के प्रति असंतोष से हुई। पारंपरिक दर्शन, हुसर्ल के अनुसार, अमूर्त दर्शन हं तथा वह प्रदत्त वास्तविकता एवं अनुभूत अनुभव से बहुत दूर है। तथाकथित इन्द्रियानुभववाद भी इस दोष से मुक्त नहीं है क्योंकि वह समस्त अनुभव की व्याख्या पृथक् एवं आण्विक संवेदनाओं के रूप में करने का प्रयास करता है। अतएव उसमें मानवीय अनुभव के सम्बन्धमूलक अथवा विषयापेक्षी स्वरूप की व्याख्या नहीं हो पाती। अनुभव का विषयापेक्षी स्वरूप अनिवार्यतः अपने वस्तु अथवा विषय से सम्बद्ध एवं उसकी ओर उन्मुख होता है। ब्रिटिश अनुभववाद की मनोविज्ञानपरता (साइकालोजिज्म) ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से आत्मघाती है और अस्तित्वपरक दृष्टि से अपर्याप्त। मनोविज्ञानपरता का स्पष्ट अर्थ है—सापेक्षता, जो आत्मघाती स्थिति है और पुनः यदि हमारा सारा ज्ञान आण्विक संवेदनाओं से निर्मित और उन्हीं तक सीमित है, तो हम अपने आगामी चिन्तन के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अनुमान कैसे कर सकते हैं ? अस्तित्वपरक दृष्टि से मनोविज्ञानपरता का अर्थ यह होता है कि व्यक्ति अपनी ही आण्विक संवेदनाओं में आवेष्टित इकाई है, चेतना आण्विक अनुभवों को धारण करने वाला द्रव्य है। यह चेतना अथवा व्यक्ति की सत्ता की विकृत व्याख्या है। यह सही है कि चेतना का प्रारम्भ मानसिक व्यापारों से होता है किन्तु इन मानसिक व्यापारों की संरचना मूलतः एवं अनिवार्यतः विषयापेक्षी (इन्टेंशनल) है।

हर इच्छा किसी वस्तु की इच्छा होती है, हर कल्पना किसी पदार्थ की कल्पना होती है, हर ज्ञान किसी विषय का ज्ञान होता है इस प्रकार ज्ञान अथवा अनुभव की प्रक्रिया में दो ध्रुव होते हैं जिन्हें हुसर्ल विषयी (नोएसिस) तथा विषय (नोएमा) की संज्ञा देते हैं। अनुभव की संरचना का ज्ञान फेनॉमेनॉलॉजिकीय खोज के लिए नये आयामों का उद्घाटन करता है।

मनोविज्ञानपरता के अतिरिक्त हुसर्ल प्राकृतिक विज्ञानों के प्रकृतिवादी दृष्टिकोण की आलोचना करता है। इस दृष्टिकोण में हम अपने को वस्तुओं में निमग्न कर देते हैं और उन वस्तुओं का निर्देश करने वाली विषयापेक्षाओं (इन्टेन्शन्स) की अवहेलना करते हैं जब कि वास्तव में इन्हीं विषयापेक्षाओं पर वस्तुओं का अर्थ और मूल्य निर्भर करता है। समस्त फेनॉमेनॉलॉजिकीय अभियान इस बात का आह्वान कि हम अपने इस आदिम प्रकृतिवादी दृष्टिकोण का, जो हमारे दैनिक जीवन पर हावी है, प्रत्याख्यान करके मूलगामी फेनॉमेनॉलॉजिकीय दृष्टिकोण को स्वीकार करें। हुसर्ल का उद्देश्य फेनॉमेनॉलॉजी को एक सुदृढ़ विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना था। किन्तु यह विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न होगा। वस्तुतः प्राकृतिक विज्ञान स्वतः दर्शन से सहायता की अपेक्षा रखते हैं। प्राकृतिक विज्ञान मात्र तथ्यों का अध्ययन करने के नाते समग्र जीवन के साथ अपनी प्रासंगिकता खो बैठते हैं। मानव जीवन के अर्थ और मूल्य के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है। प्रकृतिवादी दृष्टिकोण में स्थित मानव मानो अपनी आधारभूमि से ही कटकर किसी स्खलनशील भूमि पर आ खड़ा हो और वहाँ से सहायता की आकांक्षा लिये दर्शन को पुकार कर रहा हो। हुसर्ल का फेनॉमेनॉलॉजिकीय दर्शन इस पुकार से उत्पन्न दर्शन होने का दावा करता है। वह मानवीय ज्ञान और अस्तित्व के मूलाधारों में प्रवेश करने का दर्शन है, तथ्य एवं अनुभव के विस्तार एवं उचित सीमांकन का दर्शन है, दर्शन को वैज्ञानिक विधि से संयुक्त करने का दर्शन है। यह दर्शन के पारम्परिक विवादों से ऊपर उठकर नये तरीके से तत्त्वचिंतन की दर्शनप्रणाली है। अपने एक मित्र को लिखे गये पत्र में हुसर्ल अपने आशय को स्पष्ट करते हुए कहता है कि हमारा दर्शन एक पराबुद्धिवादी दर्शन है, जो पुराने बुद्धिवाद का अतिक्रमण करते हुए भी उसके मुख्य उद्देश्य को पूरा करता है।[1]

---

1. My enterprise is "a method by which I want to establish against mysticism and irrationalism, a kind of super-rati-

हुसर्ल का दर्शन 'जीवन-जगत्' का दर्शन होने के नाते एक अत्यन्त व्यापक दर्शन है। मानव अस्तित्व, ज्ञान एवं मूल्य की प्रायः सभी समस्याओं पर उसमें विचार किया गया है। इतने संक्षिप्त लेख में उसके समूचे दर्शन को प्रस्तुत कर देना निश्चय ही एक असंभव नहीं तो दुरूह कार्य अवश्य है। अस्तु हम यहाँ पर हुसर्ल के दर्शन के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों पर ही विचार कर सकेंगे जो कि उसके दर्शन के मूलाधार हैं, तथा जिनसे उस समग्र दर्शन का पूरा चित्र भी हमारे समक्ष हो सकता है। इस दृष्टि से हम आगामी पृष्ठों में हुसर्ल के फेनॉमेनॉलॉजी के निम्न-लिखित सिद्धान्तों का मुख्य रूप से विवेचन करेंगे :—

फेनॉमेनॉलॉजिकीय प्रणाली : विच्छेद अथवा इपाकी का सिद्धान्त

स्थगन (रिडक्शन) का सिद्धान्त,

विषयापेक्षा का सिद्धान्त,

अनुभवातीत आत्मा (ट्रांसेन्डेन्टल इगो) का सिद्धान्त।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विचारों का हम अन्त में केवल संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

फेनॉमेनॉलॉजिकीय प्रणाली : विच्छेद (इपाकी)

हुसर्ल का उद्देश्य एक ऐसे दर्शन की नींव डालना था जो किसी भी प्रकार की पूर्वमान्यता को स्वीकार न करता हो, जो स्वयं एक सुदृढ़ विज्ञान बन सके तथा वैज्ञानिक चिन्तन का आधार बन सके। इसीलिए उसका कहना कि दार्शनिक चिन्तन में प्रवृत्त होने के पहले हमें निरपेक्ष साक्ष्यों की[1] तलाश कर लेनी चाहिए तथा जिसे हम स्वयं नहीं देखते उसके सम्बन्ध में हमें कुछ प्रतिपादन नहीं करना चाहिए'।[2] हुसर्ल के अनुसार देकार्त वह प्रथम दार्शनिक था, जिसने पूर्वमान्यतारहित दर्शन की आवश्यकता को भली-भाँति समझ कर सन्देह की पद्धति को स्वीकार किया। उसका उद्देश्य दर्शन में पूर्ण सुधार

---

onalism which transcends old rationalism as inadequate and yet vindicates its inmost objectives."

—हर्बर्ट स्पीगिलबर्ग द्वारा उद्धृत फेनॉमेनॉलॉजिकल मूवमेंट, खण्ड 1, पृ० 84.

1. Absolute evidences.
2. ....We must ont make assertions about that which we ourselves do not see. *Paris Lectures*. p. 9.

करना था। इसलिए उसने सर्वप्रथम बाह्य जगत् से हट कर समस्त पूर्वनिर्मित विश्वासों, धारणाओं एवं सिद्धान्तों से उन्मुक्त होकर आत्मचिन्तन में स्पष्ट एवं स्वयं-सिद्ध सत्य को ढूंढ़ने का प्रयास किया। इस तलाश की प्रक्रिया में देकार्त ने शुद्ध, अनुभवातीत आत्मा की सत्ता का अनावरण किया। जगत् के अस्तित्व, वास्तविकता तथा उससे सम्बद्ध सभी विश्वासों का पूर्णतया प्रत्याख्यान कर देने के पश्चात् यह आत्मा अपनी सत्ता को स्वयं-सिद्ध एवं निरपेक्ष सत्य के रूप में स्थापित करता है। अपनी इस नवीन शैली से परिवर्तित दर्शन अब आदिम विषयनिष्ठवाद से अनुभवातीत विषयिनिष्ठवाद की ओर अग्रसर होता है।[1]

मूलगामी दार्शनिक होने के लिए हमें देकार्त के प्रमुख उद्देश्य के प्रति निरंतर सचेष्ट रहना चाहिए; अपने समस्त पूर्वअर्जित एवं वर्तमान ज्ञान का तिरस्कार करके ज्ञान के निरपेक्ष आधार की तलाश करनी चाहिए। सम्प्रति हमें यह भी नहीं मानना चाहिए कि हमारे लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है क्योंकि ऐसा करना एक प्रकार का पूर्वाग्रह होगा। पूर्णतया वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर हमें किसी भी सत्य को असंदिग्ध साक्ष्य के आधार पर ही स्वीकार करना चाहिए। पुनः उस साक्ष्य का भी अन्य साक्ष्यों के आधार पर परीक्षण होना चाहिए। इस निरपेक्ष साक्ष्य की खोज में हम वस्तुगत वैज्ञानिक जगत् से हट कर पूर्ववैज्ञानिक (प्रीसाइंटिफिक) जीवन धरातल पर, अपने तात्कालिक अनुभव एवं चिंतन के धरातल पर, आ जाते हैं। यही हमें सर्वप्रथम तथा असंदिग्ध रूप से प्रदत्त है। यह कहा जा सकता है कि वस्तु जगत् की सत्ता भी तो प्रत्यक्षतः प्रदत्त है, वह सभी अन्य वस्तुओं की पूर्वगामी है। हमारा जगत्-सम्बन्धी अनुभव निरन्तर, सत्य तथा असंदिग्ध है। किन्तु हुसर्ल का कहना है कि वस्तु जगत् के आनुभविक साक्ष्य को स्वीकार करने पर भी यह प्रश्न उठता कि क्या यह साक्ष्य सुनिश्चित एवं अन्य साक्ष्यों का मूलाधार है? देकार्त का ही अनुसरण करते हुए हुसर्ल इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं। किन्तु वे देकार्त से भी आगे जाते हैं; उनका सन्देह वास्तविक अर्थों में मूलगामी (रेडिकल) है। देकार्त ऐन्द्रिक अनुभव की केवल सतही आलोचना करता है। किन्तु हमें तो यह ध्यान रखना पड़ेगा कि जिस आनुभविक साक्ष्य को हम ज्ञान के मूलगामी आधार के रूप में स्वीकार

---

1. As a matter of fact, Descarts inaugurates a completely new type of philosophy. Philosophy with its new style now changed altogether, experiences a radical conversion from naive objectivism to transcendental subjectivism. Ibid.p.5.

करने जा रहे हैं, वह स्वतः आलोचना का विषय है। अतएव केवल जगत् संबंधी समस्त ज्ञान तथा सभी विज्ञानों को मात्र पूर्वाग्रह कह देना ही पर्याप्त नहीं है। प्रश्न केवल विशिष्ट अनुभवों, विश्वासों एवं सिद्धान्तों तथा विद्वानों की आलोचना का नहीं है। फेनॉमेनॉलॉजिकीय मूलगामी दर्शन में तो जगत् का अनुभव ही, जो सार्वभौम ज्ञान का आधार है, अस्वीकार्य हो जाता है। जगत् की वास्तविकता एक प्राक्कल्पना है, जिसको जाँच एवं पुष्टि की आवश्यकता है।[1]

वस्तु जगत् ज्ञान एवं निर्णय का आधार नहीं है। तो क्या इसकी सत्ता का कोई अन्य पूर्ववर्ती आधार है ? यहीं पर हम अनुभवातीत विषयिता (ट्रांसेन्डेन्टल सब्जेक्टिवटी) की ओर उन्मुख होते हैं। किन्तु इसके लिए फेनॉमेनॉलॉजिकीय विच्छेद (इपाकी), की प्रविधि का प्रयोग करना आवश्यक होता है।

इपाकी ग्रीक शब्द है जिसको अँग्रेजी में ब्रेकटिंग तथा हिन्दी में कोष्ठीकरण अथवा निलम्बन कहा जा सकता है। इस फेनॉमेनॉलॉजिकीय प्रविधि का उद्देश्य पूर्णतया तटस्थ भाव से किसी अनुभव अथवा उसके किसो अंश पर ध्यान केन्द्रित करना है। इस अवस्था में हम अपने अनुभव अथवा विचार्य विषय से एक दूरी पर स्थित होते हैं। उसके साथ अपने लगाव अथवा एकाकारता को निलंबित कर देते हैं। वास्तविकता अथवा अनुभव सम्बन्धी उन सभी सामान्य विश्वासों एवं सिद्धान्तों को, जो हमारे दैनिक जीवन, व्यवहार तथा चिन्तन को प्रभावित और नियंत्रित करते रहते हैं, निलंबित, स्थगित, अथवा कोष्ठीकृत कर देते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उन सम्मान्य विश्वासों का प्रभाव और नियंत्रण सदा स्पष्ट और व्यक्त रहता हो। वे हमारे समस्त चिन्तन और व्यवहार की पृष्ठभूमि में अव्यक्त रूप से विद्यमान हो सकते हैं और

---

1. His (Descarte's) proof is carried out by much too superficial criticism of sensory knowledge. We will keep this much. Experiential evidence that is to serve as radical foundation for knowledge needs, above all, a critique of its validity and range....Even the experience of the world as the true universal ground of knowledge becomes an unacceptably naive belief. We can no longer accept the reality of the world as a fact to be taken for granted. It is a hypothesis that needs verification.

Ibid., pp. 6-7.

हम अनजाने ही उनका उपयोग कर सकते हैं। फेनॉमिनॉलॉजिकीय निलम्बन का प्रथम उद्देश्य यही है कि हम इस प्राकृतिक दृष्टिकोण, जो हमारे सामान्य चिन्तन को प्रभावित करता रहता है, के अर्थ को समझें। जिस वास्तविकता को आदिम प्राकृतिक दृष्टिकोण में हम अनालोचनात्मक रूप से स्वीकार किये होते हैं, फेनॉमिनॉलॉजिकीय अनुचिन्तन में उसी के सामने एक प्रश्न चिह्न लगाते हैं, उस पर पुनर्विचार करते हैं। इस प्रकार हम तत्त्वचिन्तन के उस प्रस्थान बिन्दु पर पहुँच सकते हैं जो सभी प्रकार के पूर्वसंकल्पों से उन्मुक्त होता है तथा जहाँ से हम वर्णन अथवा प्रस्तुतीकरण (डिस्क्रिप्शन या प्रेजेन्टेशन) के कार्य में प्रवृत्त हो सकते हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हुसर्ल का उद्देश्य वस्तुओं की व्याख्या करना नहीं था (जैसा कि प्राकृतिक विज्ञान करते हैं)। उसका उद्देश्य उनके धर्मों (इसेन्सेज) का वर्णन करना था। 'वस्तु' से उसका तात्पर्य मात्र भौतिक वस्तु अथवा तथ्य से नहीं था, अपितु जो कुछ विचार, अनुभव, कल्पना, संवेग अथवा संवेदना का विषय हो सकता है, वह सब 'वस्तु' की श्रेणी में आता है। और एक बार जब वस्तुओं के सामान्य धर्मों को उचित ढंग से प्रस्तुत कर दिया जाय तो अनुभव के व्यापकतम अर्थ में आने वाले सभी तथ्यों एवं पदार्थों के स्वरूप को समझा जा सकता है। यहाँ यह कहना भी अप्रांसगिक न होगा कि हुसर्ल का उद्देश्य बहुत कुछ कांट के उद्देश्य के समान है। कांट की समस्या अनुभव की सम्भावना, उसको पूर्ववर्ती शर्तों एवं आधारों की खोज करना था।[1]

एक सीमित दृष्टिकोण से हुसर्ल की इस पद्धति की तुलना माध्यमिक अथवा शून्यवादी प्रासंगिक विधि से भी की जा सकती है। माध्यमिक दर्शन भी सभी प्रकार के दार्शनिक एवं प्राकृतिक पूर्वाग्रहों से उन्मुक्त होने पर बल देता है। ये पूर्वाग्रह, पूर्वविश्वास एवं विकल्पजाल बुद्धि को मलिन कर देते हैं; उसे उसके विमल रूप से प्रकाशित नहीं होने देते। अस्तु, वे इन सबका प्रत्याख्यान करने के लिए शून्यता का प्रतिपादन करते हैं (सर्वसंकल्पप्रहाणाय शून्यताऽमृत-देशना)। किन्तु हुसर्ल तथा माध्यमिक की तुलना करते समय हमें यह सतर्कता रखनी चाहिए कि जहां पर माध्यमिक दर्शन का उद्देश्य शुद्ध रूप से आध्यात्मिक है—निर्वाण की प्राप्ति है; हुसर्ल के दर्शन में इस प्रकार का कोई

---

1. देखिये मारविन फावंर :
Aims of phenomenology, New York.
Harper and Row, 1966, p. 58-59.

लक्ष्य नहीं प्रतिपादित किया गया है। समस्त फेनॉमेनॉलॉजिकीय विच्छेदों अथवा निलम्बनों के बावजूद हुसर्ल मूलगामी अनुभववादी (इम्पिरिसिस्ट) होने का दावा करता है।[1]

डोरियन केयर्न्स ने फेनॉमेनॉलॉजिकीय प्रणाली को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है : जब तक किसी विचार की स्वतः प्रस्तुत साक्ष्य द्वारा पुष्टि न हो जाय तब तक उसे दार्शनिक ज्ञान के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता। प्रत्यक्षतः प्रदत्त सत्य मे असंगत विश्वास त्याज्य हैं। इन दोनों श्रेणियों—स्वतः प्रस्तुत तथा प्रत्यक्षतः प्रदत्त से भिन्न विचार के प्रति तटस्थता का दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।[2]

यहाँ पर हुसर्ल के 'पूर्वमान्यता रहित' दर्शन का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। पूर्वमान्यता रहित दर्शन का अर्थ यह नहीं है कि दर्शन का कोई आधार हो न हो; इसका अर्थ है सभी विश्वासों, मान्यताओं अथवा प्रतिबद्धताओं का, वे कितने ही प्राथमिक एवं आधारभूत क्यों न हों, फेनॉमेनॉलॉजिकीय विधि से परीक्षण करके उन्हें स्पष्टतर बनाना तथा जहाँ तक सम्भव हो, उन्हें तटस्थ बनाना। जब हम इस तटस्थता के दृष्टिकोण पर पहुँच जाते हैं तब हमारे पास कोई प्रामाणिक ज्ञान नहीं बचता और न ही किसी वास्तविक जगत् की सत्ता

---

1. If positivism means nothing but founding all science without any prejudices whatsoever upon the 'positive' i. e. upon what is to be grasped at first hand, then it is we who are the genuine positivists.
   Phenomenological Movement I, p. 130 (स्पीगलबर्ग द्वारा Ideas से उद्धृत)।
2. No opinion is to be accepted as philosophical knowledge unless it is seen to be adequately established by observation of what is seen to be itself given "in person" Any belief seen to be incompatible with what is seen to be itself given is to be rejected. Toward opinions that fall in neither class—whether they be one's own or another's—one is to adopt an "official" philosophical attitude of neutrality.
   —मॉरिसनटांसन द्वारा उद्धृत 'एस्सेज इन फेनॉमेनॉलॉजी' पृ० 11।

अवशेष रह जाती है। तब हम यह नहीं कह सकते कि जगत् यथार्थ है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जगत् शून्य में विलीन हो जाता है। इपाकी की प्रक्रिया में जगत् की सत्ता का निषेध नहीं किया जाता और न ही हमारा सामान्य अनुभव निरर्थक हो जाता है। इपाकी दृष्टिकोण का परिवर्तन है; जो पूर्वस्वीकृत है उसपर पुनर्विचार है। वस्तुजगत्, दैनिक अनुभव तथा प्रचलित धारणायें रहस्यमय ढंग से विलुप्त नहीं हो जातीं, केवल वे नये परिप्रेक्ष्य में 'देखने' का विषय बन जाती हैं। हुसर्ल ने इस बात को कई स्थलों पर स्पष्ट कर दिया है कि इपाकी जगत् में कोई परिवर्तन नहीं करती। अनुभव और जगत् तब भी विद्यमान रहता है किन्तु इपाकी की प्रक्रिया में उनके नये अर्थ, नये आयाम और नयी संरचना का उद्घाटन होता है।[1]

ऊपर हम कह आये हैं कि फेनॉमिनॉलॉजिकीय इपाकी प्राकृतिक दृष्टिकोण

---

1. (a) Nothing changes, except that I no longer accept the world simply as real, I no longer judge regarding the distinction between reality and appearance. I must similarly abstain from any other of my opinions, judgments, and valuations about the world. But for these....epistmological abstention does not mean their disappearance, as least as pure phenomenon. *Paris Lectures*, p. 7-8.

   (b) Epoche changes nothing in the world. All experience is still his experience, all consciousness, still his consciousness. Ibid., p. 12.

   (c) We put out of action the general thesis which belongs to the essence of the natural standpoint. We place in brackets whatever it includes respecting the nature of Being : this entire natural world therefore which is continually "there for us," "present to our hand" will ever remain there is a "fact world" of which we continue to be conscious, even though it pleases us to put it in brackets. If I do this... I do not then deny this "world," as though I were a sophist, I do not doubt that it is there as though I were skeptic, but I use the "phenomenological" epoche

से विरक्त अथवा अलग होने की प्रक्रिया है। इसी को कोष्ठीकरण भी कहते हैं। इसको हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।[1] जब मैं कोई नाटक या सिनेमा देखता हूँ तो उसके 'साथ एक होता' हूँ, मैं उसमें सम्मिलित हूँ, अनुरक्त हूँ। यह प्राकृतिक दृष्टिकोण की अवस्था है। किन्तु जब मैं उस सिनेमा का अपने संवेगात्मक लगाव से स्वतंत्र होकर निरीक्षण अथवा परीक्षण करता हूँ तब मैं उसमें सम्मिलित न होकर उससे एक दूरी पर स्थित होता हूँ। यह इपाकी की अवस्था कही जा सकती है। जब मैं सिनेमा में सम्मिलित होता हूँ तो सिनेमा की घटनाओं को वास्तविक समझता हूँ, मानो वे हमारे समक्ष वस्तुतः घट रही हों। किन्तु जब मैं अपने को फिल्म से अलग करके उसकी घटनाओं को कोष्ठीकृत (ब्रैकेट) कर देता हूँ तब मैं फिल्म को फिल्म के रूप में— दृष्टि की भ्रांति के रूप में, न कि वास्तविक घटना-जगत् के रूप में देखता हूँ। फिल्म के साथ अपने प्राकृतिक लगाव का कोष्ठीकरण फिल्म की समालोचना के लिए आवश्यक तो है ही, इससे हम फिल्म के प्रति अपनी प्रतिक्रिया तथा देखने की विधि का भी विश्लेषण कर सकते हैं। हम अपनी आलोचनात्मक दृष्टि को 'फिल्म' तथा 'फिल्म को देखने की विधि' दोनों पर केन्द्रित कर सकते हैं और देखने की विधि अथवा क्रिया (ऐक्ट आफ परसेप्सन) का निरीक्षण हमें एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज, चेतना के विषयापेयी स्वरूप, की ओर ले जाता है। हम देखते हैं कि देखने की क्रिया तथा दृष्ट पदार्थ के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध है। पदार्थ अथवा वस्तु, ज्ञान अथवा प्रत्यक्षक्रिया का अभिप्रेत है, उसी के द्वारा संरचित है। किन्तु इस विषय की चर्चा हम कुछ समय पश्चात् करेंगे।

इपाकी का प्रयोग करके हुसर्ल अनुभव के प्रदत्तों अथवा पदार्थों (आब्जेक्ट्स, काजिटेटा) की संरचना, स्वरूप एवं संयोग का अध्ययन करता है, जिसका प्रयोग अन्य प्राक्कल्पनाओं के प्रयोग, गणितीय अन्तंदृष्टि तथा मानवीय अनुभवसंबंधी ज्ञान के लिए किया जा सकता है। किन्तु प्रदत्त अथवा पदार्थ से हुसर्ल का तात्पर्य केवल ऐन्द्रिय प्रदत्त अथवा पदार्थ से नहीं है; आलोच्य विषय प्रत्ययात्मक (ईडिक) अथवा भावात्मक (अफेक्टिव) भी हो सकता है। अन्य

---

which completely bars me from using any judgment that concerns spatio-temporal existence.

Ideas (tr. Boyce Gibson), London : Collier....Macmillan LTD., 1967, p. 99-100.

1. इस उदाहरण के लिए लेखक पीटर कायस्टेनबान के प्रति आभारी है।

शब्दों में, जो कुछ भी अनुभव का विषय हो सकता है, वह पदार्थ की कोटि में आता है। यहाँ भी हुसर्ल की प्राकृतिक विज्ञानों की आलोचना स्पष्ट है, जिनमें पदार्थ अथवा इन्द्रिय-प्रदत्त की अत्यन्त संकीर्ण परिभाषा दी गयी है। इन्द्रियानुभववाद अथवा प्रत्यक्षवाद में भी पदार्थ को सीमित अर्थ में ग्रहण किया गया है। किन्तु हुसर्ल इपाकी के माध्यम से इन्द्रिय प्रदत्त (सेन्स डेटा) अथवा पदार्थ का विस्तार इस सीमा तक कर देता है कि उसमें सामान्य प्रत्यय (यूनिवर्सल कान्सेप्ट्स) अथवा धर्म (इसेन्स) भी सम्मिलित हैं। तर्कशास्त्री के लिए तार्किक धर्म (लॉजिकल इसेन्स) उसी प्रकार प्रदत्त है जिस प्रकार जीवशास्त्री के लिए एकेन्द्रिय जीव, जो कि माइक्रोस्कोप से देखा जा सकता है। इसी प्रकार अस्तित्ववादियों ने इपाकी का प्रयोग करके मनुष्य की विभिन्न मानसिक स्थितियों जैसे ऊब, निराशा, चिन्ता, भय आदि को भी पदार्थ कोटि में शामिल कर लिया।

यदि अत्यन्त सरल ढंग से कहा जाय तो इपाकी की प्रक्रिया में हम अपने समस्त पूर्वविश्वासों सहित जगत् और उसके पदार्थों को कुछ समय के लिए निलंबित अथवा स्थगित कर देते हैं। गणितीय भाषा में उसे 'कोष्ठ' में और व्याकरण की भाषा में उसे 'निक्षेपचिह्न' में स्थापित कर देते हैं: परिणामस्वरूप उन वस्तुओं के स्थान पर उनका प्रतीत होना, देखा जाना, अनुभूत होना[1] शेष रह जाता है। फेनॉमिनॉलॉजी इसी 'देखे जाने' का निरीक्षण है, जिसमें वस्तुओं का 'देखा जाना' प्रत्यक्ष तथा निरपेक्ष रूप से प्रदत्त है। वस्तुतः यह 'देखा जाना' हमारे चेतन जीवन अथवा अनुभव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इपाकी के माध्यम से मैं यह देखता हूँ कि समस्त जगत् मेरे लिए सत्ता है क्योंकि वह मेरे अनुभव का विषय है, क्योंकि मैं उसको देखता, विचारता तथा उसका मूल्यांकन करता हूँ। मेरे अपने अनुभवों के अतिरिक्त जगत् का मेरे लिए कोई अर्थ नहीं है। मेरा सारा जागतिक जीवन मेरे ही अनुभवों के भीतर अवस्थित है (किन्तु इसका अर्थ कैवल्यवाद या सॉलिपसिज्म नहीं है)। इस प्रकार इपाकी के माध्यम से मैं शुद्ध आत्मा को उसके शुद्ध अनुभूतियों के साथ समस्त सत्ता के केन्द्र बिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित करता हूँ। किन्तु यह आत्मा कोई द्रव्य नहीं है। आत्मा को द्रव्य मानने की भूल करके देकार्त अपनी महानतम खोज के सम्पूर्ण निहितार्थों का लाभ न उठा सका, उसका दर्शन सच्चा अनुभवातीत दर्शन न बन कर असंगत अनुभवातीय वस्तुवाद में परिवर्तित हो गया।[2]

---

1. Appearing, Seeing, Experiencing.
2. See, *Paris Lectures*, pp, 8-9.

फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन (रिडक्शन)

स्थगन की प्रविधि वस्तुतः विच्छेद (इपाकी) का ही विस्तार है। इपाकी का कार्य मुख्यतः निषेधात्मक है, यह मुझे प्राकृतिक दृष्टिकोण की निमग्नता से बाहर निकालती है। इसके पहले मैं वस्तुजगत् में सरल ढंग से सम्मिलित था; जागतिक अनुभवों को ज्यों के त्यों रूप में स्वीकार करके तदनुसार आचरण करता था। वे अनुभव 'मेरे' अनुभव थे; मैं उनके साथ एक था; मैं उनमें आन्तरित रूप से साझीदार था। इपाकी की प्रक्रिया मुझे इस अनालोचनात्मक एकाकारता से अलग करके उन अनुभवों, वस्तुओं तथा अवस्थाओं से एक दूरी पर स्थापित कर देती है जिससे कि मैं अनुभव की क्रिया पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकूँ। इपाकी की प्रविधि मुझे शुद्ध द्रष्टा या अनुभवकर्ता के रूप में स्थापित करती है, जिससे कि उस द्रष्टा तथा उसकी दृष्टि का अध्ययन करने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।[1] यह कार्य स्थगन के सिद्धान्त में पूरा होता है। इपाकी क्रिया जगत तथा उससे सम्बद्ध समस्त अनुभवों को तो कोष्ठीकृत कर देती है किन्तु मैं एक अनुभवकर्ता के रूप में अवशिष्ट रहता हूँ। अब स्थगन की क्रिया मेरे आत्मा के वास्तविक एवं शुद्ध रूप का अनावरण करती है।

कांट का उद्देश्य उन प्रागनुभविक अनुभवातीत आधारों की खोज करना था, जिनके नाते अनुभव सम्भव हो सकता है। भाषा-दार्शनिकों का लक्ष्य मूल पदों, तर्कवाक्यों, परिभाषाओं एवं नियमों की तलाश करना है। हुसर्ल का लक्ष्य शुद्ध चेतना के मूल तत्त्वों को खोजना है। स्थगन की विधि अनुभव अथवा चेतना का विश्लेषण करके उसकी मूल संरचना का अनावरण करती है, जो किसी भी ज्ञान, प्रत्यक्ष, अनुभव अथवा विश्लेषण के मूल में आवश्यक शर्त के रूप में विद्यमान होती है।

'रिडक्शन' शब्द, जिसके लिए हम 'स्थगन' का प्रयोग कर रहे हैं, का अर्थ है—'मूलों (ओरिजिन) की ओर लौटना' जिसको कि हम नित्य के साधारण चिन्तन में भूले हुए होते हैं। स्थगन का अर्थ उन अनुभवों तथा विचारों को, जो कि 'शुद्ध प्रस्तुत वस्तु' से असंबद्ध हैं, स्थगित करना, निकाल

---

1. Therefore, the phenomenological attitude, with its epoche, consists in that I reach the ultimate experiential and cognitive thinkable. In it I become the disinterested spectator of my natural and worldly ego and its life.

Ibid., p. 15.

देना अथवा निरस्त कर देना है। सत्ता की वास्तविकता को समझने के लिए अनुभवगत घटनाओं को उनके उस रूप में जाकर देखना आवश्यक है जिसमें उनकी शुद्ध प्रतीति अथवा आभास होता है। इपाकी की प्रविधि सर्वप्रथम बाह्य जगत् की सत्ता एवं वास्तविकता का निरूपण करने वाले व्यर्थ सिद्धान्तों एवं अनुमानों का निराकरण कर देती है। इसके पश्चात् स्थगन के लिए घटनाओं अथवा वस्तुओं का शुद्ध 'प्रतीत होना', 'अनुभव होना', देखा जाना' शेष रह जाता है, जो चेतना अथवा आत्मा का आयाम है तथा उसकी विभिन्न पर्तों के उदघाटन करने का कार्य स्थगन की प्रविधि करती है। इस प्रविधि के द्वारा अनुभव में शुद्ध चेतना के अतिरिक्त जो कुछ अन्य होता है उसको निरस्त कर दिया जाता है जिसके फलस्वरूप अनुभवातीत अथवा अगोचर आत्मा अपने मूल रूप में प्रकाशित होने लगता है। स्थगन की प्रक्रिया इससे और आगे नहीं जा सकती क्योंकि आत्मा अथवा शुद्ध चेतना वह मूल विंदु है, जहाँ से सभी फेनॉमेनॉलॉजिकीय क्रियाओं का उद्गम एवं नियंत्रण होता है।

यद्यपि 'स्थगन' को प्रविधि कोई रहस्यमय प्रक्रिया नहीं है, किन्तु दुर्बोध अवश्य है। इसके दो कारण हैं। एक तो, यह प्रविधि वैज्ञानिक जगत् में प्रचलित प्रविधि से सर्वथा भिन्न है और दूसरे, पाश्चात्य दर्शन का इस प्रकार की प्रविधि से कोई परिचय नहीं है। किन्तु भारतीय दशन के परिप्रेक्ष्य में यह दर्शन प्रणाली न तो नवीन है और न दूर्बोध। वेदांत तथा सांख्ययोग में जिस साक्षी पुरुष अथवा शुद्ध द्रष्टा की चर्चा की गयी है तथा जिसे अगोचर अथवा अनुभवातीत सत् के रूप में स्वीकार किया है, उसका ज्ञान और साक्षात्कार योगाभ्यास की प्रक्रिया का परिणाम है। जब तक जीव जागतिक अनुभवों में निमग्न है, तब तक उसे अपने साक्षी स्वरूप का कोई अभ्यास भी नहीं रहता। जब ज्ञान और साधना के मार्ग से वह अपने को जगत्, शरीर, मन तथा इन्द्रियों जैसे आगंतुक धर्मों से अलग कर लेता है, तब उसे अपने निजी स्वरूप का बोध होता है। योगदर्शन को अंतरंग योगक्रिया—प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि में हम क्रमशः जगत् की सत्ता से अपने को अलग करते हुए शुद्ध चेतना—अनुभवातीत विषयिता—के मूलबिन्दु पर पहुँचते हैं। फेनॉमिनॉलॉजिकीय स्थगन की कठिनाई को स्वीकार करते हुए स्वयं हुसर्ल कहते हैं कि यह वस्तुओं को देखने की सर्वथा नयी विधि है, जो प्रचलित प्राकृतिक विधि से एकदम भिन्न होने के कारण सहज बोधगम्य नहीं है।[1] नाटंसन ने स्थगन की

---

1. "What makes the appropriation of the essential nature of phenomenology..,......so extra-ordinarily difficult is that is

व्याख्या करते हुए लिखा है : दैनिक जीवन के व्याख्यात्मक दृष्टिकोण से ऊपर उठकर फेनॉमेनॉलॉजिकीय दृष्टिकोण को अपनाना प्रत्यक्षगत अनुभव में एक नया अभिविन्यास है जो आदिम दृष्टिकोण में अनुभूत वस्तुओं में निमग्नता की अवस्था को चेतना की क्रियाओं के प्रति विमर्शात्मक चिन्तन में परिवर्तित कर देता है और तब हम उन विभिन्न वस्तुओं को देखने, सुनने, रसास्वादन करने तथा स्पर्श करने के बजाय अपने उन वस्तुओं को देखने, सुनने, रसास्वादन करने तथा स्पर्श करने पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। अपनी 'क्रियाओं में रहने' के बजाय अब हम उन क्रियाओं का ही अन्तर्निरीक्षण करते हैं जो हमें चेतना के विषयापेक्षी स्वरूप की ओर ले जाता है।[2] किंतु उसके पहले स्थगन की प्रविधि का कुछ विस्तार से वर्णन करना अपेक्षित है।

हुसर्ल का स्थगन का सिद्धान्त वस्तुतः अत्यन्त जटिल है। स्वयं हुसर्ल ने स्वीकार किया है कि स्थगन की कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं हो सकी है।[2] इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त का विकास कई अवस्थाओं में हुआ। हुसर्ल ने फेनॉमेनॉलॉजिकीय लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कई प्रकार के स्थगन अथवा कोष्ठीकरण की बात की है। निम्नलिखित प्रकार के स्थगनों की चर्चा फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन को समझने के लिए आवश्यक है।

(1) इन्द्रिय प्रदत्तों का निरीक्षण विभिन्न प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित हो सकता है। उन सबका दार्शनिक स्थगन किया जाना चाहिए।

(2) हमारा दृष्टिकोण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रभावित होता रहता है। अतएव जगत् को उसके मूल रूप में समझने के लिए वैज्ञानिक स्थगन द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी निरास किया जाना चाहिए।

(3) इसके पश्चात् हम निरीक्षणगत वस्तुगत घटना की सत्ता में विश्वास भी स्थगित कर सकते हैं। यह फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी की अवस्था है। इस अवस्था में अनुभव के सभी आंगतुक गुणों को कोष्ठीकृत करके समग्र अनुभव के

---

addition to all other adjustments a new way of looking at things is necessary, one that contrasts at every point with the natural attitude of experience and thought." *Ideas*, p. 39.

1. *Essays in Phenomenology*, P. 13.
2. Spiegelberg : *Phenomenological Movement I*, p. 135.

सरलतम, अन्तिम तथा सामान्य लक्षण तक पहुँचते हैं। यह लक्षण चेतना का विषयापेक्षी स्वरूप है जो Ego Cogito Cogitata के सूत्र में व्यक्त होता है। इस आत्मा को अलग करके उसका स्वरूप स्पष्ट करना मुख्य स्थगन के सिद्धान्त का कार्य हैं।

(4) इतना हो जाने के पश्चात् हम वस्तुतः फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन की प्रणाली में प्रवेश करते हैं। इपाकी का कार्य मुख्यतः निषेधात्मक है। धर्मात्मक अथवा प्रत्ययात्मक स्थगन (ईडेटिक रिडक्शन) के माध्यम से हम वस्तुओं के सामान्य धर्मों पर विचार करते हैं, विशिष्ट वस्तुओं और उनके विच्छेदक गुणों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब तक हम विशिष्ट वस्तुओं और तथ्यों में निमग्न होते हैं, तब तक हमारा दृष्टिकोण फेनॉमेनॉलॉजिकीय न होकर वासनात्मक होता है। वस्तुतः विश्व की वास्तविक अवधारणा सामान्य धर्मों के ही माध्यम से हो सकती है। यहाँ पर 'धर्म' से हुसर्ल का तात्पर्य प्लेटो के दर्शन के धर्म से भिन्न है। हुसर्ल ने इन सामान्य धर्मों के सम्बन्ध में मात्र इतना ही कहा कि वे ऐसी सत्तायें हैं जिनके बारे में कुछ कहा जा सकता है। उसने कभी यह नहीं कहा कि वे वास्तविक नित्य, अपरिवर्तनीय हैं अथवा किसी भाँति विशेषों से श्रेष्ठ हैं। प्रत्ययात्मक स्थगन से उनका तात्पर्य किसी घटना की अनुभूति के सामान्य धर्म को अपने निरीक्षण (इन्टुइशन) का विषय बनाता है। उदाहरण के लिए, एक प्रत्यक्षीकरण की क्रिया को एक सामान्य या धर्म के रूप में समझने का प्रयास करते हैं। अन्य शब्दों में, प्रत्यक्षीकृत के शुद्ध धर्म को अपने शुद्ध निरीक्षण का विषय बनाते हैं। धर्मात्मक स्थगन का प्रयोग मुख्य रूप से तर्कशास्त्र तथा गणित के क्षेत्र में होता है, किन्तु अन्य क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग हो सकता है।

(5) जब हम हर वस्तु को, जो चेतना अथवा आत्मा से बहिर्गत होती है, कोष्ठीकृत कर देते हैं, तब शुद्ध आत्मा (प्योर इगो) शेष रह जाता है। यह क्रिया अनुभवातीत स्थगन कही जाती है। प्रत्ययात्मक स्थगन की अवस्था में हम वस्तुतः जगत् में ही स्थित होते हैं। प्रत्ययात्मक स्थगन में क्रियाशील विषयिता (सब्जेक्टिविटी) जागतिक विषयिता होती है, जिसकी कालिक व्यष्टिता तथा ऐतिहासिक जीवम होता है, जिसकी चेतना की धारा में धर्म अथवा इसेन्सों का प्रस्तुतीकरण होता है। शुद्ध फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन के लिए जागतिक विषयिता से परे शुद्ध चेतना के प्रवाह तक पहुँचना आवश्यक है। हुसर्ल के शब्दों में, 'अनुभवातीत स्थगन में मैं अपने प्रत्यक्षगत अथवा कल्पनागत अनुभव का निरीक्षण नहीं करता, मैं अनुभवातीत अनुभव का पर्यवेक्षण करना

सीखता हूँ। अब मेरी रुचि अपनी सत्ता में नहीं रह जाती। मैं शुद्ध विषयापेक्षी जीवन, जिसमें मेरे वास्तविक अनुभव घटित होते हैं, का अध्ययन करना चाहता हूँ। हम यह अनुभव करते हैं कि चेतना-सापेक्षता न केवल हमारे वास्तविक जगत् की अपितु यह हर सम्भव जगत् का गुण है। भले ही हम अपनी इच्छानुसार जगत् के स्वरूप को परिवर्तित कर दें किन्तु हम परिवर्तित जगत् हमारे अनुभव का विषय होगा—ऐसा जगत् जिसे हम सिद्धान्तों द्वारा सिद्ध कर सकें, व्यवहार द्वारा जी सकें। यह अनुभवातीत समस्या वस्तुतः प्रत्ययात्मक है हमारे मनोवैज्ञानिक अनुभव, कल्पनायें तथा प्रत्यक्ष आकार एवं अन्तर्वस्तु की दृष्टि से वही रहते हैं, किन्तु स्थगन की अवस्था में हम उन्हें संरचना के रूप में देखने लगते हैं; हम अब चेतना की मूलभूत संरचना के समक्ष अपने को विद्यमान पाते हैं।[1]

प्रकट रूप से स्थगन की क्रिया भी निषेधात्मक प्रतीत होती है। इसके अन्तर्गत हम प्राकृतिक दृष्टिकोण, सामाजिक ऐतिहासिक, तर्कशास्त्री और गणितीय

---

1. I no longer survey my perception experiences, imagination-experiences, the psychological data which my psychological experience reveals. I learn to survey transcendental experience. I am no longer interested in my own existence. I am interested in the pure intentional life, wherein my psychically real experiences have occurred.... we have to recognize that relativity to consciousness is not only an actual quality of our world, but... the quality of every conceivable world....Change the worlds as we may each must ever be a world-such as we could experience. prove upon the evidence of our theories and inhabi with our practice. The transcendental problem is eidetic. My psychological experiences, perceptions, emaginations and the like remain in form and content what they were, but I see them as "structures" now, for I am face to face at last with the ultimate structure of consciousness,-Husserl, Article on Phenomenology in Encyclopaedia Britanica 14th edition, 1972, XVIII, p. 701.

सत्ताओं एवं विश्वासों को निलम्वित कर देते हैं। किंतु स्थगन की प्रक्रिया का भावात्मक रूप भी है। यह केवल परांमुखता नहीं है, लक्ष्योन्मुखता भी है; मात्र विलगाव नहीं है, झुकाव भी है। इसका लक्ष्य-बिन्दु अनुभवातीत विषयिता है। स्थगन का उद्देश्य समस्त सन्दर्भों को उनके मूलस्रोत—आत्मा—के साथ जोड़ना है। इसका उद्देश्य शुद्ध आत्मा के स्वरूप को अनावृत करना है जिसके नाते जगत् की सत्ता अथवा किसी भी प्रकार की सत्ता का कोई अर्थ और प्रामाणिकता है। हम कुछ काल के लिए जगत् के अनस्तित्व (अभाव) की कल्पना तो कर सकते हैं, किन्तु जगत् के उस संभाव्य अनस्तित्व से हमारी 'शुद्ध सत्ता' परि-समाप्त नहीं हो जाती, अपितु हमारी शुद्ध सत्ता, शुद्ध आत्मा, ही जगत् की उस संभाव्य अनस्तित्व की शर्त है। यहाँ पर हुसर्ल द्वारा किये दो शब्दों में भेद की चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। यह दो शब्द हैं : ट्रांसेन्डेंट और ट्रांसेन्डेन्टल। ट्रांसेन्डेन्ट से हुसर्ल का तात्पर्य उससे है जो आत्मा से बाहर अवस्थित हो, जिसकी ओर विषयापेक्षी चेतना निर्देश करती है। इस अर्थ में जगत ट्रांसेन्डेंट है। ट्रांसेन्डेन्टल से हुसर्ल का तात्पर्य आत्मा से है क्योंकि वही जगत् के अर्थ एवं अस्तित्व का आधार है।[1] इन दो शब्दों में कांट ने भी ठीक इसी प्रकार का भेद किया है।

विच्छेद और स्थगन की उपर्युक्त क्रिया चेतना की समस्त अन्तंवस्तु को तो निरस्त कर देती है किन्तु स्वतः चेतना का निरास नहीं कर सकती। स्थगन की चेष्टा का अन्त शुद्ध चेतनालोक के उद्घाटन में होता है, जो निरपेक्ष तथा असदिग्ध सत्ता है, जो स्थगन-व्यापार का अन्तिम बिन्दु है, जो इस क्रिया का सूत्रधार है तथा स्वतः इसका विषय नहीं है। स्थगन की यह क्रिया चेतना के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण खोज करती है, वह है : चेतना का विषयापेक्षी स्वरूप।

---

1. देखिये—paris Lectures, p. 101.
यशदेव शल्य ने ट्रांसेन्डेंटल के लिए 'अतिक्रामी' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु स्पष्ट है कि ट्रांसन्डेंटल का यह रूपान्तर हुसर्ल के आशय के सर्वथा प्रतिकूल है, वस्तुतः अतिक्रामी का प्रयोग ट्रांसेन्डेन्ट के लिए होना चाहिए न कि ट्रांसेन्डेन्टल के लिए, किंतु लगता है कि शल्य महादेव ने मौलिकता के प्रलोभन में मूल की अवहेलना की। देखिये दर्शन समीक्षा, अंक 1 जुलाई 1971, पृ० 13-14 राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रकाशन, 1971.

चेतना की विषयापेक्षा (इन्टेंशनैलिटी आफ कांशसनेस) :

चेतना क्या है ? इस प्रश्न के लिए हुसर्ल का उत्तर है—'विषयापेक्षा'। चेतना सदैव किसी वस्तु को चेतना होती है। हुसर्ल के अनुसार सभी चेतन क्रियाओं का मूल स्वरूप लक्ष्योन्मुखी अथवा विषयाभिमुखी (डाइरेक्शनरल) होता है। वे सभी किसी वस्तु अथवा घटना—चाहे वह वस्तुगत रूप से वास्तविक हो या नहीं—का निर्देश करते हैं। इस प्रकार "हर विचार किसी वस्तु का अथवा वस्तु के बारे में विचार होता है, हर स्मरण किसी वस्तु का स्मरण होता है, हर कल्पना किसी वस्तु की कल्पना होती है, हर इच्छा किसी वस्तु की इच्छा होती है। अतएव समस्त चेतना किसी वस्तु की चेतन होती है।[1] चेतना की मूल संरचना में इस प्रकार की लक्ष्योन्मुखता होने के नाते उसे विषयापेक्षी कहा जाता है। यहाँ पर लक्ष्योन्मुखता अथवा इंटेन्शन[2] से किसी पूर्वनियोजित योजना अथवा उद्देश्य का अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए। इंटेन्शनैलिटी का अर्थ यह है कि हर चेतन क्रिया एक बहिर्गामी वेक्टर है, जिसके तीन पक्ष हैं—आत्मा, चिन्तन तथा विषय (इगो, काजिटो, काजिटेटा)। इस वेक्टर को गति का स्रोत आत्मा (इगो) है तथा जिस बिन्दु की ओर यह गति निर्दिष्ट है, वह विषय या वस्तु है। इस प्रकार विषयापेक्षो क्रियाओं की संरचना में दो ध्रुव हैं[3]—विषयी तथा विषय। इन दोनों को हुसर्ल क्रमशः विषयिमूलक तथा विषयमूलक पक्ष या ध्रुव कहता है;, किन्तु इन दोनों ध्रुवों में कोई आत्यन्तिक द्वैत नहीं है। वस्तुतः विषयी और विषय की समस्या को ही हुसर्ल पारंपरिक। वस्तुवाद और विज्ञानवाद की सबसे बड़ी कमजोरी मानता था और अपने विषयापेक्षी चेतना के सिद्धान्त के माध्यम से वह इस द्वैत को एकदम समाप्त कर देना चाहता था। इसीलिए चेतना के वेक्टर रूप को मानते हुए वह यह भी कहता है कि विषयापेक्षा का एक अन्य मूलभूत लक्षण चेतना की एकता भी है। अस्तित्व अथवा सत्ता का अर्थ एक ही साथ विषयी का विषय और विषय का विषयी होना है। शुद्ध विषयी का अपने आप में कोई अर्थ नहीं है। विषयी इसीलिए विषयी है कि उसके लिए कोई विषय प्रदत्त है, उसके समक्ष कोई वस्तु विद्य-

---

1. The essence of consciousness, in which I live as my own-self, is the so-called intentionality. Consciousness is always consciousness of something-*Paris Lectures*, p. 12-13
2. Intention.
3. Noetic and Noematic poles.

मान है। अतएव विषयी और विषय में एक मौलिक एकता और परस्पर संबद्धता है; विषयापेक्षी चेतना इसी एकता का सिद्धान्त है। चेतना ही घटनाओं का मूल है, सार्थक सत्ता का आधार है; यह विषयी-विषय के, सम्बन्ध की आधारभूमि है। चेतना केवल विषयिता तक ही सीमित नहीं है; यह समस्त सत्ता को परिवेष्टित करती है।[1]

यहाँ पर हुसर्ल देकार्त के चेतना सम्बन्धी सिद्धान्त का परिष्कार करके संकीर्ण विज्ञानवाद के दोष से बचने का प्रयास करता है। देकार्त ने चेतना को केवल विषयिता तक सीमित करके विषयी-विषय का द्वैत अनिवार्य बना दिया। हुसर्ल चेतना का विस्तार समग्र सत्ता तक करके इस परिहार्य द्वैत को समाप्त कर देता है। अद्वैत वेदांत दर्शन के विद्यार्थियों को हुसर्ल के इस सर्व-समावेशी चेतना का आत्मा अथवा ब्रह्म के साथ अद्भुत साम्य दिखायी देगा। अद्वैत वेदांत में जगत् को आभास अथवा अध्यास कह कर ब्रह्म को ही एकमात्र

---

1. (a) Reason and Unreason, understood in the widest sense, do not represent accidentally actual capacities and facts, but pertain to the universal structure of transcendental subjectivity-Paris Lectures, p. 22.

(b) Transcendence is an immanent mode of being, but is one that constitutes itself within the ego. Every conceivable meaning, every conceivable being........falls within the realm of transcendental subjectivity, The idea of something outside this realm is a contradiction. transcendental subjectivity is the universal and absolute concretion. To conceive of a universe of true being as being something outside of the universe of possible consciousness, of possible knowledge, of possible evidence....is sheer nonsense.... ....Transcendental subjectivity is the universe of possible meanings; any externality to it is meaningless.

—Ibid., p. 32-33.

तुलना कीजिए : न हि आत्मव्यतिरेकेण अन्यत् किंचितदस्ति। यदि अस्ति, न तद् विदित स्यात्। न तु अन्यदस्ति, आत्मैव तु सर्वम्। शंकराचार्य : बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य 2/4/5.

वास्तविकता के रूप में प्रतिष्ठित किया है। फेनॉमेनॉलॉजिकीय शब्दावली में जगत् को वास्तविक कहना आदिम प्राकृतिक दृष्टिकोण की अवस्था है जिसे अद्वैती व्यवहार की अवस्था अथवा व्यावहारिक दृष्टि कहता है; किन्तु परमार्थ बोध में शुद्ध चेतना ही समस्त वास्तविकता के मूल में दिखायी देती है। भेद दृष्टि प्राकृतिक दृष्टि है, अफेनॉमेनॉलॉजिकीय दृष्टि है। परमार्थ दृष्टि फेनॉमेनॉलॉजिकीय दृष्टि है, जिसमें ब्रह्म ही सत्ता में व्याप्त तथा तथा सबका आधार है। समस्त सत्ता चेतना द्वारा संचरित है, जो कुछ चेतना से पृथक् अथवा इतर प्रतीत होता है वह अध्यासजन्य है। यद्यपि हुसर्ल ने जगत् को कहीं अध्यास अथवा माया नहीं कहा है, किंतु उसका यह कहना कि चेतना से बाहर किसी वस्तु की कल्पना एक असंगत बात है, उसे निश्चय ही अद्वैत दर्शन के निकट ला देता है, इसके अतिरिक्त हुसर्ल अनुभववादियों अथवा प्रत्यक्षवादियों की अपेक्षा कांट, हेगेल तथा कांटोत्तर व्यवहारवादियों के भी निकट हैं जो यह मानते हैं कि बाह्य जगत् किसी न किसी रूप में चेतना द्वारा संचित है।[1] अतएव हुसर्ल के दर्शन का अद्वैत वेदांत अथवा सांख्य योग के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण शोध का विषय हो सकता है। उसी प्रकार फेनॉमेनॉलॉजिकीय शब्दावली में अद्वैत वेदांत की समकालीन प्रासंगिकता को भी स्पष्टतर बनाया जा सकता है।

विषयापेक्षा चेतना का स्वरूप है, चेतना विषयापेक्षा है। फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी तथा स्थगनों की क्रिया से जब चेतना अपने मूल रूप में आ जाती है तब हम यह देखते हैं कि वह शुद्ध दृष्टि है जिसे सांख्य और वेदांत में साक्षिन् की संज्ञा दी गयी है। विषय (नोएमा) विषयापेक्षी चेतना का अनिवार्य सहचारी (कोरिलेट) है; वह चेतना द्वारा अभिप्रेत अथवा निर्दिष्ट होता है। जब हम चेतना के विषयापेक्षी स्वरूप का विश्लेषण करते हैं तब इस अभिप्रेत विषय को एक विशेष विषय के रूप में न ग्रहण करके विषयमात्र[2] के रूप में लेते हैं। ये विषयमात्र फेनॉमेनॉलॉजिकीय दृष्टिकोण में रूपान्तरित हो जाने पर विषयमूलक हैं, जो विषयापेक्षी अनुभवातीत चेतना के समक्ष अव्यवहित रूप से विद्यमान एकता अथवा सामान्य धर्म (इसेन्स) बन जाते हैं। इस प्रकार जिसे हुसर्ल सामान्य धर्म कहते हैं, वह वस्तुतः विषय अथवा वस्तु का वह रूप

---

1. देखिये-कोयस्टेनबाम की पेरिस लेक्चर्स भूमिका तथा स्पीगिलबर्ग : फेनॉमेनॉलिकल मूवमेन्ट—पृ० 110-11.
2. Object as such.

होता है। यह शुद्ध एवं अव्यवहित रूप से विद्यमान धर्म समस्त अवबोध का प्रत्ययात्मक लक्षण है। इसका स्वरूप प्रागनुभविक होता है। विषयापेक्षा की संरचना भी प्रागनुभविक होती है। इसका अर्थ मात्र इतना है कि फेनॉमेनॉलॉजीवादी किसी भी वस्तु, क्रिया अथवा घटना के शुद्ध आकारों को जानने में रूचि रखता है। ये शुद्ध आकार चेतना द्वारा संरचित हैं और यह चेतना विषयापेक्षी है, शुद्ध दृष्टि है।

विषयापेक्षा की विद्यमानता के पक्ष में निम्नलिखित विभिन्न प्रकार के साक्ष्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है :[1]

यदि हम फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी को गंभीरतापूर्वक देखें तो विषयापेक्षा का तत्काल अवबोध होता है। अनुभव की क्रिया में अनुभव की विषयापेक्षा स्वतः अस्पष्ट है।

विभिन्न पदार्थों की—जो अनेक-विध संवेदनाओं और प्रत्ययों के रूप में प्रदत्त होते हैं, देशगत एकता चेतना के विषयापेक्षी स्वरूप का प्रमाण है। यदि पदार्थ देश में एक होते हुए भी काल के अन्तर्गत निरन्तर प्रवाहशील और परिवर्तनशील हों तो उनका पदार्थ के रूप में बोध नहीं हो सकता। चेतना के विषयापेक्षी रूप के नाते ही उनका एक पदार्थ के रूप में ज्ञान होता है।

हमारे अनुभव की विभिन्न अवस्थायें होती हैं। ये विभिन्न अवस्थायें—जाग्रत, स्वप्न, स्मरण विस्मरण आदि आत्मा की एकता को भंग नहीं करती। आत्मा की यह अखंडता विषयापेक्षा का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। उपनिषदों तथा वेदांत में भी जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का विश्लेषण करके आत्मा के नित्य, अपरिणामी स्वरूप की व्याख्या की गयी है।

भ्रांति की सम्भावना भी विषयापेक्षा के अस्तित्व को पुष्ट करती है। हमारा प्रत्यक्ष, अनुभव, अनुमान और ज्ञान भ्रान्त हो सकता है, किन्तु उन प्रत्यक्षों, अनुमानों आदि का प्रस्तुत होना, उनका हमारी चेतना में आविर्भूत होना भ्रांत नहीं हो सकता। देकार्त की शब्दावली में, मेरा समस्त विश्वास संदिग्ध हो सकता है किन्तु मेरे सन्देह का होना—सन्देह करने की क्रिया—संदेहास्पद नहीं हो सकती। अपनी संरचना तथा जटिलता के स्तर पर हमारे अनुभवों की

---

1. विस्तार के लिए देखिए कोएस्टेनबाम की पेरिस लेक्चर्स की भूमिका पृ॰ XXXI तथा आगे।

करता है तथा वह हर प्रकार के सम्भव अनुभवों की शक्यता को धारण करता है। इस प्रकार अनुभव में अनन्त क्षितिज विद्यमान होते हैं। इसी नाते विषयापेक्षी विश्लेषण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से सर्वथा भिन्न है। चेतना का स्वरूप इन्द्रिय प्रदत्तों का मात्र संकलन नहीं है, चैत्तिक अणुओं का समूह नहीं है, अथवा विभिन्न अंगों से संरचित समग्र नहीं है। यह वास्तविकताओं और शक्यताओं का उद्घाटन है जिनके अन्तर्गत विषयों का प्रत्यक्षगत इकाइयों के रूप में निर्माण होता है।

विषयापेक्षा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी रचनावृत्ति अथवा संघटनवृत्ति (कांस्टीट्यूशन) में व्यक्त होती है। हुसर्ल के अनुसार अभिप्रेत विषय विषयापेक्षा के समक्ष पूर्व विद्यमान अथवा प्रदत्त नहीं होता, अपितु वह विषयापेक्षी क्रिया में ही आविर्भूत होता है। उसी के शब्दों में "वास्तविक सत्ता का तभी हमारे लिए कोई अर्थ है जब कि वह हमारी विषयापेक्षा का सहसंबंधी हो"।[1] एक अर्थ में हुसर्ल प्रत्यक्षवादियों तथा अर्थक्रियावादियों के सत्यापन अथवा संपुष्टि के सिद्धांत को स्वीकार करता है,[2] और इसी नाते वह सच्चा प्रत्यक्षवादी' होने का दावा भी करता है। लेकिन जहाँ प्रत्यक्षवादी सत्यापन का अर्थ यह लगाते हैं कि वस्तु की चेतना से पृथक् बाह्य जगत् में सत्ता सिद्ध होनी चाहिए और उसे ही सत्यापन की प्रक्रिया का आधार होना चाहिए; हुसर्ल के लिए सत्यापन का अर्थ यह है कि वस्तु को विषयापेक्षी चेतना के सहसम्बन्धी के रूप में स्थित होना चाहिए। हुसर्ल विषयापेक्षा के इस सर्वव्यापी तथा मूलभूत लक्षण को "रचनात्मक समस्या" की संज्ञा देता है। इस समस्या के अन्तर्गत मन, शरीर, तर्कबुद्धि और सत्, चेतन तथा समूचे बाह्य जगत् का अस्तित्व जैसी समस्याएँ शामिल हैं। अस्तित्व एवं अनुभव के ये सभी पक्ष निरपेक्ष और वस्तुगत सत्य नहीं हैं। ये मानवीय विषयिता द्वारा सम्पादित रचनायें अथवा व्यवस्थायें हैं जो शुद्ध चेतना के प्रागनुभविक नियमों पर आधारित हैं। जब हम अवबोध, विषय, विचार तथा प्रत्यक्ष आदि की क्रियाओं तथा उनके नियामक नियमों का निरीक्षण करते हैं तब ये प्रागनुभविक नियम

---

1. ....True being........has significance only as a particular correlate of my own intentionality.

Paris Lectures, p. 28.

2. Ibid., p. 23.

स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ते हैं ।[1] स्पीगिलबर्ग का यह विश्वास है कि हुसर्ल का फेनॉमेनॉलॉजिकीय संरचना का सिद्धान्त कांट के अनुभवातीतवाद से प्रभावित है जिसके नाते अपने चिन्तन के अन्तिम काल में प्रत्ययवाद के प्रति हुसर्ल का अधिकाधिक झुकाव बढ़ता गया ।[2] स्पीगिलबर्ग के इस विचार की पुष्टि कोयस्टेनबॉम ने भी पेरिस लेक्चर्स की भूमिका में की है । हम भी ऐसा अनुभव करते हैं कि हुसर्ल का 'संरचना' का सिद्धांत कांट के संलेषण के समान ही विकसित होता है । कांट ने 'अनुभव सम्बन्धी निर्णय' तथा 'प्रत्यक्ष सम्बन्धी निर्णय'[3] में भेद करके यह दिखाया है कि वस्तुगत रूप से यथार्थ अनुभव बुद्धि द्वारा संपादित संश्लेषण-क्रिया के परिणाम हैं । इस संश्लेषण की प्रक्रिया में देश तथा काल के प्रागनुभविक संवेदन तथा प्रागनुभविक संप्रत्यय विद्यमान होते हैं । परिणामस्वरूप बुद्धि द्वारा संश्लेषित अथवा संरचित पदार्थ मात्र निष्क्रिय संरचना नहीं हैं, बल्कि उनका स्वरूप मुख्यतः बुद्धि के प्रागनुभविक विकल्पों—बुद्धि की अपनी प्रागनुभविक संरचना—द्वारा निर्धारित हैं । हुसर्ल ने भी इसी प्रकार सक्रिय तथा निष्क्रिय रचना अथवा संश्लेषण में भेद किया है ।[4] निष्क्रिय संश्लेषण चेतनेतर पदार्थों के अस्तित्व पर निर्भर करता है, किन्तु हुसर्ल ने इस संश्लेषण को अन्तिम नहीं स्वीकार किया । उसके अनुसार संश्लेषण का स्वरूप रचनात्मक है जो कि अनुभवातीत क्रिया है और उस क्रिया का स्रोत अनुभवातीत आत्मा है । हुसर्ल ने स्पष्ट रूप से जीवात्मा तथा अनुभवातीत आत्मा में भी भेद किया है । जीवात्मा आदतों, विश्वासों तथा विचारों का आश्रय है किन्तु अनुभवातीत आत्मा समस्त विषयिता का अन्तिम स्रोत है ।

---

1. ....The ego, to use traditional language, possesses an enormous inborn a priori All of phenomenology or the methodological persuit of philosopher's self-examination, discloses the endless multiformity of this inborn a priori.

   —*Paris Lectures*, p. 28.

2. *Phenomenological Movement*, p. 146.
3. Judgments of experience and judgments of perception; See—*Prolegomena*; pp. 44-47.
   अनु० लैविस ह्वाइट बेक प्र० दि बाब्स-मेरिल कं० इंक इंडियानायोलिस, न्यूयार्क 1950 ।
4. Spiegelbarg : *Phenomenological Movement*, p. 147.

विष्यापेक्षा के सिद्धान्त द्वारा हुसर्ल ज्ञानमीमांसा की एक प्रमुख समस्या का समाधान करता है। जगत् की अतिक्रामिता ज्ञानमीमांसा के लिए हमेशा से मूलभूत समस्या रही है। आत्मा के लिए अपनी अव्यवहित अनुभूतियों से बाहर स्थित जगत् के प्रति कुछ प्रतिपादित करने का क्या अधिकार है ? मन, इन्द्रियों तथा तर्कबुद्धि से परे जाना, आत्मा के लिए कैसे सम्भव है ? दृष्टता से परे जगत् का क्या स्वरूप है ? हुसर्ल का कहना है कि यह समस्या प्राकृतिक दृष्टिकोण या आदिम चिन्तन की समस्या है, दार्शनिक समस्या नहीं। यह प्राक्दार्शनिक अनुचिन्तन की समस्या है। फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी तो इस समस्या को ही कोष्ठीकृत कर देती है। और एक बार कोष्ठीकृत अथवा स्थगित हो जाने पर इसका पुनः दार्शनिक चिन्तन में प्रवेश नहीं होने पाता। इपाकी की क्रिया जगत् की तथाकथित बाह्यता का निराकरण कर देती है और इस तथ्य का उद्घाटन करती है कि अतिक्रामी वास्तविकता चेतना की संरचना का ही एक प्रकार है।[1] ब्रैडले के प्रत्ययवादी स्वर में स्वर मिलाते हुए हुसर्ल कहते हैं कि अनुभवातीत विषयिता से बाहर किसी सत्ता अथवा अर्थ की कल्पना नितान्त असंगत है। हर निरर्थक बात का अपना अर्थ-प्रकार होता है जो इस नाते निरर्थक कहा जाता है क्योंकि उसका अवबोध और परीक्षण किया जा सकता है। चेतना से पृथक् किसी सत्ता की कल्पना करना स्पष्टतः एक विरोधाभास है।[2] अतएव हुसर्ल के अनुसार सच्ची ज्ञानमीमांसा फेनॉमेनॉ-

---

1. "Transcendence is an immanent mode of being, that is, one that constitutes itself within the ego. Every conceivable meaning-regardless of whether it is immanent or transcendent, falls within the realm of transcendental subjectivity."

—*Paris Lectures*, p. 32.

2. See, *Paris Lectures*, p. 33. Transcendental subjectivity is the universe of possible meanings; any externality to it is meaningless. However, every bit of nonsense has its own mode of being and shows that it is nonsense precisely because it can be examined and comprehended.

Compare, Bradley : *Apparance and Rerlity*,—

"No appearance is so low that the absolute dose not embrace it."

लॉजिकीय और अनुभवातीत होती है। उस दशा में वह अन्तर्वर्तिता तथा अतिक्रामिता की अर्थहीन समस्या में नहीं उलझती। यह समस्या एक कल्पित अस्तु मिथ्या समस्या है। ज्ञानमीमांसा का वास्तविक कार्य ज्ञान-क्रिया का व्यवस्थित वर्णन और स्पष्टीकरण करना है। स्पष्टीकरण की यह क्रिया सर्वथा विषयापेक्षी क्रिया है। इस स्पष्टीकरण के परिणामस्वरूप हम यह जान सकेंगे कि हर प्रकार की सत्ता–वास्तविक अथवा प्रत्ययात्मक–अनुभवातीत विषयिता द्वारा संरचित है। यह हुसर्ल के अनुसार एक नयी खोज है, युक्तता का सर्वोच्च आदर्श है। यह न तो प्राकृतिक वस्तुवाद है, न मनोवैज्ञानिक विज्ञानवाद और न कांटीय विज्ञानवाद। यह आत्मा का विज्ञान है, आत्मशोध का विज्ञान है, आत्मपरीक्षण का विज्ञान है। हुसर्ल के विज्ञानवाद की कुछ विस्तार से चर्चा हम आगामी पृष्ठों में कुछ समय पश्चात् करेंगे। पर इतना अवश्य कह दें कि हुसर्ल की इन बातों में औपनिषद दर्शन के आदर्श की एक प्रतिध्वनि दिखायी देती है। उपनिषदों में आत्म-ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है। आत्मा को जान लेने के बाद कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता। सत्य की खोज स्वभावतः एक अन्तर्वर्ती खोज की क्रिया है। आत्मबोध समस्त वास्तविकता का बोध है। अरुणि द्वारा श्वेतकेतु से किया गया प्रश्न—किसको सुन लेने से सब कुछ सुना हुआ हो जाता है, देख लेने से सब कुछ दृष्ट हो जाता है, आदि[1], इसी आत्मतत्त्व की प्रधानता, समस्त ज्ञानमीमांसीय क्रियाओं के स्रोत, तथा वास्तविकता के आधार का संकेत है। योगदर्शन की असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था निश्चय ही फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन की पराकाष्ठा है जिसमें साधक अपनी शुद्ध विषयिता में अवस्थित होकर समस्त वास्तविकता के कालातीत ज्ञान का अधिकारी बन जाता है। यदि हुसर्ल का उपनिषदों तथा योग दर्शन से कोई परिचय अथवा सम्पर्क होता तो बहुत सम्भव है कि आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में उसके वही निष्कर्ष होते जो इन भारतीय विचारकों के थे तथापि हुसर्ल के चेतन तत्त्व का शुद्ध (भारतीय दर्शन की पदावली में, आध्यात्मिक) स्वरूप सुस्पष्ट है; उसका अध्यात्मवादी उद्देश्य भले ही अव्यक्त हो। चेतना को शुद्ध दृष्टि[2] कहना तथा इसकी अनुभूति के लिए आत्म-परीक्षण तथा आत्म-चेतन ध्यान का विधान करना इसी बात की पुष्टि करते हैं।

पूर्वगामी पृष्ठों में हमने विच्छेद, स्थगन, धर्म, विषय तथा अर्थ जैसे

---

1. "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः सः आदेशो भवतीति ॥—छांदोग्य उपनिषद् 6/1/3.
2. Look.

फेनॉमेनॉलॉजिकीय सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। ये सभी प्रत्यय परस्पर एक दूसरे पर आश्रित तथा एक दूसरे से संबद्ध हैं। फेनॉमेनॉलॉजिकीय दर्शन को समझने के लिए उन सबको एक समन्वित दृष्टि से देखना आवश्यक है; किन्तु ये सभी सिद्धान्त एक आधारभूत सिद्धान्त का संकेत करते हैं; वह है अनुभवातीत आत्मा का सिद्धान्त।

अनुभवातीत आत्मा :

फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन की क्रिया द्वारा चेतना का वस्तु जगत् से संबन्ध विच्छेद कर दिया जाता है। वस्तु जगत् के कोष्ठीकृत हो जाने पर चेतना विषय-चेतना न होकर शुद्ध अनुभव में परिवर्तित हो जाती है, जिसके माध्यम से वस्तुओं की प्रतीति, प्रस्तुतीकरण अथवा अवबोध होता है। इस प्रकार चेतना निरपेक्ष प्राग्नुभविकता के विशिष्ट लोक के रूप में उद्भासित होती है। यही यथार्थ और वास्तविक तक पहुँचने का मार्ग है। स्थगन, विच्छेद अथवा देकार्तीय सन्देह की प्रक्रिया चेतना का विच्छेद अथवा स्थगन नहीं करती। शुद्ध चेतनालोक इस प्रकार वस्तुलोक से भिन्न हैं, यह समस्त स्थगन क्रिया का अंतिम अवशेष है। इसका स्थगन असम्भव है, यह निरपेक्ष और सुनिश्चित है। यह शुद्ध विषयापेक्षी दृष्टि (इंटेन्शनल लुक) है। किन्तु क्या यह किसी द्रष्टा की दृष्टि है? क्या इस चेतना के धारण करने वाला कोई चेतन तत्त्व, अनुभवातीत आत्मा है? इस प्रश्न को लेकर हुसर्ल के दर्शन में दो दृष्टिकोण मिलते हैं।[1] अपने प्रारम्भिक चिन्तन काल में हुसर्ल की यह धारणा थी कि विषयापेक्षी क्रियाओं अथवा लक्ष्योन्मुखी चेतना के पीछे कोई आत्मा नहीं है। विभिन्न विषयापेक्षी क्रियाओं का समूह ही आत्मा है। आत्मा—मैं-अनुचिन्तन का परिणाम है, अनुचिंतन से पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं होता। चेतना की मूल संरचना प्राक्-विमर्शी (प्री-रिफ्लेक्टिव) अथवा अप्रतिपादक (नान-पोजीशनल) है। आत्मा का आविर्भाव विमर्शी चिन्तन का परिणाम है। विषयापेक्षी चेतना आत्मा के अस्तित्व को पूर्ववर्ती है। सार्त्र के शब्दों में, 'चेतना में आत्मा न तो शारीरिक और न ही आकारिक रूप से विद्यमान होता : वह बाहर स्थित है, वह जगत् में होता है। वह अन्य आत्माओं की भाँति जगत् की सत्ता है।[2]" चेतना और आत्मा के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रति ये विचार हुसर्ल के

---

1. **Natanson** : ***Essays in Phenomenology*****, p. 17, and Koestenbaum :** ***Paris Lectures*****, Introduction XLV, Also, Spiegelberg :** ***Phenomenological Movement*** **I, p. 140.**
2. **'....the ego is neither formally nor materially in consci-**

ग्रन्थ 'लाजिकल इन्वेस्टीगेशंस' में व्यक्त हुए हैं और सार्त्र, जोकि अनुभवातीत आत्मा को लेकर हुसर्ल का आलोचक रहा है, उसके इसी प्रारम्भिक काल के आत्मा सम्बन्धी मत को स्वीकार करता है। हुसर्ल के इस मत को स्पष्ट करते हुए सार्त्र कहते हैं कि जब मैं किसी गाड़ी के पीछे भागता हूँ, किसी चित्र के देखने में तल्लीन होता हूँ तो उस अवस्था में 'मैं' अर्थात् आत्मा का अस्तित्व नहीं होता। उस समय 'गाड़ी को पकड़ने की चेतना' होती है, चेतना की अप्रतिपादक चेतना होती है। उस समय मैं वस्तु-जंगत् में निमग्न होता हूँ और आत्मचेतना का पूर्ण अभाव होता है।[1] आत्म-चेतना से यहाँ तात्पर्य यह है कि आत्मा का एक तत्त्व या वास्तविकता के रूप में अभाव होता है, अन्यथा चेतना, सार्त्र के अनुसार पूर्णरूपेण आत्मा-चेतना होती है। चेतना की मूल संरचना में आत्म-तत्त्व जैसी कोई सत्ता नहीं होती। प्राक्विमर्शी चेतना ही प्राथमिक चेतना है और उसमें आत्मा का अभाव होता है, विमर्शी चेतना, जिसमें आत्मा का आविर्भाव होता है, गौण चेतना है। इसी नाते सार्त्र देकार्त के आत्मा की प्राथमिकता को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार देकार्त के सूत्र मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' में 'मैं हूँ' कहने वाली चेतना वस्तुतः 'सोचने वाली' चेतना नहीं है। मूल चेतना अप्रतिपादक है, 'मैं हूँ' गौण—विमर्शी—चेतना का परिणाम है।[2]

---

ousness : it is in the world. It is a being of the world like the ego of auother.'

—Sarte : *Transcendence of the Ego*, p. 31, The Noonday Press, New York, 1957.

1. When I run after a street-car, when I look at the time, when I am absorbed in contemplating a portrait, there is no I. There is consciousness of the street-car-having-to-be-overtaken, etc., and non-positional consciousness of consciousness In fact, I am then plunged in to the world of objects....but me, I, have disappeared; I have annihilated myself There is no place for me on this level. And this is not a matter of chance due to a momentary lapse of attention, but happens because of the very structure of consciousness, Ibid., p. 48-49.
2. विस्तार के लिए देखिए—The Transcendence of the Ego p. 92.

किन्तु अपने दर्शन के उत्तरोत्तर विकास के साथ हुसर्ल के आत्मा सम्बन्धो विचार भी परिवर्तित होते गये और 'आइडियाज' तथा 'कार्टिजियन मेडिटेशन्स' में उसने आत्मा का सर्वथा नया अनुभवातीतवादो रूप प्रस्तुत किया। अब हुसर्ल यह विश्वास करने लगा कि अनुभवातीत आत्मा समस्त विषयापेक्षो क्रियाओं का स्रोत है। हुसर्ल की यह मान्यता है कि फेनॉमेनॉलॉजी का अन्तिम रूप अनुभवातीत विज्ञानवाद है। अनुभवातीत आत्मा, जो कि शुद्ध विषयिता है, समस्त सत्ता, सत्य और ज्ञान का आधार है। हुसर्ल ने यह स्वीकार किया है कि अनुभवातीत विषयिता का उद्घाटन देकार्त के दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण खोज है, किन्तु देकार्त अपनी खोज के वास्तविक निहितार्थों का पूरा लाभ न उठा सका और इसीलिए उसका दर्शन अनुभवातीत विज्ञानवाद न होकर असंगत अनुभवातीत वस्तुवाद में परिवर्तित हो गया। फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन असंदिग्ध रूप से मेरे वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करता है और मेरे इसी स्वरूप के सन्दर्भ में हो किसी वस्तु का कोई अर्थ हो सकता है।[1]

यदि हम भारतीय दर्शन की शब्दावली में हुसर्ल के आत्म-सिद्धान्त का वर्णन करें तो यह कह सकते हैं कि हुसर्ल ने जीव तथा आत्मा में स्पष्ट रूप से भेद किया है। उसी के शब्दों में 'फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन आत्मा को दो पक्षों में विभक्त कर देता है। अनुभवातीत द्रष्टा स्वयं को अपने ऊपर स्थापित करता है, अपने को देखता है तथा यह भी देखता है कि वह पहले वस्तु-जगत् में निमग्न आत्मा था। अन्य शब्दों में····वह अनुभवातीत जीवन और सत्ता की खोज करता है, जिससे समग्र विश्व की रचना हुई है।"[2] यह अनुभवातीत

---

1. But through all this I have discovered my true self. I have discovered that I alone am the pure ego, with pure existence and pure capacities. Through this ego alone does the being of the world and for that matter, any being whatsoever, makes sense to me and has possible validity.

   Paris Lectures.

2. The Phenomenological reduction thus splits the ego, The transcendental spectator places himself above himself, watches himself, and sees himself as the previously world-immersed ego, In other words........he discovers the transcendental life and being which make up the totality of the world....Ibid., p. 15.

आत्मा शुद्ध द्रष्टा है, समस्त विश्व-क्रिया का धारक एवं संचालक है। सांसारिक अथवा प्राकृत आत्मा तथा अनुभवातीत आत्मा का वह भेद हमें निश्चय ही उपनिषदों, सांख्ययोग तथा अद्वैत वेदान्त में निरूपित जीव तथा आत्मा के भेद का स्मरण दिलाता है। कठ तथा मुण्डक उपनिषद् में इन दो आत्माओं का भेद उन दो पक्षियों के दृष्टान्त द्वारा व्यक्त किया गया है जो एक ही वृक्ष पर बैठे हैं किन्तु एक वृक्ष के फलों का रसास्वादन करता है और दूसरा केवल देखता है। सांख्य-योग में प्रकृति के व्यापारों में साझीदार आत्मा शुद्ध पुरुष का प्राकृत रूप है किन्तु जब वही जीव योग-साधना—फेनॉमेनॉलॉजिकीय शब्दावली में स्थगन और विच्छेद, द्वारा अपने को प्रकृतिजन्य तत्त्वों से क्रमशः अलग कर लेता है तो अपने कैवल्य रूप में एकाकी रूप में, शुद्ध द्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठित होता है। यद्यपि प्रकृति की सारी क्रिया पुरुष के ही सन्दर्भ में सार्थक है, किन्तु मुक्त पुरुष कहता है कि यह सब मेरा नहीं है।[1] वेदान्त का मुक्त आत्मा यह अनुभव करता है कि जिस वस्तु-जगत् को वह निरपेक्ष वास्तविकता माने हुए था वह तो वस्तुतः आभास है। हुसर्ल उस समय वेदान्त दर्शन के बहुत निकट होता है जब वह यह कहता है कि जीवात्मा वस्तुतः अनुभवातीत आत्मा है किन्तु पहले उसे इसका ज्ञान नहीं होता और इसीलिए वह सरलता-वश, अज्ञानवश, वस्तु-जगत् को निरपेक्ष माने रहता है।[2] किन्तु, जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, हुसर्ल और अद्वैत वेदान्त की तुलना सीमित अर्थ में ही की जा सकती है क्योंकि हुसर्ल किसी भी स्तर पर जगत् की अवास्तविकता का प्रतिपादन नहीं करता। संभवतः हुसर्ल और सांख्य योग से इस दृष्टि में अधिक समानता है क्योंकि सांख्य दर्शन प्रकृति से प्रादुर्भूत वस्तु-जगत् को अवास्तविक नहीं मानता। यद्यपि सांख्य में जगत् को कहीं आभास (फेनॉमेनॉ) नहीं कहा गया

---

1. एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। ईश्वरकृष्णः सांख्यकारिका 64.
2. The natural man (in whom the ego, in the last analysis; is a transcendental one, but of which he knows nothing) possesses a world and a science which he naively takes to absolute. However, the transcendental spectator who has reached the consciousness of a transcendental ege conceives the world keenly phenomenon........

—*Paris Lectures.*, p. 15-16.

है, किन्तु क्योंकि प्रकृति की सारी सार्थकता, यहाँ तक कि सृष्टि क्रिया का प्रारंभ भी, पुरुष पर निर्भर है, इसलिए प्रकृति पुरुष के लिए फेनॉमेनॉ ही है और योग-लीन आत्मा, जिसके लिए सम्पूर्ण बाह्य वास्तविकता पूर्णतया निलम्बित है, अपनी अन्तर्मुखी चेतना में ही समस्त वास्तविकता को अवस्थित पाता है।

वस्तुतः आत्मा के स्वरूप को लेकर हुसर्ल स्वयं अस्थिरमत प्रतीत होता है। हम यह उल्लेख कर ही चुके हैं कि इस सम्बन्ध में उसने अपना मत-परिवर्तन किया है। समस्या तब उठती है जब हुसर्ल 'मूलगामी प्रत्यक्षवाद' के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को बनाये रखते हुए अनुभवातीत आत्मा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। यदि, जैसा कि हुसर्ल कहता है, आत्मा से परे कुछ भी नहीं है, तब मूलगामी प्रत्यक्षवाद तथा अनुभवातीत आत्मवाद की परस्पर संगति बैठाना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि हुसर्ल को अपने पद-त्याग के बाद फाईबुर्ग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पद की नियुक्ति के लिए किसी को मनोनीत करने की समस्या भी खड़ी हुई जब उसने बड़ी आशा से हाइडेगर को इस पद के लिए संस्तुत किया किन्तु अन्त में उसे निराश ही होना पड़ा क्योंकि हाइडेगर ने उसके अनुभवातीत आत्मा तथा तज्जन्य अनुभवातीत विज्ञानवाद का समर्थन करने से इन्कार कर दिया। और इसी प्रकार की असंगति सांख्य-दर्शन के द्वैतवाद में भी दिखायी देती है। एक बार वस्तुवादी प्रतिबद्धता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् सांख्य दार्शनिकों के लिए पुरुष तथा प्रकृति का सम्बन्ध स्थापित करना मुश्किल हो गया। इसीलिए जहाँ कुछ विद्वान् सांख्य दर्शन की मूलगति अद्वैतवाद की ओर देखते हैं, तो कुछ विद्वान् उसमें वैज्ञानिक भौतिकवाद का स्पष्ट संकेत पाते हैं।[1] प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार सांख्य की प्रकृति का अद्वैत वेदांत की माया में विलीनीभाव हो जाना चाहिए तो दूसरे

---

1. देखिये, डा० चन्द्रधर शर्मा द्वारा लिखित ए क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी में सांख्य दर्शन का अध्याय, उनके अतिरिक्त डा० रमाकान्त त्रिपाठी तथा डा० शिवशंकर राय जैसे भारतीय दर्शन के समालोचकों तथा विद्वानों का लगभग यही मत है इनके अनुसार समस्त भारतीय दर्शन का विकास सोपानवत् है, जिसका अन्तिम लक्ष्य अद्वैत वेदान्त है। इसके विपरीत डा० देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय जैसे विद्वानों के मत में शुद्ध पुरुष की धारणा सांख्य दर्शन पर एक वेदान्ती आरोपण है। सृष्टि विकास की सभी शर्तें प्रकृति में ही विद्यमान हैं। देखें, उनका इंडियन एथीज्म तथा लोकायत।

के अनुसार शुद्ध पुरुष की कल्पना अनावश्यक है, मात्र प्रकृति को ही मूलभूत वास्तविकता मान कर सृष्टि तथा सत्य की व्याख्या की जा सकती है।

यह तो अवान्तर विषय था। हुसर्ल के दर्शन में अनुभवातीत चेतना अनुभव की समग्रता की सूचक है। इसी अनुभवातीत चेतना के विश्लेषण से समस्त वास्तविकता का वर्णन किया जा सकता है। भौतिक पदार्थ, प्रत्यया-त्मक सत्तायें, काल्पनिक वस्तुएँ—सभी इस चेतनालोक के अन्तर्गत सन्निहित हैं। मैं—एक भौतिक-मनोदैहिक प्राणी के रूप में, इस लोक का विषय हूँ। अपने इसी स्वरूप को मैं अपना वास्तविक स्वरूप मान लेता हूँ किन्तु मेरा यह वास्तविक स्वरूप नहीं है। अपने वास्तविक स्वरूप में मैं वह केन्द्र-विन्दु हूँ जहाँ से अनुभव की विषयापेक्षी किरण प्रस्फुटित होती है। मेरा यह आत्मा संसार के अन्य विषयों के मध्य एक विषय नहीं है, यह शुद्ध विषयी है, अनुभवातीत चेतना के भीतर होने वाले समस्त व्यापारों का द्रष्टा है, किन्तु स्वयं दृष्टि का विषय नहीं। स्वयं द्रष्टा कैसे देखा जा सकता है ? ज्ञाता को कैसे जाना जा सकता है ? उपनिषदों, वेदान्त तथा कांट की भाँति हुसर्ल भी विषय के रूप में आत्मा को जानने की कठिनाई को स्वीकार करते हैं। आत्मा को विषय रूप में जानने का प्रयास अनवस्था दोष से युक्त है। वेदान्त तथा कांट के अनुसार अनुभवातीत आत्मा भ्रान्ति का आधार है। हुसर्ल के अनुसार अनुभवातीत आत्मा फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन का अन्तिम अवशेष है, उसका स्थगन नहीं किया जा सकता। अतः इसे विषय के रूप में ग्रहण करने का सारा प्रयास इसके स्वरूप को मिथ्याकृत कर देता है। शुद्ध विषयी का विषय के रूप में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास मृग मरीचिका के समान है। क्रोयस्टेनबॉम पेरिस लेक्चर्स की भूमिका में इसी विचार को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व को जानने की जिज्ञासा अनवस्था दोष को जन्म देती है यह आत्मा कैमरा नेत्र की भाँति है जो अन्य पदार्थों का फिल्मांकन तो कर सकता है, किन्तु अपना नहीं।[1] सर्वप्रथम आत्मा विषय का अवलोकन करता है, तत्पश्चात्

1. The inquiry into the existence and nature of the ultimate Ego leads to a comparable infinite regress........the Ego investigates itself as an object; the object thus disclosed is not the transcendental Ego but the empirical ego. The transcendental Ego then focuses on the ego which is investigating that empirical ego. But that third order ego can in turn be examined, the examiner itself, the observer

इपाकी की क्रिया द्वारा पीछे हट कर वह अपनी अवलोकन क्रिया का अवलोकन करता है, पुनः और पीछे हटते हुए वह इस अवलोकन क्रिया के अवलोकन का अवलोकन करता है, यह क्रिया अनन्त रूप से चलती रह कर भी कभी अवलोकन कर्त्ता—आत्मा—को अवलोकन का विषय नहीं बना सकती। इस प्रकार चेतना अथवा आत्मा की अपनी निजी सत्ता है जो अपनी निरपेक्ष विशिष्टता में फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन तथा विच्छेद से सर्वथा अप्रभावित रहती है। हुसर्ल का आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त कांट के अनुभवातीत आत्मा से पर्याप्त साम्य रखता है क्योंकि दोनों ही अनुभवातीत संरचना में विश्वास करते हैं जिसका संचालक सिद्धान्त यही आत्मा है। किन्तु एक महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि कांट के दर्शन में चेतना का विषयापेक्षी स्वरूप उतना स्पष्ट नहीं हो सका है और दूसरे कांट का मुख्य उद्देश्य प्रागनुभविक संप्रत्ययों द्वारा इन्द्रिय प्रदत्त की संरचना करना है जब कि हुसर्ल का मुख्य लक्ष्य गोचर वस्तुओं का विषयापेक्षी अनावरण करके उनका वर्णन करना है। इसके अतिरिक्त कांट का द्वैतवाद भी हुसर्ल को स्वीकार नहीं है।

फेनॉमेनॉलॉजिकीय प्रत्ययवाद :

विषयापेक्षी चेतना तथा आत्मा के सिद्धांत का उपरोक्त विवरण हुसर्ल के दर्शन के प्रत्ययवादी (आइडियॅलिस्टिक) स्वरूप का असंदिग्ध संकेत है। प्रत्ययवाद के पक्ष में हुसर्ल मुख्य रूप से दो तर्क प्रस्तुत करता है—(1) निगमनात्मक (2) प्रत्यक्ष फेनॉमेनॉलॉजिकीय तर्क। निगमनात्मक तर्क में वह वस्तुवादी दर्शनों के आत्म-व्याघाती स्वरूप का सहारा लेता है। सत्ता का अर्थ चेतना पर निर्भर करता है। चेतना से पृथक् सत्ता की धारणा ही असंगत है। पूर्वगामी पृष्ठों में हम इसकी कुछ चर्चा कर चुके हैं। प्रत्यक्ष फेनॉमेनॉलॉजिकीय तर्क के अन्तर्गत हुसर्ल चेतना के संरचनात्मक स्वरूप के आधार पर यह स्थापित करता है कि चेतना ही वस्तु-जगत् की रचना के लिए उत्तरदायी है।

हुसर्ल की प्रत्ययवादी मान्यता के सम्बन्ध में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि इस सिद्धान्त की सबसे कटु आलोचना स्वयं हुसर्ल के अनुयायियों ने की। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा हुसर्ल में निश्चय ही एक दार्शनिक दृष्टि थी—ठीक उसी प्रकार की दृष्टि जिसका उद्घोष उपनिषदों में 'तत्त्वमसि' के रूप में हुआ।

---

proper, the disengaged observer is mercurial and elusive : it is the camera-eye that focuses, but can never film itself p. LIII.

जहाँ उपनिषदों और वेदान्त तथा सांख्य की विज्ञानवादी दृष्टि पैनी और सूक्ष्म है वहीं हुसर्ल में वैज्ञानिक सुदृढ़ता तथा तत्त्वमीमांसीय परिष्कार है। इन दोनों चिंतन प्रकारों का तुलनात्मक अध्ययन तथा समन्वय निश्चय ही दर्शन-जगत् को एक नयी दिशा दे सकता है।

प्रायः सभी विज्ञानवादी सिद्धान्तों पर अहंमात्रवाद (सॉलिपसिज्म) का गम्भीर दोषारोपण किया जाता है। हुसर्ल इस बात के प्रति सचेष्ट था कि उसके दर्शन पर यह दोष लगाया जा सकता है। वह स्वयं प्रश्न उठाता है : 'क्या जब मैं इपाकी द्वारा अपने को निरपेक्ष अहं (ऐब्सोल्यूट इगो) के रूप में तथा उसी के भीतर संरचित जगत् में स्थगित अथवा न्यूनीकृत कर लेता हूँ, तब मैं अहंमात्र रह जाता हूँ ? क्या आत्मपरीक्षण का यह सारा दर्शन शुद्ध अहंमात्र-वाद नहीं रह जाता है ?[1] प्रश्न का उत्तर वह इस प्रकार देता है : मैं अपने अनुभवातीत चेतनालोक में ही सब कुछ का अनुभव करता हूँ, किन्तु यह सब कुछ मेरा अपना व्यक्तिगत अनुभव और व्यक्तिगत जगत् नहीं होता। मेरे द्वारा अनुभूत जगत् अन्तर्विषयी जगत् होता है, ऐसा जगत् जो सभी के लिए प्रदत्त है, जिसमें विद्यमान वस्तुएँ सबके लिए अवगम्य हैं। मैं 'अन्य व्यक्तियों' का वस्तुतः अनुभव तो करता ही हूँ, साथ ही उन्हें प्रकृति तथा अन्यान्य व्यक्तियों के साथ सम्बद्ध रूप में भी अनुभव करता हूँ। मैं उन्हें अपनी ही भाँति अनुभव करते हुए, सोचते हुए, प्रभावित होते हुए अनुभव करता हूँ। मैं यह भी अनु-भव करता हूँ कि वे मेरा उसी प्रकार अनुभव करते हैं जैसे मैं उनका अनुभव करता हूँ। हुसर्ल के अनुसार ऐसा अनुभवातीत परानुभूति (ट्रांसेन्डेंटल इम्पेथी) के नाते होता है। मेरी आत्मानुभूति मेरे लिए प्रत्यक्ष है किन्तु दूसरों की आत्मा का ज्ञान मुझे प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता; उनका ज्ञान हमें सह-अनुभूति के आधार पर होता है। अनुभवातीत आत्मा अपने को हमेशा एक अनुभवातीत इतर अहम् (आल्टर इगो) के रूप में स्थापित करता है। किन्तु इसका ज्ञान अत्यन्त विकसित तथा उच्चस्तरीय फेनॉमेनॉलॉजी से ही प्राप्त हो सकता है। आत्म-परीक्षण तथा ध्यानरत दार्शनिक के लिए उसका अहं प्राथमिक होता है, इतर अहं का अस्तित्व तथा अंतर्विषयिता का बोध उसी अहं पर अनुचिंतन का परिणाम है। इस प्रकार हुसर्ल अनुभवातीत विषयिता को अहं की सामूहिकता तक विस्तृत करके संस्कृति, सभ्यता तथा इतिहास के फेनॉमेनॉलॉजिकीय अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करता है।

---

1. *Paris Lectures*, p. 34.

फेनॉमेनॉलॉजी का उपरोक्त विवरण एक महान् तथा गतिमान दार्शनिक विचारधारा की मात्र रूपरेखा हो प्रस्तुत करता है। हमने मुख्यतः हुसर्ल के फेनॉमेनॉलॉजिकीय दर्शन की व्याख्या की है और उसमें भी फेनॉमेनॉलॉजिकीय अव्यवहित ज्ञान (इन्टुइशन), अर्थ का सिद्धान्त तथा अनुभूत जगत् (लाइफ-वर्ल्ड) का विवरण नहीं दिया जा सका है। वर्तमान काल में फेनॉमेनॉलॉजी अत्यधिक महत्त्व का दर्शन हो गया है किन्तु उसका विकास हुसर्ल द्वारा दिखाई गयी दिशा में नहीं हो रहा है। वस्तुस्थिति तो यह है कि आज कोई भी ऐसा प्रभावशाली फेनॉमेनॉलॉजीवादी नहीं है जो कि हुसर्ल का अनुयायी हो। हाइडेंगर, सार्त्र, मार्लो-योंती आदि ने अपने-अपने ढंग से इस दर्शन की व्याख्या और विकास किया है। मुख्य रूप से हुसर्ल की आलोचना दो बातों को लेकर हुई है : (1) अनुभवातीत आत्मा और (2) स्थगन का सिद्धान्त। कहा जाता है कि अनुभवातीत आत्मा—जिसका लक्षण अनुभवातीत संरचना है—प्रत्ययवादी कल्पना का परिणाम है, वह स्थूल व्यक्तियों और वास्तविक जगत् का स्थानापन्न नहीं हो सकता। दूसरे हुसर्ल का स्थगन का सिद्धान्त उसके 'वस्तुओं की ओर वापस चलें', के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। वस्तुओं के ज्ञान के लिए उनसे तटस्थ होकर और बाहर स्थित होकर उनका अध्ययन करने की अपेक्षा कोई ऐसा उपाय अपनाया जाना चाहिए कि हम वस्तुओं का उनके भीतर से अध्ययन कर सकें। हुसर्ल के दर्शन में स्थगित वस्तुगत वास्तविकता हमेशा के लिए कोष्ठीकृत हो जाती है और सारा फेनॉमेनॉलॉजिकीय अध्ययन शुद्ध चेतना का अध्ययन मात्र रह जाता है। इसलिए अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने हुसर्ल के इन दोनों सिद्धान्तों का परित्याग करके जगत् तथा चेतना का अध्ययन करने का प्रयास किया है।[1] संभवतः हुसर्ल के दर्शन को भारतीय अध्यात्मवाद के परिप्रेक्ष्य में अधिक सार्थक तथा प्रासंगिक बनाया जा सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हुसर्ल के दार्शनिक उद्देश्यों को आध्यात्मिक लक्ष्य से जोड़ दिया जाय और इस सम्बन्ध में कोयस्टेनबॉम की यह सूचना बड़ी महत्त्वपूर्ण है कि इस समय हुसर्ल के दर्शन का कैथोलिक केन्द्रों पर अधिकाधिक अध्ययन हो रहा है।[2] यह इस बात का संकेत है कि हुसर्ल के दर्शन की वास्तविक

---

1. See. John Wild : *Existence and the world of Freedom*, p 32-33.
   —Princeton Hall, Inc., Englewood Cliff, NJ, USA, 1963.
2. देखिये पेरिस लेक्चर्स की भूमिका

दिशा तत्त्वमीमांसा एवं अध्यात्मवाद की ओर थी। स्वयं हुसर्ल ही अपनी स्थिति को स्पष्ट कर चुके हैं। वे कहते हैं कि फेनॉमेनॉलॉजी तत्त्वमीमांसा का पूर्णतया निराकरण नहीं करती। यह उसी तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान करती है जो आदिम तथा व्याघाती विषयों का विवेचन करती है। वास्तविक तत्त्वमीमांसा का सम्बन्ध अनुभवातीत अन्तर्विषयिता से है जो समस्मत जागतिक वस्तुनिष्ठता का पूर्ववर्ती तथा उसको धारण करने वाला सिद्धान्त है।[1] यह अनुभवातीत अन्तर्विषयिता चिद्विन्दुओं के समग्र समुदाय की अभिव्यक्ति है। किन्तु चिद्-विन्दुओं के वास्तविक लोक में आपात, मृत्यु, नियति, व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन का अर्थ, इतिहास का अर्थ तथा नैतिक एवं धार्मिक समस्यायें भी उठती हैं। पर उस समय वे समस्यायें अपने वास्तविक आधार एवं परिप्रेक्ष्य के भीतर उठती हैं, जिससे बाहर समस्याओं तथा प्रश्नों का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार दर्शन अपने अन्तिम लक्ष्य एवं वास्तविक स्वरूप-आत्म-ज्ञान-को प्राप्त करता है। "प्राकृतिक विज्ञान जगत् निमग्न होते हैं किन्तु जगत् को वस्तुतः पाने के लिए इपाकी के माध्यम से उसे खोना आवश्यक है जिससे कि सार्वभौम आत्म-परोक्षण (आत्म-ज्ञान) में हम उसे पुनः प्राप्त कर सकें क्योंकि सत्य बाहर अवस्थित न होकर व्यक्ति के अन्तः में ही विद्यमान होता है।[2]"

हुसर्ल का आत्म-ज्ञान का यह आदर्श औपनिषद् आत्मज्ञान (आत्मानं विद्धि) के आदर्श से आश्चर्यजनक साम्य रखता है। जिसे हुसर्ल आदिम अथवा प्राकृतिक दृष्टिकोण कहता है उसे उपनिषदों और वेदान्त में अज्ञान कहा गया है। प्राकृतिक दृष्टिकोण अर्थात् अज्ञान में निमग्न व्यक्ति 'जीवन-जगत्' को उसके सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख सकता, मृत्यु, भय, निराशा, नियति इतिहास का

---

1. ....Phenomenology excludes only that type of metaphysics which deals with naive and contradictory objects, but it does not exclude metaphysics altogether, the intrinsically first type of being that which precedes and bears every worldly objectivity, is transcendental inter subjectivity, consisting of the various manifestations of the total comm-unity of monads.

—*Paris Lectures*; p. 38

2. Ibid., p. 39.

सम्यक् बोध अज्ञान के विनाश से ही संभव है। यद्यपि, जैसा कि हम इस लेख में कई बार संकेत कर चुके हैं, हुसर्ल के दर्शन में न तो अद्वैतवाद की स्पष्ट स्थापना है और न किसी आध्यात्मिक तथा धार्मिक आदर्श की; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हुसर्ल जिस 'ईपाकी तथा 'रिडक्शन' की क्रिया द्वारा जगत् को 'खोने' की बात करता है, वह दार्शनिक अन्तर्दृष्टि भारतीय मनीषियों को हजारों वर्ष पूर्व प्राप्त थी। यह अन्तर्दृष्टि कांट को भी थी किन्तु दुर्भाग्यवश कांट ने शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि में इतनी तीक्ष्ण विभाजन रेखा खींच दी थी कि वह आत्मज्ञान की संभावना को स्वीकार न कर सका। शून्यवादी अपेक्षाकृत सत्य के अधिक निकट थे। किसी अद्वैत सत्ता की स्थापना न करते हुए भी उन्होंने आत्मज्ञान-प्रज्ञापारमिता-की वास्तविकता को स्वीकार किया जो विकल्प जालों से परे है, प्राकृतिक दृष्टिकोण की अतिक्रामी है। हुसर्ल की भारतीय दार्शनिकों के साथ तुलना करने की एक सीमा है, पर इतना तो निःसंदेह है कि हुसर्ल का विज्ञानवादी झुकाव उसे अध्यात्मवाद की ओर खींचता है। किन्तु अध्यात्मवाद क्या है ? क्या यह किसी पराजागतिक अथवा स्वर्गीय सत्ता की स्वीकृति है ? यदि ऐसा है तो हुसर्ल को न विज्ञानवादी कहा जा सकता है और न अध्यात्मवादी। किन्तु अध्यात्मवाद की यह व्याख्या कहाँ तक उचित है ? संभवतः अध्यात्मवाद की आलोचना को दृष्टि में रखकर यह अध्यात्मवाद की अभिप्रेरित (मोटिवेटेड) व्याख्या है, अन्यथा वास्तविक अर्थों में अध्यात्मवादी दर्शन में ऐसी वास्तविकता को कहीं भी सर्वोच्च नहीं माना गया है, जिसका वर्तमान जीवन एवं जगत् से कहीं दूर का सम्बन्ध न हो। परमार्थ और व्यवहार का अत्यन्तिक भेद किसी भी स्वस्थ विज्ञानवादी दर्शन को स्वीकार्य नहीं। उन्होंने तो परमार्थ को, माध्यमिक शब्दावली में, 'धर्मानाम् धर्मता' कहा है। संसार और निर्वाण में कोई भेद नहीं है, जो संसार की कोटि है, वही निर्वाण की कोटि है। सभी प्रकार के द्वैत का तिरस्कार करनेवाले विज्ञानवादी दर्शन व्यवहार तथा परमार्थ में कोई भेद नहीं मानते। आभास सत् के आभास हैं; सत् उनकी वास्तविकता है। आभास मिथ्या नहीं है, सत् से पृथक् उन्हें देखने की दृष्टि मिथ्या है और यह मिथ्या दृष्टि उन्हें भी मिथ्याकृत कर देती है। अतएव आभासों को उनकी वास्तविक रूप में देखने के लिए इसी मिथ्या दृष्टि से मुक्त होना आवश्यक है। हुसर्ल के लिए यह मिथ्या दृष्टि प्राकृतिक दृष्टि है; भारतीय विज्ञानवादियों ने इसे अज्ञान कहा है।

प्राकृतिक दृष्टि से उन्मुक्त फेनॉमेनॉलॉजीवादी यह देखता है कि तथा-

कथित बाहर स्थित वस्तुनिष्ठता विषयिता की देन है। इस सत्य की अनुभूति व्यक्ति को संसार के भीतर ले आती है, वह अपनी अस्तित्वपरक प्रतिबद्धता की अनुभूति करता है क्योंकि उसके समक्ष विद्यमान वस्तुनिष्ठता अथवा वस्तु जगत् किसी अन्य द्वारा नियन्त्रित नहीं है। उसका नियंता स्वयं व्यक्ति है। नियंता होने की यह भावना मनुष्य में चिन्ता, दुःख, मनस्ताप आदि भावनायें उत्पन्न करती है। अस्तित्ववादी दर्शन फेनॉमेनॉलॉजी को नवीन दृष्टि लेकर इन्हीं अस्तित्वपरक समस्याओं के अध्ययन को अपना मुख्य विषय बनाता है।

8. अस्तित्ववाद : ज्यां पाल सार्त्र

फेनॉमेनॉलाजी तथा अस्तित्ववाद

समकालीन चिन्तन में फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद को प्रायः एक दार्शनिक परम्परा के रूप में जोड़ा जाता है। फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद का यह गठबन्धन अपने सबसे अधिक मुखरित रूप में सार्त्र के दर्शन में पाया जाता है। सार्त्र ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'बीइंग एण्ड नथिंग्नेस' को 'ऐन एस्से इन फेनॉमेनॉलॉजिकल ऑंटोलाजी' (फेनॉमेनॉलॉजिकीय सत्तामीमांसा पर एक लेख) का उपशीर्षक देकर अपने दर्शन के फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्वरूप को स्वीकार किया है तथा उसके दर्शन का अस्तित्ववादी स्वरूप तो सर्वसम्मति से स्वीकृत हो चुका है और स्वयं सार्त्र ने भी (प्रारम्भिक हिचक के बाद) अपने को अस्तित्ववादी घोषित किया है। फेनॉमेनॉलाजी तथा अस्तित्ववाद का इतना सुस्पष्ट गठबंधन अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिकों में तो नहीं मिलता तथापि हाइडेगर, मार्सल, मार्लियों पोन्ती आदि दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में फेनॉमेनॉलॉजी को स्वीकार अवश्य किया है। इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय यह है कि जर्मनी में, जहाँ से फेनॉमेनॉलॉजी का सूत्रपात हुआ, इन दोनों चिन्तनविधियों का इतना निकट सम्बन्ध नहीं हो सका जितना फ्रांस में। उदाहरणार्थ, हाइडेगर ने हुसर्ल का शिष्य होने तथा हुसर्ल के बाद फ्राइबुर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन का प्रोफेसर मनोनीत होने के बावजूद, हुसर्ल की फेनॉमेनॉलॉजी से एक प्रकार का सम्बन्ध विच्छेद कर लिया तथा यास्पर्स ने फेनॉमेनॉलॉजिकीय प्रविधि को मनोविकृतियों के विश्लेषण तक ही सीमित रखा। इसके विपरीत, फ्रांस में फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद का सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ, अपितु सार्त्र के दर्शन में दोनों का विलय हो गया तथा मार्सल तथा मार्लियो पोंती आदि में यह विलय बना रहा।

प्रकट रूप से फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद के इस विलय अथवा गठबन्धन का कोई औचित्य नहीं दिखायी देता। ऐसा लगता है कि दोनों चिंतन की दो प्रकार की विधायें हैं तथा उनकी तत्व-चिन्तन की धारणायें सर्वथा भिन्न हैं।

हुसर्ल के अनुसार फेनॉमेनॉलॉजी का उद्देश्य दर्शन को एक "सुदृढ़ विज्ञान के रूप में"....स्थापना करना था। इसलिए हुसर्ल का मुख्य विषय अनुभव अथवा ज्ञान को सम्भावना, उसकी सामान्य रचना पर विचार करना था। ज्ञानमीमांसा हुसर्ल के फेनॉमेनॉलॉजी की केन्द्रीय समस्या है। इसके ठीक विपरीत, समूची अस्तित्ववादी विचारधारा वैज्ञानिक दर्शन के विचारमात्र का विरोध करती है। इस दृष्टि से अस्तित्ववाद कर्केगार्ड, नीट्शे, दास्तोवोस्की के विचारों से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है, जिसमें वैज्ञानिक ज्ञान अथवा वस्तुगत यथार्थता पर बल न देकर व्यष्टि पर, अपवाद पर, विशिष्ट पर, बल दिया गया है। इस विरोध को और तीव्र स्वर देने के लिए यह कहा जा सकता है कि हुसर्ल का फेनॉमेनॉलॉजिकीय दर्शन तर्कबुद्धिवाद (रेशनैलिज्म) है और अस्तित्ववाद अतर्कबुद्धिवाद (इर्रेशनैलिज्म)। अस्तित्ववाद ज्ञान अथवा अनुभव का दर्शन नहीं है, यह क्रिया का दर्शन है। फेनॉमेनॉलॉजी का उद्देश्य कांटीय दर्शन की भांति अनुभव की प्रागनुभविक संरचना पर विचार करना है। उसका मुख्य प्रश्न है : ज्ञान कैसे सम्भव होता है ? जबकि अस्तित्ववादी दर्शन का लक्ष्य उन शर्तों का अध्ययन और वर्णन करना है, जिनमें रह कर मनुष्य क्रिया करता है। उसका मुख्य प्रश्न है : सत्तावान होने का क्या अर्थ है ? मानवीय क्रियाओं के आधार क्या हैं ?

उपरोक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि अस्तित्ववाद तथा फेनॉमेनॉलॉजी को एक संबद्ध विचारधारा के रूप में देखना और प्रस्तुत करना सर्वथा निराधार है। किंतु दोनों दर्शन-विधाओं के उपर्युक्त भेद और विरोध वास्तव में उनके अन्तराल में विद्यमान एकता को अनावश्यक रूप से आवृत कर देते हैं। उनके इन विरोधों को अधिक से अधिक 'पारिवारिक कलह' की संज्ञा दी जा सकती है। कम-से-कम फ्रांसीसी अस्तित्ववादियों के सम्बन्ध में इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है क्योंकि जहाँ हाइडेगर ने अपने मुख्य ग्रन्थ "बीइंग एण्ड टाइम" के प्रकाशन के बाद अपने को फेनॉमेनॉलॉजीवादी कहना बन्द कर दिया, सार्त्र तथा मार्लियो पोन्ती ने उनके पारस्परिक विरोधों को इतना खतरनाक़ नहीं माना कि उससे फेनॉमेनॉलॉजी की परम्परा में कोई विघटन स्थापित हो सके।[1] सार्त्र तथा मार्लियो पोन्ती अपने को उसी अर्थ में फेनॉमेनॉलॉजीवादी कहते हैं, जिस अर्थ में हुसर्ल था। विशेष रूप से मार्लियो पोन्ती की धारणा तो

---

1. **Robet C. . Solomon : *From Rationalism to Existentialism.* Harper and Row, Publishers, 1972, p. 249.**

यह है कि हुसर्ल ने जगत् के स्थगन के सिद्धान्त को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया है। हाइडेगर तथा सार्त्र के विपरीत उसका विश्वास है कि हुसंल ने जगत् की अवहेलना नहीं की है। वह कहता है : फेनॉमेनॉलॉजी वह दर्शन हैं जिसके अनुसार जगत् पहले से ही नित्य विद्यमान है, वह अनिवार्य वास्तविकता है तथा समस्त अनुचिंतन का पूर्वगामी है। फेनॉमेनॉलॉजी का समस्त प्रयास जगत् के साथ आदिम एवं प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना है तथा इस सम्बन्ध को दार्शनिक प्रतिष्ठा प्रदान करना है।'[1] वस्तुतः फेनॉमेनॉलॉजी के तकनीकी वर्णनात्मक विज्ञान तथा अस्तित्ववाद के जनसुलभ साहित्य की आधार भूमि एक है : दोनों विचारधारायें पारम्परिक योरोपीय दर्शन, जिसका सूत्रपात देकार्त के हाथों हुआ, से प्रेरित हैं। हुसर्ल, हाइडेगर, सार्त्र, पोन्ती आदि इसी दर्शन के सामान्य क्षेत्र के भीतर ही एक दूसरे से अपनी सहमति अथवा विरोध व्यक्त करते हैं। दोनों ही देकार्त के दर्शन को दार्शनिकता का प्रस्थान-बिन्दु मानते हैं। देकार्त ने अपने चिंतन का प्रारम्भ आत्मा की स्वयंप्रकाशता तथा स्वयंसिद्धता से किया था। फेनॉमेनॉलॉजी तथा अस्तित्ववाद का मूल लक्ष्य मानवीय चेतना तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों की अवधारणा करना है तथा उन आधारों अथवा 'अस्तित्वपरक संरचनाओं' को खोज करना है जो इन सम्बन्धों को सम्भव बनाते हैं। यह सच है कि हाइडेगर, सार्त्र तथा अन्य अस्तित्ववादी अस्तित्ववादी विचारधारा के लिए नीट्शे तथा कर्केगार्ड के भी ऋणी हैं किंतु उनसे गृहीत इस विचारधारा को फेनॉमेनॉलॉजी द्वारा ही समर्थन एवं बल प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि फेनॉमेनॉलॉजी अस्तित्ववाद का समर्थन करने वाली एक प्रविधि अथवा पद्धति मात्र है। इसका तात्पर्य यह है कि फेनॉमेनॉलॉजी अस्तित्ववाद का उसी प्रकार समर्थन करती है जिस प्रकार कोई ज्ञानमीमांसीय तथा सत्तामीमांसीय सिद्धांत मानवीय कर्म तथा स्वातंत्र्य के सिद्धांत का समर्थन करता है।[2] दोनों दर्शन मानवीय चेतना के वर्णन से अपने तत्त्वचिन्तन का प्रारम्भ करते हैं। किन्तु हुसर्ल मुख्य रूप से ज्ञान तथा विश्वास के

---

1. Marleau-Ponty : *Phenomenology of Perception*, (Trans. Colin Smith), London : Routledge and Kegan Paul, 1962., p. viii.
2. Robert. C. Solomon (ed) : *Phenomenology and Existentialism* Harper and Row, Publishers, Inc., New York, 1972, p. xii.

वर्णन तक सीमित रहा, जबकि सार्त्र तथा हाइडेगर ने अपना ध्यान मानवीय व्यवहार की समस्याओं पर केन्द्रित किया। हुसर्ल ने चेतना के 'ज्ञाता' स्वरूप पर विशेष बल दिया, इसके विपरीत सार्त्र तथा हाइडेगर आदि ने चेतना को क्रियाशील' 'इच्छाशील' तथा 'निश्चय करने वाली' चेतना के रूप में ग्रहण किया। हुलर्स के लिए चेतना का अध्ययन मुख्यतः ज्ञानमीमांसीय अध्ययन हैं, अस्तित्ववादियों के लिए चेतना का अध्ययन इस प्रश्न को समझने का एक माध्यम है कि 'व्यक्ति होने का क्या अर्थ होता है ?' किन्तु इन भेदों के बावजूद दोनों ही विचारधारायें देकार्त के 'उत्तम पुरुष दृष्टिकोण[1] को प्राथमिकता को स्वीकारती तथा वहीं से अपना चिन्तन प्रारम्भ करती हैं, तथा उनके सभी आपसी विरोधों का इसी मूलभूत सहमति के परिप्रेक्ष्य में ही वर्णन एवं मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

अस्तित्ववाद क्या है ?

अस्तित्ववादी विचारधारा जितनी लोकप्रिय है उतनी ही जटिल और अस्पष्ट भी। अतएव इसकी कोई एक और सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। यह कठिनाई तब और भी बढ़ जाती है, जब कि स्वयं वे दार्शनिक, जिन्हें सामान्य रूप से अस्तित्ववादी दार्शनिक के रूप में जाना जाता है, अपने को अस्तित्ववादी कहने में संकोच का अनुभव करते हैं ? कार्ल यास्पर्स निःसंदेह अस्तित्ववादी हैं किन्तु वे अपने दर्शन को 'अस्तित्ववाद' न कह कर 'अस्तित्व-दर्शन'[2] कहना अधिक पसन्द करते हैं तथा उसी प्रकार हाईडेगर अपने दर्शन को अस्तित्वपरक विश्लेषकी'[3] अथवा 'आधारभूत सत्तामीमांसा'[4] कहने के पक्षपाती हैं। सोरेन कर्केगार्ड, जो कि अस्तित्ववाद के प्रेरणास्रोत हैं, कि किसी 'स्कूल' या 'परम्परा' प्रारम्भ करने की कोई इच्छा नहीं थी तथा गैब्रियल मार्सल ने अस्तित्ववादी बिल्ला लगाने से इंकार किया।[5] सार्त्र, सिमोन द बोउआ, अलबेयर कामू तथा मार्लियो पोंती को प्रायः एक संगठित समूह के रूप में देखा जा सकता है किन्तु कामू ने भी अपने को अस्तित्ववादी कहने से इन्कार किया तथा कामू, पोन्ती

---

1. First person standpoint.
2. Existenz-Philosophy.
3. Existential Analytic.
4. Fundamental ontology.
5. *Phenomenological Movement*, Vol. II, p. 411.

तथा सार्त्र की लम्बी तथा प्रगाढ़ मित्रता भी कालान्तर में कुछ राजनीतिक प्रश्नों को लेकर टूट गयी।[1] सिमोन द बोउआ निरन्तर सार्त्र का समर्थन करती रही, किन्तु उनकी रचनायें मुख्यतः दार्शनिक उपन्यासों तक ही सीमित हैं। इस प्रकार अस्तित्ववादी विचारकों का एक संगठित समूह न बन सका और न ही अस्तित्ववादी दर्शन का कोई आधारिक घोषणा पत्र ही निकाला गया, जैसा कि 'वियना सर्किल' द्वारा प्रत्यक्षवाद के समर्थन एवं प्रचार के लिए किया गया था। सार्त्र एक अकेला दार्शनिक है जिसने यह स्वीकार किया कि वह अस्तित्ववादी है; उसने अस्तित्ववाद का नास्तिक तथा आस्तिक के रूप में विभाजन भी किया तथा अस्तित्ववाद के स्पष्टीकरण एवं उसके विरुद्ध लगाये गये विभिन्न आरोपों का निराकरण करने के लिए 'एग्जिस्टेंशियलिज्म ऐज ए ह्यूमैनिज्म' नामक ग्रन्थ भी लिखा, यद्यपि बाद में उसने भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन को एक 'भूल' के रूप में स्वीकार किया।[2] इस प्रकार अस्तित्ववादी दार्शनिकों में स्वतः इतना मत वैभिन्य है कि इस दर्शन को परिभाषित करने का कार्य नितान्त दुरूह प्रतीत होता है। तथापि कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्हें लेकर सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों को एक सूत्र में बाँधा जा सकता है तथा उनके तत्त्व-चिन्तन के व्यष्टिगत विभेदों के भीतर एक सामान्य उद्देश्य का तलाश की जा सकती है।

हुसर्ल के अनुसार फेनॉमेनॉलॉजिकोय खोजों का मुख्य लक्ष्य एक 'सुदृढ़ विज्ञान' की स्थापना करना था। अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी का मुख्य प्रश्न है : 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है ? हुसर्ल के विपरीत वे ज्ञान के प्रश्न को प्राथमिक महत्त्व न देकर 'जीवंत अनुभव[3] के प्रश्न को प्राथमिक महत्त्व प्रदान करते हैं। 'मनुष्य होने के अर्थ' के अनावरण में जो केन्द्रीय समस्या उभर कर सामने आती है, वह मनुष्य तथा जगत् के सम्बन्ध की समस्या है, जिसमें मनुष्य रहता है, कार्य करता है तथा अनुभव करता है। मनुष्य तथा जगत् के सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर पारम्परिक दर्शन में दो विपरीत दृष्टिकोण पाये जाते हैं। एक दृष्टिकोण मनुष्य को भौतिक, सामाजिक तथा शारीरिक परिस्थितियों का परिणाम मानता है। यह दृष्टिकोण प्राकृतिक अथवा प्रकृतिवादी दृष्टिकोण है, जिसे मुख्य रूप से प्राकृतिक विज्ञानों को मान्यता प्राप्त है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य का जोवन पूर्णतया बाह्य कारणों द्वारा नियंत्रित है। प्राकृतिक

---

1. *From Rationalism to Existentialism*, pp. 246-247.
2. Ibid., p. 948.
3. Lived experience.

दृष्टिकोण यान्त्रिक दृष्टिकोण है । प्रकृति एक महान यंत्र है । जिस प्रकार मशीन के अनेक पुर्जों का उस मशीन में एक निश्चित स्थान तथा पूर्वनिर्धारित भूमिका होती है उसी प्रकार प्रकृति के भीतर सभी वस्तुओं का निश्चित स्थान एवं पूर्वनिर्धारित भूमिका है । मनुष्य भी उन्हीं अनेक वस्तुओं में से एक वस्तु है। जगत् की इस यांत्रिक संरचना में व्यक्ति-वैशिष्ट्य के लिए कोई भी स्थान नहीं है। जगत्-व्यवस्था में सब कुछ यन्त्रवत् आबद्ध एवं संचालित है। अस्तु, व्यक्ति की कार्य-दिशा भी पूर्णतया निर्धारित है । व्यक्ति क्या है ? और वह क्या करेगा ? यह सब पूर्वनिश्चित है; यह व्यक्ति की इच्छा और निर्णय का विषय नहीं है । जगत् की यह प्रकृतिवादी व्याख्या मनुष्य की व्यष्टिता तथा संकल्प-स्वातंत्र्य की एकदम अवहेलना करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति इस विशाल मशीनी व्यवस्था में खो-सा गया हो । उसे वास्तविक स्वतंत्रता नहीं है, उसके जीवन तथा अस्तित्व का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं है जिसे सिद्धान्ततः जाना न जा सके । इस प्रकार प्रकृतिवादी व्याख्या मनुष्य की व्यष्टिता की प्रकारान्तर से अवज्ञा करती है । असीम वैज्ञानिक प्रगति, जिससे मनुष्य की सुख-सुविधाओं की कल्पनातीत वृद्धि हुई है, इस सिद्धान्त को और प्रश्रय देती है । किन्तु सुविधाओं की उपलब्धि ही मानवीय जीवन का एक मात्र लक्ष्य नहीं है । वस्तुस्थिति तो यह है कि जिस अनुपात में भौतिक सुविधायें बढ़ी हैं, उसी अनुपात में मानव-जीवन में एक रिक्तता, असंतुलन तथा ऊब भी आयी है। भौतिक सुखों से असन्तुष्ट व्यक्ति अपने अस्तित्व के वास्तविक आधारों को प्राप्त करना चाहता है, किन्तु प्रकृतिवादी दर्शन के पास मनुष्य की इस जिज्ञासा का कोई उत्तर न था ।

इस प्रकृतिवादी दर्शन के विपरीत प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) में मनुष्य को वस्तु-योजना के केन्द्रीभूत सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है । मूल वास्तविकता भौतिक नहीं अपितु आध्यात्मिक है । चेतना का आविर्भाव भौतिक सत्ता से नहीं हुआ है अपितु उसकी एक स्वतंत्र कोटि है । अन्ततः वही सत् है । चेतना से ही समस्त जगत् निर्मित है तथा जो कुछ चेतनेतर है, वह आभास है । प्रत्ययवादी विचारधारा की चरम परिणति हेगेल के दर्शन में मिलती है । हेगेल के अनुसार चित् (स्पिरिट) अन्तिम सत् है तथा चित् से पृथक् सत्तायें चित् की अभिव्यक्ति हैं, प्रकृति भी चित् की एक अभिव्यक्ति है । वह द्वन्द्व-न्याय की प्रक्रिया में एक अवस्था मात्र है जिसका अन्तर्भाव चित् में होता है । हेगेल ने विचार को ही सत् के रूप में घोषित किया : सत् तर्क-बुद्धिपरक है । विचार का विश्लेषण करके सत् का भी विश्लेषण किया जा सकता है । इस अध्यात्म-

वादी व्यवस्था में चेतना की एक स्वतंत्र कोटि के रूप में स्थापना तो हुई किन्तु मनुष्य की एक व्यष्टि के रूप में लगभग वही स्थिति बनी रही जैसी कि प्रकृतिवाद में। व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं हैं, वह सामान्य प्रत्यय (यूनिवर्सल आइडिया) की अभिव्यक्ति है। उसकी जो कुछ सार्थकता है वह केवल इसलिए की उसमें चित् अथवा प्रत्यय का अंश विद्यमान है।

प्रकृतिवाद तथा प्रत्ययवाद दोनों ही में या तो वास्तविक मानवीय अस्तित्व पर विचार ही नहीं किया गया है अथवा उसको विकृत एवं मिथ्या रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रत्ययवाद में तो वास्तविक जोवन की समस्याओं को ही नकारा गया है। उसके अनुसार मृत्यु मनुष्य के जीवन की कोई समस्या नहीं है क्योंकि आत्मा मृत्यु से परे है। किन्तु यह उदात्त तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त मनुष्य के वास्तविक जीवन से मृत्यु-जन्य भयों तथा अन्य चिन्ताओं को मिटा नहीं सकता। मृत्यु मानवीय अस्तित्व की अपरिहार्य नियति है; उसे मिथ्याकृत कर देने से उसका निराकरण नहीं हो सकता। अस्तित्ववादी दर्शन ऐसे सभी दर्शन-तंत्रों के विरोध का परिणाम है। दर्शन की वास्तविक समस्या मनुष्य को उसके वास्तविक अस्तित्व तथा अस्तित्वगत प्रश्नों के सम्मुख खड़ा करना है। इस दृष्टि से प्रकृतिवाद तथा विज्ञानवाद दोनों ही असंतोषप्रद सिद्धान्त हैं। मनुष्य को अनेक वस्तुओं के बीच एक वस्तु के रूप में नहीं देखा जा सकता क्योंकि उस दशा में वह भौतिक पदार्थों—मेज, कुर्सी, आदि—की भांति अपनी ही सत्ता में सीमित होगा तथा किसी अन्य वस्तु को न तो जान सकेगा और न ही उनके साथ कोई सम्बन्ध स्थापित कर पायेगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य को निरपेक्ष चित् अथवा शुद्ध चेतना मान लिया जाय (जैसा कि विज्ञानवादी मान्यता है) क्योंकि तब हमारे सामाजिक तथा भौतिक सम्बन्धों की व्याख्या करना मुश्किल हो जायगा क्योंकि निरपेक्ष चित् परिभाषा इन सम्बन्धों की कोई अपेक्षा नहीं करता। अस्तित्ववादी दर्शन वास्तविक मानव अस्तित्व पर बल देता है। वास्तविक मानव-अस्तित्व का तात्पर्य जगत् में स्थित मानव-अस्तित्व से है। मनुष्य और जगत् का संबंध एक विषय और दूसरे विषय का सम्बन्ध नहीं है (प्रकृतिवाद); और नहीं यह विषय और विषयी का सम्बन्ध है जिसमें विषय विषयी की रचना है (विज्ञानवाद)। वह सम्बन्ध उस 'सत्ता का सम्बन्ध है, जिसमें विषयी अपना शरीर है, अपना जगत् है, तथा अपनी परिस्थिति है।"[1]

---

1. The Relationship between subject and object is no longer that relationship of knowing postulated by classical

अस्तित्ववाद को आधिकारिक परिभाषा सार्त्र ने दी है : "अस्तित्व सार का पूर्वगामी है।"[1] इस कथन के अभिप्राय को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कुर्सी एक पदार्थ है, जिसका निर्माण बढ़ई ने किया है। कुर्सी को बनाने की प्रेरणा उसे कुर्सी के प्रत्यय (कन्सेप्ट) से मिली। अर्थात् कुर्सी का प्रत्यय अथवा विचार उसके मन में पहले आया और उसी विचार को उसने अपने निर्माण-कौशल द्वारा वस्तु का रूप दे दिया। कुर्सी के बनने के पहले उसके मन में यह धारणा थी कि कुर्सी क्या होती है, उसका रूप कैसा होता है तथा उसकी उपयोगिता क्या होती है इत्यादि। किसी विशेष कुर्सी के निर्माण के पहले ये सभी धारणाएं पूर्व विद्यमान होती हैं तथा उसके स्वरूप को निर्धारित एवं परिभाषित करती हैं। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि कोई व्यक्ति कुर्सी का निर्माण करे किन्तु यह न जाने कि वह क्या बना रहा है। अतः कुर्सी के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि उसका अस्तित्व उसके सार द्वारा निर्धारित है। कुर्सी के सार से तात्पर्य उसके गुण, उपयोगिता तथा निर्माणविधि से है। वास्तविक कुर्सी के अस्तित्व में आने से पूर्व ये सभी बातें बढ़ई के मन में विद्यमान होती हैं और वस्तुतः उन्हीं के नाते कुर्सी का निर्माण भी होता है।

देकार्त तथा लाइबनित्ज जैसे दार्शनिक, जो कि सृष्टिकर्ता ईश्वर में विश्वास करते हैं, मनुष्य के अस्तित्व को कुर्सी की ही भाँति पूर्वनिर्धारित बना देते हैं। सृष्टिकर्ता ईश्वर के मन में अपनी सृष्टि (जिसमें मनुष्य सम्मिलित है) का प्रत्यय उसी प्रकार पूर्वविद्यमान होता है, जैसे कि बढ़ई के मन में कुर्सी का प्रत्यय पूर्वविद्यमान होता है। कुर्सी के अस्तित्व के हर पहलू—रूप, आकार, रंग आदि—पूर्वविद्यमान प्रत्यय द्वारा निर्धारित है, उसके अस्तित्व में आने से पूर्व

---

idealism....but a relationship of being, in which para doxically, the subject is his body, his world, and his situation by a sort of exchange. Merleau Ponty : *Sense and Non-sense*, pp. 71-73, quoted by Robert C. Solomon in *Phenomenology and Existentialism*, p. 298.

1. What they have in common is that they think that existence precedes essence, or if you prefer, that subjectivity must be the starting point.

Existentialism and Human Emotions, The Wisdom Lib., New York 1957, p. 16.

उसका सार निर्धारित हो चुका होता है। अथवा, यों कहें उसके सार ने, जो प्रत्यय के रूप में बढ़ई के मन में विद्यमान है, उसके अस्तित्व को पूर्वनिर्धारित कर दिया है। ईश्वर एक महान कलाकार है, मनुष्य उसके दैवी विवेक अथवा प्रत्यय का परिणाम है। ईश्वर ने इच्छा की कि 'प्रकाश हो जाय' और 'प्रकाश हो गया।' उसी प्रकार ईश्वर के मन में विचार आया कि एक सृष्टि की रचना हो जिसमें मनुष्य जैसा प्राणी हो जो अमुक-अमुक लक्षणों से युक्त हो। अतएव इस प्रकार उत्पन्न मनुष्य का स्वभाव, इसके सारे क्रिया-कलाप, उसके सभी पारस्परिक सम्बन्ध, उसके जीवन में आने वाले सभी उतार-चढ़ाव—भय, निराशा, मृत्यु, ऊब, रिक्तता—किसी सामान्य प्रत्यय अथवा दैवी इच्छा की अभिव्यक्ति है। ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में उसका सार उसके अस्तित्व का उसी प्रकार पूर्वगामी है, जिस प्रकार की कुर्सी का सार उसके अस्तित्व का पूर्वगामी होता है। यह कहा जा सकता है कि सभी प्रत्ययवादी दर्शन तो सृष्टिकर्ता ईश्वर को परम्-सत् के रूप में नहीं स्वीकार करते। हेगेल, ब्रैडले, ग्रीन का परम सत् ईश्वर नहीं है, वह निरपेक्ष (ऐब्सोल्यूट) है, जिस पर कोई क्रिया अथवा इच्छा नहीं आरोपित की जा सकती। किन्तु ऐसे दर्शन-तंत्रों में भी मनुष्य की स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। वहाँ भी मनुष्य इसलिए मनुष्य है क्योंकि वह एक निरपेक्ष सत् अथवा भारतीय दर्शन की शब्दावली में ब्रह्म, का प्रकाशन है। मनुष्य सांसारिक मनुष्य के रूप में वास्तविक नहीं है, वह अपने वास्तविक स्वरूप का बोध ब्रह्ममय होकर ही कर सकता है। ब्रह्मवादियों अथवा निरपेक्ष-वादियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि यह ब्रह्म कोई अतिरिक्त अथवा पारलौकिक सत्ता नहीं है, यह मनुष्य के स्वरूप का ही एक आयाम है। तथापि इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार के प्रत्ययवादी दर्शन में 'वास्तविक मनुष्य' की वास्तविकता की अभिव्यक्ति किसी अन्य स्थिति में होती है और यह 'अन्य' स्थिति जो कुछ भी हो, उसका संभाव्य स्वरूप पहले से ज्ञात है। अतएव इस दर्शन-तन्त्र में मनुष्य की व्यष्टिता का निषेध किया गया है। मनुष्य ब्रह्मरूप में वास्तविक है, व्यक्ति रूप में नहीं। कांट तथा हेगेल ने व्यष्टि तथा सामान्य की समस्या को सुलझाने के लिए युक्त सामान्य (रेशनल यूनिवर्सल) तथा मूर्त सामान्य (कांक्रीट यूनिवर्सल) की कल्पना की। दोनों का अभिप्राय यह है कि सामान्य ही वास्तविक है, यह सर्वथा परिपूर्ण है। इसमें व्यष्टि की इच्छाओं और आकांक्षाओं को कोई भूमिका नहीं है। वह पूर्वविद्यमान वास्तविकता है। वह आज्ञापालन का विषय है, इच्छा का विषय नहीं। इसमें व्यष्टि की स्वतन्त्र इच्छा अथवा चुनाव का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। अपने स्वरूप बोध तथा आत्मविकास के लिए व्यक्ति को यह नहीं सोचना है

कि उसे क्या करना है तथा किस मार्ग पर चलना है। उसकी कार्य-दिशा और मार्ग-दिशा निर्धारित है। निरपेक्ष सत् की ही छाया में व्यक्ति अपना विकास कर सकता है और विकास-प्रक्रिया का अन्तिम बिन्दु भी उसे ज्ञात है क्योंकि निरपेक्ष एक तन्त्र (सिस्टम) है जो विकास तथा परिवर्तन का विषय नहीं है। ब्रैडले के शब्दों में, 'वह समस्त इतिहास का द्रष्टा है किन्तु उसका कोई अपना इतिहास नहीं होता।' हेगेल के दर्शन में द्वन्द्व-न्याय विकास की प्रक्रिया अवश्य है, किन्तु इस प्रक्रिया का मार्ग और दिशा भी निर्धारित है। इस प्रक्रिया की चरम परिणति चित्त है और यह चित्त सिद्धान्ततः ज्ञान का विषय है। वास्तविकता का कोई रहस्यमय पहलू नहीं हैं, जिसमें हम कर्केगार्डीय विधि से 'छलांग' लगा सकें। इसको प्राप्त करने के लिए हमें नपे-तुले पग रखने होंगे। इस प्रकार प्रत्ययवादी व्यवस्था में सब कुछ निर्धारित तथा बंधा-बँधा-सा है। इसमें व्यक्तिगत अभियानों तथा स्वतन्त्र चुनावों के लिए कोई स्थान नहीं दिखायी देता।

मार्क्सवादी दर्शन, जो कि विज्ञानवाद का विरोध दर्शन है, में भी मनुष्य को उसके अस्तित्व के वास्तविक अर्थ से वंचित रखा गया है। मार्क्सवादी व्यवस्था में मनुष्य उस व्यवस्था का एक अंग मात्र रह जाता है। इस दर्शन में मनुष्य तथा समुदाय का तादात्म्य इस सीमा तक कर दिया गया है कि उसमें व्यक्ति-वैशिष्ट्य का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। मार्क्सवादी 'आर्थिक नियन्त्रणवाद' वस्तुतः व्यष्टिता के निषेध का सिद्धान्त है। प्रत्ययवादी कहता है : निरपेक्ष सत् को जान लेने के बाद मनुष्य को जानने की कोई समस्या नहीं रह जाती। मार्क्सवादी कहता है : आर्थिक परिस्थितियों को नियन्त्रित कर लिया जाय तो मानव-जीवन की वास्तविकता को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। मूलभूत विरोधों के बावजूद दोनों विचार-तन्त्रों में यह विस्मयकारी सहमति है। दोनों ही व्यक्ति की रचनात्मकता, मौलिकता, विशिष्टता तथा स्वतन्त्रता का अन्तर्भाव एक सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत कर देते हैं। दोनों ही व्यक्ति के जीवन की वास्तविक समस्याओं, उसके एकाकीपन, उसके अलगाव आदि का समाधान ऐसे सामान्य सूत्र से करना चाहते हैं जिसमें व्यक्ति का स्थान निश्चित रूप से गौण हो जाता है। यही कारण है कि सार्त्र अपने मार्क्सवादी झुकाव के बावजूद मार्क्सवाद की आलोचना करते हैं कि उसमें विषय और विषयी का भेद करके मनुष्य को विषय रूप में ग्रहण किया गया है।[1] यही नहीं, व्यक्ति-स्वातंत्र्य का पक्षपाती अस्तित्ववादी दर्शन कम्युनिष्टों को

1. **Marx posed the chief dogma of seriousness when he affi-**

भी नहीं भाता। उनके अनुसार यह दर्शन बूजुर्आ बुद्धिवादियों द्वारा ऐतिहासिक समाजवाद से पलायन करने तथा प्रत्ययों के तत्त्वमीमांसीय संसार में रहने का अन्तिम प्रयास है।[1]

अस्तित्ववादी दर्शन मानवीय वास्तविकता का दर्शन है। 'अस्तित्व सार का पूर्वगामी है—यह कथन मानवीय वास्तविकता पर ही लागू होता है, वस्तुओं के समुदाय पर नहीं। मानव-वैशिष्ट्य का, जगत् से उसके अलगाव का, किसी सामान्य सूत्र में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। सिद्धान्तों के माध्यम से मानवीय अस्तित्व की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास मताग्रह है, मानवीय वास्तविकता का मिथ्याकरण है। मानवीय अस्तित्व की समस्यायें, सैद्धान्तिक समस्यायें नहीं हैं। दर्शन का लक्ष्य सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना नहीं है। उसका उद्देश्य मनुष्य को दार्शनिकता के प्रथम बिन्दु पर ले जाकर यह प्रश्न पूछना है कि 'मनुष्य होने का क्या अर्थ है ?' इस प्रश्न का कोई एक, वस्तुगत, वैज्ञानिक तथा सुनिश्चित उत्तर नहीं हो सकता। ऐसा इसलिए नहीं कि मनुष्य के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अपर्याप्त है, बल्कि इसलिए कि मनुष्य अपनी सत्ता में निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है। मानवीय वास्तविकता के सम्बन्ध में जगत् भी एक प्रश्न है, एक खुली सम्भावना है। दोनों के ही बारे में जितना कहा जा सकता है, वे उससे अधिक होते हैं।[2] मानवीय

---

rmed the priority of the object over the subject, and man is serious when he takes himself for an object.

—Quoted by H. J. Blackham in *Six Existentialist Thinkers*, Routledge and Kegan Paul Ltd., 1956, p. 157

1. Ibid., p. 156.
2. These questions are not theoretical but existential....... They are questions which can be blurred or dodged, and normally they are, and therefore it is the first business of philosophy to enlarge them until they engross the whole man. The reason why there can be no objective, universal and certain answer to them is not merely the present inadequacy of our knowledge but because man is and remains in his being a question, a personal choice, and the objective world is and remains in its being a question,

व्यवहार को किसी सामान्य सूत्र द्वारा सीमित अथवा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। उसका अपना व्यवहार भी उसकी वास्तविकता को परिसीमित नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य अपने ही व्यवहार द्वारा निरन्तर अपना निर्माण करता रहता है।

दर्शनशास्त्र का इतिहास मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध प्रश्नों का वस्तुगत, सामान्य तथा सुनिश्चित उत्तर की तलाश का इतिहास है। किन्तु अस्तित्ववादियों के अनुसार दर्शन का मुख्य कार्य सुनिश्चित उत्तर की खोज नहीं है : उन प्रश्नों का सुनिश्चित उत्तर हो ही नहीं सकता। दर्शन का मुख्य कार्य मनुष्य को अपने अस्तित्वगत समस्या के प्रति सचेत करना है तथा उसकी वस्तुगत उत्तरों की भ्रामक तलाश करने की प्रवृत्ति को रोकना है। इसी निश्चय की तलाश ने दर्शनशास्त्र की विकासवादो, विज्ञानवादी तथा भौतिकवादी परंपराओं को जन्म दिया। ये सभी सिद्धान्त किसी न किसी प्रकार के अवव्याख्यावाद[1] में विश्वास करते हैं। वे जगत् तथा मनुष्य की 'संरचनात्मक विच्छिन्नता[2]' को किसी एक सूत्र द्वारा समाप्त कर देने के पक्षपाती हैं। किन्तु विच्छिन्नता को समाप्त करने का यह प्रयास मनुष्य के वास्तविक अस्तित्व के मूल्य पर ही हो सकता है, क्योंकि इस तरह के सभी प्रयासों में मनुष्य एक सामान्य प्रक्रिया अथवा सिद्धान्त में एक कड़ी मात्र रह जाता है। इसीलिए तो मार्शल का कहना है कि सत्ता की समस्या सैद्धान्तिक समाधान का विषय नहीं है, वह जीने तथा अनुभव करने का विषय है। मनुष्य का अस्तित्व वास्तविक तथा आदर्श के जीवन्त तनाव को जीने में है। ये तनाव दर्शन के लिए समस्या न होकर दार्शनिकता के लिए अवसर प्रदान करते हैं। जीवन तथा जगत्, विचार तथा अस्तित्व के अलगाव को समस्या का समाधान विचार की सीमा में रह कर नहीं खोजा जा सकता (जैसा कि हेगेल ने किया है); इसका कोई समाधान इनमें सक्रिय रूप से भागीदार होकर, इनको जी कर ही निकाला जा सकता है। दर्शन का कार्य न तो जगत् की व्याख्या करना है (विज्ञानवाद, वस्तुवाद, भौतिकवाद) और न उसमें परिवर्तन लाना है (मार्क्सवाद)। इसका उद्देश्य मनुष्य को जगत् में साझीदार बना कर उसकी अनुभूति

---

open possibility, both are at any time other than and more than anything that can be said of them, Ibid., p. 152.

1. Reductionism.
2. Structural discontinuity.

कराना है। इसीलिए अस्तित्ववादी दर्शन का मुख्य प्रयोजन 'मनुष्य के अस्तित्व की मूल संरचना का विश्लेषण करना तथा उसके मूलतः स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध कराना है।'[1] अस्तित्व की संभावनाओं को वैचारिक चिन्तन द्वारा परिसमाप्त नहीं किया जा सकता। अस्तित्व विचार से परे है, व्यक्तिगत अभियान का विषय है तथा इस अभियान में व्यक्ति अपनी मूल स्वतन्त्रता का बोध करता है। अस्तित्वगत समस्यायें विचार की समस्यायें नहीं, वरन् क्रिया की विषय हैं। क्रिया द्वारा ही मनुष्य इन समस्याओं का सामना करता है, उनको रूपांतरित करता है। अपनी क्रियाओं द्वारा व्यक्ति एक संश्लेषण, मूर्त सामान्य, एक अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है किन्तु वह अन्तिम लक्ष्य उसकी क्रियाओं का परिणाम है, वह पूर्व विद्यमान नहीं है। वह भविष्य का नियामक नहीं हो सकता। वह मानवीय प्रयासों की अन्तिम उपलब्धि नहीं हो सकता। उसका क्षेत्र हमेशा एक खुली संभावना है, एक क्षितिज के बाद दूसरा क्षितिज विद्यमान होता है। मनुष्य अपने प्रयासों द्वारा निरन्तर नये मूल्यों एवं लक्ष्यों की खोज करता रहता है। कोई ऐसी स्थिति नहीं है जहाँ पहुँच कर समस्त संभावनाओं की इति हो जाय। सार्त्र के इस कथन का कि 'मनुष्य मनुष्य का भविष्य है; यही तात्पर्य है। मनुष्य का कार्य ही उसका स्वरूप है।

अपने कार्यों द्वारा मनुष्य अपने स्वरूप का, अपने सार का निर्धारण करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हर मनुष्य का सार उसका सर्वथा निजी होता है—इतना निजी कि दूसरों के साथ उसका कोई सम्पर्क अथवा संलाप ही न हो सके। अस्तित्ववादी दर्शन को प्रायः व्यष्टितावादी दर्शन के रूप में ग्रहण किया जाता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका सामान्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिए भी दर्शन का लक्ष्य मानवीय अनुभूतियों की 'संप्रत्ययात्मक एकता' स्थापिता' करना है। कामू अपनी समस्त अतर्कबुद्धिपरता के बावजूद अपने असंगत तर्कों के लिए 'तर्कबुद्धि' का सहारा लेते हैं।

---

1. Existentialism is "a type of philosophy which endeavours to analyze the basic structures of human existence and to call individuals to an awareness of its essential freedom. Ferando Molins : *Existentialism as Philosophy*, Prentice-Hall, Inc., Englewood Cliffs, N. J., U. S. A. 1962, p. 2.

पोन्ती हेगेल की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं ।[1] सार्त्र भी अपनी अतर्कबुद्धिपरता तथा व्यष्टिवादिता के बावजूद 'मनुष्य की एक सामान्यता' को स्वीकार करते हैं ।[2] अपने कार्यों द्वारा मनुष्य अपने सार को निर्धारित तो करता ही है, साथ ही दूसरों का सार भी निर्धारित करता है। अपने व्यवहारों द्वारा व्यक्ति अपनी जो 'प्रतिमा' बनाता है, वह उसकी सर्वथा निजी प्रतिमा नहीं होती; वह सभी मनुष्यों की प्रतिमा होती है। यह मनुष्य का महान अस्तित्वपरक उत्तरदायित्व है, इससे वह बच नहीं सकता ।[3] किन्तु मनुष्य अपनी जो प्रतिमा बनाता है, उसका प्रत्याख्यान करने में भी समर्थ होता है। मनुष्य की यह विशिष्ट निषेधात्मक क्षमता है : वह जो कुछ है, उसने अपने को जो कुछ बनाया है, उससे अलग हो सकता है। अपने द्वारा अपने लिए निर्धारित सार का वह परित्याग कर सकता है। मनुष्य की यह निषेधात्मक क्षमता उसके स्वरूप की आन्तरिक संरचना में निहित है, यह कोई तत्त्वमीमांसीय निरपेक्ष नहीं है। इसी नाते मनुष्य निरन्तर एक प्रश्न बना रहता है। इसीलिए सार्त्र ने मनुष्य को 'अवस्तु' अथवा कुछ नहीं (नथिंग) को संज्ञा दी है। संस्था, समाज तथा वस्तुओं के मध्य रहते हुए भी मनुष्य उनसे अपने को अलग रखता है। इस अलगाव की क्रिया द्वारा वह अपने कार्यों, अपनी उपलब्धियों तथा अपने समक्ष विद्यमान समस्त वस्तुओं के प्रति प्रश्न करता है। इसी अलगाव तथा प्रश्न करने की प्रक्रिया में व्यक्ति को अपनी निजता एवं स्वतंत्रता का बोध होता है। अस्तित्ववाद मुख्यतः व्यक्ति की निजता तथा स्वतंत्रता का दर्शन है। यह ज्ञान का नहीं क्रिया का दर्शन है। यह जीवन को सैद्धान्तिक कोटियों में बाँधने का नहीं अपितु उसे 'जीने' का दर्शन है।

भ्रांतियाँ, आपत्तियाँ तथा उनका निराकरण :

अस्तित्ववादी दर्शन जितना लोकप्रिय है, उसके सम्बन्ध में उतनी ही भ्रांतियाँ हैं। 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' के प्रकाशन के दो वर्षों बाद सार्त्र को आलोचनाओं की आँधी का सामना पड़ा। कैथोलिक चर्च के दक्षिणपंथी तथा

---

1. See, *From Rationalism to Existentialism*, p. 249.
2. ....We may say that there is a universality of man; but it is not given, it is perpetually being made. I build the universal in choosing myself........
   —*Existentialism and Human Emotions*, p. 39.
3. Ibid., p. 17-18.

साम्यवाद के बामपंथी, दोनों ही खेमों से उसकी आलोचनाएँ की गयीं। सार्त्र की पुस्तक कों 'जहर' कह कर लोगों को उनसे सावधान रहने की चेतावनी दी गयी। उसे अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रत्यक्ष-वाद से अधिक खतरनाक घोषित किया तथा हाई स्कूल की लड़कियों को अस्तित्ववाद के निकट जाने से मना किया गया मानों वह शताब्दी का सबसे बड़ा पाप हो।

इसे 'निराशा', 'कुण्ठा', 'विपर्यास', 'निष्क्रियता', 'अभिशाप', 'मनस्ताप', 'एकाकीपन', 'ऊब' तथा 'बेहूदापन' आदि जैसे मानवीय जीवन के विद्रूप एवं अँधेरे पहलू को उजागर करने वाला दर्शन कहा गया। इसे जीवन के दुःखद तथा त्रासद रूप में प्रस्तुत करने वाला दर्शन माना गया। यह भी कहा गया कि यह दर्शन मानवीय गरिमा के लिए हानिकारक है। साम्यवादियों ने इसे 'परिकल्पनात्मक' दर्शन माना क्योंकि यह देकार्त के आत्मा को दार्शनिकता का प्रारम्भ बिन्दु मानता है। चर्च ने इस पर अव्यवस्था तथा नियम हीनता के समर्थन का आरोप लगाया। इस प्रकार की अनेक आधारहीन आलोचनाओं से ही क्षुब्ध होकर सार्त्र ने सम्भवतः यह कहा कि अब इस शब्द का 'कुछ भी और कुछ भी नहीं' अर्थ रह गया है। और मुख्य रूप से ऐसी ही भ्रांतियों के निराकरण तथा आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए उसने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा।

उपर्युक्त अधिकांश आलोचनायें अस्तित्ववादी साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई हैं। हाइडेगर मानव-अस्तित्व के एकाकीपन पर बल देते हैं तो सार्त्र उसके परिताप एवं अभिशप्त रूप पर। इन शब्दों का स्पष्टीकरण करते हुए सार्त्र कहते हैं कि आलोचक इन शब्दों के वास्तविक अभिप्राय से अनजान होने के कारण ही इस दर्शन की आलोचना करते हैं। मनुष्य को परिताप अथवा एकाकी कहने का अभिप्राय उसके महत्त्व या गरिमा को कम करना नहीं अपितु उसे बल देना है। 'मनुष्य परिताप है'— इस कथन का अर्थ यह है कि मनुष्य संपूर्ण मानवता में सक्रिय रूप से साझीदार है तथा इसी नाते उसमें गम्भीर उत्तरदायित्व की भावना है। मनुष्य अपने लिए जो चुनाव अथवा निश्चय करता है वह महान उत्तरदायित्व का कार्य है और इस उत्तरदायित्व को महसूस करने वाला व्यक्ति परिताप की भावना से बच नहीं सकता।[1] यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि वह जो कुछ कर रहा है, वह

---

1. ....Man is anguish. What it means is this : the man who involves himself and who realizes that he is not only the

उसका नितान्त अपना है, केवल उसी को वैसा करने का अधिकार है, तो सार्त्र कांट के ढंग से यह प्रश्न उठाते हैं : 'यदि सभी लोग वैसे ही सोचें तो क्या होगा ?' यह प्रश्न सामान्य मनुष्य के लिए निश्चय ही क्षोभ उत्पन्न करने वाला है। जो व्यक्ति इस प्रकार संक्षोभ से इंकार करता है, वह दोहरे व्यक्तित्व वाला है, वह वस्तुतः अपने संक्षोभ को छिपा रहा है। अपने निर्णय एवं व्यवहार की स्थिति में हर व्यक्ति इस विचार से ग्रस्त होता है कि जैसे समस्त मानवता की निगाहें उसी के ऊपर केन्द्रित हों और अपने अस्तित्व की निजता में सीमित रहना उसके लिए सम्भव नहीं। यही मनुष्य का परिताप है। यह परिताप उत्तरदायित्व की भावना से उत्पन्न है, अतएव यह मनुष्य को निष्क्रियता की ओर नहीं ले जाता क्योंकि यही मनुष्य की कर्मठता की शर्त है। यह क्रिया के लिए व्यवधान नहीं अपितु क्रिया का ही अंग है।

परिताप का सत्य मनुष्य के एकाकीपन से जुड़ा हुआ है। ईश्वर के अस्तित्व को नकारने के महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं, तथा उनके लिए नकारने वाला व्यक्ति ही उत्तरदायी होता है। ईश्वर विहीन संसार में मनुष्य नितान्त अकेला है, क्योंकि ईश्वर के निषेध से मानवीय कर्मों एवं मूल्यों के स्वर्गीय अथवा अलौकिक आधार की सम्भावना समाप्त हो जाती है। मनुष्य का कोई पूर्व-निर्धारित स्वरूप नहीं रह जाता, मूल्यों का कोई शाश्वत एवं पूर्ववर्ती स्रोत नहीं रह जाता। ऐसी दशा में मनुष्य अपने कार्यों के लिए कोई 'बहाना' नहीं ढूँढ़ सकता। वह जो कुछ करता है, उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्य इसी अर्थ में 'स्वतन्त्र' होने के लिए अभिशप्त है'। चुनाव और निर्णय करने की स्थिति में वह नितान्त अकेला है क्योंकि वह न तो ईश्वर का सहारा ले सकता है, और न किसी सार्वभौम विधान का।[1] सार्वभौम सिद्धान्त अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं, अस्तित्वपरक परिस्थितियों में व्यक्ति को स्वयं अपना मार्ग चुनना पड़ता है, वह किसी से निर्देश अथवा सहायता की अपेक्षा नहीं कर सकता।

---

person he chooses to be. but also a law-maker who is. at the same time choosing all mankind as well as himself, he cannot help escape the feeling of his total and deep responsibility........There is no escaping : this disturbing though except by a kind of double-dealing man.

—*Existentialism and Human Emotions* pp. 18-19.

1. विस्तार के लिए देखिये--वही, 21-30।

अस्तित्ववाद निष्क्रियता का दर्शन नहीं है। यह तो परिभाषया 'कर्म' का दर्शन है। "कर्मों से अतिरिक्त और कोई वास्तविकता ही नहीं होती।" 'मनुष्य अपनी योजनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपने कार्यों के समुच्चय तथा जीवन से पृथक् वह और कुछ नहीं है।' अस्तित्ववाद का विरोध वही लोग करते हैं जो अपनी असफलताओं के लिए कोई न कोई बहाना ढूँढ़ने के आदी हैं। वे अपनी हर असफलता की व्याख्या 'मैं क्या करूँ? परिस्थितियाँ मेरे प्रतिकूल थीं' जैसी प्रतिक्रियाओं द्वारा करते हैं। वस्तुतः अस्तित्ववाद अतिशय आशावाद का दर्शन है। मनुष्य स्वतन्त्र है, अपने मार्ग का निर्धारक है, मूल्यों का स्रष्टा है। मनुष्य स्वयं अपना निर्माण करता है। उसकी नियति उसी के नियन्त्रण में है।

सार्त्र : व्यक्तित्व एवं रचनाएँ :

सार्त्र अस्तित्ववादी विचारधारा का, विशेषतः फ्रांस की, सर्वाधिक प्रभावशाली तथा महत्त्वपूर्ण दार्शनिक है। वह फ्रांसीसी परम्परा का एक प्रखर बुद्धिवादी है। वह दार्शनिक है, मनोवैज्ञानिक है, नाटककार तथा उपन्यासकार है। इन सभी विषयों पर उसका समान अधिकार है। उसने जो कुछ लिखा है, उसमें अर्थ एवं उद्देश्य की एकता है तथा 'दर्शन' उस एकता का सूत्र है। दर्शनेतर क्षेत्रों में सार्त्र की प्रसिद्धि उसकी साहित्यिक कृतियों के कारण है। साहित्य के लिए ही उसे वर्ष 1964 में नोबेल पुरस्कार मिला (यद्यपि उसने उसे अस्वीकार कर दिया)। सार्त्र के व्यक्तित्व की उल्लेखनीय विशेषता नैतिक तथा राजनैतिक विश्वासों के प्रति गहरी प्रतिबद्धता, कर्म के प्रति निष्ठा तथा आचरण की ईमानदारी है। अस्तित्ववादी मान्यताओं को चरितार्थ करते हुए सार्त्र विश्वास एवं व्यवहार में कोई भेद नहीं रखते। सार्त्र की बौद्धिकता मूलतः फ्रांस की चिंतन परम्परा—जो कि देकार्त द्वारा प्रतिपादित है—का परिणाम है, किन्तु उसका प्रभाव आज अन्तर्राष्ट्रीय है। सार्त्र तथा उसके सहयोगी—अनुयायियों, कामू, सिमोन आदि का साहित्य आज विश्व के समस्त बुद्धिजीवियों के बीच चर्चा का विषय है।

सार्त्र का जन्म वर्ष 1905 में पेरिस में हुआ। पेरिस में ही उनकी शिक्षा हुई तथा बाद में उन्होंने ली हावरे तथा लाओन के स्कूलों में पढ़ाया। 1934 का वर्ष उन्होंने बर्लिन के फ्रेंच इन्स्टीच्यूट में बिताया जहाँ जर्मन दर्शन से उनका परिचय हुआ तथा वहीं पर उनकी हाइडेगर से मुलाकात हुई। जर्मनी से लौटकर उन्होंने पेरिस में 'लाइसी' में अध्यापन का कार्य किया। महायुद्ध काल में सार्त्र ने 'रेजिस्टेन्ट मूवमेन्ट' में सक्रिय योगदान दिया। बाद में उन्होंने

अध्यापकी छोड़ कर अपना सारा ध्यान लिखने पर केन्द्रित किया। वर्ष 1964 से वे लिखने के अलावा 'ला टेम्स माडर्न' पत्रिका का सम्पादन में किया। सार्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :

दि ट्रांसेन्डेंस आफ दि इगो (1957), इमैजिनेशन (1962), दि इमोशंस : आउटलाइन आफ ए थियरी (1948), बींइंग एण्ड नथिंगनेस (1945-46) एक्जिस्टेन्शियलिज्म ऐज ए ह्यूमैनिज्म (1947), साइकालोजी आफ इमैजिनेशन (1948), लिट्रेरी एण्ड फिलासाफिकल एस्सेज (1962), सेंट जीनेट : ऐक्टर एण्ड मारटियर (1963), सर्च फार ए मेथड (1963)। 'नाशिया' (1949), दि वाल (1956), दि एज आफ रीजन (1955), दि रिप्रीव (1947), आइरन इन दि सोल (1947), नो एग्जिट, दि फ्लाइज, डर्टी हैंड्स (ये तीनों नाटक नो एग्जिट एण्ड थ्री अदर प्लेज में प्रकाशित 1947) दि वर्ड्स, ऐन आटोबायोग्राफी (1964)।

सत्ता की फेनॉमनॉलॉजिकीय खोज :

हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि सार्त्र अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजीवादी हैं। उनके दर्शन की समस्यायें वही हैं जो हुसर्ल तथा हाइडेगर के दर्शन की थीं। हुसर्ल के दर्शन का सबसे आकर्षक पक्ष प्राकृतिक दृष्टिकोण का प्रत्याख्यान तथा पारम्परिक तत्त्वमीमांसा का खण्डन था। सार्त्र ने यह स्वीकार किया कि हुसर्ल का 'वस्तुओं की ओर वापस लौटो' का नारा दर्शन को वास्तविक जगत् के सम्पर्क में लाने का गम्भीर प्रयास था। किंतु, सार्त्र तथा हाइडेगर के अनुसार, दुर्भाग्यवश हुसर्ल अपने दर्शन के वास्तविक प्रयोजन के प्रति सचेष्ट न रह सका, परिणामस्वरूप उसका अन्त अनुभवातीत प्रत्ययवाद (ट्रांसेन्डेन्टल आइडियालिज्म) में हुआ। हुसर्ल के दर्शन के दो प्रमुख सिद्धांतों—फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन तथा अनुभवातीत आत्मा—को लेकर हाइडेगर ने उससे प्रायः सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। हुसर्ल-हाइडेगर के इस विवाद में सार्त्र स्पष्टतः हाइडेगर का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि फेनॉमेनॉलॉजिकीय स्थगन या इपाकी का सिद्धांत जिस विषयी और विषय, गोचरवस्तु तथा अगोचर वस्तु के भेद पर आधारित है वह सर्वथा निराधार है तथा दर्शन के लिए घातक है। हुसर्ल ने जगत् का स्थगन इस आशा से किया कि वह जगत् को चेतना की संरचना के रूप में पुनः प्रतिष्ठित कर सकेगा। किंतु, सार्त्र के अनुसार, यह वस्तुतः जगत् की अवहेलना है। और जगत् की अवहेलना करना एक असम्भव बात है। जगत् देकार्तीय सन्देह अथवा फेनॉमेनॉलॉजिकीय इपाकी का विषय नहीं है। स्थगन की प्रक्रिया जगत् के मिथ्याकरण की प्रक्रिया है, फेनॉमेनॉलॉजिकीय सिद्धांतों के

प्रतिकूल है तथा हुसर्ल का इस सिद्धांत के प्रति विश्वास उसके अपने ही दर्शन के प्रति अनास्था का सूचक है ।[1] हुसर्ल ने विषयी और विषय (नोएसिस तथा नोएमा) के ध्रुवों को स्वीकार करते हुए विषयी को आधारभूत वास्तविकता के रूप में स्थापित किया । जगत् विषयी की रचना है । हुसर्ल का उद्देश्य 'वास्तविक वस्तु का अध्ययन न होकर वस्तुओं के आभासी रूप का अध्ययन था । सार्त्र विषयी और विषय अथवा वस्तुओं तथा उनके आभास का कोई भेद नहीं स्वीकार करते । उनके अनुसार आभास ही वस्तुएँ हैं । आभासों के पीछे कोई वास्तविक वस्तु नहीं होती । आभास वस्तु का आवरण नहीं है, वह वस्तु का प्रकाशन है, वही वस्तु है । वस्तु और वस्तु के अनुभव में कोई भेद नहीं होता । वस्तुओं का सार उनके अस्तित्व का कोई रहस्यमय पहलू नहीं है । वास्तविक पुस्तक और देखी जानेवाली पुस्तक में कोई अन्तर नहीं है । वस्तुओं का विभिन्न अवस्थाओं में आभासित रूप ही वास्तविक वस्तु है । वास्तविक तथा आभास का पारंपरिक भेद वास्तविकता को विकृत रूप में रखने का प्रयास है । हुसर्ल की फेनॉमेनॉलॉजी मूलतः ज्ञानमीमांसीय है तथा उसका केन्द्रबिंदु आत्मा या विषयी है । विषयी जगत् से स्वतंत्र है, जगत् उसकी संरचना है । हुसर्ल के इस आत्मा की प्राथमिकता के सिद्धांत के विरुद्ध हाइडेगर ने 'जगत् में स्थित सत्ता' (बीइंग इन-दि-वर्ल्ड) का सिद्धांत प्रस्तुत करके विषयी और विषय के परस्पराश्रितता पर बल दिया । मार्लियो-पोन्ती भी, हाइडेगर के इस सिद्धांत से अपनी सहमति व्यक्त करते हैं ।[2] सार्त्र हुसर्ल, हाइडेगर और पोन्ती से भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार विषयी विषय के ऊपर आश्रित होता है ।[3]

---

1. It is futile by a sleight of hand to attempt to found the reality of the object on the subjective plenitude of impressions and its objectivity on non-being............We are told, Husserl defines consciousness precisely as a transcendence, In truth he does....This is his essential discovery but from the moment that he makes of the noesis, a noema whose esse is percipi, he is totally unfaithful to his principle.

   Being and Nothingness, p. LXXIII and LXIII.
2. *From Rationalism to Existentialism*, pp. 249-250.
3. Consciousness is consciousness of something. This means that transcendence is the constitutive structure of consci-

सार्त्र की अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉलॉजी का लक्ष्य चेतना का उस रूप में अध्ययन करना है जिसमें कि वह वस्तु-जगत् में लीन एवं क्रियाशील होती है; जबकि हुसर्ल का उद्देश्य चेतना को वस्तुगत् लीनता से निकाल कर उसके रचनाशील रूप का अध्ययन करना था। चेतना को रचनाशील रूप में ग्रहण करने के नाते हुसर्ल ने वस्तु और उसकी प्रतीति, वास्तविक तथा वास्तविक की अनुभूति में भेद किया। इसके विपरीत, सार्त्र इस प्रकार के किसी भेद अथवा द्वैत को स्वीकृति नहीं प्रदान करते। उनके अनुसार 'फेनॉमेनॉ (गोचरवस्तु) सापेक्ष तो होती है क्योंकि गोचर (अभासित होना, प्रतीत होना) होने का अर्थ है किसी के लिए गोचर होना। किंतु इस गोचर में कांट के गोचर की दोहरी सापेक्षता नहीं है। वस्तु की प्रतीति वस्तु से ऊपर किसी सच्ची वास्तविकता, जो कि निरपेक्ष हो, का संकेत नहीं करती। यह जो है वही है, यह निरपेक्ष रूप से है। गोचर अपने को ही इंगित करता है इसलिए उसका उसी रूप में अध्ययन एवं वर्णन किया जा सकता है।[1]

हुसर्ल के स्थगन-सिद्धान्त का सबसे प्रभावशाली खण्डन सार्त्र ने अपने उपन्यास 'नाशिया' में किया है। उपन्यास का नायक राक्वेन्टिन अस्तित्व की वास्तविकता का अपने चारों ओर अनुभव करता है, वह अपने को वस्तुओं के अस्तित्व से घिरा पाता है जो बिना किसी अपेक्षा के, उसकी भावनाओं तथा विचारों से सर्वथा उदासीन, मात्र विद्यमान होती हैं। एक लम्बा किंतु महत्त्वपूर्ण उद्धरण सार्त्र के मंतव्य को स्पष्ट करता है :

"अभी-अभी मैं म्युनिसपैलिटी के पार्क में था। चैस्टनट पेड़ की जड़ें मेरे बेंच के नीचे की धरती तक फैली हुई थीं। मुझे यह याद भी नहीं था कि ये जड़ें हैं। शब्द चुक गये हैं और उनके साथ वस्तुओं का अर्थ, उनकी प्रयोग-विधि तथा लोगों द्वारा उनकी सतह पर खींची गयी क्षीण रेखायें भी। मैं उस काली गाँठ के समूह के सामने बैठा हुआ था, कुछ झुका हुआ, सिर नीचे किये हुए। वह चीज एकदम स्थूल थी तथा मुझे भयभीत कर रही थी और तब मुझे यह आभास हुआ।

---

ousness; that is, that consciousness is born supported by a being which it is not.

—Being and Nothingness, p. LXXIII.

1. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हुसर्ल भी कांट के आभास तथा वास्तविक के भेद की आलोचना करता है किंतु सार्त्र का विचार है कि स्वयं हुसर्ल के दर्शन में वही भेद प्रविष्ट हो जाता है।

मेरी साँस रुक गयी। इन अन्तिम दिनों से कुछ पहले मुझे कभी यह सन्देह ही नहीं हुआ था कि होने' (एग्जिस्ट) का क्या अर्थ होता है। मैं अन्य लोगों की भाँति था''''''''उन्हीं की तरह कहता था : 'समुद्र हरा है, वह सफेद रंग की चीज समुद्री पक्षी है, किंतु मैंने यह अनुभव नहीं किया था कि वह है (अर्थात् अस्तित्व है), कि समुद्री पक्षी एक 'अस्तित्ववान् पक्षी है।' अस्तित्व अपने को छिपाता है। किंतु वह हमारे चारों ओर है, वह हममें है, वह ही है, आप उसके बारे में कहे बिना एक शब्द नहीं बोल सकते, किंतु अन्त में आप उसका स्पर्श नहीं कर सकते। जब मेरा विश्वास था कि मैं उसके बारे में सोच रहा था तो सम्भवतः मैं कुछ नहीं सोच रहा था''''मेरा दिमाग खाली था, अथवा उसमें केवल एक शब्द था 'होना' (अस्तित्वमय होना)''''जब मैं वस्तुओं के सम्बन्ध में सोचता भी था तो मैं उनसे मीलों दूर था। ''''यदि कोई मुझसे पूछता कि 'अस्तित्व' क्या है तो मेरा उत्तर होता कि वह कुछ नहीं (नथिंग) है, वह एक रिक्त आकार है जो बाह्य पदार्थों पर बिना उनके स्वरूप को बदले हुए प्रयुक्त होता है और तब तक अकस्मात् वह (अस्तित्व) मेरे सम्मुख आ गया—दिन के प्रकाश की भाँति स्पष्ट। अस्तित्व ने एकाएक अपना पर्दा हटा दिया। अमूर्त कोटि के रूप में इसका निर्दोष आभासी रूप विलुप्त हो गया : यही वस्तुओ का द्रव्य है, जड़ें अस्तित्व से नहायी हुई हैं।''[1]

स्थगन की असंभाव्यता तथा वस्तु जगत की अनिवार्य प्राथमिकता के प्रति उसी उपन्यास में सार्त्र अन्यत्र कहते हैं : अस्तित्व दूर से विचार करने की वस्तु नहीं है, वह अकस्मात् आपके ऊपर आक्रमण करता है, आप पर कूद पड़ता है, एक विशालकाय निश्चल पशु की भाँति वह आपके मन पर बोझ डालता है—अन्यथा (उसके अतिरिक्त) और कुछ शेष नहीं रहता।''[2]

यद्यपि सार्त्र यह कहते हैं कि "फेनॉमिनन की सत्ता", "सत्ता की फेनॉमिनन" नहीं है। "फेनॉमिनन सत्ता के प्रति अपील है, उसे एक सत्ता की अपेक्षा है जो ट्रांसफेनॉमिनैलिटी (परागोचरता) है। सत्ता की फेनॉमिनन (गोचरता) सत्ता की ट्रांसफेनॉमिनैलिटी (परागोचरता) पर आधारित है।''[3] किन्तु गोचर और परागोचर, सत्ता की फेनॉमिनन तथा फेनॉमिनन की सत्ता का यह

---

1. नशिया, पेंग्विन बुक्स, 1965, अनु० राबर्ट बल्डिक, पृ० 182-183। कोष्ठों का प्रयोग मैंने किया है।
2. वही, पृ० 189.
3. बीइंग एण्ड नथिग्नेस, पृ०

भेद किसी द्वैत का सूचक नहीं है। गोचर के पीछे कोई गूढ़ अगोचर नहीं होता और न ही गोचर किसी अगोचर का आभास है। उपरोक्त भेद का तात्पर्य मात्र इतना है कि गोचर की सत्ता गोचर से पूर्णतः एकाकार होते हुए भी गोचर की शर्तों के आधीन नहीं है। गोचर की शर्तें उसकी अभिव्यक्ति की शर्तें हैं। अन्य शब्दों में, गोचर ज्ञान की शर्तों के आधीन है, वह ज्ञाता, विषयी या चेतना पर आश्रित है। गोचर सत्ता विषयापेक्षी सत्ता है, वह चेतना की क्रियाओं की संरचना है। हुसर्ल के स्थगन का सिद्धान्त गोचर की सत्ता की इसी रूप में व्याख्या करता है। सार्त्र स्पष्टतया एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे हैं। गोचर की सत्ता गोचर के ज्ञान की अतिवर्ती है, उसके ज्ञान का आधार है।[1] सार्त्र के इस सिद्धान्त का स्वर स्पष्टतः अस्तित्ववादी है। वास्तविकता का न्यूनीकरण बौद्धिक सिद्धान्तों में नहीं किया जा सकता; अस्तित्व का सार के रूप में नहीं विश्लेषण किया जा सकता। अस्तित्व का कोई कारण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, उसे संप्रत्ययात्मक कोटियों में परिभाषित नहीं किया जा सकता है। उसकी व्याख्या आभासों के रूप में नहीं की जा सकती, उसे चेतना की प्रत्ययात्मक संरचना नहीं कहा जा सकता। सत्ता समस्त संरचना और सिद्धान्त की पर्ववर्ती है, वही संरचना और सिद्धान्त का आधार

---

1. ....the being of the phenomenon can not be reduced to the phenomenon of being. In a word, the Phenomenon of being is "ontological"....It is an appeal to being; it requires as phenomenon, a foundation which is transphenomenal. The phenomenon of being requires the transphenomenality of being. That does not mean that being is found hidden behind phenomena,....nor that the phenomenon is an appearance which refers to a distinct being.... what is implied........is that the being of the phenomenon although co-extensive with the phenomenon, cannot be subject to the phenomenal condition— which is to exist only in so far as it reveals inself—and that consequently it surpasses the knowledge which we have of it and provides the basis for such knowledge.

Ibid., p.

है। 'सत्ता है, सत्ता अपने आप में है, सत्ता जो है, वही है।''[1] सत्ता अपने से इतर किसी अन्य का संकेत नहीं करती जबकि चेतना निरन्तर अपने से इतर का संकेत करती हुई स्थित होती है। सत्ता का कोई 'इतर' या 'अन्य' नहीं होता। वह पूर्ण 'भावात्मकता' है, वह 'घनत्व' है। वह अपने से 'अन्य' हो ही नही सकती। वह काल और परिवर्तन का विषय नहीं है। सत्ता अनुत्पन्न है, उसके 'होने का कोई कारण नहीं हैं। वह मात्र है। सत्ता का यही वास्तविक, स्थूल और नग्न रूप राक्वेन्टिन के मन में 'नाशिया' उत्पन्न करता है।[2] वस्तुओं के मध्य घिरा हुआ राक्वेन्टिन उनसे छुटकारा पाना चाहता है, किन्तु सत्ता सर्वत्र उसका पीछा करती हैं। वह उनका कारण ढूँढ़ना चाहता है, किन्तु उनके 'होने' का कोई कारण नहीं दिखायी देता। इससे उसे 'चिढ़' और 'ऊब' होती है, किन्तु इस स्थिति से उबरने का उसके पास कोई उपाय नहीं है। सत्ता का 'उबानेवाला' रूप सार्त्र के निराशावाद अथवा सन्देहवाद का सूचक

---

1. Being is. Being is in-itself.
—Being is what it is. Ibid., p.
2. I was not surprised. I know perfectly well that it was the world, the world in all its nakedness which was suddently revealing itself, and I was choked with fury at that huge absurd being. You could not wonder where it came from.... It did not make sense, the world was present everywhere, in front, behind. There had been nothing before it. Nothing. There had been no moment at which it might not have existed. It was that which irritated me : naturally there was no reason for it to exist, that flowing larva. But it *was not possible for it not to exist*. That was unthinkable : in order to imagine nothing, you have to be already there right in the world.......I shouted : 'What filth' : and I shook myself to get rid of that sticky dirt, but it held fast and there was so much of it, tons and tons of existence, indefinitely : I was suffocating at the bottom of that huge boredome.

—*Nausea*, pp. 192-193.

नहीं है (प्रायः नाशिया को इसी अर्थ में लेकर अस्तित्ववाद का अनर्थ किया गया है)। सार्त्र का 'नाशिया' हुसर्ल के स्थगन सिद्धान्त पर कटु प्रहार है। 'नाशिया' सत्ता की अपरिहार्यता तथा प्राथमिकता का द्योतक है। नाशिया शारीरिक बीमारी नहीं है; यह मनुष्य की तत्त्वमीमांसीय बेचैनी है। उपन्यास के नायक की सारी छटपटाहट शायद इसी नाते है कि वह अस्तित्व या सत्ता की कोई प्रत्ययात्मक व्याख्या नहीं कर पाता और न ही उससे छुटकारा पा सकता है।

सार्त्र का कहना है : 'सत्ता' या 'अस्तित्व' की दर्शन में अवहेलना हुई है। विज्ञानवाद तथा वस्तुवाद के वादों के भीतर सत्ता के सम्मान की रक्षा नहीं हो सकी है। हुसर्ल का दर्शन इस दिशा में एक उचित प्रारम्भ था, किन्तु वह भी दूर तक न जा सका। 'अन्तिम सत्य' की तलाश में हुसर्ल ने सारतत्त्व तथा तथ्य का कल्पित भेद किया। किन्तु सार्त्र हाइडेगर तथा पोन्ती द्वारा समर्थित, सार-तत्त्वों की खोज न करके मानवीय वास्तविकता का अध्ययन चाहते हैं।[1] इसके लिए वे सत्ता की एक अलग कोटि—'अपने लिए सत्ता (बीइंग फार इटसेल्फ) की स्थापना करते हैं : उनका प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ मानवीय चेतना तथा उसके वस्तुजगत् से सम्बन्ध का अस्तित्वपरक अध्ययन है। यह बात उल्लेखनीय है कि सार्त्र तथा पोंती अधिकांश बातों पर हाइडेगर से सहमत होते हुए भी हुसर्ल के प्रति वरीयता दिखाते हैं क्योंकि वे मानव चेतना को ही अस्तित्वपरक फेनॉमेनॉ-लॉजी का प्रमुख विषय मानते हैं।[2] किन्तु मानव चेतना प्रथम क्रियाशील चेतना है, न कि ज्ञाता-रूप चेतना। अतएव फेनॉमेनॉलॉजी का प्रमुख विषय मानवीय व्यवहार है, न कि ज्ञान। ज्ञान मानव व्यवहार का ही एक प्रकार है।[3] मानवीय अस्तित्व के इस क्रियाशील पक्ष पर बल देने के कारण सार्त्र चेतना के दो स्तरों में भेद करते हुए उस तथाकथित अनुभवातीत आत्मा का खंडन करते हैं जिसे हुसर्ल ने स्वीकार किया था।

---

1. From *Rationalism to Existentialism*, p. 255.
2. Ibid., pp 255-356.
3. "Having", "doing", and "being" are the cordinal categories of human reality. Under them are subsumed all types of human conduct. knowing for example is a modality of having.

—*Being and Nothingness*, p. 407

चेतना का स्वरूप :

(क) अनुभवातीत आत्मा का निराकरण :

हुसर्ल का अनुसरण करते हुए सार्त्र चेतना के विषयापेक्षी स्वरूप को स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके अनुभवातीत आत्मा के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं। सार्त्र के अनुसार हुसर्ल चेतना के भीतर आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है। यह आत्मा नित्य तथा अपरिवर्तनीय है तथा चेतना की विषयापेक्षाओं का संचालक है। यह आत्मा एक है तथा चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में एकता स्थापित करता है। सार्त्र के अनुसार आत्मा शुद्ध रूप से विषयापेक्षी है, आत्मा का निवास चेतना में नहीं जगत् में होता है। अन्य व्यक्ति की आत्मा की भाँति आत्मा जगत् की सत्ता है। कांट का आत्मा एक तार्किक आकार है, हुसर्ल का आत्मा निरपेक्ष वास्तविकता है। इन दोनों का प्रमुख कार्य पदार्थों की रचना करना है, यही हमारे चैत्तिक तथा चैत्तिक-भौतिक आत्मा की रचना करता है। सार्त्र का कहना है कि यही चैत्तिक तथा चैत्तिक-भौतिक आत्मा ही पर्याप्त है, इससे आगे अनुभवातीत आत्मा को स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके अनुसार अनुभवातीत आत्मा को अस्वीकार कर देने के निम्नलिखित परिणाम होंगे :[1]

(1) अनुभवातीत लोक निर्वैयक्तिक हो जायगा, अथवा वह आत्मारहित तथा पूर्व-वैयक्तिक हो जायगा।

(2) आत्मा का आविर्भाव मानवीय वास्तविकता के स्तर पर होता है, वह मेरे चैत्तिक-भौतिक आत्मा का ही सक्रिय पक्ष है।

(3) कांट का 'मैं सोचता हूँ' सभी ज्ञेय विषयों का सहचारी हो सकता है क्योंकि वह ऐसे आधार से उत्पन्न है जिसकी वह स्वयं रचना नहीं करता, अपितु उसी के नाते सम्भव है।

सामान्यत: यह सोचा जाता है कि अनुभवातीत आत्मा ज्ञान की एकता का सिद्धान्त है। सार्त्र के अनुसार यह ठीक है; किन्तु हुसर्ल की भी फेनॉमेनॉलॉजि-कीय व्याख्या में आत्मा के संश्लेषण स्थापित करने वाले पहलू पर कोई बल नहीं दिया गया है। चेतना अपनी विषयापेक्षाओं द्वारा अपने को ही इंगित करते हुए एकता तथा संश्लेषण की क्रिया सम्पन्न करती है। चेतना निरन्तर अपने प्रति संकेत करती है। 'चेतना' से तात्पर्य 'चेतना की समष्टि' से है। स्वयं हुसर्ल

---

1. ट्रांसेन्डेन्स आफ दि, इगो, पृ० 36.

कार्टीजियन मेडिटेसन्स में एकता स्थापित करने वाली चेतना के इसी रूप का प्रतिपादन करते हैं।[1]

पुनः यह कहा जा सकता है कि चेतना को 'व्यष्टिता तथा एकता' की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अनुभवातीत आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित है। मेरी चेतना मेरी चेतना है, मोहन और श्याम की चेतना उनकी चेतना है। इन चेतनाओं का भेद कैसे किया जायगा ? इनके भेद का आधार उन चेतनाओं की पृष्ठभूमि में निहित चेतना का स्थायी आश्रय या स्रोत हैं। इसी-स्थायी आत्मा के नाते ही चेतना में अन्तर्वर्तिता उत्पन्न होती है। सार्त्र यह मानते हैं कि फेनॉमेनॉलॉजी में ऐसे सूत्र की आवश्यकता है। किन्तु वे कहते हैं कि स्वयं हुसर्ल ने ही ऐसे सूत्र की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया।[2] वस्तुतः चेतना की 'व्यष्टिता' तथा 'एकता' चेतना के स्वरूप से ही उत्पन्न होती है। चेतना चेतना द्वारा ही परिसीमित हो सकती है। चेतना की फेनॉमेनॉलॉजिकीय धारणा आत्मा की एकता एवं संश्लेषण की भूमिका अनावश्यक सिद्ध कर देती है। इससे विपरीत आत्मा की एकता तथा व्यष्टिता ही चेतना के ऊपर निर्भर करती है। यह कहा जा सकता है कि हमारे मन की विभिन्न अवस्थाओं के प्रत्यक्ष, ज्ञान, प्रेम, घृणा, राग, विषाद आदि के पीछे उनको धारण करने वाला एक आत्मा है। किन्तु सार्त्र के अनुसार वस्तु स्थिति ठीक इसके विपरीत है। ये विभिन्न अवस्थायें चेतना द्वारा निर्धारित हैं तथा वे अवस्थायें आत्मा का निर्धारण करती हैं। आत्मा चेतना की अन्तर्वर्तिता है, चेतना का विषय है। इसका स्थान वस्तु-जगत् में है। किन्तु यह वस्तु-जगत् की घटना नहीं हैं। उदाहरण के लिए, किसी वस्तु को देखने पर मेरे मन में प्रत्येक बार आकर्षण उत्पन्न होता है। यह आकर्षण की प्रतिक्रिया एक चेतना है। अनुचिन्तनशील अथवा विमर्शी चेतना मेरे विभिन्न काल की आकर्षण का प्रतिक्रिया की संश्लेषण करती है : यह हमारे प्रेम की मन स्थिति होगी। मेरी आत्मा मेरी इसी प्रकार की विभिन्न मनःस्थितियों की प्रत्ययात्मक एकता हैं। किन्तु यह विषयी नहीं है, अपितु विषय है, 'यह एकता की संरचना करने वाली चेतना का प्रवाह है।' अन्य शब्दों में, आत्मा चेतना के आत्मानुचिन्तन का परिणाम है, पूर्वविद्यमान वास्तविकता नहीं। उदाहरण के लिए, जब मैं पुस्तक पढ़ रहा था तो उस समय मुझे पुस्तक की चेतना थी, उसके नायक की चेतना थी, किन्तु उस चेतना में

---

1. वही, पृ० 39.
2. वही, पृ० 38.

कोई मैं आत्मा नहीं था। चेतना की अननुचिन्तनात्मक अवस्था में कोई 'मैं' नहीं होता। यह अवस्था चेतना की वस्तुओं में विलीनता की अवस्था है, इसमें केवल वस्तुओं की चेतना होती है। इस अवस्था में चेतना का प्रवाह वस्तुओं की ओर होता है, उसमें 'मैं' या आत्मा का आविर्भाव नहीं हुआ होता है।[1] आत्मायुक्त चेतना द्वितीय स्तर की चेतना है।

स्थायी आत्मा न केवल अनावश्यक है, वह एक कठिनाई भी उत्पन्न करता है। वह चेतना को विभक्त कर देता है। आत्मा को स्वीकार करना चेतना में एक विदेशीय तत्त्व का प्रवेश करना है और वह चेतना के अस्तित्व के लिए घातक है।[2] चेतना का स्वरूप पूर्णतः निर्वैयक्तिक है वैयक्तिक आत्मा चेतना के निर्बाध प्रवाह के लिए एक बाधा है।

आत्मा के अनुभवातीत प्रत्यय का खंडन करके सार्त्र आत्मा को चेतना का आश्रय न मानकर वस्तु-जगत् की एक सत्ता मान लेते हैं। आत्मा ज्ञान का विषयी नहीं विषय है। चेतना ही 'सत्ता की 'जगत् के रूप में' रचना करती है तथा वही 'आत्मा की एकता' भी स्थापित करती है। आत्मा की एकता चेतना की विभिन्न क्रियाओं की एकता है। सार्त्र का यह सिद्धान्त विज्ञानवाद तथा वस्तुवाद दोनों से भिन्न है। आत्मा तथा जगत् दोनों चेतना के विषय हैं। चेतना न वस्तु-जगत् को उत्पन्न करती है और न वस्तुजगत् चेतना का कारण है। चेतना दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य करती है। इस प्रकार आत्मा तथा वस्तु में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं रह जाता। चेतना-सापेक्ष होने के नाते उन दोनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं उत्पन्न होती तथा मनुष्य का जगत् में सक्रिय रूप से साझीदार होना सम्भव हो पाता है।

आत्मा के निराकरण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम है जो कि सार्त्र के दर्शन के केन्द्रीय सिद्धान्त—मनुष्य की स्वतन्त्रता—से सम्बद्ध है।

---

1. I am then plunged into the world of objects; it is they which constitute the unity of my consciousnese....but me, I have disappeard; I have annihilated myself,–Ibid. p. 49.
2. But, in addition, this superfluous I would be a hindrance. If it existed it would tear consciousness from itself; it would divide consciousness, it would slide into every consciousness like an opaque blade. The transcendental I is the death of consciousness.—Ibid., p. 40.

चेतना सभी क्रियाओं के लिये स्वतः उत्तरदायी है। आत्मायुक्त चेतना अपनी क्रियाओं तथा अनुभवों के लिए आत्मा का अवलम्ब ले सकती है। किन्तु ऐसे किसी स्थायी तत्त्व के विहीन चेतना पूर्णतया स्वतन्त्र है। इसी अर्थ में सार्त्र ने मनुष्य को 'स्वतन्त्र होने के लिए' अभिशप्त कहा है। उसकी स्वतन्त्रता का कोई कारण या आधार नहीं है।

(ख) देकार्तीय आत्मा की प्राथमिकता का खंडन : चेतना का अनुचिंतनपूर्वी[1] स्वरूप :

अनुभवातीत आत्मा का निराकरण करके सार्त्र चेतना का एक नवीन रूप प्रस्तुत करते हैं, यह रूप है—चेतना का मूलतः अनुचिन्तनपूर्वी होना। सार्त्र के अनुसार देकार्त के 'मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' मैं सोचने वाली चेतना 'होनेवाली' चेतना नहीं। 'मैं हूँ' कहने वाली चेतना 'सोचने वाली' चेतना नहीं है। देकार्त का आत्मा, जिसे वह निश्चित एवं स्पष्ट सत्ता कहता है, सन्देह करने वाला आत्मा नहीं है। संदेह करने वाला आत्मा अनुचिन्तित (अनरिफलेक्टेड) आत्मा या चेतना है। आत्मा के रूप में उभरने वाली चेतना उसी अननुचिन्तित चेतना पर किये गये अनुचिन्तन का परिणाम है। चेतना की आत्मा के रूप में स्थापना करने के लिये एक तीसरे अनुचिन्तन की क्रिया की आवश्यकता होती है। चेतना का रूप, विषयापेक्षी है चेतना किसी विषय की चेतना होती है।

सन्देह करने वाली चेतना अनुचिन्तनात्मक नहीं होती, वह अनुचिंतनात्मक आत्म-चेतना न होकर विषय-चेतना होती है, सन्देहाधीन विषय की चेतना होती है।[2] आत्मा-चेतना सन्देह करने वाली चेतना पर किये अनुचिंतन का परिणाम है। किन्तु चेतना की यह आत्म-चेतना उसके अस्तित्व की आवश्यक शर्त नहीं है। आत्म-चेतन होने के लिये उसे किसी अनुचिन्तन की अपेक्षा

---

1. Pre-reflective. इसके लिये 'प्राक्विमर्शी' शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है।
2. Thus the consciousness which says I think is precisely not the consciousness which thinks....All reflecting consciousness is, indeed, in itself unreflected, and a new act of the third degree is necessary in order to posit it....a consciousness has no need at all of a reflecting consciousness in order to he consciousness of itself.—Ibid., p. 85.

नहीं होती । चेतना न केवल विषय की चेतना होती है। अपितु वह आत्म-चेतना भी होती है । यह चेतना का मूल रूप है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अपनी चेतना से युक्त यह चेतना अनुचिन्तन का परिणाम है । अनुचिंतन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली मूल चेतना नहीं है । यह अनुचिन्तित चेतना है, अर्थात् वह विषयापेक्षी चेतना नहीं बल्कि चेतना को विषय रूप में ग्रहण करने वाली चेतना है ।

चेतना स्वरूपतः चेतना की चेतना होती है, अर्थात् विषय को जाननेवाली चेतना यह भी जानती है कि वह विषय को जान रही है । क्योंकि यदि ऐसा न हो तो वह अपने ही बारे में अनभिज्ञ चेतना होगी । किन्तु आत्मानभिज्ञ चेतना वदतोव्याघात है । चेतना की चेतना का अर्थ ज्ञान का ज्ञान नहीं है । ज्ञान में द्वैत होता है, उसमें ज्ञाता और ज्ञेय का विभाजन होता है । मूल चेतना में कोई द्वैत नहीं होता । वह आत्मा-चेतना तो होती है, किन्तु अपने को अविमर्शात्मक[1] विधि से जानती है ।[2] अनुचिंतन की क्रिया अथवा अनुचितनात्मक चेतना अनुचिंतित आत्मा की पूर्वगामी नहीं होती, अर्थात् चेतना अपनी चेतना के लिए अनुचिन्तन की अपेक्षा नहीं रखती अपितु अनुचिन्तन की क्रिया अनुचिंतित चेतना पर ही की जाती है । देकार्त की सन्देहकर्त्री चेतना अनुचिंतन-पूर्वी चेतना पर आधारित है । प्राथमिक या मूल चेतना अप्रतिस्थापक (नान-पोजिशनल) होती है । चेतना की चेतना चेतन-शील चेतना की स्थापना नहीं है । चेतना और उस चेतना में कोई भेद नहीं है । दोनों तत्वतः एक हैं । प्रत्यक्ष की अवस्था में प्रत्यक्ष करने वाली चेतना प्रत्यक्ष की भी चेतना है । प्रत्यक्ष करने वाली चेतना प्रत्यक्ष भी है और प्रत्यक्ष की चेतना भी । प्रत्यक्ष की क्रिया द्विधा संरचित है : यह प्रत्यक्षगत विषय का निर्देश करती है और साथ ही प्रत्यक्ष करने वाली चेतना का भी । जब मैं अपने सम्मुख विद्यमान पुस्तक को देखता हूँ तो अविमर्शात्मक विधि से अपने 'देखने' को भी देखता हूँ अर्थात् अपनी पुस्तक की चेतना के प्रति मैं अविमर्शात्मक रूप से चेतन होता हूँ । यही चेतना की चेतना है । जब मैं अपनी इस चेतना पर विचार करता हूँ तब सर्वथा एक नयी चेतना का आविर्भाव होता है, इसमें मैं अपनी चेतना को अपने अनुचिन्तन

---

1. Non-cognitive.
2. Consciousness of self is not dual. If we wish to avoid an immediate, non-cognitive relation of self to itself.

—Being and Nothingness, p. Lii-Liii.

का विषय बनाता हूँ। अनुचिन्तनपूर्वी चेतना अप्रतिस्थापक आत्म चेतना है, उसमें कोई भेद, द्वैत या विभाजन नहीं होता। किन्तु जब वही चेतना जान बूझकर अपनी क्रियाओं पर विचार या चिन्तन करती है, तब देकार्त की सन्देह करने वाली अनुचिन्तनात्मक आत्मा का आविर्भाव होता है। अतएव सार्त्र के अनुसार 'मैं सोचता हूँ' इसलिए 'मैं हूँ' ऐसा न कह कर 'मैं हूँ' इसीलिए 'मैं सोचता हूँ' कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसका तात्पर्य यह है कि मुझे यह बोध हो रहा कि मैं सन्देह कर रहा हूँ, सोच रहा हूँ इसलिए मैं हूँ। देकार्तीय आत्मा अनुचिन्तनात्मक है और वह स्वयं अपना विषय नहीं है। उसका विषय सन्देह करने वाली मूल चेतना है, जो चेतना और चेनता की चेतना के साथ एकाकार है। सन्देह करने वाली चेतना जब अनुचिन्तन का विषय बना दी जाती है तब इस अनुचिन्तनात्मक आत्मा का आविर्भाव होता है। मूल चेतना आत्म चेतना तो होती है, किन्तु वह अपनी चेतना को विषय रूप में प्रतिस्थापित नहीं करती। उसका विषय संदेहाधीन अथवा अनुचिंतित विषय होता है, तथा वह इस चेतना से मुक्त होती है कि वह उस विषय पर संदेह कर रही है। स्वयं चेतना का अनुचिन्तनशील रूप अर्थात् देकार्तीय चेतना-मूल चेतना की अन्तर्वर्तिता (इन्वर्डाइजेशन) का परिणाम है।

यहाँ पर यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यह सम्पूर्ण तक चक्रक दोष से युक्त है। अनुचिन्तनशील चेतना अनुचिन्तनपूर्वी चेतना पर आधारित है तथा चेतना का अनुचिन्तनशील रूप अनुचिन्तन का परिणाम है, वह अनुचिन्तन का अनुचिन्तन है। किन्तु यदि अनुचिन्तन प्राथमिक चेतना नहीं है तो उसके उत्पन्न होने के लिए एक अन्य चेतना की आवश्यकता होगी और इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहेगी। किन्तु सार्त्र का कहना है कि यहाँ पर कोई चक्रक दोष नहीं है। वस्तुतः चेतना का स्वरूप ही चक्रक है।[1] वह एक साथ अपने को प्रत्यक्ष की चेतना तथा प्रत्यक्षण की क्रिया के रूप में

---

1. ....It is the very nature of consciousness to exist "in a circle". The idea can be expressed in these lines : Every conscious existence exists as consciousness of existing. We understand now why the first consciousness of consciousness is not positional; it is because it is one with the consciousness of which it is conscious.

—*Being and Nothingness* p. Liv.

निर्धारित करती है। चेतना शुद्ध चेतना है, वह अपने द्वारा ही परिसीमित हो सकती है। यही कारण है कि जहाँ पर सार्त्र 'की चेतना' (जैसे सुख की चेतना) का प्रयोग करते हैं, वहाँ पर वे 'की' को कोष्ठक के अन्तर्गत रखते हैं। नीचे उद्धृत वाक्य सार्त्र के इस प्रयोग का एक उदाहरण है।[1] सार्त्र की अनुचिंतनपूर्वी चेतना हाइडेगर के 'जगत्-में-स्थित-सत्ता' (डासाँय) के सिद्धांत में पहले ही विकसित हो चुकी थी तथा मार्लो-पोन्ती भी सार्त्र के इस सिद्धान्त को समर्थन प्रदान करते हैं। पोन्ती के अनुसार देकार्त का आत्मा मात्र 'शाब्दिक आत्मा' है। उसके अनुसार अनुचिंतनात्मक चेतना अनुचिंतन पूर्वी चेतना की अभिव्यक्ति है, किन्तु दोनों दो चेतनाएँ नहीं हैं। समस्त चेतना तत्काल आत्म-चेतना होती है, क्रियाशील चेतना की सत्ता आत्म-चेतन सत्ता है।[2] इस प्रकार देकार्त की चेतना के विपरीत सार्त्र की अनुचिंतनपूर्वी चेतना किसी तात्त्विक आत्मा को न इंगित करके मानवीय चेतना के आवश्यक लक्षण या संरचना की सूचक है।

सत्ता का द्विधा वर्गीकरण : स्वनिर्मित सत्ता तथा स्वयं-में-सत्ता[3] :

अनुचिन्तनपूर्वी चेतना सार्त्र के दर्शन की प्रस्थानबिन्दु है। इसके आधार पर वे सत्ता को दो रूपों में प्रस्तुत करते हैं। सत्ता का एक रूप चेतना है, चेतना स्व-निर्मित-सत्ता है। दूसरा रूप वस्तु-जगत् है, यह अपने-आप-में सत्ता है। दोनों विपरीत लक्षण वाली सत्ताएँ हैं। चेतना की संरचना का मुख्य लक्षण उसकी अतिक्रामिता (ट्रांसेन्डेन्स) है। चेतना निरपेक्ष विषयिता है किंतु यह विषयिता निरपेक्ष रूप के प्रदत्त नहीं होती। प्रदत्तता विषयिता की मृत्यु है। चेतना की सत्ता अपने से इतर अचेतन तथा परा-गोचर (ट्रांसफेनॉमेनल) सत्ता का निर्देश करती है। सार्त्र के शब्दों में, चेतना का स्वरूप 'प्रकाशित प्रकाशन' (रिवील्ड रेवीलेशन) है। अन्य शब्दों में, चेतना की विषयिता किसी अतिवर्ती सत्ता के सन्दर्भ में ही प्रकाशित होती है। चेतना ऐसी सत्ता है, जिसकी सत्ता

---

1. Pleasure cannot be distinguished—even logically from consciousness of pleasure. Consciousness (of) pleasure is constitutive of the pleasure as the very mode of its existence....A potential pleasure can exist only as consciousness (of) being potential, Ibid,
2. See, *From Rationalism to Existentialism*, pp. 262-63.
3. Being-for itself (Pour Soi) and Being-in-itself (En Soi).

निरन्तर एक प्रश्न-चिह्न है, क्योंकि वह अपने से इतर सत्ता को इंगित करते हुए ही स्थित होती है।[1] चेतना अनिवार्यतः किसी सत्ता युक्त पदार्थ की चेतना होती है। इसका अर्थ यह है कि सत्तायुक्त पदार्थ (जिसे सार्त्र अपने आप में–सत्ता कहते हैं) अपनी अभिव्यक्ति की पूर्ववर्ती है, उसकी सत्ता अभिव्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखती, जबकि चेतना की सत्ता वस्तु की अभिव्यक्ति के रूप में ही स्थित हो सकती है। इसी नाते चेतना की सत्ता में आन्तरिक निषेध (निगेशन) होता है। उसकी सत्ता सन्दर्भों की अपेक्षा रखती है। उसका अस्तित्व वस्तु की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में ही प्रकाशित होता है।

चेतना के इस लक्षण के विपरीत अपने-आप में वस्तु किसी सन्दर्भ की अपेक्षा नहीं रखती। वह सदा अनुत्पन्न है, उसकी सत्ता का अन्य कोई आधार नहीं है जब कि चेतना की सत्ता उस सत्ता पर आधारित है जो चेतना से इतर है। अपने-आप-में वस्तु के सम्बन्ध में केवल इतना कहा जा सकता है कि वह है। उसका कोई कारण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, उसका विधि और निषेध नहीं किया जा सकता। वह अपारदर्शी सत्ता है। उसमें भीतर और बाहर का कोई भेद नहीं है, वह ठोस है। उसमें कोई दरार नहीं है। वह पूर्ण संश्लेषण है—अपने साथ अपना संश्लेषण। वह सत्ता अपने से इतर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित करती। वह पूर्ण भावात्मकता (पाजिटीविटी) है। वह निर्बाध रूप से अपनी सत्ता में विद्यमान होती है। वह परिवर्तन का विषय नहीं है। पर परिवर्तन की ही सत्ता है। सत्ता सम्भावना नहीं है। उसकी सारी सम्भावनाएँ उसी की सत्ता में समाप्त होती हैं, वह सम्भावना और असंभावना से परे है (जबकि चेतना, मानवीय वास्तविकता–एक अनन्त संभावना है)। चेतना का आविर्भाव एक 'न' के रूप में, अभाव, निषेध एवं संभावना के रूप में होता है, इसकी सत्ता में एक अन्य वस्तु की सत्ता अनिवार्यतः निहित होती है। किन्तु सत्ता को सत्ता पूर्ण ठोस या भावात्मकता है।

---

1. To say that conciousness is consciousness of something is to say that it must produce itself as a revealed-revelation of a being which is not it and which gives itself as already existing when consciousness reveals it.

....Consciousness is a being such that in its being, its being is in question in so far as this being implies a being other than 'itself.'—B. N., LXII.

वह पूर्णतः प्रदत्त है। वह जो है, वही है; किन्तु चेतना 'जो है, वह नहीं है, तथा जो नहीं है, वह है'। 'अलगाव चेतना का संरचनात्मक लक्षण है'; सत्ता में कोई अलगाव नहीं होता।

किन्तु दोनों सत्ताओं के उपरोक्त विरोध का तात्पर्य यह नहीं है कि उनमें सम्बन्ध नहीं है। चेतना को वस्तु-जगत् की अपेक्षा है, जिसके विरोध में, जिसके अलगाव में, उसकी सत्ता निहित है और सत्ता का प्रकाशन चेतना की अपेक्षा रखता है। गोचर-जगत् चेतनापेक्षी जगत् है। चेतना के बिना वस्तु (सत्ता) का तिरोभाव तो नहीं हो सकता किन्तु जगत् का तिरोभाव अवश्य हो जाता है। चेतना के अभाव में सत्ता की गोचरता (फिनॉमेनन ऑफ बीइंग्) मात्र अपकर्षण है, किन्तु गोचर की सत्ता चेतना से स्वतन्त्र है।

दोनों सत्ताओं का यह सम्बन्ध विज्ञानवादी तथा वस्तुवादी सिद्धान्तों द्वारा समाधेय नहीं है। यह समस्या तत्त्वमीमांसा की समस्या नहीं बल्कि सत्तामीमांसा (आटोलाजी) की समस्या है। सत्तामीमांसा ही यह दिखा सकती है कि चेतन मानवीय वास्तविकता का उसके शरीर, उसकी भावनाओं तथा इच्छाओं, उसकी विभिन्न अस्तित्वपरक स्थितियों, तथा उसके भूत, वतमान तथा भविष्य से किस प्रकार का सम्बन्ध है। सार्त्र तत्त्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स) तथा सत्ता-मीमांसा (आटोलाजी) में भेद करते हैं। सत्तामीमांसा का प्रश्न 'कैसे' का प्रश्न है, अर्थात् मानवीय वास्तविकता कैसे संभव है ? कैसे वह वस्तु-जगत् में साझीदार है ? उसके वस्तु-जगत् से सम्बन्ध की क्या शर्तें हैं ? इत्यादि तत्त्वमीमांसा का प्रश्न 'क्यों' का प्रश्न है। वह मानवीय वास्तविकता का वर्णन नहीं अपितु उसके कारणों की, उसके आधारों की खोज करती है। सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववादी दर्शन मुख्यतः सत्तामीमांसीय है।

चेतना (स्व-निर्मित सत्ता) की संरचना एवं स्वरूप :

सार्त्र, हाइडेगर तथा मार्लियो-पोन्ती हुसर्ल द्वारा प्रतिपादित चेतना के विषयापेक्षी स्वरूप को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके आत्मा के सिद्धान्त का, विषयी-विषय के द्वैत का, तथा वस्तुओं की अनुभवातीत संरचना का प्रत्याख्यान करते हैं। हाइडेगर की डासाँय (बीइंग्-इन-दि-वर्ल्ड) वस्तु-जगत् में लीन चेतना है, सार्त्र की स्वनिर्मित्त चेतना अनुचिन्तनपूर्वी चेतना है। यह चेतना न तो स्वयं विषय या वस्तु है और न ही विषय-रूप में इसका ज्ञान हो सकता है। चेतना मूलतः आत्मचेतना होती है, किन्तु उस प्राथमिक आत्मचेतना के स्तर पर कोई ज्ञाता चेतना या आत्मा नहीं होता। विषय-

चेतना के रूप में चेतना आत्म-चेतना भी होती है, किन्तु चेतना की यह चेतना अ-चिन्तनात्मक (नान-काग्निटिव होती है। यह अनुचिन्तनपूर्वी चेतना मूलतः ज्ञाता चेतना न होकर क्रियाशील तथा अनुभूति करनेवाली चेतना है। इस चेतना को वस्तु-जगत् से पृथक् रूप में सोचा भी नहीं जा सकता क्योंकि वह वस्तु-जगत् में ही सक्रिय तथा वस्तुओं के मध्य पायी जाने वाली चेतना है। किन्तु चेतना के सम्बन्ध में ऐसे वाक्यों का अर्थ फेनॉमेनॉलॉजो के सन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिए। फेनॉमेनॉलाजी प्राकृतिक दृष्टिकोण का परित्याग है इसलिए चेतना कभी 'प्राकृतिक वस्तु' नहीं हो सकती। यह विशिष्ट मानवीय वास्तविकता है जो वस्तु-जगत् में क्रियाशील होकर अभिव्यक्त हो रही है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठाया जा सकता है : यदि अनुचिन्तनपूर्वी चेतना में कोई आत्मा नहीं होता तो वह चेतना किसी भी रूप में आत्म-चेतना कैसे हो सकती है ? सार्त्र को इस प्रश्न का पूर्वाभास था और इसका जो समाधान उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह आश्चर्यजनक रूप से भारतीय दर्शन में किये गये चेतना की विभिन्न अवस्थाओं के विश्लेषण के समान है। सार्त्र कहते हैं कि जब मैं सिगरेटों की गिनती कर रहा हूँ तो सम्भव है कि मुझे उनकी गिनती करने की प्रतिस्थापक (अनुचिन्तनात्मक) चेतना न हो। तब मुझे अपने गिनती करने का ज्ञान नहीं होता। किन्तु जिस क्षण ये सिगरेटें मुझे एक दर्जन के रूप में दिखायी देती हैं, उस क्षण मुझे अपने जोड़ने की क्रिया की प्रतिस्थापक (अनुचिन्तनात्मक) चेतना हो जाती है। यदि कोई मुझसे प्रश्न करे कि 'आप क्या कर रहे हैं ?' तो मैं तत्काल उत्तर दूँगा 'मैं गिन रहा हूँ'।[1] सार्त्र यहाँ पर यह स्वीकार कर रहे हैं कि गिनने की क्रिया तथा उस क्रिया पर किये गये अनुचिन्तन में अन्तर होता है, किन्तु गिनने की अनुचिन्तन पूर्वी क्रिया में भी एक प्रकार की आत्म-चेतना होती है। अन्यथा हमें अपने गिनने की क्रिया की कभी चेतना ही नहीं होगी। अन्य शब्दों में, अनुचिन्तन पूर्वी चेतना तथा अनुचिन्तनात्मक चेतना—दोनों में आत्म-चेतना विद्यमान होती है, अन्तर यह होता है कि प्रथम चेतना क्रियारत चेतना है और दूसरी ज्ञाता चेतना। उपनिषदों तथा अद्वैत वेदान्त में चेतना की सुषुप्त, जाग्रत, स्वप्न तथा तुरीयावस्थाओं का विश्लेषण किया गया है। सुषुप्तावस्था में चेतना आत्म-चेतना का लोप प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः उसका लोप नहीं होता, जाग्रतावस्था की वस्तुलीन चेतना में भी वही आत्म-चेतना विद्यमान होती है जिसकी चरम

---

1. बीइंग एण्ड नथिंगनेस : पृ० Liii.

परिणति तुरीयावस्था में होती है। सार्त्र के दर्शन में तुरीया चेतना की कल्पना तो नहीं दिखायी देती किन्तु चेतना का अविषय रूप तथा क्रियाओं की अनुचिन्तनपूर्वी अवस्थाओं में चेतना के अखंड एवं आत्म-चेतन रूप से विद्यमान होने की स्वीकृति सार्त्र के दर्शन की गंभीर अन्तर्दृष्टि है जिसको भारतीय दर्शन के साथ जोड़कर महत्त्वपूर्ण दिशा में विकसित किया जा सकता है।

अनुचिंतनपूर्वी चेतना तथा अनुचिंतनात्मक चेतना के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रति सार्त्र के विचार सुस्पष्ट नहीं हैं। सार्त्र के कुछ वाक्यों से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि ये दो चेतनाएँ हैं ही किन्तु, जैसा कि ऊपर हमने देखा, ये वस्तुतः दो चेतनाएँ नहीं हैं। और अनुचिन्तनपूर्वी चेतना ही सार्त्र के दर्शन की केन्द्रबिन्दु है। मुख्य रूप से सार्त्र का अवस्तुत्व (नथिंग्नेस) तथा मानवीय स्वातंत्र्य का सिद्धांत अनुचिंतनपूर्वी चेतना के ही वर्णन पर आधारित है।

स्वनिमित्त-सत्ता (चेतना) तथा स्वयं में सत्ता (अचेतन सत्ता) के लक्षणों का वर्णन करते समय हमने यह देखा कि अचेतन सत्ता एक पूर्णता है, वह अपने साथ एकाकारता है और चेतन सत्ता में ठीक इन्हीं गुणों का अभाव है। चेतन सत्ता अपने को परिभाषित करके, अपने विषय में चिन्तन करके, केवल अपने को परिसीमित करती है। इसका तात्पर्य यह है कि चेतना सत्ता को उस रूप में निर्धारित या परिभाषित नहीं किया जा सकता जिस रूप में विषयों को निर्धारित या परिभाषित किया जा सकता है। चेतना के इस अपरिभाष्य रूप को ही सार्त्र अवस्तुत्व की संज्ञा देता है। चेतना का आविर्भाव अवस्तुत्व के रूप में होता है। निषेध चेतना की आन्तरिक संरचना में निहित है और यह आन्तरिक निषेध चेतना को अवस्तुत्व के रूप में स्थापित करता है।

चेतना अवस्तुत्व के रूप में :

चेतना की अवस्तुत्व के रूप में स्थापना सार्त्र के दर्शन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। चेतना तथा अचेतन सत्ता के सम्बन्ध की व्याख्या अवस्तुत्व की व्याख्या पर निर्भर करती है क्योंकि चेतना अवस्तु होने के कारण ही वस्तु-जगत् के वैविध्य की रचना करती है। रचना से तात्पर्य उत्पन्न करने से नहीं है, अपितु सत्ता को अर्थ देने से है। सत्ता आत्म-संकुचित, अभिन्न, अर्थहीन, ठोस सत्ता है, वह अपने से किसी सत्ता का कोई विरोध नहीं देखती, यह विरोध या भेद चेतना उत्पन्न कर सकती है, क्योंकि चेतना अवस्तु है, ठोस नहीं है।[1]

---

1. Without consciousness there would not be a world...

अवस्तुत्व के सम्बन्ध में एक प्रचलित धारणा यह है कि वह निषेधात्मक निर्णय का परिणाम होता है। निषेध करना निर्णय का गुण होता है और निषेध कोई वस्तुगत वास्तविकता नहीं होती। अवस्तुत्व निषेधात्मक निर्णयों की संप्रत्यात्मक एकता है उसमें वास्तविकता का कोई निशान भी नहीं होता। अवस्तुत्व का आविर्भाव निषेधात्मक निर्णय के स्तर पर होता है। सार्त्र इस धारणा का खण्डन करते हैं कि निषेध करना निर्णय देने की या अनुचिंतन करने की प्रक्रिया है। उनका कहना है कि निर्णय प्रश्न पूछने के माध्यम हैं, किंतु प्रश्न पूछना निर्णय देने की प्रक्रिया नहीं है; वह निर्णयपूर्व[1] अवस्था है। हम संकेतों से, निगाहों से तथा भाव-भंगिमाओं द्वारा भी प्रश्न पूछ सकते हैं। अतएव निषेध या अवस्तुत्व का आविर्भाव निषेधात्मक निर्णय का परिणाम नहीं है। यह चेतना की विशिष्ट क्रिया का परिणाम है और यह क्रिया चेतना के प्राक्विमर्शी अथवा अनुचिंतनपूर्वी स्वरूप का गुण है। अन्य शब्दों में, निषेधात्मक निर्णय निषेध या अभाव को उत्पन्न न करके स्वयं अभाव या अवस्तुत्व पर ही अपनी सत्ता के लिए निर्भर करते हैं।[2]

अवस्तुत्व के सम्बन्ध में सार्त्र मुख्य रूप से दो बातें प्रतिपादित करते हैं : (1) अवस्तुत्व निर्णय का गुण नहीं अपितु वह हमारे अनुभव का विषय है और, (2) अवस्तुत्व चेतना की निषेध क्रिया, (ऐक्ट आफ निहिलेशन) का परिणाम है। यही निषेध-क्रिया मनुष्य को अन्य सत्ताओं से पृथक् करती है, तथा यही गुण मनुष्य की मूल स्वतंत्रता के लिए उत्तरदायी है।

अवस्तुत्व के प्रथम लक्षण के सम्बन्ध में सार्त्र का कहना है कि हम केवल 'वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष नहीं करते, अपितु हमें अवस्तुत्व का भी प्रत्यक्ष होता

---

there would be only Being, In this sense, there, is no thing without consciousness, but there is not nothing, Consciousness causes them to be things because it is itself nothing.
—Hazel Barnes in her Introduction to the translation of *Being and Nothingness*, p. XX.

1. Pre-predicative attitude.
2. ....Non-being does not come to things by a negative Judgment; it is the negative judgment, on the contrary, which is conditioned and supported by non-being.
—Being and Nothingness, p. 11.

है । अन्य शब्दों में, हम 'भाव' के साथ-साथ 'अभाव' को भी देखते हैं । इस बात को सार्त्र ने अनेक उदाहरणों के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास किया है । जैसे, उसका कहना है, मैं काफी हाउस में अपने मित्र पियरे की तलाश में जाता हूँ किंतु वह वहाँ उपस्थित नहीं होता है । ऐसी दशा में सारा काफी हाउस निषेध की पृष्ठभूमि बन जाता है । मुझे एक शक्ल की तलाश है किंतु काफी हाउस के वास्तविक पदार्थों तथा मेरी निगाह के बीच से वह शक्ल (पियरे) निरन्तर फिसलती जा रही है वह अवस्तु के रूप में मेरे समक्ष अपने को प्रदर्शित कर रही है तथा उसका अवस्तुत्व मेरे इस निर्णय का आधार बनता है कि 'पियरे यहाँ नहीं है ।' मैं पियरे को वहाँ पाने की आशा कर रहा था तथा मेरी यह आशा काफी-हाउस के संदर्भ में पियरे की अनुपस्थिति (अभाव) को एक वास्तविक घटना के रूप में प्रस्तुत कर रही है । यह एक तथ्य है कि मैंने काफी हाउस में पियरे की अनुपस्थिति तलाश ली है तथा यह अनुपस्थिति पियरे तथा उस सारे वातावरण के बीच 'संश्लेषात्मक सम्बन्ध' का कार्य कर रही है । अनुपस्थित पियरे काफी हाउस को Haunt कर रहा है । इसके विपरीत, यदि मैं यह कहूँ कि कलकत्ता इस काफी हाउस में नहीं है' तो यह निषेध की कोटि का एक अमूर्त प्रयोग होगा । इस वाक्य में 'नहीं है' मात्र एक वैचारिक कोटि है, उसका काफी हाउस के परिप्रेक्ष्य में कोई अर्थ नहीं है क्योंकि कलकत्ता के काफी हाउस में होने की मैंने कभी आशा ही नहीं की थी ।[1] इसके विपरीत, जब मैं अपने कमरे में किसी मित्र का इंतजार कर रहा होता हूँ तो मैं कमरे के दरवाजे, दीवालों आदि को तो देखता ही रहता हूँ, उससे अधिक महत्त्वपूर्णरूप से कमरे पर खट्-खट् न होने की आवाज, कमरे की सीढ़ियों पर अपने प्रत्याशित मित्र के पद-चाप के न होने की भी अनुभूति करता हूँ । ऐसी दशा में मेरी समूची स्थिति 'कुछ होने' की अपेक्षा 'कुछ न होने' के द्वारा परिभाषित होती है ।

उपरोक्त उदाहरणों तथा 'विनाश', 'दूरी' तथा 'अपनी जेब में 1500 रु० न पाकर 1300 रु० पाना' आदि उदाहरणों से सार्त्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'निषेध सत्ता की अस्वीकृति' (रिफ्यूज़ल) है । इसके द्वारा सत्ता की स्थापना होती है तथा पुनः उसे 'अवस्तुत्व के क्षेत्र में फेंक दिया जाता है ।' यदि निषेध केवल विचार की एक कोटि होती तो वह इस भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता । निषेध का अर्थ सत्ता की विच्छिन्नता है और यह विच्छिन्नता वैचारिक कोटि, निर्णयों के विधि या निषेध से नहीं उत्पन्न हो सकती । यदि

---

1. For details see, Ibid, pp. 6–11.

निषेध का प्रादुर्भाव निर्णय के स्तर पर होता है. तब हम अवस्तुत्व की कोई व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि मूल वास्तविकता सत्ता है, जो चारों ओर से ठोस है उसमें किसी प्रकार की विच्छिन्नता या दरार पैदा करने की क्षमता विचार में नहीं है। अतएव, सार्त्र का कहना है, निषेध के प्रश्न के साथ हम चेतना की सीमा में प्रवेश करते हैं। निषेध करना चेतना का गुण है, किन्तु चेतना स्वयं को भी निषेध की चेतना के रूप में ही उत्पन्न करती है। अर्थात् निषेध चेतना में विद्यमान कोई कोटि नहीं है। निषेध का आविर्भाव निषेध की चेतना के रूप में ही होता है। 'न' कहने की यह एक आवश्यक शर्त है कि अवस्तुत्व अथवा अ-सत्ता हममें, हमारे बाहर, सर्वत्र निरन्तर विद्यमान हो।[1]

सार्त्र का अवस्तुत्व अथवा निषेध सम्बन्धी सिद्धान्त हेगेल तथा हाइडेगर के सिद्धान्तों की विस्तृत आलोचना पर आधारित है। हेगेल के अनुसार सत्ता और असत्ता[2] (अवस्तुत्व) सत् के दो समकालीन घटक हैं। शुद्ध सत्ता तथा शुद्ध असत्ता दो अमूर्त सत्तायें हैं। शुद्ध सत्ता शुद्ध अवस्तु है। अतः दोनों एक हैं। हेगेल के विपरीत सार्त्र की शिकायत यह है कि हेगेल अवस्तुत्व के सम्बन्ध में तार्किक धारणा से ऊपर नहीं उठ सका तथा अवस्तुत्व का मानवीय वास्तविकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सका। सत्ता और असत्ता को

---

1. Negation is an abrupt break in continuity which cannot in any case result from prior affirmations; it is an original and irreducible event....Consciousness cannot produce negation except in the form of consciousness of negation. No category can I "inhabit" consciousness and reside there in the manner of a thing. The not, as an abrupt intuitive discovery, appears as consciousness (of Being) consciousness of the not....The necessary condition for saying not is that non-being be a perpetual presence in us, and outside of us that nothingness haunts being.

Ibid, p. 11.

2. यहाँ पर हम 'नथिंगनेस' के लिए 'अवस्तुत्व' अ-सत्ता, अभाव' तथा 'अवस्तु' शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। स्वयं सार्त्र कभी 'नथिंगनेस', कभी 'नान-बीइंग' तथा कभी 'निगेशन' शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं।

समकालीन मानना इसलिए भी सार्त्र के अनुसार अनुचित है क्योंकि ऐसी दशा में असत्ता भी एक प्रकार की सत्ता हो जाती है, जबकि वस्तुतः असत्ता, सत्ता की परवर्ती है, उसका आविर्भाव सत्ता की सतह पर ही होता है। अवस्तु की सत्ता 'उधार ली हुई' सत्ता है। हेगेल के अनुसार शुद्ध सत्ता के तिरोभाव से शुद्ध अवस्तुत्व या असत्ता का आविर्भाव होता है, किन्तु सार्त्र का कहना है कि शुद्ध सत्ता के तिरोहित होने से अ-सत्ता भी सद्यः तिरोहित हो जाती है। सत्ता तर्कतः अ-सत्ता की पूर्ववर्ती है, उसकी आधार भूमि है। सत्ता की सत्ता अ-सत्ता की अपेक्षा नहीं रखती जबकि असत्ता सत्ता के अंतस्तल में ही जन्म लेती है।

हेगेल के विपरीत हाइडेगर सत्ता तथा असत्ता को अमूर्त अपकर्षण नहीं मानता। वह असत्ता को किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं प्रदान करता। अवस्तु नहीं होती, वह अपना निषेध करती है। हाइडेगर के अनुसार मनुष्य 'दूरियों की सत्ता' है। अर्थात् मनुष्य तथा सत्ता के बीच एक दूरी हमेशा बनी रहती है। मनुष्य अपनी आन्तरिक वास्तविकता का बोध इसी दूरी में रहकर करता है। अन्य शब्दों में, आत्मबोध के लिए व्यक्ति का अन्तर्मुखी होना जगत् का अतिक्रमण करना है। 'वह क्या नहीं है'—यह जान कर ही 'वह क्या है' का बोध कर सकता है। मानवीय वास्तविकता का यह अन्तर्मुखी अभियान उसे जगत् की समष्टि से परे ले जाता है (यह विचार सांख्य पुरुष से कुछ मिलता प्रतीत होता है, क्योंकि सांख्य पुरुष भी प्रकृति के भीतर रह कर ही धीरे-धीरे प्रकृति से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके अन्त में उसका अतिक्रमण करता है)। हाइडेगर का कहना है कि मनुष्य का जगत् का अतिक्रमण करने का अर्थ है कि अवस्तुत्व में 'मानव-वास्तविकता' का आविर्भाव होता है। उनके अनुसार, सत्ता का अतिक्रमण अवस्तुत्व में ही हो सकता। अतएव, हाइडेगर के अनुसार, अवस्तुत्व सत्ता से रहित होते हुए भी सत्ता को चारों ओर से आवृत्त किये हुए होती है। यही अवस्तुत्व जगत् को उसकी रूपरेखा प्रदान करती है। सार्त्र यहाँ तक हाइडेगर से सहमत हैं कि जगत् का जगत् के रूप में आविर्भाव अवस्तुत्व की धारणा को पूर्व स्वीकार करता है। किन्तु सार्त्र का कहना है कि हाइडेगर तत्काल ही अवस्तुत्व का वर्णन भावात्मक रूप में करने लगते हैं और वे अवस्तुत्व की स्थिति में सत्ता को पूर्णतया निलम्बित मान लेते हैं। यदि ऐसा हो तो अवस्तुत्व के जागतिक अनुभवों की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। इसी दृष्टि से वे हेगेल की सराहना करते हैं जिसने बुद्धि के निषेधात्मक स्वरूप को स्वीकार किया था। हाइडेगर ने अवस्तुत्व को असत्ता का ऐसा सिद्धान्त बना दिया जो अवस्तुत्व को जगत् के वास्तविक स्थूल निषेधों

से अलग कर देता है। सार्त्र प्रश्न करते हैं। यह कैसे संभव है कि निषेध की वे तमाम स्थितियाँ एक ही साथ जगत् तथा जगत् से परे स्थित अवस्तुत्व में रह सकें? अतएव, अवस्तुत्व को कोई सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं दी जा सकती है। वह सत्ता की आधारभूमि पर हो निषिद्ध होती है। वह न तो सत्ता के पहले है, न बाद में और न बाहर, वह सत्ता के भीतर ही कुण्डली मार कर बैठी होती है।[1]

उपरोक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अवस्तुत्व के सम्बन्ध में सार्त्र हेगेल तथा हाइडेगर के बीच की स्थिति अपनाते हैं। हेगेल के विरुद्ध और हाइडेगर के साथ वे अवस्तुत्व को वस्तु या सत्ता का समकालीन नहीं मानते; किन्तु हाइडेगर के विरुद्ध और हेगेल के साथ वे निषेध को चेतना की आन्तरिक संरचना के रूप में देखते हैं। हेगेल के विरुद्ध वे अवस्तु को वस्तु का परवर्ती मानते हैं, हाइडेगर के विपरीत वे उसे किसी प्रकार की सत्ता नहीं प्रदान करते।

अभी तक हमने यह देखने का करने का प्रयास किया कि अवस्तुत्व मानवीय अनुभव का विषय है, वह न तो अमूर्त अपकर्षण है और न परा-जागतिक अवस्तुत्व। इसके बाद अवस्तुत्व के सम्बन्ध के सार्त्र का दूसरा महत्त्व-पूर्ण प्रतिपादन यह है कि अवस्तुत्व चेतना की क्रिया है। स्वयं में वस्तु अवस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकती। यह उसके स्वभाव के विपरीत है। शुद्ध सत्ता, जो कि मात्र है, के साथ किसी क्रिया या वस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। अवस्तुत्व स्वयं अपना निषेध नहीं कर सकती। वह निषिद्ध होती है। 'अवस्तुत्व होती नहीं, वह बनायी जाती है।' अतएव अवस्तुत्व का आविर्भाव ऐसी सत्ता से होता है जो अपनी सत्ता में निरन्तर अवस्तुत्व को धारण किये होती है। यह सत्ता चेतना है। चेतना ऐसी सत्ता है जो अवस्तुत्व का स्रोत

---

1. Nothingness, if it is supported by being, vanishes qua nothingness, and we fall back upon being. Nothingness can be nihilated only on the foundation of being; if nothingness can be given, it is neither before nor after being, nor in a general way outside of being. Nothingness lies coiled in the heart of being like a worm Ibid., p. 22; See for a detailed criticism of Hegel and Heidegger. pp. 16-20.

होने के साथ अपना भी अवस्तुत्व स्थापित करती है।[1] चेतना अथवा मानवीय वास्तविकता का ही यह विशिष्ट गुण है कि वह वस्तुओं से अपने को अलग कर सकती है।[2] चेतना वास्तविक जगत् से बँधी नहीं होती। मनुष्य की आशायें, सम्भावनायें, प्रतीक्षायें, इच्छायें तथा प्रत्यक्ष इस बात की पुष्टि करते हैं कि वह वास्तविक जगत् से अलग होकर सम्भाव्य जगत् की कल्पना कर सकता है। यदि मनुष्य जगत् में मात्र निष्क्रिय द्रष्टा होता तो वह वास्तविकता से बँधा और वस्तु-जगत् में विलीन रहता तथा सम्भाव्य की, आदर्श की, योजना की, कोई कल्पनां न कर पाता। इन सब की योजना इस बात पर निर्भर करती है कि मनुष्य वास्तविक जगत् का निषेध कर सके। यहाँ सार्त्र का चेतना का सिद्धान्त कांट के आत्मा के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है। कांट की दोहरी कारणता का सिद्धान्त मनुष्य की इस क्षमता को सूचित करता है कि वह विज्ञान-जगत् से स्वतन्त्र होकर आदर्श जगत् की कल्पना और निर्माण कर सकता है। सार्त्र का अवस्तुत्व का सिद्धान्त वस्तुतः मानवीय स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त है। चेतना, आत्मा अथवा मनुष्य कोई वस्तु नहीं है। यदि वह वस्तु होता तो प्रकृति-जगत् की घटनाओं की भाँति नियन्त्रित होता। यदि चेतना कारणता की शृंखला में आबद्ध होती तो वह सम्भावनाओं की कल्पना न कर पाती। अवस्तुत्व की अनुभूतियाँ भी इसी बात की द्योतक हैं कि चेतना का कारण जगत् से परे है। मनुष्य के नाते ही जगत् में अवस्तुत्व का आविर्भाव होता है। मनुष्य की यह विशिष्ट क्षमता उसकी मूल स्वतंत्रता से प्रादुर्भूत होती है। अपनी इसी क्षमता के नाते मनुष्य सत्ता के प्रति तथा स्वयं अपने प्रति प्रश्न पूछ सकता है।[3] इसलिए हम संक्षेप में अवस्तुत्व के इस पक्ष का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

---

1. **The theory by which Nothingness come into the world-must be its own nothingness, Ibid., p.**
2. तुलनीय, हुसर्ल का इपाकी का सिद्धान्त। यद्यपि सार्त्र ने इपाकी को असंभव माना है, तथापि वे यह कहते हैं कि चेतना मूलतः जगत् से अलगाव की चेतना है। चेतना और जगत् के बीच एक संरचनात्मक दरार है, निषेध है, दूरी है और चेतना इस दरार, निषेध और दूरी की चेतना है। ऐसा प्रतीत होता है कि हुसर्ल की अन्तर्दृष्टि मूलतः ठीक थी और सार्त्र द्वारा इपाकी के खंडन के पीछे इपाकी की असम्भाव्यता अथवा अनावश्यकता नहीं, अपितु सार्त्र की प्रत्ययवादी अरुचि थी।
3. **The Being by which Nothingness arrives in the world is a being such that in its Being, its being, the Nothingness of**

अवस्तुत्व स्वतंत्रता के रूप में :

एक प्रकार से मानव-स्वातंत्र्य (मुक्ति ?) सार्त्र के दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। हमारे लिए इस विषय के पूर्ण विस्तार में जाना यहाँ पर सम्भव नहीं है। अतएव सार्त्र के कुछ कथनों के आधार पर हम उसके इस सिद्धान्त का विवेचन करेंगे। सार्त्र के अनुसार स्वतन्त्रता, जो कि वस्तुत्व के निषेध की पहली शर्त है, मनुष्य के अनेक लक्षणों या सारतत्त्वों में से एक लक्षण या सारतत्त्व नहीं है। मानव-स्वातंत्र्य मनुष्य के सारतत्त्व का पूर्वगामी है; मानव-स्वातंत्र्य ही मनुष्य को उसका सार प्रदान करता है। वास्तव में मनुष्य और उसकी स्वतन्त्रता में कोई भेद नहीं किया जा सकता। ऐसा नहीं है कि मनुष्य पहले होता है और बाद में वह स्वतन्त्र होता है। मनुष्य होने और उसके स्वतन्त्र होने में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही बातें हैं। मनुष्य ही स्वतन्त्रता है।[1] यहाँ पर सार्त्र के इस विचार की अद्वैत तथा सांख्य की मुक्ति की धारणा से तुलना करने के प्रलोभन का हम संवरण नहीं कर सकते। अद्वैत तथा सांख्य में भी आत्मा तथा पुरुष को मूलतः मुक्त माना गया है। मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य के लिए किसी नयी चीज की प्राप्ति नहीं है। मुक्ति आत्मबोध है, अपनी नैसर्गिक स्वतन्त्रता की पहचान है। बन्धन की धारणा भ्रामक धारणा है, अज्ञान का परिणाम है, मोक्ष का अर्थ इसी भ्रामक धारणा से उन्मुक्त होना है। किन्तु अद्वैत तथा सांख्य में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। पुरुष का आत्मबोध प्रकृति तथा उसके विकारों से अपकर्षण करने की एक प्रक्रिया है। पुरुष अपनी मुक्त अवस्था में प्रकृति-जगत् से अलग अपने एकाकीपन में अवस्थित होता है। अद्वैत का मोक्ष आत्मा की ब्रह्म से एकाकारता है। यह आत्मा के अलगाव अथवा एकाकीपन की अवस्था नहीं है। यह आत्मा के ही

---

its Being is in question. The Being by which Nothingness comes to the world must be its own Nothingness. Ibid., p. 23.

1. Human freedom preceds essence in man and makes it possible; the essence of human being is suspended in his freedom. What we call freedom is impossible to distinguish from the being of 'human reality" Man does not exist first in order to be free subsequently, there is no difference between being of man and his being free. Ibid., p, 25.

'सब कुछ' होने की अवस्था है किन्तु इसमें किसी प्रकार के सम्बन्धों की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए मुक्त आत्मा के एकाकीपन का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भेद के फलस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि सार्त्र की मानव-स्वातन्त्र्य की अवधारणा सांख्य पुरुष की मुक्ति के अपेक्षाकृत निकट है। सांख्य दर्शन में जगत् को मिथ्या नहीं कहा गया है और न ही पुरुष को विषय के रूप में ग्रहण किया गया है। सार्त्र का मन्तव्य भी यही है। सत्ता की पूर्णता को अक्षुण्ण रखते हुए भी वे चेतना को सत्ता या वस्तुरूप में नहीं स्वीकार करते। चेतना वस्तुजगत् से निरन्तर अपकर्षण है।

मानव स्वातन्त्र्य की विस्तृत व्याख्या सार्त्र दुश्चिन्ता[1] के विश्लेषण से करते हैं। दुश्चिन्ता की दशा में मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता की स्पष्ट चेतना होती है।[2] इस अवस्था में हमें अपने उत्तरदायित्व का बोध होता है। यह विचार कि मैं अपने व्यवहार, अपने मूल्यों के लिए उत्तरदायी हूँ, मेरे मन में चिन्ता उत्पन्न करती है। सार्त्र कर्कगार्ड द्वारा दी गयी चिन्ता की इस परिभाषा को स्वीकार करते हैं कि वह 'स्वतन्त्रता के सम्मुख चिन्ता' होती है। व्यक्ति अपने कार्यों के लिए स्वतः उत्तरदायी है, उसका निर्धारण कहीं अन्यत्र से नहीं होता। यही नहीं, मनुष्य अपने निश्चय और चुनाव को परिवर्तित भी कर सकता है। वर्तमान क्षण में लिया गया निश्चय भविष्य के लिए अनिवार्य नहीं होता। खतरनाक ढालू रास्ते पर खड़ा व्यक्ति इस चिन्ता से ग्रस्त होता है कि कहीं वह नीचे न गिर पड़े। रास्ते का ढलाव उसे अपनी ओर खींचता हुआ प्रतीत हो सकता है। वह इस भावना से ग्रस्त हो सकता है कि नीचे गिरने से उसे कोई भी चीज नहीं रोक सकती। नीचे न गिरने का उसका निश्चय उसे चिन्ता से मुक्त नहीं कर सकता क्योंकि इस बात का कोई आश्वासन नहीं है कि दूसरे क्षण उसका निर्णय बदल नहीं जायगा। इसी प्रकार हम कल सबेरे जागने का निश्चय करके सो सकते हैं, किन्तु यह इस बात का कोई आश्वासन नहीं है कि सबेरे की ठंड में हम अपना गर्म बिस्तर छोड़ ही देंगे। सार्त्र के अनुसार इस

---

1. Anguish.
2. It is in anguish that man gets the consciousness of his freedom... anguish is the mode of being of freedom as consciousness of being, it is in anguish that freedom is, in its being, a question for itself.

—Ibid., p. 29.

प्रकार की सम्भावनायें मनुष्य में चिन्ता का आविर्भाव करती हैं। चिन्ता भय की व्यवस्था नहीं है क्योंकि भय में हमें किसी निश्चित वस्तु या घटना से भय लगता है; किन्तु चिन्ता की अवस्था में चिन्ता का कारण कोई वस्तु नहीं होती, यह 'अवस्तु के समक्ष चिन्ता' होती है।

सार्त्र का कहने का आशय यह नहीं है कि इस प्रकार की 'कुछ नहीं के समक्ष चिन्ता' हमारे सामान्य दैनिक अनुभव का विषय है। इसकी अनुभूति मनुष्य को विरले क्षणों में ही होती है किन्तु विरले क्षणों की यही अनुभूतियाँ चेतना की संरचनात्मक लक्षण हैं, मानवीय वास्तविकता की अनिवार्य नियति हैं। मनुष्य की स्वतंत्रता की चेतना उन सारे बन्धनों और समस्त रक्षापंक्ति को तोड़ कर रख देती हैं जिनका उपयोग वह निर्णय लेने, योजना बनाने अथवा उसके औचित्य-स्थापन के लिए कर सकता है। अपनी योजनाओं के निर्माणार्थ एवं रक्षार्थ व्यक्ति नितान्त एकाकी है, उसके सामने कोई बहाना नहीं होता, कोई सहारा नहीं होता।[1]

चिन्ता से उत्पन्न मानसिक क्लेश से मुक्त होने के लिए मनुष्य 'चिन्ता से दूर भागना' चाहता है तथा अपने कार्यों, निर्णयों एवं चुनावों के लिए बहानों की तलाश करता है, जिससे वह यह दिखा सके कि उसने जो कुछ किया वह अन्य कारणों से किया, न कि स्वेच्छा से। वह अपनी स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्व को सीमित करने वाले कारणों की तलाश करता रहता है। यह तलाश एक प्रकार की रक्षाप्रविधि है।

सार्त्र मनुष्य को इस प्रकार परिभाषित करते हैं : "मनुष्य जो है, वह नहीं है तथा जो नहीं है, वह है"[2] भरिभाषा के प्रथमार्ध का अर्थ यह है कि सत्तावान होने की अवस्था में मैं अपने अतीत को अपने विचार का विषय बनाता

---

1. I emerge alone and in anguish confronting the unique and original project which constitutes my being; all the barriers, all the guard rails collapse....Nothing can ensure me against myself....I have to realise the meaning of the world and of my essence; I can make decision concerning them-without justification and without excuse.

—Ibid., p. 39

2. Man is a being who is not what he is and who is what he is not.

हूँ, उसका परीक्षण करता हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि अपने अतीत के सन्दर्भ में मैं विषयों का द्रष्टा हूँ तथा अतीत मेरा विषय है, अर्थात् मैं अतीत का अतिक्रमण करता हूँ, उसकी 'मैं नहीं' के रूप में स्थापना करता हूँ। अपना अतीत होते हुए भी मैं अपना अतीत 'नहीं होता'। परिभाषा के द्वितीयार्ध का सम्बन्ध मेरे भविष्य से है। मैं अपना भविष्य हूँ भी और नहीं भी हूँ। में अपना भविष्य हूँ क्योंकि वह मेरा है, मेरे द्वारा निर्मित है। किन्तु 'होने के प्रकार' के रूप में मैं अपना भविष्य नहीं हूँ, मुझे अभी होना है। इस प्रकार मैं अपना अतीत हूँ और नहीं भी; अपना भविष्य हूँ भी और नहीं भी। मेरे वर्तमान तथा अतीत एवं वर्तमान और भविष्य के बीच 'कुछ भी नहीं' (नथिंग) खड़ा है। इनको विभाजित करने वाली रेखा 'वस्तु' नहीं अपितु 'अवस्तु' है। मेरा अतीत 'स्वयं-में-वस्तु' हूँ, मेरे वर्तमान की सहमति के बिना वह उसे प्रभावित नहीं कर सकता, उसी प्रकार मेरा भविष्य मेरी योजना है तथा मेरी सहमति के बिना वह मेरे वर्तमान को प्रभावित करने में असमर्थ है। इस सत्य का आभास हमारे मन में दुश्चिन्ता उत्पन्न करता है। ढालू मार्ग पर खड़े व्यक्ति की दुश्चिता इसी प्रकार का एक दृष्टान्त है।

ऊपर हम यह निर्देश कर चुके हैं कि मानव-स्वतन्त्रता का सम्बन्ध सत्तामीमांसीय प्रश्न से है। सत्तामीमांसीय प्रश्न त्रिविध निषेध या अभाव का उद्घाटन करता है : (क) प्रश्न अथवा अज्ञान-अज्ञान एक प्रकार का अभाव है, (ख) निषेधात्मक उत्तर की सम्भावना—प्रत्याशित वस्तु या व्यवहार का अभाव और (ग) सत्य की सम्भावना—सत्य किसी वस्तु के बारे में सत्य होता है, इसलिए यह स्वयं अवस्तु या अभाव होता है। इन त्रिविध निषेधों का कारण क्या है ? निषेध करने के लिए एक क्षमता की आवश्यकता होती है। मात्र अवस्तु में यह क्षमता नहीं हो सकती, सत्ता स्वयं अपना निषेध कर नहीं सकती। अतः निषेध की समस्या एक असमंजस की स्थिति उत्पन्न करती है। वस्तु स्वरूपतः किसी प्रकार की क्रिया या सम्बन्ध में प्रवेश नहीं कर सकती, अवस्तु अपने में एक अक्षम प्रत्यय है। अस्तु, एक तृतीय सिद्धान्त अथवा तत्त्व की अपेक्षा है जो अवस्तुत्व का आविर्भाव कर सके। इस सिद्धान्त की आंतरिक संरचना में अवस्तुत्व अनुप्रविष्ट होनी चाहिए, उसे स्वयं अपना अवस्तुत्व होना चाहिए। यह सत्ता का सिद्धान्त चेतना अथवा मानवीय वास्तविकता है।

प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य को क्या होना चाहिए, जिससे कि उसके माध्यम से अवस्तुत्व का आविर्भाव हो सके ? सार्त्र का उत्तर है : उसे स्वतंत्र होना चाहिए। स्वतन्त्रता मानवीय वास्तविकता का पर्यायवाची है। मनुष्य

पूर्णतया तथा नित्य स्वतन्त्र है। मनुष्य अथवा चेतना "अवस्तुत्व है, सत्ता का अभाव है, सत्ता में छिद्र है।" उसका स्वरूप उसकी स्वतन्त्रता का परिचायक है। सार्त्र का मानव स्वातंत्र्य का सिद्धान्त इस अस्तित्ववादी धारणा की संपुष्टि करता है कि मनुष्य का कोई स्वरूप या सारतत्त्व नहीं होता; अपना स्वयं अपना निर्माण करता है। वह अपने मूल्यों की स्वयं रचना करता है। "मूल्यों का आविर्भाव मानवीय वास्तविकता के साथ होता है।" मनुष्य का चुनाव ही मूल्यों को निर्धारित करता है, उसके चुनाव के पहले कोई मूल्य नहीं होते। ऐसा कहा जा सकता है कि बुद्धिवादी दार्शनिक भी मनुष्य को इसी भाँति स्वतंत्र मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने लिए नियमों का विधान करता है। उदाहरणार्थ, कांट का निरपेक्ष आदेश व्यक्ति की ही बुद्धि का आदेश है : कांट के अनुसार मनुष्य जिन नियमों से बंधा है वे उसी के द्वारा निर्मित हैं। 'आप उसी सिद्धान्त पर आचरण करें जिसे आप अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से उत्पन्न मान सकें—कांट का यह सिद्धान्त इसी मानवीय स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करता है। किन्तु कांट के अनुसार बुद्धि का या नैतिक सिद्धान्त पूर्ववर्ती होता है तथा उसका तार्किक औचित्य भी स्थापित किया जा सकता है किन्तु सार्त्र किसी भी प्रकार की पूर्ववर्त्तिता तथा तार्किक औचित्य का विरोध करते हैं। उनके अनुसार मानवीय चुनावों का कोई तार्किक औचित्य नहीं होता। वे एक अर्थ में असंगत (ऐब्सर्ड होते) हैं, क्योंकि उनके किये जाने का कोई तर्कसंगत कारण दिखायी नहीं देता। मनुष्य की स्वतंत्रता न तो कोई सामान्य गुण है और न ही वह प्रदत्त है। उसका आविर्भाव चुनाव की अवस्था में ही होता है, वह चुनाव के पहले नहीं होती।[1]

---

1. The freedom of the for-itself appears as its being. But since this freedom is neither given nor a property, it can be only by choosing itself. The freedom of the for-itself is always engaged; there is no question here of a freedom which would be undetermined and which would per-exist its choice. we shall never apprehend ourselves except as a choice in the making. But freedom is simply the fact that this choice is unconditioned.

····I choose myself perpetually and can never be merely by virtue of having-being-chosen....this choice as it is made indicates in general other choices as possible. The possi-

सार्त्र का मानव-स्वातंत्र्य का सिद्धांत उनकी मानव-चेतना सम्बन्धी विशिष्ट धारणा का तार्किक परिणाम है। चेतना अवस्तुत्व है, सत्ता के निषेध की क्षमता है। सरल शब्दों में, चेतना जगत् से सम्बन्ध विच्छेद करके, उससे एक दूरी पर स्थित होकर, उस पर विचार एवं अनुचिंतन कर सकती है। इस प्रकार चेतना सत्ता को अर्थयुक्त बनाती है। चेतना सदैव 'किसी की' चेतना होती है। इस 'किसी' के अभाव में वह अवस्तुत्व हो जाती है। चेतना का यही अवस्तुत्व उसकी स्वतंत्रता है। चेतना के अवस्तुत्व का एक और पहलू है—चेतना तथा आत्मा का सम्बन्ध है। इस विषय की विस्तृत चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। संक्षेप में, सार्त्र का विचार यह है कि चेतना किसी आत्मा की चेतना नहीं होती क्योंकि आत्मा से युक्त चेतना का पारदर्शी स्वभाव नष्ट हो जाता है। चेतना पूर्णतया स्वच्छंद, उन्मुक्त एवं अनिर्धारित होती है। किसी आत्मा की कल्पना करना चेतना के शुद्ध विषयापेक्षी प्रवाह को निर्धारित करना है। दुश्चिंता के क्षणों में ही हमें अपने इस स्वतंत्र स्वरूप की अनुभूति होती है। ऐसे क्षणों में हमें यह अनुभूति होती है कि हमारे कार्यों का कोई पूर्व स्थित—आंतरिक अथवा बाह्य-आधार नहीं है। मनुष्य की स्वतंत्रता का यह बोध प्रारम्भ में अत्यन्त भयावह होता है। मनुष्य इस अनुभूति को सहन नहीं कर पाता कि उसका कोई अतीत और भविष्य तथा आत्मा नहीं है, कि उसकी योजनायें और चुनाव ही उसका जीवन है, कि वह उनके लिए स्वयं उत्तरदायी है। उत्तरदायित्व का यह भार मनुष्य के लिए दुर्वह होता है, इसलिए वह इस विश्वास की शरण में जाता है कि जगत् की व्यवस्था इस भाँति निश्चित है कि उसके भीतर उसके सभी क्रिया-कलाप, चुनाव एवं निर्णय भी निर्धारित हैं। और इस जगत्-व्यवस्था के लिए ईश्वर, प्रकृति अथवा समाज उत्तरदायी है।

सार्त्र के अनुसार अपने कार्यों के लिए कारणों के तलाश की यह प्रवृत्ति मनुष्य की दुरास्था है। दुरास्था का सहारा लेकर मनुष्य स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व से उत्पन्न चिंता तथा उस चिंताजन्य क्लेश से मुक्त होना चाहता है। इसके लिए वह बहानों की तलाश करता है, अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने-

---

bility of these other choices is....lived in the feeling of unjustifiability; and it is this which is expressed by the fact of the absurdity of my choice.

—B. N., p. 455-456·

वाले कारणों की खोज करता है। बहानों की यह तलाश एक प्रकार की रक्षा-प्रविधि (डिफेन्स मेकेनिज्म) है जिसे सार्त्र दुरास्था (बैड फेथ) की संज्ञा देता है।

दुरास्था :

हम अपने को बाहर से एक वस्तु या व्यक्ति के रूप में देखने का प्रयास करके अपनी चिन्ता से मुक्त होना चाहते हैं। अन्य शब्दों में, हम अपनी वास्तविक स्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहते क्योंकि वह हमारे लिए सुखद अथवा अनुकूल नहीं होती। हम उस स्थिति के लिए कारणों की तलाश करते हैं, मानों वह किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न की हुई स्थिति हो। अथवा यह हो सकता है कि हम स्थिति की वास्तविकता को नजरन्दाज करना चाहते हों, जान-बूझ कर उसके वास्तविक अर्थ को न ग्रहण कर, उसे अन्य रूप देना चाहते हों। सार्त्र के अनुसार यह एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना है, "आत्मा में निहित झूठ" है। आत्म-प्रवंचना झूठ बोलने की भाँति है। झूठ जान-बूझ कर बोला जाता है, उसी प्रकार दुरास्था द्वारा भी मनुष्य जानबूझ कर अपनी स्थिति की अन्य व्याख्या करना चाहता है। सार्त्र के उपन्यासों तथा नाटकों के प्रायः सभी पात्र एक प्रकार की दुरास्था के शिकार हैं, वे अपनी मूल स्वतंत्रता को स्वीकार करने से कतराते हैं। दुरास्था केवल अपनी स्वतंत्रता की ही अस्वीकृति नहीं है, अपनी किसी भी वास्तविकता—कायरता, कामवासना, नृशंस व्यवहार आदि—की अस्वीकृति है। 'नो एक्जिट' का नायक गार्सिन, अपनी कायरता नहीं स्वीकार करता, 'दि फ्लाइज' के ओरेस्टेस का पश्चात्ताप उसकी दुरास्था का सूचक है, 'एज आफ रीज़न' के नायक मैथ्यू तथा बोरिस अपनी स्वतन्त्रता को नकारते हैं, इसी उपन्यास की नायिका मार्सेली, 'रेस्पेक्टफुल प्रास्टीच्यूट' की नायिका लिजी तथा 'डर्टी हैन्ड्स' की जेसिका अपनी काम-वासना के नाते दुरास्था की शिकार हैं।

आत्म-प्रवंचना की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषणवाद में की है। किन्तु सार्त्र फ्रायड की व्याख्या की आलोचना करते हैं। फ्रायड के अनुसार मनुष्य का अचेतन मन चेतन मन से उसके जीवन के अप्रिय सत्यों को छिपाने का प्रयास करता है। सार्त्र के अनुसार फ्रायड का यह सिद्धान्त चेतना को दो भागों में विभाजित कर देता है जो कि चेतना के मूल पारदर्शी स्वरूप के विपरीत है। अचेतन मन की अवधारणा चेतना में एक अपारदर्शिता का प्रवेश करती है। किन्तु चेतना स्वरूपतः पारदर्शी है। अपारदर्शिता सत्ता का लक्षण है न कि चेतना का। यहाँ पर यह चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा कि मनुष्य की स्वतंत्रता या मुक्ति के सम्बन्ध में सार्त्र

की धारणा फ्रायड तथा मार्क्स की धारणाओं से भिन्न है। फ्रायड तथा मार्क्स दोनों के लिए मनुष्य की मुक्ति उसके अतीत के भार से मुक्त होने पर निर्भर करती है—फ्रायड के अनुसार अतीत में दबायी गयी कामवासनायें छद्मवेष में मनुष्य के वर्तमान में अपनी तृप्ति पाना चाहती हैं जिसके नाते मनुष्य अपने वर्तमान की नयी स्थितियों के प्रति उचित दृष्टिकोण अपनाने में असमर्थ हो जाता है, मार्क्स के अनुसार अतीत की सामाजिक संरचनायें एवं धारणायें, जो वर्तमान में अनुपयोगी हैं, मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक होती हैं। सार्त्र के अनुसार फ्रायड तथा मार्क्स की व्याख्यायें अधूरी हैं। फ्रायड सामाजिक परिस्थितियों की भूमिका की अवहेलना करता है तो मार्क्स मनुष्य की व्यष्टिता की। सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता विषयिता का लक्षण है, किन्तु उसकी संभावना विषय-जगत् पर ही निर्भर करती है।[1]

अस्तु, दुरास्था आत्म प्रवंचना है, अपनी वास्तविकता को स्वयं अपने से छिपाना है। इस नाते यह झूठ बोलने से भिन्न है। झूठ किसी अन्य से बोला जाता है, झूठ बोलने वाला सत्य से भली-भाँति परिचित होता है। दुरास्था की स्थिति में व्यक्ति अपनी वास्तविकता को स्वीकार न कर उसे एक अन्य रूप में—जो उसके लिए हो—प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।[2]

दुरास्था की स्थूल व्याख्या के लिए सार्त्र ने अनेक उदाहरण तथा दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं। इनमें से कुछ दृष्टान्तों के माध्यम से हम दुरास्था का स्पष्टीकरण करेंगे।

सार्त्र एक महिला का उदाहरण लेते हैं, जो अपने साथी के साथ प्रथम बार घूमने जाती है।[3] यह महिला भलीभाँति जानती है कि उसका साथी उसमें इतनी रुचि क्यों ले रहा है, वह उसकी काम-भावना को अच्छी तरह

---

1. देखिए, ऐन्टनी मैन्सर : सार्त्र-ए फिलासफिक स्टडी, दि ऐथलोन प्रेस, यूनिवर्सिटी आफ लंदन, 1966, पृ० 169.
2. ....bad faith does not come from outside to human reality. One does not undergo his bad faith; one is not injected with it, it is not a state. But conciousness affects itself with bad faith....the one to whom the lie is told and the one who lies are one and the same person.

   —B. N., p. 49, Unabridged Paper-back edition.
3. Ibid., p. 55-56.

समझती है और यह भी जानती है कि अन्त में उसे उस व्यक्ति की कामभावना को दृष्टि में रखते हुए कोई न कोई निर्णय लेना पड़ेगा। तथापि वह उसकी बातों का, उसकी भाव-भंगिमाओं का केवल सतही अर्थ लगाती है। यदि वह व्यक्ति कहता है : "आप अत्यन्त आकर्षक लग रही हैं" तो वह इस वाक्य का केवल प्रशंसात्मक अर्थ लगाती है, यह नहीं स्वीकार करती कि यह कह कर वह व्यक्ति उसके शरीर के प्रति अपनी इच्छा व्यक्त कर रहा है। वह यह समझती है कि व्यक्ति की बातों में उसी प्रकार ईमानदारी और सम्मान का भाव है जिस प्रकार मेजें चौकोर है' अथवा 'दीवारों का रंग नीला या भूरा है' जैसे वाक्यों का शाब्दिक अर्थ होता है। वास्तव में यह सब इसीलिए है क्योंकि वह महिला स्वयं यह नहीं जानती कि वह क्या चाहती है। वह अपनी कामोत्तेजक स्थिति को जानती है किन्तु उसके नग्न रूप को स्वीकार करने से घबराती है। किन्तु यदि इस व्यक्ति का दृष्टिकोण उसके प्रति केवल सम्मान का दृष्टिकोण हो तो यह स्थिति भी उसे स्वीकार्य नहीं हो सकती। वस्तुतः वह महिला अपनी कामेच्छा को भी पूर्णतया नहीं स्वीकार करती। वह चाहती है कि उसका साथी उसके शारीरिक सौन्दर्य के प्रति आसक्त भी रहे और उसकी स्वतंत्रता भी बनी रहे। लेकिन मान लीजिए कि उसका साथी सहसा उसका हाथ पकड़ लेता है। अब उस महिला को एक निर्णय लेना है। यदि वह अपना हाथ नहीं हटाती है तो इसका अर्थ यह होगा कि उसे अपने साथी का प्रणय-प्रस्ताव स्वीकार है; यदि हाथ हटा लेती है तो उस क्षण की सुखद अनुभूति समाप्त हो जाती है। इस निर्णय के क्षण में महिला की प्रतिक्रिया इस प्रकार है : "वह अपना हाथ वहीं छोड़ देती है, किन्तु वह इस पर ध्यान नहीं देती। ऐसा इसलिए क्योंकि वह उस क्षण केवल बुद्धि या विवेक ही रह जाती है—वह अपने साथी को भावनात्मक चिन्तन के उदात्त क्षेत्र में खींच ले जाती है, उससे अमूर्त्त जीवन को, तथा अपने जीवन की चर्चा करती है तथा अपने को शुद्ध चेतना के रूप में प्रस्तुत करती है। और इस कालान्तर में शरीर एवं आत्मा का पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद हो चुका होता है, उसका हाथ उसके साथी के गर्म हाथों के बीच निश्चल पड़ा होता है—एक वस्तु की भाँति, न सहमति देते हुए, न विरोध करते हुए।"[1]

यह महिला दुरास्था की शिकार है। सर्वप्रथम वह अपने साथी की सभी गतिविधियों को उनके सतही अर्थ तक सीमित कर देती है। इसी के साथ वह उसकी इच्छा का आनंद भी लेती है। जब तक वह यह सोचती है, वह कामेच्छा

---

1. वही, पृ० 63।

नहीं है। और अन्त में, वह अपने शरीर से एक प्रकार के सम्बन्ध-विच्छेद की कल्पना करती है—मानो उसका शरीर उससे बाहर स्थित निष्क्रिय वस्तु है, जिसे कुछ भी हो सकता है। और वह उससे अप्रभावित रहेगी। उसकी सारी प्रतिक्रियायें उसके साथी तथा स्वयं उसकी अपनी कामेच्छा को नकारने पर आधारित हैं।

दुरास्था का एक अन्य उदाहरण सार्त्र समलैंगिक पुरुष के उदाहरण से देता है। 'एज आफ रीजन' में डेनिएल एक समलैंगिक पुरुष है। वह अपने अतीत के समलैंगिक कृत्यों को स्वीकार करता है, किन्तु उनके लिए कोई न कोई कारण ढूँढ़ने का प्रयास करता है जैसे कि ऐसा उसने संयोगवश किया, अथवा यह उसका दुर्भाग्य था अथवा ऐसे सौन्दर्य से आकृष्ट होकर जो स्त्रियों में मिलता है।[1] ऐसा व्यक्ति अपने अतीत के सभी समलैंगिक कृत्यों को स्वीकार करते हुए भी अपने को 'समलैंगिक' मानने इंकार करता है। यह समलैंगिक व्यक्ति उसी अर्थ में दुरास्था से युक्त है जैसे कि पूर्वगामी उदाहरण की नवयुवती। यह सही है कि वह उस निरपेक्ष अर्थ में समलैंगिक नहीं है जिस अर्थ में वस्तु, वस्तु होती है। अर्थात् किसी मनुष्य के अतीत के व्यवहार से उसका सारतत्त्व नहीं निर्धारित किया जा सकता। भविष्य के रूप में मनुष्य अतीत से स्वतंत्र होता है और समलैंगिक अपनी इसी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए समलैंगिक होने के तथ्य को अस्वीकार करता है। किन्तु उसकी यह स्वतंत्रता उस अतीत पर नहीं लागू होती। उसका अतीत तो स्वयं में सत्ता है, वह पूर्णतया परिभाषित है और जिस अर्थ में कुछ विशेष प्रकार के कृत्यों के करने वाले व्यक्ति को समलैंगिक कहा जाता है और जहाँ तक उसने वैसे कृत्य किये हैं, वह समलैंगिक है। अतएव उसका यह कहना कि वह बिलकुल समलैंगिक नहीं है, दुरास्था का प्रतीक है।

मानवीय सम्बन्धों एवं राजनैतिक दृष्टिकोणों में पायी जाने वाली दुरास्था का अत्यन्त सुन्दर विवरण हमें सिमोन द बोउआ के उपन्यास 'दि ब्लड आफ अदर्स' में देखने को मिलता है[2] उपन्यास की नायिका हेलेना नायक ज्याँ ब्लोमार्ट से प्रेम करती है। वह अपने को पूर्णतया ब्लोमार्ट में खो देती है क्योंकि उसे स्वतः अपने जीवन का कोई अर्थ नहीं दिखाई देता। उसके लिए जीवन पूर्णतया

---

1. वही, पृ० 63।
2. उपन्यास के सारांश को लेखक ने हेजेल बार्न्स 'दि लिटरेचर आफ पासिबिलिटी' से लिया है।

ब्लोमार्ट में केन्द्रित है। वह ब्लोमार्ट के प्रति प्यार के द्वारा ही अपनी सत्ता का औचित्य स्थापित करती है। अपने तथा ब्लोमार्ट के पारस्परिक प्रेम से पृथक् राजनैतिक परिस्थिति का वह कोई अर्थ नहीं समझती, वस्तुतः तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति को अपने सम्बन्धों के लिए खतरनाक मानती है। ब्लोमार्ट जब दूसरों के प्रति अपने उत्तरदायित्व की चर्चा करता है तब वह क्रुद्ध हो जाती है और समझती है कि ब्लोमार्ट को उसकी कोई चिन्ता नहीं है। अन्त में वह ब्लोमार्ट का स्थानान्तरण एक सुरक्षित स्थान पर करवा देती है। इससे ब्लोमार्ट के मन में उसके प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाती है और वहीं पर दोनों के संबंध टूट जाते हैं।

हेलेना का दृष्टिकोण आत्मकेन्द्रित एवं स्वार्थपूर्ण की अपेक्षा आत्मविश्वास के अभाव का सूचक है, वह अपनी पूर्णता की तलाश ब्लोमार्ट की दृष्टि में करना चाहती है। अपनी वास्तविकता का सामना करने में असमर्थ हेलेना अपने को समस्त वस्तुओं के केन्द्र के रूप में स्थापित करना चाहती है। किन्तु ब्लोमार्ट से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर वह दूसरी दुरास्था का शिकार होती है। वह अपना 'निर्वैयक्तीकरण' कर डालती है। अपनी व्यष्टिता को तथा अपने चुनाव स्वातंत्र्य को स्वीकारने के बजाय अब वह अपने को इतिहास की एक कठपुतली समझने लगती है, मानो उसका अपना कोई अस्तित्व ही न हो। वह जर्मन सरकार के अन्तर्गत कार्य करना भी स्वीकार कर लेती है तथा जर्मनों द्वारा फ्रांसीसी जनता के प्रति किये गये कार्यों के उत्तरादायित्व से अपने को मुक्त रखती है। किन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चली। स्वतंत्र आत्मा की पुकार को वह अन्ततः अनसुनी न कर सकी। उसे यह अनुभूति हुई कि उसे अपनी भूमिका का चुनाव करना है क्योंकि चुनाव न करना भी एक प्रकार का चुनाव करना है। अपने दायित्व की सर्वप्रथम अनुभूति उसे तब होती है जब वह गैस के लिए लाइन में खड़ी होती है और यह देखती है कि एक बच्चे की निगाहें उसी के ऊपर केन्द्रित हैं।[1] अब उसे दूसरों के अस्तित्व तथा उनके प्रति उत्तरदायित्व का बोध होता है तथा वह लाइन में अपना स्थान उस बच्चे को लिये हुए औरत को दे देती है। उसकी यह भावुक प्रतिक्रिया उसके जीवन को नया मोड़ देती है। अब वह ब्लोमार्ट के साथ, जो कि भूमिगत कार्यकर्ताओं

---

1. तुलनीय, सार्त्र का दृष्टि (लुक) का सिद्धान्त। सार्त्र का की-होल (कुंजी के लिए छेद) का उदाहरण इस तथ्य की स्थापना करता है कि हमें दूसरों की सत्ता का तब ज्ञान होता है जब हम दूसरों की दृष्टि का विषय बन जाते हैं।

का नेता है, कार्य करने का निश्चय करती है। यहाँ हेलेना के जीवन में दो महत्त्वपूर्ण बातें होती हैं : (1) उसे ब्लोमार्ट के प्रेम से प्रथम बार सुख की अनुभूति होती है, क्योंकि अब वह ब्लोमार्ट को ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रेम करती है जिसका अपना भी जीवन है, जो केवल उसके अस्तित्व का औचित्य या आधार नहीं है तथा (2) उसे जीवन में कुछ सार्थकता दिखाई देती है क्योंकि अब वह एक उद्देश्य के प्रति प्रतिबद्ध है जिसके लिए मृत्यु को भी स्वीकार कर सकती है (और वस्तुतः उसी कार्य के लिए वह मर भी जाती है) जब तक हेलेना चुनाव एवं उत्तरदायित्व से पलायन करती रही, उसका सारा जीवन दुरास्था द्वारा प्रेरित था।

मनुष्य का सारा धार्मिक जीवन दुरास्था पर आधारित जीवन है। धार्मिक व्यवहार आत्म-पलायन अथवा स्वैर चिन्तन पर आधारित होता है। ईश्वर की धारणा मनुष्य की अतार्किक इच्छा है जिसके द्वारा वह वस्तुओं का स्थायित्व एवं असंदिग्धता तथा मनुष्य की स्वतंत्रता—दोनों को एक साथ प्राप्त करना चाहता है। वह मनुष्य के उत्तरदायित्व से तो बचना चाहता है किन्तु स्वयं-में-सत्ता से श्रेष्ठ सत्ता भी प्राप्त करना चाहता है, वह 'चेतन-वस्तु' (इन इटसेल्फ-फार-इटसेल्फ) होना चाहता है। किन्तु यह सर्वथा एक असंगत कल्पना है, मानवीय वास्तविकता के प्रतिकूल है। ऐसी इच्छा समस्त मानवीय संभावनाओं को परि-समाप्त कर देती है। सार्त्र के अनुसार ईश्वर की अस्वीकृति मानव-स्वातंत्र्य एवं उत्तरदायित्व की स्वीकृति है और इसके विपरीत ईश्वर की स्वीकृति मानव-स्वातंत्र्य की अस्वीकृति एवं उस स्वतंत्रता से उत्पन्न उत्तरदायित्व के भार से बचने का कल्पित उपाय—दुरास्था—है !

सार्त्र के अनुसार समस्त मानवीय सम्बन्ध दुरास्था द्वारा नियमित हैं : मानवीय सम्बन्धों में या तो एक व्यक्ति दूसरे को साधन बनाकर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करता है, अथवा दूसरे के समक्ष अपने को साधन के रूप में प्रस्तुत कर देता है, जिससे वह अपने उत्तरदायित्वों से बच सके अथवा किसी अमूर्त पूर्णता के नाम पर समस्त एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्धों को समाप्त करना चाहता है क्योंकि कोई भी उसका पात्र नहीं है।[1]

यद्यपि सार्त्र, कामू तथा सिमोन यह मानते हैं कि अधिकांश मानव-व्यवहार

---

1. मानवीय सम्बन्धों में व्याप्त दुरास्था के विस्तृत विवेचन के लिए देखें, Hazel E Barnes : The Literature of Possibility, London : Tavistock Publications, 1961, pp. 112-151.

दुरास्था पर आधारित होता है किन्तु उनका यह विश्वास नहीं है कि सदास्था (गुड फेथ) सम्भव ही नहीं है। मनुष्य बिना भ्रान्तियों के भी रह सकता है। उसकी यह स्वीकृति कि वह केवल मनुष्य है—मानवीय सम्भावनाओं की स्वीकृति है। मनुष्य का मनुष्य के रूप में बोध उसकी स्वतंत्रता की खोज है। मनुष्य की यह स्वतन्त्रता उसके भविष्य का उद्घाटन करती है जो केवल मनुष्य के द्वारा निर्मित एवं नियन्त्रित है।

अस्तित्ववादी नीतिशास्त्र :

मानव-स्वातंत्र्य के पूर्वगामी विवेचन में सार्त्र के अस्तित्ववादी नीतिशास्त्र की सामान्य रूपरेखा स्पष्ट हो चुकी है। यह देखा जा चुका है कि सार्त्र पूर्ण मानव-स्वातंत्र्य में विश्वास करते हैं। अपनी पूर्ण स्वतंत्रता को अस्वीकार करके अपने व्यवहार के अन्य कारणों की तलाश करनेवाला व्यक्ति ईमानदार[1] नहीं है। अपने अतीत की वास्तविकता तथा भविष्य के उत्तर-दायित्व को न स्वीकार करना अपने मानवीय अस्तित्व के प्रति 'बेईमानी' है। इस 'बेईमानी' के दो रूप हो सकते हैं, जिसे निम्नलिखित दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

श्री 'क' झूठ बोलते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि वे झूठे हैं किन्तु यह तर्क देते हैं कि वे अपने स्वभाव से तो पूर्ण ईमानदार हैं, उनका झूठ बोलना किसी बाहरी संयोग अथवा बाहरी परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित है। उनका आन्तरिक आत्मा झूठ बोलने के लिए उत्तरदायी नहीं है। श्री 'ख' भी झूठ बोलते हैं और 'क' की तरह यह मानते हैं कि झूठे हैं। किन्तु 'क' के विपरीत वे अपने बाह्य और आन्तरिक आत्मा में भेद नहीं करते। वे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पूर्णतया नियन्त्रित मानते हैं। ईश्वर ने उन्हें जो बनाया है वे वही हैं।

सार्त्र के अनुसार 'क' के व्यवहार में बेईमानी है क्योंकि वे अपनी वस्तुस्थिति को अस्वीकार करते हैं। 'ख' का व्यवहार भी दुरास्थापूर्ण है क्योंकि वह यह मानते हैं कि वे जो हैं वही हैं। अन्य शब्दों में, वे दोनों मानवीय अस्तित्व की सम्भावनाओं को अस्वीकार करते हैं। दोनों के ही दृष्टिकोण "पूर्ण निर्धारण-वाद[2]" पर आधारित हैं। 'क' के व्यवहार में मानव-स्वातंत्र्य एवं अस्तित्व की

---

1. अंग्रेजी में इसके लिए Inauthentic शब्द का प्रयोग किया गया है।
2. देखिए : हेजेलबार्न्स : दि लिटरेचर आफ पासिबिलिटी, पृ० 811 तथा आगे।

सम्भावनाओं की स्वीकृति है किन्तु अस्तित्व की वस्तुस्थिति एवं उत्तरदायित्व की अस्वीकृति है, 'ख' के व्यवहार में वस्तुस्थिति की स्वीकृति है किन्तु मानव-स्वातंत्र्य एवं उत्तरदायित्व को अस्वीकृति है।

इस पूर्ण निर्धारणवाद के विपरीत सार्त्र का नीतिशास्त्र 'पूर्ण स्वतंत्रता तथा पूर्ण उत्तरदायित्व' का नीतिशास्त्र है। पूर्ण स्वातंत्र्य से अभिप्राय निम्नलिखित प्रकार की स्वतंत्रता से है :

(क) वासनाओं तथा प्रवृत्तियों से स्वतंत्रता।

(ख) अभिप्रेरकों से स्वतंत्रता।

(ग) स्वयं-में-वस्तु से स्वतंत्रता। स्वयं-में-वस्तु (जड़ सत्ता) चेतन सत्ता का स्पर्श नहीं कर सकती। चेतन वस्तु द्वारा निर्धारित नहीं होती।

(घ) सारतत्त्व से स्वतंत्रता। मनुष्य का अस्तित्व उसके सार का पूर्वगामी होता है। मनुष्य जैसा अपने को बनाता है, उसी प्रकार का होता है।

(ङ) मनुष्य पूर्व निर्धारित मूल्यों से स्वतंत्र है। वह स्वयं मूल्यों की सृष्टि करता है।

मनुष्य के चुनाव से पूर्व कोई मूल्य नहीं होते। मनुष्य का अपना चुनाव ही मूल्यों को परिभाषित करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य की स्वतंत्रता की कोई सीमा नहीं है, उसमें कोई बाधा नहीं है। सार्त्र यह स्वीकार करते हैं कि ऐसी अनेक बातें हैं जिनसे मनुष्य की स्वतंत्रता परि-सीमित है। इन बातों को वे 'तथ्यता'[1] कहते हैं। 'तथ्यता' के अन्तर्गत पाँच प्रकार के तथ्य आते हैं, जो स्वतंत्रता के लिए बाधक होते हैं : (1) मेरा स्थान (2) मेरा अतीत (3) मेरा परिवेश (4) मेरे सहयोगी बन्धु (5) मेरी मृत्यु[2]।

सार्त्र के अनुसार निर्बाध स्वतंत्रता अर्थहीन प्रत्यय है। स्वतन्त्रता का अर्थ हैं चुनाव और चुनाव का अर्थ है इच्छा और वास्तविकता, संकल्प एवं उपलब्धि में भेद। स्वतंत्रता का अर्थ चुनाव एवं संकल्प की स्वतन्त्रता है। स्वतंत्रता के बाधक तत्त्व मनुष्य की स्वतंत्रता के प्रमाण हैं। वस्तुतः मनुष्य की स्वतंत्रता ही उसकी स्वतंत्रता की सीमाओं एवं बाधाओं को अर्थ देती है। बाधा किसी के लिए बाधा होती है। बाधा इसलिए बाधा होती है क्योंकि हमने ऐसा कुछ करने का निर्णय लिया है जिसे हम नहीं कर सकते। बाधा

---

1. Facticity.
2. *Being and Nothingness*. p. 465 ff.

की सार्थकता चुनाव के सन्दर्भ में है, वह चुनाव के पहले नहीं होती बल्कि उसका प्रादुर्भाव चुनाव के पश्चात् होता है। उदाहरण के लिए, हमारे मार्ग का पर्वत हमारे लिए एक बाधा है। यह बाधा 'मानवीय स्थिति' की सूचक है। हम सदा किसी न किसी स्थिति में होते हैं और हमारा चुनाव उस स्थिति के द्वारा परिसीमित होता है, किन्तु उसके भीतर हम अपने चुनाव में स्वतंत्र होते हैं। पर्वत के रूप में बाधा हमारे लिए यह निर्णय लेने का अवसर उपस्थित करती है कि हम आगे बढ़ने से रुक जायेंगे अथवा नए मार्गों की खोज करेंगे। इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता ही बाधाओं का भी चुनाव करती है।[1] स्वतन्त्रता किसी 'स्थिति' के भीतर होती है किन्तु उस स्थिति के भीतर वह निरपेक्ष होती है। 'ब्लड आफ अदर्स' की नायिका अंत में इसी तथ्य को स्वीकार करती है। वह ब्लोमार्ट से कहती है कि उसने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से उसका तथा उसकी पार्टी का वरण किया और ब्लोमार्ट भी अपने उत्तर द्वारा इसकी पुष्टि करता है।[2]

---

1. Man encounters an obstacle only within the field of his freedom........There is no obstacle in the absolute sense, but the obstacle reveals its coefficient of adversity across freely invented and freely acquired techniques. The obstacle reveals this coefficient also in terms of the value of the end posited by freedom. The rock will not be an obstacle if I wish at any cost to arrive at the top of the mountain. On the other hand it will discourage me if I have freely fixed limits to my desire of making the projected climb.—Ibid., p. 464.
2. Helene says :
   "I have done what I wanted. You were just a stone. Stones are necessary to make roads, otherwise how could one choose a way for himself." Blomart reflects :

   "I believe you. I must believe you. No harm has come to you through me. Under your feet I was only an innocent stone. Innocent as the stone, as that piece of steel that pierced your being."

   Quoted by Hazel Barnes in *The Literature of Possibility*, p. 83.

मनुष्य की स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी स्थूल भौतिक परिस्थिति को परिवर्तित कर सकता है अथवा अपनी सभी वांछित इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। चुनाव की स्वतन्त्रता उपलब्धि की स्वतन्त्रता नहीं है। उपलब्धि भौतिक परिस्थिति द्वारा परिसीमित होती है। हर परिस्थिति में चुनाव-स्वातंत्र्य का रूप एक-सा नहीं होता। उदाहरण के लिए, फौज की सेवा में भर्ती होने के पहले मैं उसमें जाने या न जाने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र हूँ किन्तु भर्ती हो जाने के बाद मेरी स्वतन्त्रता का रूप बदल जाता है। तब मेरे सामने यह विकल्प नहीं रहता कि मैं चाहूँ तो जाऊं, चाहूँ तो न जाऊँ। मैं अब नयी परिस्थिति में हूँ और मेरी स्वतन्त्रता इस नयी परिस्थिति द्वारा सीमित है। मुझे ऐसी परिस्थिति के भीतर निर्णय लेना होगा यद्यपि स्वतः परिस्थिति मुझे कोई निर्णय लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकती।

स्वतन्त्रता का महत्त्वपूर्ण परिणाम पूर्ण उत्तरदायित्व है। मेरा चुनाव केवल मेरा अपना है, किसी अन्य द्वारा नियन्त्रित नहीं। किन्तु मेरे चुनाव का सम्बन्ध केवल मुझसे नहीं है, उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवता से है। अपने चुनाव द्वारा मैं मूल्यों की रचना करता हूँ जिसके लिए उत्तरदायित्व केवल मेरा है। यही उत्तरदायित्व की भावना मेरे भीतर परिताप उत्पन्न करती है।[1]

सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववाद मानववाद[2] है। मानववादी नीतिशास्त्र मनुष्य की व्यष्टिता एवं स्वातन्त्र्य का नीतिशास्त्र है। इसके अनुसार मूल्यों

---

1. I am responsible for everything, in fact; except for my own responsibility, for I am not the foundation of my being. Therefore, everything takes place as if I were complled to be responsible. I am abandoned in the world, not in the sense that I might remain abandoned and passive in a hostile universe like a board floating on the water, but rather in the sense that I find myself suddenly alone and without help, engaged in a world for which I bear the whole responsibility without being able to tear myself away from this responsibility for an instant.

—*Being and Nothingness*, p. 531-32.

2. देखिए उनका ग्रन्थ "*Existentialism and Humanism.*"

का कोई प्रागनुभविक एवं अनुभवातीत स्रोत नहीं होता, नैतिकता का कोई पूर्वप्रदत्त मानदण्ड नहीं होता। समकालीन भारतीय दर्शन में मानवेन्द्रनाथ राय ने भी इसी प्रकार के व्यष्टि-केन्द्रित नीतिशास्त्र को स्वीकार किया है यद्यपि राय अस्तित्ववादी नहीं हैं। नैतिक मूल्यों के प्रागनुभविक स्रोत को स्वीकार करना मनुष्य की क्षमता, मौलिकता एवं सर्जनात्मकता पर अविश्वास करना है और यह मानना है कि स्वतः नैतिक आचरण करने में अक्षम मनुष्य नैतिक आचरण इसलिए करता है क्योंकि वह या तो अपने पूर्वनिर्मित स्वभाव के नाते अथवा किसी अलौकिक शक्ति के शाश्वत आदेशों के नाते ऐसा करने के लिए विवश है। सार्त्र की यह मान्यता है कि अस्तित्ववादी समस्त मानवता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है, इसीलिए व्यक्ति द्वारा रचित मूल्यों का स्वरूप सामान्य होता है। कांट भी लगभग ऐसी ही बात करता है। किन्तु कांट एवं सार्त्र के मत को एक समझना भूल होगी। कांट का निरपेक्ष आदेश प्रागनुभविक है और उसका औचित्य स्थापन मानवीय प्रज्ञा (रीजन) द्वारा होता है। यह प्रज्ञा निश्चित एवं अनुभवातीत है। सार्त्र के अनुसार ऐसी कोई प्रज्ञा नहीं होती। मानववादी अनुभूति का आविर्भाव किसी 'अन्य' कारण से न होकर मानव अस्तित्व को अनिवार्य संरचना का, अस्तित्व की असंगतता[1] का परिणाम है। जगत् की असंगतता हम सभी की शत्रु है क्योंकि वह जीने के लिए कोई कारण नहीं प्रस्तुत करती तथा उस असंगतता के समक्ष हम सभी एकाकी हैं—प्रागनुभविक एवं अनुभवातीत आधारों से रहित। एकाकीपन की यह भावना हमें सहयात्रियों के सम्बन्ध में लाती है क्योंकि हम यह जानते हैं कि वे सभी उस एकाकीपन की अनुभूति से त्रस्त हैं। अपने एकाकीपन से संघर्ष करते हुए हम सम्पूर्ण मानवीय स्थिति के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।[2]

---

1. Absurdity.
2. Yet in the depth of their solitude, it was others that they were protecting, all the others, all their comrades in the Resistance. Total responsibility in total solitude—is this not the very definition of our freedom ? This being stripped of all, this solitude, standing against the oppressors, undertook to be himself, freely and irrevocably. And by choosing for himself in freedom, he chose the freedom of all.

सार्त्र ने अपने मानववाद में वास्तविक मनुष्य को मूल्यों के केन्द्र में स्थापित किया है। यह उल्लेखनीय है कि 'नाशिया' में सार्त्र ने मानववाद पर व्यंग्य किया है और बाद में यह सिद्ध किया है कि अस्तित्ववाद मानव-वाद है। इस विचार परिवर्तन का कारण यह है कि 'नाशिया' में उल्लिखित मानववादी पूर्णतावादी है, उसके लिए वास्तविक मनुष्य की अपेक्षा मनुष्य का प्रत्यय अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका मनुष्य एक सामान्य प्रत्यय है। ऐसा मानव-वादी खतरनाक हो सकता है वह किसी वर्गविशेष से तादात्म्य स्थापित कर सकता है तथा उसके हित में व्यष्टि का उत्सर्ग कर सकता है। सार्त्र के मानववाद में मानवस्वभाव पूर्वनिर्मित नहीं है, वह निरन्तर निर्माणाधीन है। हर व्यक्ति का जीवन एक योजना है, सतत अभियान है, चुनाव की प्रक्रिया है तथा यह सब मानवीय जगत् में होता है। अपने एकाकीपन में मनुष्य नियमों, मूल्यों एवं नैतिक प्रतिमानों का स्रष्टा है।

सार्त्र का निरीश्वरवाद :

सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन का मुख्य लक्ष्य सम्पूर्ण मानवीय स्थिति को मानवीय सन्दर्भ में प्रस्तुत करना है। मानवीय समस्याओं का कोई अनुभवातीत समाधान नहीं। सार्त्र का मानववाद निरीश्वरवादी मानववाद है। ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करने के लिए सार्त्र दो प्रकार के तर्क प्रस्तुत करते हैं : प्रथम तो वे यह दिखाते हैं कि ईश्वर का प्रत्यय आत्म-व्याघाती है और दूसरे, धार्मिक जीवन दुरास्था पर आधारित जीवन है।

सृष्टिकर्ता ईश्वर की धारणा असंगत है तथा उसमें मानव-स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान नहीं है। सृष्टिकर्ता ईश्वर एक कलाकार की भांति है। उदाहरणार्थ, मैं एक मूर्ति बनाता हूँ। मूर्ति बन जाने के बाद, एक अर्थ में, वह मेरी नहीं रह जाती क्योंकि तब मैं उसका नियन्त्रण नहीं कर सकता। मैं यह नहीं निश्चित कर सकता कि उसका क्या अर्थ होगा, उसका लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा और उसकी क्या आलोचना होगी। उस मूर्ति का ऐसा भी अर्थ निकल सकता है जो मेरा अभिप्राय न रहा हो। अन्य शब्दों में, मेरे द्वारा ही रचित मूर्ति अब मुझसे स्वतन्त्र है। सृष्टिकर्ता ईश्वर की भी यही गति है। यदि ईश्वर की सृष्टि आन्तरिक रूप से ईश्वर पर निर्भर करती है, तो उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है, वह स्वतन्त्र नहीं है। इसलिए मनुष्य भी स्वतन्त्र नहीं है। यदि मनुष्य

—Sartre : *The Republic of Silence*,—Quoted by Hazel Barnse in *The Literature of Possibility*, p. 224.

(जो कि ईश्वर की सृष्टि है) स्वतन्त्र हैं तथा अपनी सत्ता के लिए ईश्वर पर किसी प्रकार निर्भर नहीं है, तो उसे सृष्टिकर्ता ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में, सृष्टिकर्ता ईश्वर और उसकी सृष्टि से मनुष्य के सम्बन्धों को लेकर दो ही विकल्प संभव हैं।

(1) या तो मनुष्य ईश्वर परतन्त्र है और इसलिए वह स्वतन्त्र नहीं है। अथवा (2) वह स्वतन्त्र है, और उसे सृष्टिकर्ता ईश्वर की कोई अपेक्षा नहीं है। मनुष्य की स्वतन्त्रता सार्त्र के दर्शन का मूलाधार है। पूर्वगामी पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि सार्त्र के अनुसार मनुष्य की सत्ता और उसकी स्वतन्त्रता पर्याय-वाची पद हैं। मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है। अतएव प्रथम विकल्प सार्त्र को पूर्णतया अस्वीकार्य है। दूसरे विकल्प की स्वीकृति प्रकारान्तर से ईश्वर की अस्वीकृति है, क्योंकि सृष्टिकर्ता से स्वतन्त्र सृष्टि का प्रत्यय सृष्टिकर्ता की स्वतन्त्रता एवं असीमता को खण्डित कर देता है। इसके अतिरिक्त, सार्त्र उन सभी दार्शनिक प्रयासों से असहमत हैं जो ईश्वर तथा मनुष्य की स्वतन्त्रता के बीच सामंजस्य स्थापित करते हैं। इस सम्बन्ध में वह लाइबनीज़ के दर्शन का उल्लेख करता है। लाइबनीज़ के अनुसार मनुष्य का सारतत्व ईश्वर द्वारा निर्धारित है। 'पूर्वस्थापित सामंजस्य' का सिद्धान्त मनुष्य की स्वतन्त्रता को स्थापित करने का असफल प्रयास है क्योंकि यदि मनुष्य के जीवन की सामान्य रूपरेखा पूर्वनिर्धारित है तो उस निर्धारण में भीतर स्वतंत्र आचरण का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतएव सार्त्र के समक्ष एक विकल्प दिखाई देता है—मनुष्य की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए ईश्वर को मृत घोषित करना।

स्वयंभू ईश्वर का प्रत्यय भी आत्म-व्याघाती है। ईश्वर का यह प्रत्यय स्व-निमित्त-सत्ता और स्वयं-में-सत्ता के पूर्ण सामंजस्य का प्रत्यय है जो तर्कतः असंभव है। चेतना अपने पारदर्शी स्वरूप को बनाये रखते हुए भी वस्तु के स्थायित्व को प्राप्त करना चाहती है। किन्तु ऐसा संभव नहीं है। पूर्ण संतुष्ट चेतना एक असंभावना है। चेतना एक योजना है, उसका स्वयंभू का स्तर प्राप्त करने का प्रयास सर्वथा निष्फल है क्योंकि स्वयंभू की धारणा अतार्किक है।[1]

---

1. Every human presence in the world is a passion, in that it is a project to lose itself in order to find being and in the same act constitutes the En-soi which escapes contingency in being its own ground, the Ens Causa sui which the religious call God. It is man's passion in the universe of Christ's, for man loses himself in order that God may

स्वयंभू ईश्वर की धारणा में इस भाँति भी आत्म-व्याघात है : यदि ईश्वर स्वतः उत्पन्न है तो इसका अर्थ यह है कि ईश्वर और उसकी आत्मा में भेद है (एक उत्पन्न करता है, एक उत्पन्न होता है)। यह भेद ईश्वर की आत्मा को आपातिक (कंटिजेंट) बना देता है, ईश्वर का आत्मा परतंत्र हो जाता है। किन्तु आपातिक स्वरूप वाला ईश्वर वस्तुतः ईश्वर नहीं है। वस्तुस्थिति इस प्रकार है : यदि ईश्वर का अस्तित्व है तो ईश्वर आपातिक है और आपातिक ईश्वर, ईश्वर नहीं है; यदि ईश्वर आपातिक नहीं है तो उसका अस्तित्व नहीं है।

सृष्टि और ईश्वर के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सृष्टि ईश्वर में समाहित है, किन्तु ईश्वर सृष्टि से परे है। सार्त्र के अनुसार, अतिवर्ती ईश्वर का प्रत्यय भी व्याघात से रहित नहीं है। वस्तुतः सृष्टि एक समष्टि है, उसका न तो कोई 'बाह्य' है और न कोई 'अभ्यन्तर'। इसलिए ईश्वर का सृष्टि के साथ कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। या तो ईश्वर अतिवर्ती अर्थात् निरपेक्ष विषयी है, उस दशा में वह मानवीय अभियानों का विषय नहीं है। अथवा वह विषय है और तब वह सृष्टि से अतिवर्ती नहीं है।

सार्त्र के अनुसार व्यक्ति का धार्मिक जीवन और व्यवहार मनुष्य की दुरास्था का सूचक है। अपने एकाकीपन से भयभीत तथा उत्तरदयित्व के भार को सहन करने में अक्षम व्यक्ति ईश्वर का सहारा लेता है। ईश्वर की स्वीकृति मानव-अस्तित्व की वास्तविकता से पलायन करने की एक विधि है। दुरास्था का शिकार मनुष्य मानवीय सम्बन्धों में ईश्वर के हस्तक्षेप को स्वीकार करता है, जिससे कि वह अपने द्वारा किये गये कार्यों के उत्तरदायित्व से बच सके। सार्त्र के नाटक 'दि फ्लाइज' का नायक ईश्वर की ऐसी कल्पना का विरोध करके मूलभूत मानव-स्वातन्त्र्य की घोषणा करता है। ईश्वर के अस्तित्व का समर्थक ज्यूस जब ईश्वरहीन जगत् का भयावह रूप प्रस्तुत करता है तब ओरेस्टेट उत्तर देता है कि ईश्वर पत्थरों, नदियों एवं पर्वतों का स्वामी हो सकता है, किन्तु मनुष्य का नहीं।[1] सार्त्र ईश्वर के समक्ष

---

be born But the idea of God is contradictory and we lose ourselves in vain; man is a useless passion.

—Quoted by Blackham in Six Existentialist Thinkers.

1. Zeus : Return to Nature, Nature's thankless son. Know your sin and abhor it....Or else—beware lest the very

मनुष्य की स्वतन्त्रता को स्थापना करते हैं और यह मसीहो ईश्वर की प्रकारांतर से खण्डन है। किन्तु यदि मसीही ईश्वर के स्थान पर किसी निर्वैयक्तिक सत्ता को स्थापित कर दिया जाय तो सार्त्र की स्थिति लगभग शापेनहावर के समान हो जायेगी। शापेनहावर अचेतन इच्छा को मूल सत् के रूप में स्वीकारते हुए कहते हैं कि इच्छा अपनी सुरक्षा एवं अभिव्यक्ति के लिए चेतना को उत्पन्न करती है, किन्तु वही चेतना इच्छा के विरुद्ध हो जाती है तथा उसके अर्थहीन अस्तित्व को बनाये रखने से इन्कार करतो है। सार्त्र भी यह मानते हैं कि मनुष्य अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य शक्ति पर निर्भर है किन्तु सत्ता में आ जाने के बाद वह पूर्णतया स्वतन्त्र है।[1]

सार्त्र : अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद तक

अस्तित्ववाद आज एक अति प्रतिष्ठित तथा लोकप्रिय दर्शन का रूप ले चुका है। लेकिन इस दर्शन से सम्बद्ध माने जाने वाले दार्शनिकों के सम्बन्ध में एक विचित्र बात देखने को मिलती है कि उनमें से प्रायः सभी "अस्तित्ववाद" शब्द को स्वीकार करने से कतराते रहते हैं। केवल सार्त्र इसका अपवाद था

---

seas shrink at your approach, springs dry up when you pass by, stones and rocks roll from your path, and the earth crumbles at your feet.

Orestes : Let it crumble....Your whole universe is not enough to prove me wrong. You are the king of gods, king of stones and stars, king of the waves of sea, but you are not the king of man.

Zeus : Imprudent spawn. So I am not your king ? Who then made you ?

Orestes : You. But you blundered; you should not have made me free.

Zeus : I gave you freedom so that you might serve me.

Orestes : But now it has turned against its giver.

....Neither slave nor master. I am my freedom. No sooner had you created me than I ceased to be yours.

—No Exist and three Other Essays, pp. 120-121.

1. See Hazel Barnes' The Literature of Possibility, p. 93.

जिसने खुल कर अस्तित्ववादी संज्ञा को स्वीकार किया। उसने अस्तित्ववाद को परिभाषित किया, उसके विरुद्ध आक्षेपों तथा उससे सम्बद्ध भ्रांतियों का निराकरण करने का प्रयास किया। किन्तु कालान्तर में चल कर स्वयं सार्त्र का दर्शन अनेक मोड़ों से होता हुआ जिस बिन्दु पर इस समय आ पहुँचा है उससे ऐसा लगता है कि वही पुरानी स्थिति पुनः आ गयी है अर्थात् अस्तित्ववाद शब्द से अभिव्यंजित दर्शन को स्वीकार करने वाला कोई विशेष दार्शनिक नहीं रह गया है। आज सार्त्र अस्तित्ववाद को छोड़कर मार्क्सवाद के पक्षधर हो गये हैं। यहाँ पर हम सार्त्र के इसी अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद की ओर संक्रमण के ऊपर विचार करेंगे और विशेष रूप से अस्तित्ववादी सार्त्र तथा मार्क्सवादी सार्त्र के बीच सम्बन्ध निरूपित करने का प्रयास करेंगे।

सार्त्र साहित्य के तीन ग्रन्थ उसके दर्शन के तीन मोड़ों का संकेत करते हैं। ये ग्रन्थ हैं: एग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म, बीइंग एण्ड नथिंगनेस तथा क्रिटिक आफ डायलेक्टिकल रीजन। प्रथम ग्रन्थ वह प्रकाशन है जिसमें उसकी अपने अस्तित्ववादी होने की स्वीकृति है, जिसमें वह आस्तिक एवं नास्तिक अस्तित्ववाद का भेद करता है तथा अस्तित्ववाद को मानववाद के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें तर्कबुद्धिवाद तथा अनुभवातीतवाद का खण्डन करके सार्त्र यह स्थापित करता है कि मनुष्य की सत्ता नितान्त एकाकी है। उसका स्वरूप किसी दिव्य स्रोत द्वारा प्रदत्त नहीं है अपितु वह स्वयं अपने स्वरूप का चुनाव एवं निर्धारण करता है। चुनाव एवं निर्धारण की इस प्रक्रिया में मनुष्य का कोई सहायक या मार्गदर्शक नहीं है। वह जो कुछ करता है या जो कुछ है उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र है। वही मूल्यों का स्रष्टा तथा मानदण्डों का निर्धारक है। ऐसा कोई भी प्रागनुभविक अथवा निरपेक्ष सिद्धान्त नहीं है जो मनुष्य के लिए चुनाव कर दे या निर्णय ले ले। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या हर व्यक्ति के निर्णय, मूल्य एवं मानदण्ड अलग-अलग होते हैं? क्या मूल्यों की कोई सामान्य दुनिया नहीं है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए सार्त्र यह कहता है कि सामान्य सूत्र पर आधारित न होते हुए भी व्यक्ति द्वारा लिए गये निर्णयों एवं किये गये चुनावों में एक सार्वभौमिकता होती है। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्रता जन्य उत्तरदायित्व के बोझ से दबे होने के कारण व्यक्ति सदैव इस बात के प्रति सचेत होता है कि वह दूसरों की दृष्टि का विषय है, उसकी क्रियाओं के ऊपर समस्त मानवता की निगाहें टिकी हुई हैं। परिणाम स्वरूप उसके द्वारा लिये गये निर्णय तथा स्वीकार किये गये मूल्य एवं मानदण्ड नितान्त उसके लिए नहीं होते; उसके द्वारा किया गया चुनाव सारी मानवता

के लिए किया गया चुनाव है। मनुष्य अपने कार्यों के द्वारा सम्पूर्ण मानवता की प्रतिमा का निर्माण करता है। सार्त्र के अनुसार इस कथन का कि "मनुष्य मनुष्य का भविष्य है", यही अभिप्राय है। यहाँ पर सार्त्र का स्वर उसके तर्कबुद्धि एवं प्रागनुभविकतावाद के सारे विरोधों के बावजूद कुछ कांटीय-सा प्रतीत होता है। अन्तर यह है कि कांट के नैतिकता के सूत्र बुद्धि के प्रागनुभविक आदेश हैं जब कि सार्त्र के मानवतावाद में निहित सार्वभौमिकता मानव जीवन में विद्यमान सहज उत्तरदायित्व बोध से उत्पन्न है। मनुष्य अपने चुनावों द्वारा इस सार्वभौमिकता को उत्पन्न करता है। इस सार्वभौम मानववाद से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है जिसको समझ लेना सार्त्र की दार्शनिक यात्रा के मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। मनुष्य के कार्यों का कोई पूर्वस्थित वस्तुगत सन्दर्भ नहीं है; लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके कार्य नितान्त व्यक्तिगत हैं तथा उसकी दुनिया उसकी सर्वथा निजी दुनिया है। इसके विपरीत, अपनी स्वतन्त्र रचनात्मकता के द्वारा मनुष्य अन्त-विषयिता[1] के जगत् में प्रवेश करता है। वह दूसरों के अस्तित्व एवं उसकी स्वतन्त्रता के महत्त्व को पहचानता है तथा यह महसूस करता है कि वे उसके भी अस्तित्व एवं स्वतंत्रता की शर्तें हैं। वह यह भी समझता है कि दूसरों के अस्तित्व के ही सन्दर्भ में वह एक सार्थक प्रतिबद्धता का जीवत व्यतीत कर सकता है। इसी बात को लक्ष्य करते हुए सार्त्र यह कहता है कि अस्तित्ववाद निराशा, कर्महीनता तथा व्यक्तिवादिता का दर्शन न होकर आशा, कर्मठता तथा सार्वभौम मानववादी दर्शन है।

आगे बढ़ने से पूर्व उपरोक्त पंक्तियों में प्रतिपादित मानववाद का कुछ स्पष्टीकरण कर देना उचित होगा। इस ग्रन्थ से पूर्व अपने दार्शनिक उपन्यास नाशिया में सार्त्र ने मानववाद के ऊपर व्यंगात्मक प्रहार किया है तथा उसे असम्भव एवं हास्यास्पद दिखाया है। तो क्या वह पुनः उसी मानववाद की ओर वापस जा रहा है? स्वयं सार्त्र इस प्रश्न का उत्तर देता हुआ कहता है कि दोनों दो प्रकार के मानववाद हैं। नाशिया में आलोचित मानववाद वह सिद्धान्त है जो मनुष्य को अपने आपमें साध्य के रूप में स्वीकार करता है, जिसके अनुसार मनुष्य के सम्बन्ध में एक सार्वभौम निर्णय दिया जा सकता है। अस्तित्ववादी ऐसी मानववादी परिकल्पना में विश्वास नहीं करता क्योंकि यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य का कोई निर्धारित स्वरूप

---

1. Inter Subjectivity.

नहीं है। सार्त्र के ही शब्दों में, "ऐसी मानववादी अवधारणा का अन्त फासिस्ट-वाद में होता है।" लेकिन मानववाद का एक गम्भीरतर अर्थ है जिसे सार्त्र स्वीकार करता है : मानवीय जगत् के अतिरिक्त अन्य कोई जगत् नहीं है। यह मनुष्य की व्यष्टिता का जगत् है। मनुष्य निरन्तर अपना अतिक्रमण एवं निषेध करते हुए अपनी सत्ता एवं स्वरूप का निर्माण करता है। अतिक्रामी मूल्यों की तलाश में ही वह अपनी सत्ता का अर्थ ढूँढ़ता है; वही उस अतिक्रामिता का केन्द्र भी है। **एग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म** की स्थापनायें सर्वथा भावात्मक हैं, निष्कर्ष आशावादी हैं। उसमें ऐसे मानवीय समुदाय की तस्वीर खींची गयी है जिसमें ईमानदारी के साथ तथा सार्थक रूप से दूसरों के साथ सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं, जिसमें दूसरे की सत्ता हमारे अस्तित्व का सन्दर्भ बिन्दु होती है। लेकिन जब हम इस ग्रन्थ को छोड़कर उसकी प्रख्यात रचना **बीइंग एण्ड नथिंगनेस** के पृष्ठों को पलटते हैं तो उसके चिंतन का एक दूसरा तथा बहुत अर्थों में उपरोक्त चिन्तन से भिन्न, आयाम हमारे सामने उभर कर आता है। भावा-त्मक स्थापनायें पृष्ठभूमि में चली जाती हैं, मुख्य स्वर निषेधात्मक हो जाता है, आशावादिता निराशावादिता में बदल जाती है, पारस्परिक संबंधों पर आधारित समाज के प्रति आस्था टूट जाती है तथा दूसरे की सत्ता हमारी सत्ता का सार्थक आधार न होकर उसके लिए खतरे के रूप में दिखायी देने लगती है। अन्य शब्दों में, यहाँ पर हमें सार्त्र का दर्शन एक नया मोड़ लेता हुआ दिखायी देता है। इस पर किंचित् विस्तार से विचार करें।

मानवीय सत्ता या चेतना का निषेधकारी तथा अतिक्रामी स्वरूप, जिसकी चर्चा ऊपर भी हो चुकी है, इस ग्रन्थ का केन्द्रीय सिद्धान्त है। सत्ता के दो रूप हैं—अपने-आपमें-तथा अपने-लिए सत्ता[1] प्रथम प्रकार की सत्ता ठोस तथा चारों ओर से बन्द सत्ता है, यह विकास, सम्भावना तथा निषेध आदि गुणों से हीन या उदासीन है। यह मात्र है, या जो है वही है। इसके विपरीत अपने-लिए-सत्ता, जो कि चेतना या मानवीय सत्ता का पर्याय है, सर्वथा रिक्त है, निरन्तर विकासमान है, एक खुली सम्भावना है। यह कभी अपने साथ एका-कार नहीं होती अपितु "दूरियों की सत्ता" है; वस्तु के साथ तथा स्वयं अपने ही साथ दूरी उत्पन्न करके रहने वाली सत्ता है। इसका कोई पूर्व रेखांकित स्वरूप नहीं है, यह अपनी क्रियाओं एवं रचनात्मकता से अपने स्वरूप का निर्माण करती रहती है। और उनका अतिक्रमण भी करती रहती है।

---

1. Being-init self and being-for-itself.

ऐसी रिक्त एवं निषेधकारी चेतना पूर्णतया स्वतंत्र सत्ता है। इसकी रिक्तता का अर्थ इसकी सारतत्वहीनता है। सारतत्व से युक्त सत्ता संभावनाओं से रहित सत्ता है। इसीलिए सार्त्र हुसर्ल के अनुभवातीत आत्मा का भी खण्डन करता है क्योंकि उसके अनुसार अनुभवातीत आत्मा स्वतन्त्र चेतना को "मृत्यु" है। मनुष्य को अपनी स्वतन्त्रता की तीव्रतम अनुभूति दुश्चिता के क्षणों में होती है। अथवा यह कहना अधिक ठीक होगा कि स्वतंत्रता का बोध उसमें दुश्चिता उत्पन्न करता है जिससे बचने के लिए वह दुरास्था[1] का सहारा लेता है। सर्वतः रिक्त एवं स्वतन्त्र होने के नाते चेतना ही समस्त मूल्यों की सृष्टि करती है, वही वस्तुओं एवं सम्बन्धों को अर्थ प्रदान करती है। अतीत, वर्तमान एवं भविष्य की मानवीय चेतना से ही अपना अर्थ ग्रहण करते हैं। यह सब बातें सार्त्र की नयी स्थापनाएँ नहीं हैं जिससे यह कहा जा सके कि उसका चिन्तन कोई भिन्न आयाम ले रहा है। किन्तु इसके बाद वह जो कुछ कहता है वह निश्चय ही भिन्न आयाम का संकेत है।

सार्त्र ने स्वयं एक स्थल पर यह स्वीकार किया है कि **एग्जिस्टेंशियलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म** का प्रकाशन उसकी एक भूल थी। यह कथन इस बात का स्पष्ट संकेत है कि उस ग्रन्थ में प्रतिपादित मान्यताओं का अब वह समर्थन नहीं करता। लेकिन जब वह **बोइंग एण्ड नथिंगनेस** में चेतना के एकाकी एवं भग्न-मनोरथ स्वरूप का चित्रांकन करता है तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि हम यहाँ पर सार्त्र तथा उसके दर्शन का एक भिन्न एवं नया रूप देख रहे हैं। मनुष्य की अपनी स्वतन्त्रता तथा दूसरे व्यक्ति का अस्तित्व यह दो ऐसी वास्तविकतायें हैं जिनके प्रति उसका ठीक से समायोजन नहीं हो पाता, या यों कह सकते हैं कि समायोजन के सारे प्रयासों में असंतुलन अथवा बेईमानी आ जाती है। संक्षेप में हम इसका निर्देश करेंगे। मनुष्य की स्वतन्त्रता जहाँ उसकी सत्ता का पर्यायवाची होने के नाते उसकी गरिमा एवं महानता का सूचक है, वहीं पर मनुष्य के भीतर एक विचित्र वेदना या छटपटाहट का भी कारण होती है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह अपने सभी कार्यों का एक औचित्य ढूंढ़ता है। वह चाहता है कि कोई दैवी या सामाजिक सत्ता उसके कार्य या निर्णय के औचित्य का आश्वासन प्रदान कर सके। इसका कारण यह है कि वह स्वतन्त्रताजन्य उत्तरदायित्व के कटु एवं दुर्वह परिणाम को स्वीकारने से कतराता है, उसका सामना करने का साहस नहीं करना चाहता। इसलिए

---

1. bad baith.

अपने कार्यों के लिए बहानों की, ऐसे कारणों की जो उसके नियन्त्रण में न हो बल्कि जो उसे नियंत्रित न कर रहे हों, तलाश करता है। दुरास्था ऐसी ही तकनीक है जिसकी ओट में व्यक्ति अपनी उस छटपटाहट और पीड़ा से बचने का प्रयास करता है। विस्तृत व्याख्या या विवरण में जाने का यहाँ अवसर तो नहीं है, इतना कहना पर्याप्त होगा कि मानव जीवन के सभी क्षेत्रों—व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक आदि में यह दुरास्था व्याप्त होती है जिसके नाते मनुष्य निरन्तर इस आत्म-प्रवंचना की स्थिति में बना रहता है कि वह जो है वही है, यानी वस्तु की भाँति उसकी सत्ता में भी एक प्रकार का ठोसपन है। अपने वास्तविक रूप में मनुष्य आन्तरिक निषेध से युक्त सत्ता है। इसी निषेध से मुक्त होने के लिए वह दुरास्था का सहारा लेकर अपने आप में सत्ता जैसी आत्मनिष्ठ सत्ता बनना चाहता है। उसकी धार्मिक जिज्ञासाओं तथा ईश्वर के प्रति दृष्टिकोण भी इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। किन्तु आत्म-प्रवंचना पर आधारित उसके ये सभी प्रयास अन्ततः निष्फल हैं और सार्त्र के शब्दों में 'मनुष्य एक निरर्थक वासना है।'

अपनी स्थिति की वास्तविकता को स्वीकारने में असमर्थ व्यक्ति आत्म-वंचनाओं की स्थितियों की रचना करता है तो दूसरों की सत्ता के प्रति वह एक अन्य प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। दूसरे की सत्ता के समक्ष मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता एवं विषयिता के लिए खतरा अनुभव करता है। दूसरे की दृष्टि उसे एक विषय के रूप में परिवर्तित कर देती है, उसकी सत्ता को एक स्थायी अर्थ प्रदान कर देती है जिससे वह अलग नहीं हो सकता, जिसका वह निषेध या अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह बात व्यक्ति के लिए सर्वथा असह्य है। अतएव इसको टालने के लिए वह दूसरों के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण अपना कर उसकी विषयिता और स्वतन्त्रता का इस ढंग से अधिग्रहण करना चाहता है कि वह बनी भी रहे किन्तु उसके लिए खतरनाक भी न हो। प्यार, घृणा, कामेच्छा, स्वपीड़नरति तथा परपीड़नरति में उसके यही प्रयास अभिव्यक्त होते हैं। किन्तु यहाँ भी मनुष्य को असफलता और निराशा ही हाथ लगती है। इनमें से किसी के भी माध्यम से वह अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। फलस्वरूप मनुष्य सब ओर से अपने को एकाकी पाता है। हाइडेगर के शब्दों में, वह जगत् में स्वयं को अकारण अथवा निरुद्देश्य "प्रक्षिप्त" या "परित्यक्त" पाता है। उसकी निरपेक्ष एवं आमूल स्वतन्त्रता एक असंभव एवं अप्राप्य लक्ष्य की ओर यात्रारूढ़ है, वह यात्रा नितान्त अकेली है जिसमें कोई साथी नहीं, कोई सहारा नहीं, गंतव्य तक पहुँच सकने की कोई आशा और आश्वासन नहीं। यह कैसी विडम्बना है कि सर्वथा स्वतंत्र होते

हुए भी मनुष्य स्वस्थ सामाजिक एवं नैतिक संबंधों का जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है। किन्तु यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है कि किसी भी सार्थक दार्शनिक अध्ययन मे इसे नजरअंदाज नही किया जा सकता। अतएव बीइंग एण्ड नथिंगनेस के अन्त में सार्त्र अपने पाठकों से यह वादा करता है कि उसका अगला ग्रन्थ नीतिशास्त्र पर होगा।

किन्तु यह वादा उसने पूरा नहीं किया क्योंकि नीतिशास्त्र पर लिखने के बजाय उसने क्रिटिक आफ डाइलेक्टिल रीज़न लिखा जिसमें हम सार्त्र को मार्क्सवाद का समर्थन करते हुए देखते हैं और यह उसके दर्शन का तीसरा मोड़ है जिसमें, ऐसा प्रतीत होता है कि हम सार्त्र को एक सर्वथा नये रूप में देख रहे हैं, मानो वह अपने अतीत के चिन्तन से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर रहा हो। ऐसी धारणा स्वाभाविक है क्योंकि अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद परस्पर निरन्तर विरोधी विचारधाराएँ हैं और जब सार्त्र अस्तित्ववाद का प्रतिपादन कर रहा था को उसे न केवल अध्यात्मवादी धार्मिकों की बल्कि मार्क्सवादियों की भी आलोचनाओं का उत्तर देना पड़ा था। सार्त्र के इस मार्क्सवादी रूप का एक सर्वेक्षण करने के पश्चात् हम उसके दर्शन की एक समूची तस्वीर प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

सार्त्र के अनुसार मार्क्सवाद युग का एक-मात्र दर्शन है और अस्तित्ववाद उसका समर्थन करने वाली विचारधारा है। किन्तु मार्क्सवाद अभी अपनी शैशवावस्था में है और जिस दिन वह पूर्ण विकसित एवं परिपक्व दर्शन हो जायेगा उस दिन अस्तित्ववाद उसी में तिरोहित हो जायेगा। यह कहना अधिक उचित होगा कि अस्तित्ववाद इस तिरोभाव का स्वागत करेगा तथा वह इसके लिए प्रयत्नशील भी है। प्रश्न यह उठता है कि अभी तक वह स्थिति क्यों नहीं आ पायी है ? मार्क्सवाद क्यों परिपक्वता नहीं प्राप्त कर सका है ? तथा अस्तित्ववाद का अभी भी क्यों स्वतन्त्र अस्तित्व बना हुआ है ? उत्तर सार्त्र स्वयं देता है। उसका कहना है कि यद्यपि अस्तित्ववाद तथा मार्क्सवाद दोनों का प्रारम्भ एक ही विन्दु से हुआ, दोनों वास्तविक मनुष्य को समझना चाहते हैं, लेकिन अपनी विकृतियों एवं पथान्तरण के नाते मार्क्सवाद इस लक्ष्य तक अभी पहुँचने में असफल रहा। इसके विपरीत अस्तित्ववाद में कोई विकृति नहीं आई इसलिए वह अपने लक्ष्य के प्रति सचेत एवं निष्ठावान है। यह किसी विकृति का ही परिणाम था कि मार्क्सवाद में मनुष्य का अन्तर्भाव प्रत्यय (आइडिया) में कर दिया गया जबकि अस्तित्ववाद उसकी तलाश उसको स्थूल परिस्थितियों— उसके घर, उसके दफ्तर तथा गलियों में कर रहा था।

मार्क्सवाद के प्रति अपने आकृष्ट होने के कारण की चर्चा करते हुए सार्त्र कहता है कि प्रारम्भ में जब तक उस सिद्धान्त को वह मात्र लिखित शब्दों के रूप में देखता रहा उसके लिए इस दर्शन का कोई विशेष महत्व न था। उसे पढ़कर उसके प्रति पूर्णतया तटस्थ रहा। उसे 'इंग्लैंड में रहने वाले एक जर्मन बुद्धिवादी" के विचारों के रूप में देखता रहा। लेकिन जब उसने यह देखा कि मार्क्स के विचार मजदूर वर्ग की वास्तविकता को निर्धारित करने वाले तथा उसके कार्यों के गूढ़ अर्थों की अभिव्यक्ति हैं तो उसके तब तक के स्वीकृत विचार, मूल्य तथा संस्कृति सम्बन्धी धारणाओं को गहरा धक्का लगा। बूर्जुआ मानववाद जनित समस्त आशावादिता निर्मूल हो गयी क्योंकि हमने यह देखा कि हमारे शहर के चारों ओर "अपनी अधिमानवता के प्रति सचेत अधिमानवों" को अपार भीड़ है। किन्तु यह प्रतिक्रिया अभी भी कुछ बौद्धिक स्तर की थी। अभी तक हमें इसका ठीक ठीक एहसास नहीं हुआ था कि मनुष्य को उसके वास्तविक अर्थ में समझने के लिए हमें उसको उसके कामगार रूप में जानना होगा जो कि अपनी "मेहनत द्वारा अपने जीवन की शर्तों को उत्पन्न करता है।" कामगारों, वर्ग-संघर्ष तथा विभाजित समाज को सही रूप में समझने के लिए हमें वर्तमान शताब्दी के उन रक्तरंजित पचास वर्षों की दौर से गुजरना पड़ा जिसमें महायुद्ध, अधिग्रहण तथा विरोध के माध्यम से हमारी समस्त वैचारिक एवं सांस्कृतिक संरचनायें ध्वस्त हो गयीं और हमने अपने को मजदूर वर्ग के खेमे में खड़ा पाया तथा यह अनुभव किया कि मूर्त सत्य इतिहास और द्वन्द्वपरक क्रिया में व्यक्त होता है। किन्तु मार्क्सवाद का यह आकर्षक रूप हमारी अपेक्षित आकांक्षाओं को पूरा न कर सका क्योंकि इसकी गति अवरुद्ध हो गयी, इसमें अन्तरविरोध आ गया तथा अपना मार्ग छोड़कर यह एक दूसरी दिशा में मुड़ गया। अनुभव एवं सत्य के प्रति इसके दृष्टिकोण में विकृति आ गयी, सिद्धान्त एवं व्यवहार में भेद पैदा हो गया। यह मार्क्सवाद के उस रूप में हुआ जो सोवियत रूस में विकसित हुआ, जिसे मार्क्सवाद का आधिकारिक रूप माना गया तथा जिस रूप में वह आज प्रचलित है।

इस मार्क्सवाद में एक प्रकार के निरपेक्ष प्रत्ययवाद का प्रवेश हो गया। मार्क्सवाद पूर्वनियोजित अर्थ-व्यवस्था का प्रतिदर्श मात्र होकर रह गया। उत्पत्ति और श्रम का निर्धारण खेतों और कारखानों में न होकर दफ्तरों में बैठकर होने लगा। सिद्धान्त और व्यवहार के इस भेद का परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवादी सिद्धान्त एक शुद्ध एवं स्थिर ज्ञान में परिवर्तित हो गया तथा उसका व्यावहारिक पक्ष सिद्धान्तहीन इन्द्रियानुभववाद मात्र बनकर रह गया। तथ्यों एवं घटनाओं के प्रति उसका दृष्टिकोण उन्मुक्त नहीं रह गया। इनके प्रति

उसका दृष्टिकोण प्रश्नात्मक न रह गया बल्कि इन्हें एक पूर्व निश्चित धारणा के अनुकूल बनाये जाने का प्रयास किया जाने लगा। मार्क्सवाद मूलतः ऐतिहासिक प्रक्रिया को उसकी सम्पूर्णता में समझने का एक सशक्त प्रयास था, लेकिन उसकी अपनी ही परछाईं ने इतिहास धूमिल बना दिया है, इतिहास के साथ-साथ चलने के बजाय उसने नौकरशाही हठवाद का सहारा लेकर परिवर्तन को तादात्म में रूपान्तरित कर दिया।

प्रचलित मार्क्सवाद के विरुद्ध अपने आलोचनात्मक स्वर को कुछ और तीखा बनाते हुए सार्त्र कहता है कि यह सही है कि मार्क्स ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सत्य की उद्घोषणा की कि 'केवल मनुष्य और उसके सम्बन्ध ही वास्तविक हैं, समुदाय सम्बन्धों की बहुलता का दूसरा नाम है,' लेकिन मार्क्सवादी इस उद्घोषणा के निहितार्थों का निर्वाह न कर सके। उन्होंने 'समूह' या 'बाजार' को एक वस्तु में परिवर्तित कर दिया जिसके अपरिहार्य नियम मानवीय सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। परिणाम स्वरूप समूह या बाजार एक मूर्त वास्तविकता का रूप ले लेता है और व्यष्टि अमूर्त वास्तविकता में परिणत हो जाता है और इस प्रकार मार्क्सवाद हेगेलीय प्रत्ययवाद का दूसरा रूप बनकर रह जाता है। सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। मजदूर अपने माल को बेचने के लिए बाजार पर निर्भर करता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसकी यह निर्भरता उसको अमूर्त सत्ता बना देती है। इसके विपरीत बाजार की वास्तविकता तथा उसका मूर्त अस्तित्व उन्हीं व्यक्तियों के ऊपर निर्भर करता है जो उस बाजार में अपने ही माल से अलग हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, मार्क्सवाद मनुष्य और विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों या समूहों को ठीक से समझने में असमर्थ रहा। वह यह समझने में असमर्थ रहा कि मनुष्य अपनी ही रचना की रचना है, अपने ही कार्यों तथा उत्पत्ति की सामाजिक शर्तों द्वारा निर्मित है और उसी के साथ वह अपने ही उत्पादनों के मध्य रहता हुआ उस समुदाय को जीवन प्रदान करता है जो स्वयं उसको आत्मसात् कर डालता है। मार्क्सवादी इस ऐतिहासिक सम्पूर्णीकरण[1] को पूर्णतया विस्मृत करके समस्त मूर्त मानवीय सम्बन्धों को मात्र संयोग के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

परिणामस्वरूप वे इस सत्य से एकदम अनभिज्ञ रह जाते हैं कि मनुष्य होने का कुछ विशिष्ट अर्थ होता है। इस अनभिज्ञता को ढँकने के लिए उनके पास पावलाव का "असंगत मनोविज्ञान" है जो मनुष्य के अमानवीयकरण का एक अन्य प्रयास है। मार्क्सवाद मनुष्य के रचनात्मक कर्ता रूप को नहीं पहचान

---

1. **Historical totalization.**

सका। वह इतिहास के निर्माण में मनुष्य की अपेक्षा उन परिस्थितियों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है जिनके आधार पर इतिहास का निर्माण होता है। फलस्वरूप मनुष्य "उन अमानवीय शक्तियों का संवाहक मात्र रह जाता है जो उनके माध्यम से सामाजिक जगत् का नियंत्रण करती हैं।"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्सवाद को स्वीकार करते हुए भी सार्त्र मार्क्सवाद के प्रचलित रूप का कटु आलोचक है। प्रचलित मार्क्सवाद प्रत्यक्षवाद पर आधारित है। वह इतिहास की यांत्रिक व्याख्या करता है जिसमें मानवीय योजनाओं तथा उद्देश्यों का कोई महत्त्व नहीं है। यह कितनी हास्यास्पद बात है कि मनुष्य के ही अध्ययन में मानवीय गुणों की पहचान न की जाय, इतिहास के अध्ययन में इतिहास-कर्त्ता को बहिष्कृत कर दिया जाय। एंजिल्स के वाक्य "मनुष्य इतिहास का निर्माण करते हैं किन्तु उन परिस्थितियों के भीतर जो कि पूर्वप्रदत्त होती हैं तथा उनको निर्धारित करती हैं," की प्रत्ययवादी ढंग से व्याख्या करते हुए मार्क्सवादी मनुष्य को एक वस्तु में रूपान्तरित कर देते हैं। उनके अनुसार पूर्णतया पूर्व निर्धारित मनुष्य निष्क्रिय होता है। वह इतिहास एवं समाज को उसी प्रकार परिवर्तित करता है जिस प्रकार "एक बम किसी मकान को नष्ट कर सकता है।" इस प्रकार मानवीय कर्त्ता तथा मशीन में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

तो फिर सार्त्र की मार्क्सवाद की क्या अवधारणा है? मार्क्सवाद से उसकी क्या अपेक्षाएँ हैं? उस मार्क्सवाद से अस्तित्ववाद का क्या सम्बन्ध है? सार्त्र के अनुसार मार्क्सवाद अपने मूल एवं वास्तविक रूप में मानववाद है। वहीं एकमात्र ऐसा नृतत्वशास्त्र है जिसमें मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में देख पाने की क्षमता है। लेकिन अपने मूल स्वरूप एवं अभिप्रेत लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसे उन तमाम विकृतियों एवं मताग्रहों से मुक्त होना होगा जो कि सम्प्रति उसे आच्छादित किये हुए हैं। "आवश्यकता" "श्रम" "अभाव" "वर्ग" अभी भी मार्क्सवादी दर्शन की मुख्य कोटियाँ होंगी लेकिन, और यही सबसे महत्त्वपूर्ण बात है—इन सबके केन्द्र में "मनुष्य" होगा और इन सभी को मनुष्य की "योजना"[1] के रूप में देखना होगा। जब तक ऐसा नहीं हो जाता, जब तक मार्क्सवाद वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा हठमत का सहारा लेता रहेगा, जब तक वह इतिहास के निर्माण में मनुष्य की रचनात्मकता तथा क्रियात्मकता को नकारता रहेगा तब तक वह सच्चा नृतत्वशास्त्र नहीं बन सकता

1. Project.

और तब तक अस्तित्ववाद की एक स्वतन्त्र अध्ययन के रूप में महत्व एवं आवश्यकता बनी रहेगी। अस्तित्ववाद मनुष्य एवं जगत् के सम्बन्ध का अध्ययन करने की प्रक्रिया में मनुष्य के अकेलेपन अथवा अलगाव की पहचान करता है, उसको पकड़ने का प्रयास करता है। इसके विपरीत मार्क्सवाद मिथ्या वैज्ञानिकता एवं यांत्रिक भौतिकवाद का सहारा लेकर उस अलगाव को नकारने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप मार्क्सवाद का मूल मानववादी स्वरूप लुप्त हो गया है।

सार्त्र मार्क्सवाद के उसी मूल मानववादी स्वरूप को स्थापित करना चाहता है जिसमें मानवीय आचरण का कुछ महत्व हो, जिसमें मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, जिसमे मानवीय संस्कृति को मात्र एक प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में न देखा जाय। और उसका विश्वास है कि मार्क्सवाद में ही ऐसे सक्षम नृतत्वशास्त्र की सम्भावनाएँ हैं। वस्तुतः मार्क्सवाद के सारे दोषों को मार्क्सवाद के भीतर रहकर ही देखा जा सकता है। हम मार्क्सवाद में प्रविष्ट होकर ही यह देख सकते हैं कि मार्क्सवाद किन्हीं बाह्य प्रभावों या उद्देश्यों के कारण मनुष्य, जो कि प्रश्नकर्त्ता है, को अपने सभी प्रश्नों से बहिष्कृत कर देता है कि मार्क्सवादी पदावली के मुख्य शब्द—"शोषण", "अलगाव" इत्यादि मनुष्य की "अस्तित्व-परक संरचनाओं" का असंदिग्ध संकेत करते हैं। और इन सब में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह कि "श्रम" को मनुष्य की "योजना" (प्रोजेक्ट) से इतर अन्य रूप में लेने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि अपने श्रम द्वारा मनुष्य अपने जीवन की शर्तों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार मार्क्सवाद को उसके भीतर से ही देखकर उसके यांत्रिक निर्धारणवादी स्वरूप को पहचाना जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि यह मार्क्सवाद का अपना मौलिक स्वरूप नहीं है बल्कि बाहर से आयातित एवं आरोपित है।

स्पष्ट है कि सार्त्र मार्क्सवाद को उसकी प्रचलित सैद्धान्तिक व्याख्या तथा स्टालिन द्वारा स्थापित साम्यवादी मार्क्सवाद से सर्वथा भिन्न एक नये रूप में कल्पना कर रहा है जिसका केन्द्रविन्दु "मनुष्य" है, जिसमें इतिहास की द्वन्द्व-परक प्रक्रिया "मनुष्यहीन" नहीं है। लेकिन इस मनुष्य की अवधारणा अस्तित्व-वादी मनुष्य से किंचित् भिन्न है। बीइंग एण्ड नथिंगनेस में सार्त्र ने मनुष्य की व्यष्टिता को उसके अस्तित्वपरक सत्य के रूप में प्रस्तुत किया था—व्यक्ति के कार्य उस व्यक्ति के ही वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति होते हैं। अब सार्त्र यह प्रति-पादित करता है कि व्यक्ति के कार्य उसके वर्ग की अभिव्यक्ति होते हैं। उसकी भाषा, उसके विचार, उसके निर्णय एवं दृष्टिकोण सभी उस वर्गचेतना द्वारा नियंत्रित होते हैं जिससे वह पहले से ही प्रतिबद्ध होता है। वर्गसंरचना उतनी

ही वास्तविक होती है जितना कि भौतिक परिवेश, जिसे आत्मसात् करके ही जिया जा सकता है। व्यक्ति के सभी कार्य उसके वर्ग के आत्मचेतन विकास की अभिव्यक्ति होते हैं। अपनी आज्ञाकारिता से वह उस स्थिति को स्वीकार करता है, निषेध एवं विरोध से वह उस वर्ग के द्वन्द्वपरक विकास के उस चरण की अभिव्यक्ति करता है जिसमें वह वर्ग अपनी स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होता है। इसके अतिरिक्त, स्वतंत्रता के सम्बन्ध में भी सार्त्र अपने विचारों को संशोधित करता हुआ प्रतीत होता है। अस्तित्ववादी स्वतंत्रता सम्पूर्ण, असीमित एवं आमूल है। लेकिन सार्त्र अब यह अनुभव करता है कि ऐसी स्वतंत्रता अमूर्त है। वर्ग संरचना, आर्थिक व्यवस्था एवं अभाव मनुष्य की इस स्वतंत्रता को अर्थहीन बना देते हैं। चुनाव की उस स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं जिसमें चुनाव अधिमानव स्तर के जीवन तथा मृत्यु के बीच सीमित हो। आर्थिक अभाव स्वतंत्रता का निषेध है और जहाँ यह अभाव नहीं भी होता वहाँ वर्ग संरचना उस स्वतत्रता को मिथ्याकृत करती रहती है। सार्त्र मार्क्स की इस धारणा से मूलभूत सहमति व्यक्त करता है कि "भौतिक जीवन के उत्पादन के साधन सामाजिक, राजनैतिक तथा भौतिक जीवन को अनुशासित करते हैं" तथा जब तक मनुष्य अभाव की जंजीरों से मुक्त नहीं हो जाता है तब तक वास्तविक स्वतंत्रता स्वप्न मात्र रहेगी। इसके भी आगे जाकर वह कहता है कि हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं कि हम मानवता की उस मुक्त अवस्था की कल्पना कर सकें, इसलिये हम मनुष्य की वास्तविक स्वतंत्रता तथा स्वतंत्रता के दर्शन की भी कोई कल्पना नहीं कर सकते।

अस्तित्ववादी सार्त्र की यह मार्क्सवादी घोषणा विस्मयकारी प्रतीत होती है और यही हमें इस लेख के अन्तिम प्रश्न पर ले आती है—क्या मार्क्सवादी सार्त्र अपने अस्तित्ववादी स्वरूप से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर रहा है? अथवा दोनों में कोई तारतम्य है?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें एक बार पुनः बीइंग एण्ड नथिंगनेस के पृष्ठों में झाँकना होगा। और हम पायेंगे कि स्वतन्त्रता सम्बन्धी इस धारणा को वह वहीं रेखांकित कर चुका है। उसमें उसने असीमित स्वतन्त्रता की कुछ सीमाओं का निर्देश किया है। मनुष्य का जन्म, मृत्यु, परिवेश, उत्थान तथा सहयोगी आदि स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं। अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग वह इन्हीं सीमाओं के भीतर रह कर करता है। अतएव हम केवल यही कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता की उन सीमाओं की अस्तित्ववादी सार्त्र की अपेक्षा मार्क्सवादी सार्त्र की अनुभूति अधिक तीखी तथा यथार्थपरक है। इसी यथार्थ-परक दृष्टिकोण का परिणाम है कि उसे "वास्तविक स्वतन्त्रता" तथा "स्वतंत्रता

के वास्तविक दर्शन'' की रूप रेखा खींचने में भी संकोच होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वास्तविक स्वतन्त्रता के प्रति वह आशान्वित नहीं है। वस्तुतः स्वतन्त्रता एवं मनुष्य की अपनी अस्तित्वपरक परिकल्पना को ही दृष्टि में रखते हुए सार्त्र स्वतन्त्रता की पहले से ही कोई तस्वीर नहीं खींचना चाहता क्योंकि ऐसा कर देना मनुष्य की समस्त संभावनाओं को पहले से ही बन्द कर देना होगा। ऐसा कोई अवव्याख्यावादी दर्शन हो कर सकता है। किन्तु जो दर्शन मनुष्य की अनन्त सम्भावनाओं में विश्वास करता है, जो मानवीय सम्भावनाओं के द्वन्द्वपरक विकास में विश्वास करता है, जो मनुष्य को कर्त्ता रूप में अपने स्वरूप के प्रति उत्तरदायी मानता है, वह ऐसे किसी भी प्रयास से अपने को विरत रखता है। अतएव सार्त्र की इस स्थापना को हमें इसी रूप में लेना होगा—स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्रता के दर्शन की असम्भावना निश्चय ही मनुष्य की अनंत स्वतन्त्रता की सम्भावना का दर्शन है। जहाँ तक सार्त्र द्वारा मार्क्सवाद की आवश्यकता 'अभाव' आदि कोटियों को स्वीकार करने का प्रश्न है, हम यह देखते हैं कि इन कोटियों की संरचना वस्तुतः अस्तित्वपरक है। ये सभी कोटियाँ मनुष्य की योजनाएँ हैं और योजना मनुष्य की निषेवपरक चेतना का कार्य है। चेतना के इस निषेध कार्य तथा अतिक्रामी स्वरूप का प्रतिपादन सार्त्र ने बीइंग एण्ड नथिंगनेस में किया है वही स्वरूप उसके मार्क्सवादी विश्लेषण में भी विद्यमान है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि अब सार्त्र के विचारों का संदर्भ अवश्य बदल गया है क्योंकि अब वह फेनॉमेनॉलॉजी के बजाय डाइलेक्टिक की दृष्टि से सोचता है। किन्तु डाइलेक्टिक निर्धारणवाद नहीं है। डाइलेक्टिक भी मनुष्य के सम्बन्ध में उसी सत्य का प्रतिपादन करता है जिसका प्रतिपादन फेनॉमेनॉलॉजी करती है—मनुष्य में ही इतिहास के निर्माण की सम्भावना है। मनुष्य डाइलेक्टिक के नियमों का अनुसरण अवश्य करता है किन्तु इसी प्रक्रिया में वह यह भी पाता है कि स्वयं वही डाइलेक्टिक ढंग से इतिहास का निर्माता है।

●

9. अस्तित्ववाद : यास्पर्स

कार्लयास्पर्स बीसवीं शताब्दी के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक हैं। कुछ लोगों ने तो इन्हें अस्तित्ववादी दर्शन का जनक ही कहा है।[1] इनका जन्म 23 फरवरी सन् 1883 में ओल्डेनबर्ग (जर्मनी) में हुआ था। इनके पिता बैंक में मैनेजर थे। इन्होंने अपनी शिक्षा हाईडेलबर्ग और म्यूनिख में विधि के अध्ययन से आरम्भ की और तीन सत्रों के अध्ययन के पश्चात् ही वे बर्लिन और हाईडेलबर्ग आदि में चिकित्साशास्त्र के अध्ययन में लग गये। एम० डी० करने के बाद वे हाईडेलबर्ग में मानसिक रोगियों की निदानशाला में, प्रथम विश्वयुद्ध के पहले, सहायक के रूप में कार्य करते रहे और बाद में सन् 1913 में मनोविज्ञान के प्रवक्ता नियुक्त हो गये। सन् 1921 में वे दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हो गये। पाँच वर्षों तक हाईडेलबर्ग में अध्यापन करने के पश्चात् सन् 1937 में राजनैतिक कारणों से राष्ट्रीय समाजवादी सरकार द्वारा सेवाविरत कर दिये गये। सन् 1945 में वे पुनः नियुक्त हुए। सन् 1948 से वे बेसेल विश्वविद्यालय में अध्यापन करते रहे। उनका प्रथम महत्वपूर्ण प्रकाशन 'जनरल साइकोपैथोलाजी' सन् 1913 में निकला। मनोविकृति विज्ञान का उनके दार्शनिक चिंतन पर उल्लेखनीय प्रभाव है। यास्पर्स की देन और प्रभाव न केवल दर्शन के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं, अपितु मनोविकृति विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, विश्व इतिहास, कला, साहित्य और धर्मशास्त्र के क्षेत्र में भी उनका योगदान विशिष्ट स्थान रखता है। उनका निधन वर्ष 26 फरवरी सन् 1969 में हुआ।

अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिकों की भाँति यास्पर्स दर्शन के इतिहास के प्रति घृणा नहीं रखते थे। वे स्वयं विश्वदर्शन के इतिहास में अभिरुचि रखते हैं। सुकरात, बुद्ध, कनफ्यूशस, ईसा मसीह, अफलातून, ऑगस्टाइन, कांट स्पिनोजा और नागार्जुन आदि दार्शनिकों का उल्लेख उनके दर्शन के प्रथम भाग में हुआ है। यास्पर्स अतीत के दर्शन को सत्ता की अभिव्यक्ति का एक सांकेतिक अभि-

---

1. Vide *Existentialism and Modern Predicament* by F. H. Heinemann, London, Adam and Charles Black, p. 59.

लिख मानते हैं। दर्शन के इतिहास के मनन के माध्यम से वह अतीत के दार्शनिकों से संलाप करने का प्रयास करते हैं। यास्पर्स के अनुसार दर्शन का इतिहास व्यक्तियों का व्यक्तियों से अनवरत चलनेवाला संलाप है, जिसमें वे अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं परम्पराओं को गहनता से विचारों के सांकेतिक अभिलेख के माध्यम से सत्ता का साक्षात्कार करते रहते हैं।[1] सत्ता की अनुभूति ही दर्शन है। अतएव दर्शन वस्तुतः एक ही है। इस एक दर्शन को यास्पर्स शाश्वत दर्शन कहते हैं।[2] इस सत्ता को दार्शनिक अपनी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है और दर्शन का इतिहास इसी प्रयास का लेखा-जोखा है। यास्पर्स को एक ऐसा कांटवादी विचारक कहा जा सकता है जिसे कि कर्केगार्ड तथा नीत्शे के विचारों और जीवन पर मनन के फलस्वरूप अत्यन्त गम्भीर आघात पहुँचा। इन दोनों को यास्पर्स अपवादस्वरूप मानते हैं। ये ऐसे मनुष्य हैं जो अपने भीतर मानवीय अस्तित्व की असाधारण सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति सँजोये हुए हैं।[3]

दर्शन तथा विज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध :

यास्पर्स की दर्शन की अवधारणा और उनके कार्यों की समीक्षा करने के पहले यह आवश्यक है कि उनके उन विचारों का भी विवेचन कर लिया जाय जो विज्ञान और दर्शन के उपयुक्त सम्बन्धों से अनुस्यूत होते हैं। एक समय ऐसा था कि जब कि दर्शन एक प्रकार का सामान्य विज्ञान समझा जाता था। यह वह समय था जब कि विशिष्ट प्रकार के विज्ञान, जैसा कि उन्हें आज हम जानते हैं, न तो आविर्भूत ही हुए थे, और न विकसित ही हुए थे। परन्तु इनके आविर्भाव के पश्चात् कुछ लोगों का कहना है कि विज्ञान ने दर्शन को व्यर्थ कर दिया। कुछ अन्य लोगों ने दर्शन को मात्र दर्शन का इतिहास समझा। कुछ लोगों ने दर्शन को विज्ञान की कठपुतली बना दिया। इनके अनुसार दर्शन का कार्य केवल विज्ञान की प्रमुख अवधारणाओं का विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण करना था। कुछ अन्य लोगों ने तो दर्शन को अन्य विज्ञानों के समा-

---

1. Vide *Truth and Symbol*, Karl Jaspers, Translated by William Kluback & Jean T. Wilde, page 16.
2. The Perennial Philosophy.
3. *Contemporary Philosophy-Studies of Logical Positivism and Existentialism* by Frederick Copleston, S. J. London, page 156.

नान्तर एक विशिष्ट प्रकार का विज्ञान ही बना दिया। इसे इन लोगों ने या तो तर्कशास्त्र या संवृत्तिशास्त्र या ज्ञानमीमांसा बना कर छोड़ दिया।[1] परन्तु यास्पर्स के अनुसार ये सभी दृष्टिकोण अनुपयुक्त हैं।

यास्पर्स ने दर्शन और विज्ञान के क्षेत्रों का विभाजन करने का प्रयास किया ताकि वे अपने सम्बन्धित क्षेत्रों में बिना किसी संघर्ष एवं भ्रम के अपनी उचित भूमिका का निर्वाह कर सकें। इसके लिए यास्पर्स सत्ता के तीन स्तरों का विवेचन एवं विभेद करते हैं। सत्ता के तीन स्तर ये हैं—वस्तुगत सत्ता, आत्मगत सत्ता या व्यक्तिगत सत्ता और अतीन्द्रिय सत्ता।[2] वस्तुगत सत्ता विज्ञान का जगत् है। यह प्रदत्त बाह्य जगत् है। यह स्थायी वस्तुओं का जगत् है। विज्ञान के इस जगत् में प्रत्येक ज्ञेय एक वस्तु है। इसके विषय में जो ज्ञात है, वह सार्वभौमिक रूप से ज्ञेय और मान्य है।

बहुत से लोग, जिनका कि विज्ञानपरक दृष्टिकोण है, यह दावा करते हैं कि विज्ञान का जगत् मानवीय ज्ञान के क्षेत्र की सीमा है। इसके परे कुछ नहीं है। ऐसे लोग विज्ञान को सभी वस्तुओं का प्रतिमान मान लेते हैं। परन्तु यास्पर्स ने इस दावे के खोखलेपन को, विज्ञान की सीमाओं का उल्लेख करते हुए, स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तुतः विज्ञान पूर्ण वस्तुपरता के आदर्श को प्राप्त करने में असमर्थ है। यदि यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो हमारा ज्ञान पूर्ण होता है परन्तु हम जानते हैं कि चेतना के विभिन्न आयाम और प्रकार हैं जो उक्त ज्ञान की परिधि में नहीं आते हैं। उन्हें वस्तुपरक नहीं बनाया जा सकता है। अस्पष्ट और क्षणिक संवेदनायें, भावनायें अनुभूतियाँ और व्यक्तिगत चेतना के प्रतिवेदन वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा के अन्तर्गत नहीं आते।[3]

यास्पर्स के अनुसार समग्र जगत् ज्ञेय नहीं है। यह वाक्य कि जगत् ज्ञेय है : दो अर्थों में ग्रहण किया जा सकता है। एक तो यह कि जगत् के अन्तर्गत जो वस्तुएँ हैं, वे ज्ञेय हैं और दूसरे यह कि जगत् सत्ता को एक पूर्ण इकाई के रूप में ज्ञेय है। जहाँ तक जगत् की वस्तुओं के ज्ञान का प्रश्न है, विज्ञान वहाँ तक पूर्ण रूप से सक्षम है। परन्तु विज्ञान का यह दावा कि वह जगत् की सभी वस्तुओं का समग्र ज्ञान प्राप्त कर सकता है, यह आशय कदापि नहीं कि वह

---

1. Ibid., page 157.
2. Being there, Being oneself and Being-in-itself.
3. *Six Existentialist Thinkers* by H. J. Blackham, London; Routledge & Kegan Paul, p. 49.

जगत् का ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। समग्र जगत् एक वस्तु के रूप में कभी हमारे सामने अपने को प्रस्तुत नहीं करता; अतएव वह विज्ञान का विषय तो बन ही नहीं सकता है। समग्र जगत् तो, कांट के शब्दों में, एक आदर्शपरक प्रत्यय होगा जो कि वैज्ञानिक परीक्षणों को उत्तेजना और प्रेरणा तो प्रदान करता रहेगा परन्तु स्वयं वैज्ञानिक परीक्षण का विषय कदापि नहीं बनेगा।

यास्पर्स कांट की भाँति यह मानते हैं कि ज्ञान की परिस्थिति में ज्ञाता और ज्ञेय दो पदों का होना आवश्यक है। ज्ञाता स्वलक्षणों को नहीं जान पाता है। वह वस्तु के आभास को जान पाता है। विषयी भी ज्ञेय होने के लिए वस्तु बन जाता है। अतएव विषयी के भी केवल आभास का ज्ञान होता है, उसके यथार्थ स्वरूप का नहीं। अतएव वैज्ञानिक ज्ञान सत्ता का पूर्ण ज्ञान कदापि नहीं प्राप्त कर सकता है।[1]

विज्ञान हमें स्पष्टता और परिस्फुटता तो प्रदान कर सकता है परन्तु वह हमें एकता और समग्रता नहीं दे सकता। विज्ञान विषयो और विषय तथा चेतना और सभी इन्द्रियजन्य वस्तुओं के विभेद को समाप्त नहीं कर सकता। विज्ञान में यह क्षमता नहीं है कि वह इन दोनों आत्यन्तिकों को एक उच्च एकता में आत्मसात् कर सके। विषयी के व्यक्तिगत जगत् और वस्तुओं के सार्वजनिक जगत् का तनाव और संघर्ष शाश्वत है। विज्ञान इस तनाव की परिधि में कार्य करता है, अतएव वह एकता के लक्ष्य को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता है। विषयीभाव को सामान्यतः चार स्तरों पर विभक्त किया जाता है—जड़ पदार्थ, जिजीविषा, चेतना और आत्मा। इन स्तरों में मूलभूत अन्तर है। एक की व्याख्या दूसरे के द्वारा नहीं हो सकती है। प्रत्येक अद्भुत और अद्वितीय है। विज्ञान इनकी विलक्षणता और अद्भुतता की अनदेखी करके एकता के लक्ष्य को कदापि नहीं प्राप्त कर सकता है। विज्ञान के पास इन विभिन्न स्तरों के विश्लेषण और ज्ञान के लिए सही प्रणाली नहीं है। वह अलग-अलग विधियों से प्रत्येक स्तर का अध्ययन करता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान की एक विधि दूसरी विधि का विस्तारमात्र नहीं है अपितु दो विधियों में परस्पर विलगाव है। विज्ञान की दो विधियों के पारस्परिक विलगाव के कारण ही उनसे प्राप्त ज्ञान और सत्य सार्वभौमिक होते हुए भी सापेक्ष होते हैं। ये सत्य और ज्ञान के एक क्षेत्रविशेष में और उस विधि के सन्दर्भ में ही सार्वभौमिक रूप से मान्य होंगे जिसके द्वारा ये प्राप्त

---

1. *The Philosophy of Karl Jaspers*, edited by P. A. Schilpp, page 126.

किये गये हैं। इसलिए वैज्ञानिक सत्य सार्वभौमिक होते हुए भी सापेक्ष होता है।

यास्पर्स मानते हैं कि सत्ता मात्र वस्तु ही नहीं है। आत्मा केवल विषय या वस्तु नहीं है। देकार्त के विरुद्ध यह दोष लगाया जा सकता है कि उन्होंने उस आत्मा को ही, जो कि जड़पदार्थ से सम्बन्धित है, पूर्ण आत्मा मान लिया था। इस आधार वाक्य से कि मनुष्य जगत् की विभिन्न वस्तुओं में से एक वस्तु है यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि मनुष्य वस्तुमात्र ही है; और कुछ नहीं है। मनुष्य का एक वस्तुपरक आभास अवश्य है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह केवल वस्तु ही है, और उससे अधिक कुछ नहीं है। वह अस्तित्व और स्वतंत्रता है। अस्तित्व मनुष्य का अवस्तुपरक पक्ष है और उसकी स्वतन्त्रता का तात्पर्य है उसकी वरण की स्वतन्त्रता। मनुष्य का स्वतन्त्र वरण या निर्णय वस्तुगत सार्वभौमिकता, अनिवार्यता और निश्चितता की परिधि में नहीं आता है। यह उसकी सत्ता के अन्तराल से अनुस्यूत होता है और विज्ञान की परिधि से एक दम बाहर रहता है। इस स्वतन्त्रता में मनुष्य को यह चेतना होती है कि वह अतिक्रमणता या ईश्वर में अधिष्ठित है। यह अनुभूति या चेतना भी विज्ञान की परिधि में नहीं आती है।

इस प्रकार विज्ञान सत्ता का वस्तुगत धरातल पर ही अध्ययन करता हैं। यह सत्ता के एक विशिष्ट स्तर तक ही अपने को सीमित रखता है जबकि दर्शन समग्र सत्ता का अध्ययन करता है। दार्शनिक, सत्ता के तीनों स्तरों—वस्तुगत, आत्मगत और अतीन्द्रिय में सम्मिलित होता है। वस्तुगत जगत् का जो ज्ञान विज्ञान प्रस्तुत करता है, उसमें दर्शन कुछ भी जोड़ नहीं सकता। दर्शन भी विज्ञान पर आधारित नहीं है; वह मनुष्य और समग्र जगत् को अनुभूति पर आधारित है। वह दार्शनिक अनुभूति, जो कि वैज्ञानिक ज्ञान से भिन्न है, वस्तुतः विषय और विषयी के विभेद से मुक्त है। वह अवस्तुपरक है। अतएव उसमें विषय-विषयी का द्वैत नहीं है। दार्शनिक अनुभूति इन दोनों तत्वों को सत्ता की समग्रता के अन्दर समाहित करती है। वैज्ञानिक सत्यों को निर्देशित किया जा सकता है। परन्तु दार्शनिक सत्यों को केवल चेतना में जागरित किया जा सकता है। समग्रता[1] जो कि दर्शन का विषय है, वैज्ञानिक सत्यों को तरह निर्देशित नहीं की जा सकती है। इसका किसी अन्य वस्तु से निगमन भी सम्भव नहीं है। इससे पहले और कोई अन्य सत्ता नहीं है जिससे कि यह निगमित की जा सके।

1. Encompassing.

परन्तु हम समग्रता को भी आधार वाक्य नहीं बना सकते, जिससे कि अन्य सत्यों का निगमन सम्भव हो सके। ऐसी सम्भावना, स्वतन्त्रता, अनिश्चितता और जोखिम[1] के विरुद्ध हैं। स्वतन्त्रता, अनिश्चितता और जोखिम मनुष्य के जीवन के मूलभूत तत्त्व हैं जो दर्शन को विज्ञान के धरातल पर उतारने के प्रयास को असफल कर देते हैं।

वैज्ञानिक ज्ञान की वैधता सार्वभौमिक है। विज्ञान का सत्य सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से सत्य है। विज्ञान के सत्यों के सन्दर्भ में मतैक्य रहता है। परन्तु इसके होते हुए भी विज्ञान के सत्य सापेक्ष ही रहते हैं। इनकी सापेक्षता उस क्षेत्र, जिसके अन्तर्गत कि इनका अध्ययन किया जाता है, तथा उस प्रणाली जिसके द्वारा इनका अध्ययन किया जाता है, के प्रति होती है। वैज्ञानिक प्रत्ययों के माध्यम से जगत् की समग्रता को कोई प्रतिमा बनाना असम्भव ही है।[2] दार्शनिक अनुभूति सार्वभौमिक इसलिए नहीं है क्योंकि यह दार्शनिक की व्यक्तिगत मान्यता है। यह मेरा सत्य है और यह आवश्यक नहीं है कि मेरा आपके लिए भी सत्य हो। परन्तु इतना होते हुए भी यह निरपेक्ष है क्योंकि इस सत्य की वैधता की अभिव्यक्ति में अपने अस्तित्व की समग्रता से करता हूँ।

विज्ञान और तकनीकी का दर्शन पर अत्यन्त सशक्त प्रभाव पड़ रहा है। दार्शनिक लोक-दर्शन को विज्ञान के धरातल पर ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यास्पर्स इस प्रवृत्ति को 'विज्ञानवादी साम्राज्यवाद' की संज्ञा देते हैं। विज्ञानपरता[3] वैज्ञानिक ज्ञान के कुछ क्षेत्रों का सैद्धान्तिक निरपेक्षीकरण है जो कि भ्रमात् अपने को दर्शन समझती है और विज्ञान से सब कुछ प्रदान करने की क्षमता रखने की अपेक्षा करती है, विज्ञान को सभी मूल्यों की मीमांसा करने का निर्देश देती है। नैतिक आचरण की व्याख्या और निर्णय भी इसी को सौंप दिया जाता है। अन्य शब्दों में, इसे ही मनुष्य जीवन के परम निःश्रेयस् को निर्धारित करने का उत्तरदायित्व भी दे दिया जाता है। दर्शन से वैज्ञानिक प्रणाली और मूल्यपरक निर्णयों का एक सामान्य तर्कशास्त्र प्रदान करने की अपेक्षा की जाती है। व्यक्तिगत मूल्यांकन और स्वतंत्र वरण नैतिक सिद्धांत और नैतिक व्यवहार के मूलभूत तत्त्व नहीं हैं। अवैयक्तिक वैज्ञानिक अन्वेषण

---

1. Risk.
2. *Six Existentialist Thinkers*, Page 45.
3. Scientism.

और सार्वजनिक प्रमाण ही वास्तविक आचरण और मूल्यों के एक मात्र प्रतिमान और निर्धारक हैं। जब तक दर्शन को सभी विज्ञानों की एक प्रणाली नहीं बना दिया जाता या उनका एक सर्वोच्च सामान्यीकरण नहीं कर दिया जाता तब तक वह विश्वविद्यालयी दुनिया में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सकता है।[1]

यास्पर्स विज्ञानपरता का खंडन करते हुए प्रत्ययवाद और प्रत्यक्षवाद[2] दोनों की आलोचना करते हैं। प्रत्यक्षवाद और प्रत्ययवाद प्रायः दोनों ही यह मानते हैं कि दार्शनिक समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक विधियों से किया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लोत्से जैसे प्रत्ययवादियों का नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय है जिन्होंने ईश्वर, आत्मा, स्वतंत्रता और नैतिक उत्तरदायित्व जैसी दार्शनिक समस्याओं का वैज्ञानिक परम्पराओं के आधार पर समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। प्रत्ययवादी दार्शनिक प्रत्येक वस्तु को मन या चेतना पर आश्रित मानता है। प्रत्येक वस्तु को मन या चेतना की अभिव्यक्ति मानना व्यक्ति और सत्ता दोनों का निरादर और निराकरण करना है। व्यक्ति और सत्ता यास्पर्स के अनुसार मन या चेतना के आधार पर नहीं समझे जा सकते हैं।[3] दर्शन की यह विज्ञानों के अनुकरण की प्रवृत्ति ही प्रत्यक्षवाद का मार्ग प्रशस्त करती है। विज्ञानपरता ने प्रत्यक्षवाद को इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रेरित किया कि विज्ञान-जगत् के परे कोई सत्ता नहीं है। विज्ञान-जगत् की परिधि ही वस्तुतः सत्ता के जगत् की भी परिधि है। विज्ञान प्रदत्त सत्य ही एकमात्र सत्य है। विज्ञान के परे कुछ नहीं है। ईश्वर, आत्मा, स्वतंत्रता आदि मन की कल्पना मात्र हैं। क्योंकि विज्ञान इनके सम्बन्ध में किसी प्रामाणिक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता है। प्रत्यक्षवाद ने मनुष्य को यह निर्देश दिया कि वह इन कल्पनाओं के पीछे भटकने में अपना समय न व्यर्थ करे।

इस सन्दर्भ में यास्पर्स ने एडमंड हुसर्ल की भी आलोचना की है। यद्यपि हुसर्ल का पूरे अस्तित्ववादी दर्शन पर स्पष्ट प्रभाव है। हुसर्ल का प्रभाव अस्तित्ववाद पर इतना अधिक है कि समकालीन अस्तित्ववाद को फेनॉमेनॉलॉजिकल अस्तित्ववाद ही कहा जाता है।[4]

---

1. *Philosophy of Karl Jaspers*, edited by P. A. Schilpp, Chapter–Jaspers on Science and Philosophy by James Collics, Page 122.
2. Ibid., Page 120.
3. *Contemporary Philosophy* by—F. Copleston, page 159.
4. *Existentialism A Philosophy* by F. Molina, page 46.

परन्तु हुसर्ल के अनुसार फेनॉमेनॉलॉजी ही दर्शन को विज्ञान की परिधि के अन्तर्गत ले आने वाले अत्यन्त वांछनीय प्रयास में सक्षम हैं। हुसर्ल देकार्त से भी अत्यन्त प्रभावित हैं। देकार्त ने तो विज्ञान की पूजा ही की है। हुसर्ल ने देकार्त की योजना को और अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित किया है। यास्पर्स ने हुसर्ल की आलोचना के साथ-साथ देकार्त के भी इस विचार की आलोचना की है कि दर्शन गणित है। दर्शन ने गणित का अनुकरण इसलिए किया था ताकि वह उसकी पद्धति से कुछ ग्रहण कर सके। परन्तु ऐसा करने के प्रयास में देकार्त आदि बुद्धिवादी दार्शनिकों ने गणित से सीखने के बजाय दर्शन को गणित का अनुचर और सेवक ही बना दिया। यास्पर्स ने देकार्त को आधुनिक विज्ञान का आत्यन्तिक मूल्यांकन करनेवाला एक विशिष्ट प्रकार का व्यक्ति माना है।

यास्पर्स विज्ञानपरता की आलोचना के सन्दर्भ में नीत्शे की भी आलोचना करते हैं। नीत्शे ने स्वयं विज्ञान के सत्य की आलोचना की है। परन्तु उन्होंने स्वयं वैज्ञानिक ज्ञान के एक अंश का निरपेक्षीकरण करके उसे दार्शनिक समग्रता में परिणित करने का प्रयास किया है। नीत्शे ने प्रत्येक वस्तु की व्याख्या जैविक प्रक्रिया के दृष्टिकोण से करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त सत्ता के स्थान पर सत्ता की परिवर्तनशीलता और अस्थिरता पर नीत्शे के दर्शन में अधिक बल दिया गया है। विज्ञानपरता का उक्त विवेचित दृष्टिकोण मानव-विज्ञान, मनोविश्लेषण विज्ञान और मार्क्सवाद सभी में परिलक्षित होता है। किसी भी क्षेत्र में निरपेक्षीकरण की प्रवृत्ति अस्वास्थ्यकर निष्कर्षों को जन्म देती है। अतएव दर्शन को विज्ञान की परिधि में नहीं घसीटा जा सकता। दर्शन और विज्ञान दोनों की विधि और लक्ष्य में प्रकारगत अन्तर है। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि वे एक-दूसरे के लिए व्यर्थ हैं। वस्तुतः वे एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं। दर्शन ही विज्ञान का क्षेत्र निर्धारित करता है और उसके अर्थ की भी व्याख्या करता है। विज्ञान को उसकी परिधि और सीमा बताकर जहाँ एक ओर दर्शन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है, जन-कल्याण में अपना विशिष्ट योगदान दे सकता है और ज्ञान के भंडार में भी अभिवृद्धि कर सकता है वहीं दूसरी ओर वह उसका नियमन भी करता है। अपने क्षेत्र में विज्ञान की क्षमता उल्लेखनीय है—चाहे वह चिकित्सा हो या तकनीकी। परन्तु विज्ञान जब ऐसे क्षेत्रों में हाथ डालने का प्रयास करता है जो कि वस्तुपरता के क्षेत्र के बाहर है तो वह केवल अपने समय और क्षमता को बर्बाद करता है। अतएव यास्पर्स विज्ञान को यही राय देते हैं कि वह अपनी परिधि और सीमा के अन्तर्गत ही अपने को मर्यादित रखें। विज्ञान को अपने

निष्कर्षों को मानवीय ज्ञान की विभिन्न विधियों में बिना विचार के प्रयुक्त करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। दर्शन विज्ञान की प्रणाली और उसकी उपलब्धियों का तटस्थ होकर निरीक्षण कर सकता है और उसे नियन्त्रित करने के आयाम बता सकता है। इस रूप में दर्शन विज्ञान के लिए अपरिहार्य है।

परन्तु उक्त विवेचन का अभिप्राय यह नहीं कि विज्ञान दर्शन के लिए व्यर्थ है। यास्पर्स ऐसे दार्शनिक नहीं हैं, जिन्हें विज्ञान का विरोधी कहा जा सके।[1] विज्ञान दर्शन के विकास हेतु आवश्यक परिस्थितियाँ और उपकरण प्रदान करता है। दर्शन को विज्ञान द्वारा प्रदत्त वस्तुपरक विचार की कोटियों और वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग दार्शनिक सत्य के स्पष्ट, सार्वभौमिक और बौद्धिक संज्ञापन के लिए अवश्य करना चाहिए। यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि यास्पर्स के अनुसार दार्शनिक सत्य वैज्ञानिक ज्ञान की कोटियों के माध्यम से प्रत्यक्ष और विधि रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। वैज्ञानिक ज्ञान की पूर्णता के साथ ही साथ अनुभूति भी इतनी प्रबल होती जाती है कि विज्ञान सत्ता की समग्रता को आत्मसात् नहीं कर सकता है। यह सत्ता के एक पहलू विशेष, जो कि वस्तुपरक है, के ज्ञान मात्र तक सीमित रहता है। मनुष्य विज्ञान की कोटियों के माध्यम से सत्ता की समग्रता के विषय में न तो सक्षम रूप से सोच सकता है और न ही ऐसा सोचने की क्रिया का परित्याग ही कर सकता है। उसके लिए सत्ता की यह समग्रता उस प्रकार की विचारणीय सत्ता है, जो कि अविचारणीय[2] है।

इस प्रकार की अनुभूति यह स्पष्ट करती है कि सत्ता की समग्रता वस्तुपरक या विज्ञानपरक ज्ञान की कोटियों के माध्यम से न तो ज्ञेय है और न अभिव्यक्त ही की जा सकती है। वैज्ञानिक ज्ञान अपनी प्रौढ़ता की सीमा पर पहुँच कर भी सत्ता की समग्रता की अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त और अक्षम हो जाता है। यहीं विज्ञान के उत्तरदायित्व को दर्शन ग्रहण कर लेता है। यहीं दार्शनिक एक एक प्रकार की द्विविधा में अपने को पाता है। सत्ता की अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम वस्तुपरक विज्ञान की कोटियाँ हैं और सत्ता को इन वस्तुपरक कोटियों में अभिव्यक्ति पाने के लिए अवस्तुपरक से वस्तुपरक होना पड़ेगा। अतएव दार्शनिक के सामने यह कठिनाई है कि वह अवस्तुपरक सत्ता को बिना वस्तुपरक बनाये किस प्रकार वस्तुपरक ज्ञान की कोटियों के माध्यम से जाने और

1. *Contemporary Philosophy* by Copleston, pages 159-160.
2. *Six Existentialist Thinkers*, page 47.

प्रकट करे। यास्पर्स इस कठिनाई पर विजय पाने के लिए सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए विज्ञान की वस्तुपरक कोटियों का प्रत्यक्ष प्रयोग न करके उनका अप्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। वह जगत् को दर्शन के लिए अत्यावश्यक मानते हैं। ऐसा दार्शनिक, जो जगत् की सत्ता और अस्तित्व को नहीं मानता वह दर्शन तक नहीं पहुँच सकता है।[1] परन्तु यास्पर्स के अनुसार वैज्ञानिक जगत् सत्ता की समग्रता को अभिव्यक्ति प्रत्यक्षतः नहीं करता है। यास्पर्स वैज्ञानिक जगत् को वस्तुओं या कोटियों को प्रतीकात्मक या सांकेतिक मानते हैं। जगत् के ये संकेत या प्रतीक स्वयं समग्रता नहीं हैं। अपितु वे वह परिप्रेक्ष्य और उपकरण उत्पन्न करते हैं, जिनके माध्यम से समग्रता के विषय में जो हमारी अनुभूति है, उसको बौद्धिक ढंग से अभिव्यक्ति हो सके।

इस प्रकार जहाँ एक ओर दर्शन विज्ञान की सीमा निर्धारित करता है, ज्ञान के क्षेत्र में उसके निष्कर्षों और उपलब्धियों को नियमित करता है, वहीं, दूसरी ओर विज्ञान भी अपनी वस्तुपरक कोटियों के माध्यम से दार्शनिक सत्य की अभिव्यक्ति करने में दर्शन की सहायता करता है। दार्शनिक सत्य निस्संदेह अवस्तुपरक है; परन्तु अभिव्यक्ति पाने के लिए उसे विज्ञान की वस्तुपरक कोटियों का आश्रय लेना होगा और यहीं विज्ञान दर्शन की सेवा करता है।[2] इस प्रकार विज्ञान और दर्शन पृथक् होते हुए भी चिन्तन को अन्योन्याश्रित विधायें हैं। उनका विरोध दो शत्रुओं का विरोध नहीं है, प्रत्युत दो सहोदरों का विरोध है, जो कि सत्य की खोज में लगे हुए हैं। दर्शन विज्ञान को उसी सत्य तक सीमित और मर्यादित रहने की सलाह देता है जिसका सम्बन्ध वस्तुगत जगत् के ज्ञान से है। विज्ञान दर्शन की सेवा सत्ता की अनुभूति और अभिव्यक्ति के संदर्भ में करता है।[3]

---

1. "Philosophy begins with Science and cannot do without it, because there is no other world independent of the objective world which Science explores, only one who has passionately given himself upto the exploration of the world can find access to philosophy. Philosophy which is dissociated from the world is lost." Ibid., page 47.
2. The non objective, in so far as we have access to it at all, is accessible only by way of objectivities.

   —*Jaspers*, *Philosophy*, *Vol. I.* p. 18.
3. *Philosophy of Karl Jaspers*, edited by P. A. Schilpp, 27

सत्ता और उसका स्वरूप

यास्पर्स ने सन् 1935 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रीज़न एण्ड एक्जिटेन्ज़' प्रकाशित की। यह पुस्तक यास्पर्स के कई व्याख्यानों का संकलन है। यास्पर्स द्वारा सत्ता के प्रकारों या समग्रता की क्रमबद्ध संरचना का यह प्रथम प्रयास है। इस पुस्तक में सत्ता की अवधारणा को प्रस्तुत करने में उतनी मौलिकता नहीं दिखाई गयी है, जितनी कि उसकी क्रमबद्ध और नियोजित संरचना में। उक्त पुस्तक के प्रकाशन के पहले भी सत्ता के प्रकार यास्पर्स के दर्शन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा चुके थे। सन् 1932 में 'फिलासाफिकल सिस्टेमैटिक्स' शीर्षक के अन्तर्गत यास्पर्स ने यूनिवर्सिटी लेक्चर्स दिये। उनके व्याख्यान समग्रता की अवधारणा पर आधारित थे। उस समय समग्रता की अवधारणा एक अत्यन्त मौलिक विचार था। यास्पर्स की दो पुस्तकों 'इक्जिस्टेंज फिलासफी' (1938) 'दि पैरेनियल स्कोप आव फिलासफी' (जर्मन संस्करण 1948 और अमेरिकन संस्करण 1949) में सत्ता की अवधारणा का श्रुतधर्म से सम्बन्ध निरूपित किया गया है। 'दि ओरिजिन एण्ड गोल आफ हिस्ट्री' (जर्मन संस्करण 1949 और अमेरिकन संस्करण 1953) में समग्रता की अवधारणा की प्रस्तुति ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में की गयी है। यास्पर्स ने प्रायः सत्ता को समग्रता[1] के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सत्ता से जब विषयी और विषय दोनों का समन्वित बोध होता है, तो उसे विषयी और विषय की समग्रता कहते हैं। समग्र सत्ता न मात्र विषय है और मात्र विषयी अपितु विषयी और विषय के विभेद के दोनों पक्षों को समाहित करती है।[2]

दर्शन के इतिहास में माइलेसियन्स के समय से सत्ता को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। जड़द्रव्यवादियों ने 'जड़द्रव्य' को सत्ता माना और उसी से सभी चीजों की व्याख्या करने का प्रयास किया। अध्यात्मवादियों ने आत्मा को ही सत्ता माना और अन्य सभी चीजों को उसी से अनुस्यूत माना। इन सभी अवधारणाओं के अन्तर्गत सत्ता को जगत् में स्थित माना गया है

Chapter "Jaspers on Science and philosophy" by James Collins, page 136.

1. 'Umgreifende, das' which means 'The Comprehensive'.
2. *The Perennial Scope of philosophy*, Trans. Ralph. Manheim, Routledge & Kegan Paul Ltd., London, p. 14.

और अन्य वस्तुएँ इसी से उद्भूत मानी गयी हैं।[1] परन्तु यास्पर्स के अनुसार सत्ता जगत् में स्थित एक वस्तु विशेष नहीं है। सत्ता जगत् में स्थित एक विशेष वस्तु नहीं है ऐसा मत कांट ने भी प्रतिपादित किया है। वस्तु का विषय अन्य वस्तुओं के विषयों से तथा विषयी से पृथक् हैं और पृथक् किया भी जा सकता है।[2] वस्तुपरता परिस्फुटता का स्रोत और आधार है। वस्तुएँ अन्तवर्ती होती हैं। और इस अर्थ में वे अतिक्रमणता और अस्तित्व से भिन्न हैं जो अन्तवंर्ती नहीं हैं अपितु अतिव्याप्त हैं और अतीन्द्रिय हैं। जगत् में रहने के कारण वस्तुएँ विज्ञान की वस्तुपरक कोटियों के माध्यम से अभिव्यक्त हो सकती हैं परन्तु अतिक्रमणता और अस्तित्व के सम्बन्ध में ये कोटियाँ लागू नहीं होती हैं। मनुष्य भी अंशतः वस्तु या विषय बन सकता है। मनुष्य 'तत्रास्ति, 'चिन्मात्र' और चित् के रूप में वस्तुपरक ही है। परन्तु अस्तित्व के रूप में मनुष्य कदापि वस्तुपरक नहीं हो सकता है। सत्ता को वस्तुपरक बनाकर जानने और अभिव्यक्त करने का प्रयास निस्संदेह असफल होगा। वस्तुपरक विवेचन विज्ञान है, यह सत्ता या दर्शन नहीं है।

यास्पर्स के अनुसार दार्शनिक विचार एक ऐसा अतीन्द्रिय विचार है जो कि परम्परागत साधारण विचार से भिन्न है। इसमें विषय और विषयी की अपेक्षा रखनेवाली विज्ञान की वस्तुपरक कोटियों की आवश्यकता नहीं है। दार्शनिक विचार में उत्प्लवन सन्निहित है। यह विचार जगत् के सामान्य तथ्यों का अतिक्रमण या उत्प्लवन करके विचारों की समग्रता को प्राप्त कर लेता है।[3] दार्शनिक विवेचन दृष्टिकोण को व्यापक बनाने के लिए पर्वतारोहण करने की भाँति हैं। ऐसा करने से समग्रता की व्यापकता की अनुभूति होती है। पर्वतारोहण से अन्तरिक्ष समाप्त तो नहीं हो सकता है, परन्तु वह विस्तृत और व्यापक हो जायगा। यह दृष्टिगत क्षेत्र विज्ञान की परिधि है। यहाँ सामान्य विचार पूर्णतया सक्षम है, परन्तु इस दृष्टिगत अन्तरिक्ष की परिधि के बाहर विज्ञान की कोई गति नहीं है। विज्ञान द्वारा

---

1. *Way to wisdom by* Karl Jaspers Trans, Ralph Manheim, page 29.
2. *Karl Jaspers—An Introduction to his Philosophy* by C. F. Wallraff, Princeton Universitl press, Princeton New Jersey 1970, page 191.
3. *Philosophy of Karl Jaspers,* edited by P. A. Schilpp, page 149- 150.

अदृष्ट यह क्षेत्र ही दर्शन का क्षेत्र है। दर्शन वस्तुगत जगत् का मूल्यान्तरण कर देता है। वह हमारे अन्दर एक ऐसी सूझ जागरित करने का प्रयास करता है जिसके माध्यम से दृश्यजगत् की यथार्थता की अनुभूति होती है। इससे सत्ता की हमारी सारी चेतना ही बदल जाती है। यहाँ वेजमन भी यास्पर्स के विचार से सहमति रखते हुए प्रतीत होते हैं।[1]

इस प्रकार सत्ता या दर्शन का जगत् वैचारिक जगत् के ऊपर है। सत्ता का अस्तित्वपरक अभिग्रहण ही सम्भव है। इसकी हमें साक्षात् अनुभूति होती है। यह निर्विकल्प है। यास्पर्स सत्ता को एक और केवल एक कहते हैं। वह इसे निर्विकल्प, असीम, सर्वोपरि और परम अधिष्ठान आदि कहते हैं। इसे वह निरपेक्ष कहते हैं क्योंकि वह सापेक्ष और सीमित वस्तुओं से पृथक् है। यह सभी वस्तुओं का प्रमाण और आधार है परन्तु स्वयं प्रमाण निरपेक्ष है। यास्पर्स के ये विचार शंकराचार्य के विचारों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। शंकराचार्य ने भी सत्ता को बुद्धि की कोटियों के परे बताया है। सत्ता, शंकराचार्य के अनुसार भी सभी ज्ञान का आधार है। निर्गुण ब्रह्म के वर्णनातीत स्वरूप पर शंकराचार्य के दर्शन में पर्याप्त विवेचन है। इस प्रकार यास्पर्स के अनुसार बुद्धि के लिए सत्ता ज्ञेय नहीं।

सत्ता की अनुभूति चेतना की उन्मुक्तता[2] से ही सम्भव है। चेतना की इस उन्मुक्तता का आविर्भाव तभी सम्भव है जब कि बुद्धि अपनी अक्षमता का अनुभव कर लेती है। चेतना की उन्मुक्तता के लिए यास्पर्स ने कई पदों का प्रयोग किया है। कभी वे इसे दार्शनिक निष्ठा कहते हैं तो कभी आत्मानुभूति। अन्य स्थलों पर इसे भी वह आधारभूत ज्ञान की संज्ञा देते हैं। यह दार्शनिक आस्था एक आन्तरिक आत्मनिष्ठा है जो कि सामान्य ज्ञान से पृथक् है; यह

---

1. "What is decisive (in Philosophy) is a new way of sensing and, what goes with it, the will to transform the whole intellectual scene, for at the heart of any philosophy....is vision." F. Waismann, "How I see Philosophy" in *Contemporary British Philosophy*, Third Series 1958, quoted by G. J Warnock in *English philosophy since 1900* : New York, Oxford University press, 1966, page 88.
2. Openness of Consciousness.

विश्वास हमें सार्वभौम रूप से असंदिग्ध सत्य नहीं प्रदान करता है। अपितु जो सत्य हमें इससे प्राप्त होते हैं, वे आत्मनिष्ठा के कारण स्पष्ट और परिस्फुट रहते हैं। निष्ठा से प्राप्त सत्य निरपेक्ष होता है जबकि सामान्य ज्ञान के द्वारा प्राप्त सत्य सदैव सापेक्ष रहता है। सामान्य ज्ञान अपने वाक्यों और उन विधियों के ऊपर निर्भर करता है, जिसके माध्यम से वह प्राप्त किया जा सकता है पर दार्शनिक निष्ठा हमें तभी हो सकती है, जब हम इसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर दें। ब्रूनो और सुकरात को ऐसी दार्शनिक निष्ठा थी तभी वे उसके लिए आत्मोत्सर्ग कर सके। दार्शनिक सत्य वैज्ञानिक सत्य की भाँति बाह्य असंदिग्धता नहीं रखता। उसमें आन्तरिक असंदिग्धता या निष्ठा रहती है। यद्यपि दार्शनिक विश्वास या निष्ठा की सत्यता को हम सिद्ध नहीं कर सकते तथापि वह अबौद्धिक नहीं है। वह बुद्धि के विरुद्ध नहीं है अपितु बुद्धि पर आधारित है। यह वहीं आरम्भ होती है जहाँ बुद्धि की क्षमता की परिधि है। यहाँ यास्पर्स के विचार कांट से पर्याप्त साम्य रखते हैं। दार्शनिक आस्था चिंतनशील व्यक्ति का विश्वास है जो कि तब आरम्भ होता है, जब कि बुद्धि की क्षमता की सीमा आ जाती है।

इस दार्शनिक निष्ठा के दो पक्ष हैं, आत्मपरक और वस्तुपरक। विश्वास जिसके द्वारा हमें प्रतीत होता है और विश्वास की सामग्री जिसमें कि हमें प्रतीति होती है, दोनों अपृथक् हैं।[1] इस आस्था या निष्ठा में आत्मपरक और वस्तुपरक दोनों पहलू एक समग्रता का निर्माण करते हैं। यदि हम आत्मपरक पक्ष को ही लेते हैं तो हमारे पास केवल विश्वास करने वाला मानसिक स्तर ही होगा जिसमें कि वस्तु और आन्तरिक सामग्री नहीं होगी और यदि हम मात्र वस्तुपरक पक्ष को ही लेते हैं तो हमारे पास केवल वस्तु और सामग्री होगी और विश्वास नहीं होगा। अतएव कोई न तो यह कह सकता है, कि दार्शनिक निष्ठा वस्तुपरक सत्य है जो कि विश्वास द्वारा निर्धारित की जाती है और न यही कह सकता है कि यह ऐसा आत्मपरक सत्य है जो कि वस्तु द्वारा नहीं निर्धारित होता है।[2] दार्शनिक निष्ठा में आत्मपरक और वस्तुपरक दोनों पक्ष समाहित रहते हैं। यह दोनों की समग्रता है। बुद्धि से भिन्न यह दार्शनिक निष्ठा अपरोक्ष होती है। बुद्धि की कोटियों का इसकी संरचना में कोई योगदान नहीं होता है। यह धार्मिक विश्वास से पृथक् है। उसकी तरह यह सिद्धान्तों,

---

1. The subjective and Objective aspects of faith.
2. *Philosophy of Jaspers*, edited by P. A. Schilpp, p. 150.

मान्यताओं और अन्धविश्वासों का भण्डार नहीं है। दार्शनिक निष्ठा क्रांतिकारी उन्मुक्तता का एक साहसिक अभियान है।[1] यह सभी सम्भावनाओं के प्रति जागरूक है। यास्पर्स के अनुसार यही निष्ठा हमें सत्ता का ज्ञान कराती है न कि वस्तुपरक बुद्धि।

चेतना की यह उन्मुक्तता, जो कि सत्ता का अनावरण करती है, आत्मानुभूति भी कही जाती है। समग्रता को न तो हम बहिरोन्मुख होकर प्राप्त कर सकते हैं और न तो बाह्य वस्तुओं पर अपने को केन्द्रित करके ही पा सकते हैं अपितु उसे अन्तरोन्मुख होकर और विचारों के आन्तरिक परिणमन[2] के द्वारा उपलब्ध कर सकते हैं। परन्तु इस अन्तरोन्मुखता को रहस्यवादियों का अन्तर्निरीक्षण नहीं समझना चाहिए। रहस्यवादी विषय और विषयी के नितान्त विलय में विश्वास करते हैं। रहस्यवाद की यह अवस्था संज्ञापन का भी परित्याग कर देती है। दार्शनिक आस्था, जो कि आत्मानुभूति ही है, एक दार्शनिक क्रिया है, जो कि आत्मा की परिस्फुटता और स्पष्टता को प्राप्त करना चाहती है। इसमें आत्मा का विलय नहीं होता है प्रत्युत् उसकी एक अत्यन्त तीव्र चेतना जागरित होती है। यास्पर्स शंकराचार्य की भाँति यह मानते हैं कि सत्ता आत्मानुभूति से उपलब्ध हो सकती है परन्तु जहाँ शंकराचार्य आत्मा और ब्रह्म का अद्वैत मानते हैं और यह मानते हैं कि ब्रह्म में आत्मा का विलय हो जाता है और उसमें उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती है वहाँ यास्पर्स रामानुजाचार्य की भाँति आत्मा की पृथकता को प्रत्येक स्थिति में अपरिहार्य मानते हैं। यास्पर्स चेतना की इस उन्मुक्तता को दार्शनिक ज्ञान या आधारभूत ज्ञान भी कहते हैं। इसका विधिवत् विवेचन वह अपनी पुस्तक 'फिलासफिकल लाजिक' में करते हैं। इस ज्ञान की सत्यता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा सम्भव होता तो यह विज्ञानपरक तथ्य हो जाता। यह हमारे मनुष्यत्व का ही आधार है। समग्रता की अनुभूति हमें अन्तस्थल की गहनता से होती है। इस आधारभूत ज्ञान का न तो किसी अन्य ज्ञान से निगमन ही संभव है और न इसी से किसी अन्य ज्ञान का निगमन हो सकता है। यास्पर्स के अनुसार इस आधारभूत दार्शनिक ज्ञान की तुलना वेदान्त के आत्म-प्रत्यय और काश्मीर शैवदर्शन के प्रत्यभिज्ञा से की जा सकती है। यास्पर्स के अनुसार यह ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति

---

1. A venture of radical openness, *Existentialism and Modern Predicament*. F. H. Heinemann, London, page 67.
2. Inner Trasformation.

में समान रूप से विद्यमान रहता है। आवश्यकता केवल इसे जागृत करने की रहती है।

समग्रता, जिसके विषय में उपयुक्त पृष्ठों में यत्र-तत्र विवेचन आया है, केवल एक ही है। इस समग्रता के विषय में हम तभी कुछ कह सकते हैं, जबकि हम वस्तुगत जगत् के नानात्व और प्रपंच का अतिक्रमण कर जाँय। इस समग्रता को जब हम बुद्धि द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं तो यह सात प्रकारों में बँट जाती है। ये प्रकार स्वयं समग्रता नहीं हैं अपितु समग्रता सम्बन्धी हमारे सीमित दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हैं। समग्रता का विभाजन यास्पर्स पहले तो आत्मगत सत्ता[1] और स्वगत सत्ता[2] में करते हैं। आत्मगत सत्ता में इन्द्रियानुभविक सत्ता या तत्रस्थता, चिन्मात्र, चित् और अस्तित्व सन्निहित हैं। स्वगत सत्ता के अन्तर्गत जगत् और अतिक्रमणता आते हैं। सत्ता का सातवाँ प्रकार बुद्धि है।[3] बुद्धि के नाते ही अन्य प्रकार परस्पर सम्बन्धित होते हैं। इनमें से स्वगत सत्ता का विभेद वस्तुगत के कारण अधिक स्वाभाविक है। परन्तु यास्पर्स आत्मगत दृष्टिकोण पर अधिक बल देते हैं। यास्पर्स पर यह कांट का प्रभाव है। कांट के अनुसार बुद्धि ही प्रकृति का निर्माण करती है। ज्ञान के निर्माण में मन या बुद्धि के उत्तरदायित्व पर कांट ने पर्याप्त पर्याप्त बल दिया है। सत्ता के उक्त सात प्रकारों के वर्गीकरण का विवेचन सर्वप्रथम यास्पर्स ने अपनी पुस्तक 'रीजन एण्ड एक्जिस्टेंज़') 1935) में किया।

1. आत्मगत सत्ता :[4]

आत्मगत सत्ता के अन्तर्गत इंद्रियानुभविक सत्ता, चिन्मात्र, चित् और अस्तित्व[5] आते हैं। सत्ता के ये प्रकार हमें एक तारतम्य में दृष्टिगोचर होते हैं। सत्ता के इस सोपान का प्रथम चरण वस्तुगत सत्ता है। इस सोपान का दूसरा चरण

---

1. Being that we are (इसके लिए 'वस्तुगत सत्ता' का भी प्रयोग किया जा सकता है।)
2. Being-in-itself.
3. Being that we are includes Existence or Dasein, Consciousness as such, Spirit and Existenz. World and Transcendence are included in the Being-in-itself. The seventh mode is reason.
4. Being that we are.
5. Dasein, Consciousness as such; Spirit and Existenz.

चिन्मात्र है। यह विज्ञानपरक बुद्धि का सार है। तीसरा चरण चित् का है। इसमें परिकल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि रहती है। इस सोपान का सर्वोच्च चरण अस्तित्व है। इसमें नीचे के चरण अधिक प्राथमिक और सबल रहते हैं। ये अधिक स्थायी और स्वतन्त्र होते हैं इस तारतम्य में ऊपर के चरण अपेक्षाकृत कमजोर, अस्थायी और परतन्त्र होते हैं।[1] तारतम्य के ऊपरी सोपान नीचे के सोपानों का निषेध नहीं करते अपितु उनका सदुपयोग करते हैं। विज्ञानपरक चेतना और चित् सजीव अस्तित्व के बिना चल नहीं सकती है परन्तु शरीर के अभाव में अस्तित्व की कोई सत्ता नहीं है और जगत् के अन्दर ही अस्तित्व सक्षम है।[2]

(क) इंद्रियानुभविक सत्ता जीवन का स्तर है इससे मनुष्य का उसके परिवेश के सन्दर्भ में बोध होता है। इसे यास्पर्स ने तत्रास्ति कहा है। 'मैं वहाँ हूँ' 'हम कहाँ हैं ?' आदि वाक्यों में इस सत्ता की अभिव्यक्ति शाब्दिक रूप में की जाती है। इससे मनुष्य के उस सजीव रूप का बोध होता है जिसका कि एक मनोवैज्ञानिक पक्ष है। सत्ता के इस स्तर पर हम शारीरिक क्रियाओं, मनोवैज्ञानिक अनुभवों और सामाजिक तरीकों के रूप में वस्तुपरक निरीक्षण का विषय बन जाते हैं। अन्य स्तर की अपेक्षा वस्तुगत सत्ता अधिक आदिम है। यह स्तर मनुष्य की अव्यवहारवादी व्याख्या करता है, जिसके अनुसार मनुष्य नैतिक और धार्मिक मूल्यों से विरत है। मनुष्य इस स्तर पर सत्ता का मात्र एक प्रकार है। मनुष्य में इस वस्तुगत सत्ता[3] के अतिरिक्त अन्य प्रकार भी समाहित हैं।

(ख) चिन्मात्र[4] और वस्तुगत सत्ता का अन्तर प्लेटो के प्रसिद्ध 'गुफा-वाले प्रतीकोपाख्यान'[5] की सहायता से स्पष्ट रूप में व्यक्त किया जा सकता है। दोनों का अन्तर इन्द्रिय प्रत्यक्ष और बुद्धि के अन्तर की ही भाँति है। यह वैज्ञानिक नियम और सौन्दर्यपरक तथा नैतिक मानकों या आदर्शों का स्तर है।

---

1. *Reason and Exiistenz*-Five lectures by Karl Jaspers translated with an introduction by William Earle, Routledge & Kegan paul, London, pages 88-90.
2. *Philosophy* Vol, II, 3rd Unchanged edition with added postscript, Berlin, J. Springer, 1956, page 224.
3. Dasein.
4. Cousciousness as such.
5. The Myth of the Cave.

इस स्तर पर प्रत्येक वस्तु विषय और विषयी में विभक्त प्रतीत होती है। प्रत्येक वस्तु को बने रहने के लिए हमारी चेतना के समक्ष एक वस्तु के रूप में उपस्थित होना पड़ता है। चिन्मात्र की कोटियाँ वस्तु को वस्तुपरक बना देती हैं। दो चेतनाओं के लिए जो वस्तु समान रूप से एक होगी वही संज्ञापन का विषय बन सकती है। अतएव चेतना के इस स्तर पर ही, जो कि वस्तुपरक है, संज्ञापन सम्भव है। वस्तुपरक होने और संज्ञापनशील होने में प्रायः नित्य साहचर्य रहता है। चिन्मात्र में वस्तुगत सत्ता का निषेध नहीं होता है, अपितु चिन्मात्र वस्तुगत सत्ता की अभिपूर्ति कर देता है। सत्ता के निम्न चरण का इस उच्च चरण में निषेध नहीं हो जाता है, अपितु उसका इसमें परिणमन हो जाता है। वस्तुगत सत्ता के रूप में हम परिवेशोन्मुख रहते हैं और चिन्मात्र के रूप में हम वस्तुओं की ओर उन्मुख रहते हैं। चिन्मात्र के स्तर पर स्पष्टता, परिस्फुटता, संज्ञापनशीलता और निदर्शनशीलता आदि सत्य के तथाकथित लक्षण स्पष्ट रूप से विद्यमान रहते हैं।

(ग) किन्तु चित्[1] कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं जिनका उत्तर देने में चिन्मात्र असमर्थ रहता है। सौन्दर्य और कुरूपता क्या है? इनके विषय में विज्ञान और प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र क्यों मूक रहते हैं? यह कैसे सम्भव है कि बिना किन्हीं तथ्यों और सिद्धान्तों के सत्ता हमें शिक्षित करती है? 'शुचि' और 'पवित्र' क्या है? सद्गुण से हमारा क्या अभिप्राय है? और हम कैसे उठें? कैसे विवेचित कर सकते हैं? नागरिक का समाज से सम्बन्ध निरूपण किस प्रकार किया जाय? व्यवस्था और अव्यवस्था में किस प्रकार विभेद क्रिया जाय? वस्तुगतसत्ता के स्तर पर इन प्रश्नों का कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान या चिन्मात्र इन प्रश्नों का उत्तर देने में सक्षम नहीं है। ये प्रश्न आत्मा के क्षेत्र में आते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें मनोवैज्ञानिक से साहित्यिक बनना पड़ेगा, समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री से इतिहासकार बनना पड़ेगा और विज्ञानपरक दार्शनिक से नीतिज्ञ; कलासमालोचक और उदारधर्मविद् बनना पड़ेगा। जिस प्रकार चिन्मात्र अवधारणाओं के विवेचन से सम्बन्वित है और अस्तित्व का आविर्भाव निष्ठा या आस्था में होता है, उसी प्रकार चित् प्रत्ययों का सृजन करता है। चित् बुद्धिगम्य विचार, क्रिया और वेदना का संघात है। इसका बोध अन्तरोन्मुख होने में ही हो सकता है। इसकी खोज बाह्य जगत् में प्राकृतिक वस्तु के रूप में नहीं की जा सकती है। चित् के रूप में हम अपने को

1. Spirit.

प्रत्येक ज्ञेय वस्तु से सम्बन्धित करते हैं। यह चित् चिन्मात्र को अर्थ तथा सम्पूर्णता प्रदान करता है। यह सृजन का केन्द्रबिन्दु है। यास्पर्स के अनुसार सत्ता अपने को सीधे-सीधे अभिव्यक्त नहीं करती है। यह प्रतीकों के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है। चित् कला के माध्यम से अभिव्यक्ति की यह क्षमता प्रतीकों को प्रदान करता है। यह सत्ता का संज्ञापन सौन्दर्यपरक आयामों में करता है. प्रतीकोपाख्यानों के द्वारा करता है। प्रतीकोपाख्यान अपने में काल्पनिक होते हैं परन्तु वे वह भाषा प्रदान करते हैं जिसके द्वारा सत्ता की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है। होमर के देवता भी प्रतीकोपाख्यान ही हैं।

(घ) वस्तुगत सत्ता, चिन्मात्र और चित् हमारी अभिव्यक्ति यथार्थता के रूप में करते हैं। वे यह सूचित करते हैं कि हम सचमुच क्या हैं ? परन्तु अस्तित्व हमें यह सूचित नहीं करता है कि हम क्या हैं ? अपितु वह यह सूचित करता है कि हम क्या हो सकते हैं ? अस्तित्व यथार्थता नहीं है अपितु सम्भावना है। इसलिए यास्पर्स 'सम्भाव्य अस्तित्व' पद का प्रयोग करते हैं। सत्ता के अन्य प्रकारों की भाँति अस्तित्व वस्तु परक नहीं हो सकता है यह विज्ञान की कोटि के माध्यम से ज्ञेय नहीं है। यह स्वत्व या व्यक्तित्व का आधार है। चित् एकता का प्रेरक है। यह सम्पूर्ण होने की इच्छा है। यह प्रत्येक वस्तु को सार्वभौमिकता और सम्पूर्णता की कोटियों में रखने का प्रयास करता है। अस्तित्व आप्तता का प्रेरक है। वह सत्ता का आत्मपरक पक्ष होता है। यह अपने अन्दर दृढ़ विश्वासों को संजोता तथा उन पर अटल रहता है। यह हर तरह की कृत्रिमता तथा अक्षमता को दूर करता है। यह बुरी आस्था[1] से विरत होता है। अस्तित्व के रूप में मनुष्य अपने स्वत्व को प्राप्त करता है। इस रूप में वह अप्रतिम, अद्वितीय और अपरिहार्य है। यह तथाकथित कोटियों के माध्यम से वर्णनातीत है। यह सारे ज्ञान की परिधि पर स्थित 'अन्धेरी पृष्ठभूमि'[2] है। यह अस्तित्व दार्शनिक विवेचन या किसी अन्य उक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं हो सकता है। इसकी प्राप्ति उस अनुभव से होती है, जिसका सम्बन्ध सीमा परिस्थितियों, उच्छेदवाद के आकस्मिक मिलन, अस्तित्ववादी संज्ञापन की समाप्ति तथा अन्य ऐसी स्थितियों से है।[3] इस अस्तित्व के माध्यम से ही अतिक्रमणता

---

1. Bad Faith.
2. *Philosophy of Karl Jaspers*, page 100.
3. Ibid., Chapter 'The Concept of Ultimate Situation in Jaspers, Philosophy', page 180, 188, 189 and 192.

या ईश्वर की अभिव्यक्ति होती है। अस्तित्व के अभाव में अतिक्रमणता का कोई अर्थ नहीं है। अस्तित्व के ही रूप में अतिक्रमणता बिना किसी अन्धविश्वास के उपस्थित हो सकती है।[1]

(ii) स्वगत सत्ता

आत्मगत सत्ता स्वपर्याप्त नहीं है। यह किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा रखती है। यह अन्य सत्ता ही स्वगत सत्ता है। इसमें जगत् और अतिक्रमणता दोनों ही सन्निहित हैं। हम इसके निर्माता नहीं हैं। हम जब नहीं रहते हैं तो भी यह स्वगत सत्ता रहती है।

(च) यास्पर्स कांट की भाँति जगत् को 'प्रत्यय' कहते हैं। यह वस्तु नहीं है। वस्तुएँ जगत् में स्थित हैं। विज्ञान इन्हीं वस्तुओं का अध्ययन करता है। विज्ञान समग्र जगत् का अध्ययन नहीं करता। समग्र जगत् एक वस्तु के रूप में हमारी वैज्ञानिक व्याख्या का विषय नहीं बन सकता है।[2] यास्पर्स जगत् और उसके कार्यों को किर्केगार्ड से अधिक महत्व देते हैं। उनके अनुसार जगत् की सत्ता का निराकरण नहीं किया जा सकता है।[3] मनुष्य की आप्तता केवल जगत् में ही उपलब्ध हो सकती है। आवश्यकता जगत् से संन्यास लेने की नहीं है अपितु आसक्ति से सन्यास लेने की है। यहाँ यास्पर्स के विचार गीता के निष्काम कर्म से पर्याप्त साम्य रखते हैं। किन्तु उक्त विवेचन का आशय यह नहीं है कि यास्पर्स के अनुसार जगत् स्वपर्याप्त और आत्मनिर्भर है। जगत् अपने में ही अधिष्ठित नहीं है।[4] यह एक उच्च सत्ता की ओर संकेत करता है। जगत् के व्यावहारिक अनुभव का सम्यक् ज्ञान ही उसके अतिक्रमण की आवश्यकता को स्पष्ट कर देता है।[5] बुद्धि और विज्ञान का परित्याग नहीं करना है अपितु उन्हें

---

1. "Only through Existenze can Transcendence become Present without superstition, as the genuine reality which to itself never disappears", *Reason and Existenz*, p. 62.
2. *Way to wisdom* by Karl Jaspers, translated by Ralph Monheim, Yale University press, 1960, p. 74-75.
3. *Man in the Modern Age* by Karl Jaspers translated by E & C Paul, New Edition 1951, Routledge and Kegan Paul, London, page. 178.
4. *The Perenniral Scope of Philosophy*, p. 38.
5. *Philosophy of Karl Jaspers*, edited by P. A. Schilpp, page 97.

उनकी परिधि तक ले जाना है। जगत् का ज्ञान अतिक्रमणता की ओर एक सोपान है। जगत् अतिक्रमणता की ओर संकेत करता है और अतिक्रमणता जगत् के माध्यम से ही हमसे संलाप करती है। अतिक्रमणता अपने में नितान्त गुह्य है। जगत् उसकी अभिव्यक्ति का भाषा है। अतिक्रमणता अपने को जगत् के प्रतीकों के माध्यम से ही अभिव्यक्त करती है।

(छ) हम उपर्युक्त विवेचन में देख चुके हैं कि जगत् आत्मगत सत्ता की सीमा का सूचक है। दूसरी सीमा का बोध अतिक्रमणता से अपनी अपर्याप्तता की प्रतीति में होता है। हम अपनी उत्पत्ति के कारण स्वयं नहीं हैं। हमारे अस्तित्व का अधिष्ठान कोई हमसे पृथक् सत्ता है। यह पृथक सत्ता अतिक्रमणता है। मनुष्य अपनी आत्मोपलब्धि के लिए जब प्रगतिशील होता है, तो अपनी स्वतंत्रता में ही उसे अपने सीमित होने का बोध होता है। उसे अपनी सीमा के बोध के साथ ही साथ इस सीमा की अतिक्रमणता की भी चेतना होती है। इस स्थिति का पर्याप्त स्पष्टीकरण यास्पर्स की सीमा-परिस्थितियों के विवेचन में हुआ है।[1] यह अतिक्रमणता प्रतीकों के माध्यम से अस्तित्व[2] से संलाप करती है। इन प्रतीकों[3] को जगत् की वस्तुओं से अभिन्न नहीं समझना चाहिए। ये वस्तुएँ प्रतीक तभी बनती हैं, जबकि अतिक्रमणता अस्तित्व से संलाप करती है। प्रतीकों की यह भाषा जिसके द्वारा अतिक्रमणता अस्तित्व से संलाप करती है, सार्वभौमिक या विश्वजनीन कदापि नहीं हो सकती है। यह अस्तित्व पर निर्भर करती है। पुनः, जो मेरे लिए जिस रूप में प्रतीक हैं, वह आवश्यक नहीं कि अन्य के लिए भी उसी रूप में प्रतीक हो। यह जगत् एक ऐसा गुप्त मूलपाठ है, जिसका कि सामान्य भाषा में कदापि रूपान्तर नहीं हो सकता है।[4] यास्पर्स के दर्शन में इस अतिक्रमणता को ही ईश्वर कहते हैं। यास्पर्स की ईश्वर की अवधारणा रहस्यवाद और सर्वेश्वरवाद दोनों से पृथक् है। रहस्यवाद जगत् से

---

1. *Contemporary philosophy-Studies of Logical positivism and Existentialism* by F. Copleston S. J. London Burns and Oates, page 163.
2. Existenz.
3. Ciphers.
4. "The world is, so to speak, a secret text which can nevert be translated into public language", *Six Existentialis Thinkers* by H. J. Blackham.

सर्वथा पृथक् ईश्वर से साक्षात् संसर्ग या मिलन को मानता है। यास्पर्स जगत् से पृथक् ईश्वर को नहीं मानते हैं। परन्तु सर्वेश्वरवादियों की भाँति वह यह भी नहीं मानते हैं कि जगत् ही ईश्वर है। ईश्वर जगत् में अभिव्यक्त और गुप्त दोनों ही रहता है। ईश्वर जगत् में परिलक्षित और अभिव्यक्त इसलिए है कि जगत् की ही प्रतीकात्मक या सांकेतिक भाषा में वह संलाप करता है। परन्तु वह गुप्त इसलिए है कि जगत् उसकी समग्रता की अभिव्यक्ति कदापि नहीं कर सकता है। यास्पर्स के अनुसार ऐसे ईश्वर को युक्तियों के माध्यम से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यहाँ उसके विचार कांट से पर्याप्त साम्य रखते हैं। युक्ति-परक ईश्वर को यास्पर्स ईश्वर नहीं मानते। उनके अनुसार ये युक्तियाँ उन्हीं को मान्य हों सकती हैं, जो उन्हें मानना चाहते हैं और जो उन्हें मानना नही चाहते हैं, उन्हें वे कदापि मान्य नहीं हो सकती हैं। अतएव ईश्वर के अस्तित्व की निश्चिन्तता एक आधार वाक्य मात्र है। यह किसी दार्शनिक क्रिया या ज्ञान का निष्कर्ष नहीं है।[1] कोई ईश्वर या अतिक्रमणता को युक्तियों से सिद्ध नहीं करता है, अपितु वह इसका मात्र साक्षी रहता है। यास्पर्स धर्म और नास्तिकता दोनों का खण्डन करते हैं। धर्म का खण्डन वे इसलिए करते हैं कि धर्म आधि-कारिक ढंग से ईश्वर को जगत् से बाहर मानता है और उसे जगत् का प्रतिफल और उसका गुप्त मूल्य नहीं मानता है। नास्तिक प्रत्यक्षवाद का खण्डन वह इसलिए करते हैं कि वह अतिक्रमणता या ईश्वर की संभावना का ही निराकरण करता है।[2] अतिक्रमणता वस्तुपरक विवेचन का विषय नहीं है। यह निष्ठा या आस्था का विषय है, उसी में इसकी अनुभूति हो सकती है।

(ज) यास्पर्स ने अपने दर्शन को अस्तित्ववादी दर्शन कहने की अपेक्षा बुद्धि का दर्शन कहना अधिक उपयुक्त समझा। बुद्धि[3] प्रतिपत्ति[4] से भिन्न है। प्रतिपत्ति स्पष्ट और वस्तुपरक चिन्तन देती है। वैज्ञानिक प्रतिपत्ति के रूप में यह उच्छेदवाद की ओर ले जाती है क्योंकि उस स्थिति में यह विज्ञान से परे किसी सत्ता को मानती ही नहीं। परन्तु बुद्धि उच्छेदवाद का निराकरण करती है। यह हमें उन सभी से मुक्त करती है, जो कि नियत, सीमित और निश्चित है। सत्ता का अनावरण हो जाने के पश्चात् ही यह शान्त होती है। बुद्धि में यह आत्मविश्वास निहित रहता है कि वह अतिक्रमणता का सुनिश्चित

---

1. *The Perennial Scope of philosophy*, p. 36.
2. *Six Existentalist Thinkers* by H. J. Blackham, page 62.
3. Reason.
4. Understanding.

ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेगी। इस बुद्धि को सत्ता का प्रकार कहने की अपेक्षा जोड़ने वाली शृंखला[1] कहना अधिक समीचीन होगा। बुद्धि वह प्रकार नहीं है, जिसके माध्यम से समग्रता[2] अभिव्यक्त होती है। प्रत्युत यह वह शृंखला है जो कि समग्रता के विभिन्न प्रकारों को परस्पर जोड़ती है या मिलाती है।

सत्ता या समग्रता के विभिन्न प्रकारों में एकता नहीं रहती है। उनमें परस्पर अव्यवस्था और संघर्ष रहता है। अतिक्रमणता के प्रतीकों की भी एक विश्वजनीन भाषा नहीं होती। बुद्धि इस अव्यवस्था में व्यवस्था ढूँढ़ने का प्रयास करती है। इस अनेकता और संघर्ष में एकता और सामंजस्य ढूँढ़ती है। यह बुद्धि समग्रता के विभिन्न प्रकारों को अपना योगदान प्रदान करती है। इसके अभाव में वस्तुगत सत्ता अव्यवस्थित हो जायगी। यह वस्तुगत सत्ता को जीवन का युक्तिपरक दृष्टिकोण प्रदान करती है। बुद्धि के अभाव में चिन्मात्र एक यांत्रिक चिन्तन की विधा रह जायगी। बुद्धि के बिना चित् ऐसे सौन्दर्यपरक सामंजस्यों एवं विचार की संरचनाओं को प्रदान करती है जो कि केवल सोचे जा सकते हैं, परन्तु लिये नहीं जा सकते हैं। बुद्धि के अभाव में अस्तित्व संकल्पात्मक अल्पोक्ति मात्र रह जाता है जिसका कि जगत् और अतिक्रमणता से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। बुद्धि के अभाव में अस्तित्व निष्क्रिय हो जाता है।[3] इस प्रकार बुद्धि और अस्तित्व एक-दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं। एक के अभाव में दूसरा सम्भव नहीं है। अस्तित्व बुद्धि को उसकी विषय सामग्री प्रदान करता है। अस्तित्व के अभाव में बुद्धि उदासीन विचारमात्र रह जायगी। अस्तित्व के बिना बुद्धि या तो चित्मात्र का बौद्धिक संक्रमण बन कर रह जायगी या चित् का द्वन्द्वन्यास बन जायगी। बुद्धि और अस्तित्व परस्पर एक दूसरे को विकसित करते हैं और एक-दूसरे के माध्यम से यथार्थता और स्पष्टता प्राप्त करते हैं। बुद्धि के अभाव में स्पष्टता की समाप्ति नहीं होगी अपितु आस्था या निष्ठा अन्धविश्वास मात्र रह जायगी।

सत्ता के ये विभिन्न विवेचित प्रकार यास्पर्स के अनुसार निःसन्देह एक तारतम्य बनाते हैं, परन्तु इस शृंखला या तारतम्य के उच्च सोपान निम्न सोपानों से आविर्भूत या अनुस्यूत नहीं होते हैं। उच्च सोपान भी निम्न सोपान

---

1. Bond
2. Encompassing.
3. Without reason Existenz is inactive, sleeping and as though not there". *Reason and Existenz*, Page 68.

को उत्पन्न नहीं करते, परन्तु निम्न सोपानों की सीमा निर्धारित करते हैं और उन्हें इस शृंखला में उनका उचित स्थान निर्देशित करते हैं। ये प्रकार परस्पर सम्बन्धित हैं और एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं परन्तु एक दूसरे से आविर्भूत नहीं होते। यास्पर्स सत्ता को विषय और विषयी की समग्रता मानते हैं। अस्तित्व विषयी[1] को और अतिक्रमणता विषय[2] को निर्देशित करते हैं। विषयी और विषय समग्रता के दोनों आत्यन्तिक छोरों को निर्देशित करते हैं। सत्ता के अन्य प्रकारों को इन्हीं आत्यंतिकों के मध्य अवस्थित किया जा सकता है, बुद्धि समग्रता के इन विभिन्न प्रकारों को संगठित करके एकता प्रदान करती है। यास्पर्स की सत्ता की अवधारणा निरपेक्ष एकत्ववाद और निरपेक्ष अनेकत्ववाद दोनों का निराकरण करती है। इसे निरपेक्ष एकत्ववाद नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सत्ता या समग्रता के विभिन्न प्रकार सत् हैं। ये सत्ता के आभासमात्र नहीं हैं। इसे निरपेक्ष अनेकत्ववाद भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सत्ता के विभिन्न प्रकार परस्पर सम्बन्धित हैं और वे सब मिलकर एक समग्रता का सृजन करते हैं। अतएव यास्पर्स एकत्ववाद और अनेकत्ववाद दोनों आत्यन्तिक दृष्टिकोणों का समन्वय, बिना उनके दुर्गुणों को आत्मसात् किये हुए, करने का प्रयास करते हैं।

अस्तित्व और स्वतंत्रता :

समग्रता के प्रकारों के विवेचन के उपरान्त अब हम यास्पर्स के दर्शन में अस्तित्व और स्वतन्त्रता के विवेचन का प्रयास करेंगे। अस्तित्व और स्वतन्त्रता यास्पर्स के दर्शन में समानार्थक और परस्पर विनिमयशील पद हैं।[3] वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। हम जब वरण करते हैं या निश्चित रूप से निर्णय लेते हैं, तभी अस्तित्ववान होते हैं, तभी हम वस्तुगत और अनाप्त अस्तित्व के स्तर का परित्याग करके स्वतन्त्र होते हैं। अस्तित्व ही स्वतन्त्र हो सकता है। जगत् और अतिक्रमणता दोनों में स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता अस्तित्व का सबसे परिस्फुट गुण है। स्वतन्त्रता अस्तित्व का भाव ही है। हम मनुष्य की स्वतन्त्रता को ही उसका अस्तित्व कहते हैं।[4]

---

1. Subject.
2. Object.
3. *Philosophy of Karl Jaspers* edited by P. A. Schilpp chapter 'Basic Concepts of jaspers philosophy', page 100.
4. *Way to Wisdom*, page 45.

यास्पर्स मनुष्य को एक ऐसा वस्तुपरक अस्तित्व मानते हैं जो कि स्वतन्त्रता से संयुक्त रहता है। वस्तुपरक होने के कारण मनुष्य एक वस्तु के रूप में अध्ययन का विषय बन सकता है। शरीर विज्ञान मनुष्य का अध्ययन शरीर के रूप में करता है। समाजशास्त्र उसका अध्ययन सामाजिक प्राणी के रूप में करता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान मनुष्य के अचेतन और उसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। मार्क्सवाद मनुष्य का अध्ययन एक ऐसे प्राणी के रूप में करता है जो श्रम से उत्पादन करता है और सामाजिक प्रगति करता है। ये सभी मनुष्य का अध्ययन वस्तु के रूप में करते हैं। परन्तु मनुष्य ज्ञेय वस्तुगत सत्तामात्र नहीं है। मनुष्य जितना अपने को वस्तुपरक ढंग से जानता है, यह उससे अधिक है।[1] उसकी यह अधिकता ही उसका अस्तित्व और स्वतन्त्रता है। 'अस्तित्व' पद को यास्पर्स ने किर्केगार्ड से ग्रहण किया है। परम्परागत भाषा में जिसे ईश्वर कहते हैं, यास्पर्स उसे ही अतिक्रमणता कहते हैं, उसी प्रकार परम्परागत भाषा में जिसे आत्मा कहते हैं, उसे ही यास्पर्स अस्तित्व कहते हैं। परन्तु अस्तित्व आत्मा से उसके धार्मिक अर्थ में समानता नहीं रखता। अस्तित्व और स्वतन्त्रता किसी भी स्थिति में वस्तुपरक नहीं बनाये जा सकते। ये कांट के 'मैं सोचता हूँ' की भाँति हैं जो कि सभी वस्तुपरक ज्ञान का आधार है परन्तु स्वयं वस्तुपरक ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। चित् की तरह अस्तित्व मनुष्य को पशु से पृथक् करता है। यह मनुष्य का वह आधारभूत सत्य है जो वैज्ञानिक परीक्षण का नहीं बन सकता। जहाँ सत्ता के अन्य प्रकार यथा, वस्तुगत सत्ता, चिन्मात्र, चित् इत्यादि किसी सीमा तक वस्तुपरक ज्ञान के विषय बन सकते हैं, वहाँ अस्तित्व वस्तुपरक कदापि नहीं बन सकता। उसे वस्तुपरक बनाने का प्रयास उसे समाप्त ही कर देगा। यह तार्किक भाषा में परिभाषित नहीं हो सकता है। यह वस्तुपरक कदापि नहीं हो सकता है।[2] अस्तित्व बुद्धि के परे होने के कारण बुद्धि के द्वारा न तो सिद्ध किया जा सकता है और न असिद्ध किया जा सकता है। बुद्धि पर आधारित हमारे सभी निर्णय हमारी वस्तुगत सत्ता की अभिव्यक्ति करते हैं। बुद्धि का अतिक्रमण करने के पश्चात् ही हम अपने अस्तित्व की उपलब्धि कर सकते हैं। ज्ञान का विगत

---

1. Ibid., page 63.
2. *General Psychopthology* translated by J. Heenig and Marion W. Hamilton, Chicago, University of Chicago : press, 1963, page 9.

होना ही हमें आत्मोपलब्धि कराता है।[1]

अस्तित्व वस्तुगत सत्ता से भिन्न है। वस्तुगत सत्ता से सम्पूर्ण इन्द्रियपरक सत्ता का बोध होता है। अस्तित्व न विषय है और न विषयी। विषयो सामान्य होता है, परन्तु अस्तित्व हमारा अपना है। वस्तुगत सत्ता की सुनिश्चित संभावनाएँ होती हैं, परन्तु अस्तित्व में असीमित संभावनाएँ होती हैं। वस्तुगत सत्ता वस्तुपरक विवेचन का विषय है, परन्तु अस्तित्व वस्तुपरक विवेचन का विषय कदापि नहीं हो सकता है। वस्तुगत सत्ता परतन्त्र है, परन्तु अस्तित्व स्वतन्त्र है। अस्तित्व समय में रहते हुए भी समय से अधिक है। यह स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील होता है। यह अस्तित्व अपनी वस्तुगत सत्ता का वरण स्वयं नहीं करता। वस्तुगत सत्ता प्रदत्त है। इसमें मेरा शरीर, मेरी प्रकृति और मेरा स्वभाव आदि सभी सन्निहित हैं। इसे हम अपना मानकर ग्रहण कर सकते हैं। यद्यपि अस्तित्व और वस्तुपरक सत्ता में सतत संघर्ष चलता रहता है तथापि दोनों अपृथक् हैं। हमारा अस्तित्व हमारी वस्तुगत सत्ता में ही हैं। वस्तुगत अस्तित्व के रूप में हम सम्भव यथार्थ अस्तित्व हैं। जब हम अपनी व्यक्तिगत अनिवार्यता की सहायता से आत्मरूप से वरण करते हैं तभी अस्तित्ववान् होते हैं। वस्तुगत सत्ता और अस्तित्व दोनों जगत् में हैं। जगत् हो वह स्थल है, जहाँ हम वरण करते हैं और तदनुसार क्रियाशील होते हैं। हम दूसरे अस्तित्वों तथा अतिक्रमणता दोनों से सम्बन्धित हैं। वस्तुगत सत्ता सीमा-परिस्थितियों का सामना नहीं करती। यह उन्हें भूलना चाहती है और जगत् की वस्तुओं में खो जाना चाहती है। सीमापरिस्थितियाँ वे हैं, जिनमें हम संघर्ष करते हैं और दुःख भोगते हैं। हम अपराध-भावना तथा मृत्यु का निराकरण नहीं कर सकते। ये सीमापरिस्थितियाँ न शुभ हैं और न अशुभ। इनके विषय में हम कुछ कर नहीं सकते। अस्तित्व उनको उसी रूप में स्वीकार करता है।

अस्तित्व जगत् से उसी तरह अपृथक् है जैसे कि वह वस्तुगत सत्ता से अपृथक् है। जब तक अस्तित्व का जगत् में स्थित वस्तुओं के साथ संघर्ष नहीं होता तब तक वह अपनी संभावनाओं को प्रकट नहीं कर सकता है। जगत् अस्तित्व के लिए उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे कि पक्षी के उड़ने के लिए वातावरण आवश्यक है। जगत् अस्तित्व की विषयसामग्री और उसका घटनास्थल है। फिर

---

1. *Philosophy* Vol. 2, translated by E. B. Ashton, page 7.
2. Ibid. page 178.

भी अस्तित्व का जगत् से तादात्म्य नहीं स्थापित किया जा सकता। बुद्धि के द्वारा देखने पर जगत् हमारे लिए नितान्त अपरिचित है। हम इसमें गृहविहीन अनुभव करते हैं। परन्तु जगत् हमारे लिए आत्मोपलब्धि का माध्यम बन जाता है, जब हम इससे आसक्त रहने की अपेक्षा इससे अनासक्त हो जाते हैं। यास्पर्स के विचार यहाँ गीता के अनासक्त कर्मयोग से पर्याप्त साम्य रखते हैं। यास्पर्स का यह अस्तित्व उपनिषदों की आत्मा की तरह वस्तुपरक कोटियों का विषय नहीं हो सकता है।

अस्तित्व और अतिक्रमणता में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम स्वपर्याप्त नहीं हैं। हमारी उत्पत्ति का स्रोत अतिक्रमणता ही है। यास्पर्स के अनुसार हमारा अस्तित्व हमारे लिए उपहार स्वरूप है। यह अतिक्रमणता से प्राप्त उपहार है। परन्तु अस्तित्व के अभाव में अतिक्रमणता का कोई अर्थ नहीं है।[1] अतिक्रमणता सांकेतिक अभिलेखों के माध्यम से अस्तित्व से संलाप करती है। उस स्थिति में अतिक्रमणता का प्रतिवेदन करनेवाली जगत् की वस्तुएँ प्रतीकात्मक हो जाती हैं। शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म की भाँति यास्पर्स भी निरपेक्ष अतिक्रमणता की एकता को मानते हैं। यह प्रत्येक वस्तु का अधिष्ठान है। यह जगत् अतिक्रमणता का सांकेतिक अभिलेख है जिसके माध्यम से वह अपने को अभिव्यक्त करती है। जगत् में अतिक्रमणता आभासित होती है। यास्पर्स अस्तित्व और अतिक्रमणता में तादात्म्य नहीं मानते जब कि शंकराचार्य ने आत्मा और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की है। यास्पर्स का अस्तित्व न तो अतिक्रमणता ही है और न उसका विवर्त ही है। यास्पर्स रामानुजाचार्य को भाँति अस्तित्व की परमसत्ता को मानते हैं। अतिक्रमणता की उपस्थिति में भी अस्तित्व अपना पृथक् व्यक्तित्व बनाये रखता है। अतएव वेदान्त की आत्मा और यास्पर्स के अस्तित्व में तात्त्विक भेद है।

यास्पर्स के अनुसार शुभ और अशुभ का विभेद करने वाला कोई निरपेक्ष आदेशों का सिद्धान्त नहीं है जो कि हमारी बौद्धिक आत्मा से अनुस्यत होता है। उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु के परख की कसौटी हम हैं। सत्य की परख का कोई वस्तुपरक प्रतिमान नहीं है। यदि हमारा निर्णय व्यक्तिगत अनिवार्यता का परिणाम है। तभी वह न्यायसंगत है। ऐसा वरण करने में ही हम अस्तित्ववान् होते हैं। यास्पर्स के अनुसार वरण की कसौटी शारीरिक, नैतिक और तार्किक अनिवार्यता नहीं है। वरण का एक मात्र आधार व्यक्तिगत

---

1. *Reason and Existenz*, page 62.

अनिवार्यता है। यह वरण हमारे ऊपर बाहर से थोपा नहीं जाता, अपितु हमारे अन्तस्तल से ही उद्भूत होता है।

यास्पर्स के अनुसार यह अस्तित्व जगत् में स्थित साधारण व्यक्तियों से भिन्न है। अस्तित्व की अभिव्यक्ति परोक्ष ढंग से ही हो सकती है। यदि यह जगत् में स्थित साधारण व्यक्तियों की भाँति होता तो इसमें असीमित सम्भावनाएँ समाहित न होतीं और वह एक वस्तुगत-सत्ता मात्र रहता। यास्पर्स अस्तित्व को अव्यक्त कहता है क्योंकि इसमें अनन्त सम्भावनाएँ सन्निहित रहती हैं। हम इन सम्भावनाओं का साक्षात्कार करने या न करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र रहते हैं। यदि हम इन अनन्त सम्भावनाओं का साक्षात्कार कर लेते हैं तो हम अस्तित्व हैं अन्यथा वस्तुगत अस्तित्व है।' यह अस्तित्व अन्य अस्तित्वों के साथ संज्ञापन के माध्यम से ही रह सकता है। इस पारम्परिक संज्ञापन में अपने आप्त अस्तित्व[1] की वे समुपलब्धि करते हैं। वास्तविक संज्ञापन तो अस्तित्व और अस्तित्व के बीच ही सम्भव है।

यास्पर्स के दर्शन में ऐतिहासिकता की अवधारणा ही दर्शन को परम्परागत दर्शन से सबसे अधिक पृथक करती है। हमारे अस्तित्व की वस्तुगत अस्तित्व से एकता ही ऐतिहासिकता है। इसकी पूर्ण चेतना ही ऐतिहासिक चेतना है। नैतिक कार्यों की गम्भीरता और जगत् की क्षणभंगुरता के संघर्ष की अनुभूति ही वास्तविक ऐतिहासिकता है। ऐतिहासिकता स्वतन्त्रता और परतंत्रता का समागम है। निर्णय लेने या वरण करने में हम स्वतन्त्र हैं परन्तु जो निर्णय हमने ले लिया है, वह हमें यह अनुभव करने के लिए बाध्य कर देता है कि हम परतन्त्र हैं। हम अपने लिए हुए निर्णयों को परिवर्तित नहीं कर सकते हैं परन्तु उन्हें एक नया मूल्य दे सकते हैं। हम निस्सन्देह स्वतन्त्र हैं, परन्तु हमारी स्वतन्त्रता हमारी परिस्थितियों से नियन्त्रित रहती है। यास्पर्स के अनुसार अन्ततोगत्वा हमारी स्वतन्त्रता हमें प्रदान ही तो की गयी है।

स्वतन्त्रता अस्तित्व की भाँति परिभासित नहीं की जा सकती। यह वस्तुपरक ढंग से ज्ञेय नहीं है, यह वस्तुपरक कदापि नहीं हो सकती है। इसका विज्ञानपरक परीक्षण सम्भव नहीं है। इसके विषय में हम प्रत्यक्षतः कुछ नहीं कह सकते हैं।[2] स्वतन्त्रता इसलिए सम्भव है कि हम वस्तुपरक नहीं हैं, यह अनुभूति का विषय है। यह अनुमान से प्राप्त नहीं की जा सकती है। स्वतन्त्रता

---

1. **Authentic Existence.**
2. *The Perennial Scope of philosophy* **by. Karl Jaspers, p. 64.**

न तो इस जगत् की वस्तु है और न ही अतीन्द्रिय जगत् की वस्तु है। यास्पर्स यह नहीं मानते कि स्वतन्त्रता निरपेक्ष है। निरपेक्ष स्वतन्त्रता से हमारा अभिप्राय यह है कि स्वतन्त्रता को सम्पूर्ण प्रतिबन्धों से मुक्त रखा जाय। हेगेल ने निरपेक्ष स्वतन्त्रता की अवधारणा का सम्यक् विवेचन किया है। परन्तु यास्पर्स के अनुसार स्वतन्त्रता सदैव सापेक्ष है। निरपेक्ष स्वतन्त्रता वदतोव्याघात है। स्वतन्त्रता प्रकृति-प्रदत्त परिस्थितियों के साथ हमारे जूझने में निहित है। संघर्ष विहीन स्वतन्त्रता, यास्पर्स के अनुसार, मात्र कल्पना है। स्वतन्त्रता अनिवार्यता से जुड़ी होती है। वरण करने के लिए हम स्वतन्त्र तो रहते हैं, परन्तु हम अपने निर्णयों से बँध भी जाते हैं। हमारे आगे आने वाले कार्य हमारे अतीत के निर्णयों से प्रभावित और नियमित रहते हैं। हमारे अतीत के कार्य हमारे आने वाले कार्यों को एक अनिवार्यता प्रदान करते हैं। परन्तु अन्य अनिवार्यताओं से हमारी यह आन्तरिक अनिवार्यता भिन्न है। यह हमारे माध्यम से ही हमको प्रतिबन्धित करती है। हम निःसन्देह निर्णय लेने और वरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं परन्तु निर्णय लेने के पश्चात् हम अपने निर्णय से प्रतिबन्धित हो जाते हैं। स्वतन्त्रता व्यक्ति के देशकाल के अन्तर्गत लिये गये वास्तविक निर्णयों में अभिव्यक्त होती है।[1] अपने निर्णयों के ही माध्यम से वस्तुतः हम आत्मगत सत्ता में प्रविष्ट होते हैं; उसके पहले हम वस्तुगत सत्ता में ही विलीन रहते हैं। आत्मगत सत्ता ही अस्तित्व का समुचित क्षेत्र है। यह सत्ता की वह स्थिति है जिसमें मनुष्य आत्मप्रबुद्ध हो जाता है। वस्तुतः निश्चित निर्णयों के लेने में ही हम अपने मूलभूत स्वतन्त्रता के विषय में जागरूक होते हैं। मनुष्य का निर्णय उसी से अनुस्यूत होता है। अतएव वह अपने निर्णयों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। अपने निर्णयों का उत्तरदायित्व वह प्रकृति, परिवेश वासनाओं और मूल्यों पर नहीं डाल सकता। मनुष्य की स्वतन्त्रता ही उसका यथार्थ स्वरूप है। यह कभी भी पूर्णतः विलीन नहीं होती। मनुष्य केवल इस स्वतन्त्रता के विषय में उस समय विस्मृत हो सकता है जबकि वह मानवीय अस्तित्व के अनाप्त प्रकारों में विलीन हो जाता है। सत्ता का यह अनाप्त प्रकार वस्तुतः अवपात की स्थिति है। यह वस्तुगत सत्ता स्तर है। अस्तित्व, स्वतन्त्रता और आत्मिकता की सत्ता का आत्मप्रकार है।

---

1. "At the core of human freedom lies the phenomenon of decision", *The Challenge of Existentialism* by John Wild, Indiana University press Bloomington, London. 1966, page 117.

अस्तित्व के आप्त और अनाप्त[1] प्रकारों का भेद सबसे पहले किर्केगार्ड ने किया। सत्ता का आप्त प्रकार अस्तित्व और स्वतन्त्रता का प्रकार है। यह सत्ता का वह प्रकार है जिसमें अनन्त सम्भावनाएँ समाहित रहती हैं। आप्त मनुष्य सभी सम्भव दृष्टिकोणों के प्रति अपने को उन्मुक्त रखता है। उसका किसी वस्तुपरक दृष्टिकोण से लगाव नहीं होता है। वह जिस स्थिति में रहता है पूर्णतः सम्बद्ध रहते हुए भी उससे अपना तादात्म्य स्थापित नहीं करता है। अनाप्त अनुष्य अपने विषय में अनिश्चिन्त और आत्मविश्वास रहित होता है। वह जगत् के स्वरूप को भी नहीं समझ पाता। उसे जगत् वस्तुओं के संग्रह का एक विशाल भण्डार प्रतीत होता है। वह जगत् का आशय जगत् में स्थित वस्तुओं से समझता है। अनाप्त मनुष्य अपने को जगत् समझता है। इसके विपरीत आप्त मनुष्य अपने को जगत् से पृथक् समझता है और जिस जगत् में वह रहता है उसके विषय में निश्चिन्त रहता है। अनाप्त मनुष्य के विपरीत आप्त मनुष्य अपने को जगत् में स्थित वस्तुओं से अभिन्न नहीं समझता है। अनाप्त मनुष्य जगत् में स्थित अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार करने में एक अज़ीब-सी तटस्थता बर्तता है। परन्तु आप्त मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ एक सौहार्द्रपूर्ण संघर्ष रखता है। इस संघर्ष के माध्यम से ही मनुष्यों में परस्पर संज्ञापन होता।

मानव स्वतन्त्रता की सीमाएँ :

इस विवेचन के पश्चात् अब हम यास्पर्स के अनुसार अपनी स्वतन्त्रता की सीमाओं का उल्लेख करना चाहेंगे। यास्पर्स के अनुसार हमारी स्वतन्त्रता को सीमायें दो प्रकार की हैं—एक विशेष, दूसरी सामान्य। विशेष सीमा के अन्तर्गत हमारा कुल, जाति और लिंग आदि आते हैं। हम उन्हें बदलने में असमर्थ हैं, हम उसी में पैदा ही हुए हैं। सामान्य सीमाओं को यास्पर्स सीमा-परिस्थितियाँ भी कहते हैं। इन सीमा-परिस्थितियों में संस्थिति, दुःख, संघर्ष, अपराध भावना और मृत्यु[2] आते हैं। ये इन सीमा परिस्थितियों को भोगने के आप्त और अनाप्त दोनों तरीके हैं। इन सीमाओं का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

(1) अस्तित्व का आशय ही है परिस्थिति में होना। आप सदैव किसी न किसी परिस्थिति में रहते हैं। अनाप्त मनुष्य जब इन परिस्थितियों में पड़ता

---

1. Authentic and Unauthentic.
2. Situationality, Suffering, Struggle, Guilt and Death.

हैं तो उनसे पलायन करना चाहता है। विज्ञान उसकी इस सन्दर्भ में विशेष सहायता करता है। वैज्ञानिक विधियों की सहायता से जब वह एक परिस्थिति से निकलता है तो दूसरी परिस्थितियों में वह फँस जाता है। दो परिस्थितियों के बीच के अवकाश को वह शान्ति और सुख का समय समझता है। जब उस अनाप्त मनुष्य से पूछा जाता है कि ये परिस्थितियाँ क्यों आती हैं, तो वह एक सामान्य सा उत्तर दे देता है कि जीवन में तो समस्याएँ रहती ही हैं। उसका काम तो उनका समाधान करना है। जब उससे पूछा जाता है कि उसके उस समाधान का मूल्य क्या है जो कि एक परिस्थिति से निकाल कर उसे दूसरी परिस्थिति में डाल दे तो वह पुनः एक सामान्य सा उत्तर यह कहकर दे देगा कि हम तो उसी तरह पैदा ही हुए हैं। हमें अपने को उनसे अभियोजित करना चाहिए। वह अपनी परिस्थितियाँ स्वीकार नहीं करता अपितु उनके सन्दर्भ में एक सामान्य तरीके से व्यवहार करता है। वह निर्णय लेने की अपेक्षा उन परिस्थितियों की उपस्थिति में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर उनसे पलायन ढूँढ़ता है। इसके विपरीत, आप्त मनुष्य अपनी परिस्थिति में अपने को सौंप देता है। किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु वह संस्थिति के तथ्यों को स्वीकार करता है। वह इसको अपना मानता है। उसका दृष्टिकोण उन्मुक्त और परिवर्तनशील होता है। वह प्रत्येक आकस्मिकता के लिए प्रस्तुत रहता है और उसकी उपस्थिति से आश्चर्यान्वित नहीं होता है। अपने निर्णयों को उसने स्वयं लिया है। वह उनसे सम्बद्ध रहता है।[1]

(11) संघर्ष और अपराध-भावना वे सीमा स्थितियाँ हैं, जिनके लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं। वे हमारे कारण अस्तित्व में आती हैं। परन्तु मृत्यु और दुःख ऐसी सीमा-स्थितियाँ हैं, जिनका अस्तित्व हमारे ऊपर निर्भर नहीं करता है। सभी जीवधारी अस्तित्व के लिए सक्रिय और निष्क्रिय दोनों रूपों में संघर्ष करते हैं। मनुष्य अपने जीवन के भौतिक आधारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है, परन्तु संघर्ष केवल मेरे जीवन और अन्य व्यक्तियों के बीच में ही नहीं होता है अपितु यह एक व्यक्ति में ही सम्भव हो सकता है। हमें अपने अस्तित्व में आने के लिए अपने से ही संघर्ष करना पड़ता है। यह संघर्ष शक्तिपूर्ण भी हो सकता है और प्रेमपूर्ण भी हो सकता है। प्रेमपूर्ण संघर्ष पूर्णतः अहिंसात्मक होता है और यह पारस्परिक अभिव्यक्ति के लिए होता है। अनाप्त मनुष्य संघर्ष का निराकरण कर सकता है और कह सकता कि जगत् में शान्ति, सामंजस्य और

---

1. *The Challenge of Existentialism* by John Wild, Indiana University press. London, 1966, page 141.

एकता है। वह ऐसे जगत् की कल्पना कर सकता है जो कि संघर्षमुक्त हो। परन्तु आप्त मनुष्य संघर्ष के तथ्य को शिरोधार्य करता है। उसके अनुसार इसका निराकरण नहीं किया जा सकता। यह संघर्ष न शुभ है और न अशुभ, अपितु यह एक अपरिहार्य सीमा-स्थिति है।

(iii) दुःख या यातना भी कई प्रकार की होती है। शारीरिक यातना, मानसिक यातना और दूसरों द्वारा पहुँचाई हुई क्षति, इत्यादि सभी यातनायें ही हैं। अनाप्त मनुष्य यातना को समाप्त करना चाहता है और उससे पलायन करना चाहता है। उसका विश्वास है कि जैविक विज्ञान, मनोविज्ञान, भेषज-विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र इत्यादि पर्याप्त विकास कर गये हैं और ये सारी शारीरिक और मानसिक यातनाओं का निराकरण कर देंगे। अनाप्त मनुष्य का विश्वास है कि राजनैतिक प्रौढ़ता पूर्ण न्याय को उत्पन्न कर देगी। वह यह मानता है कि उसकी यातना दूसरों के कारण है और उन्हीं को नष्ट कर देने से वह दूर हो जायगी। परन्तु इसके विपरीत आप्त मनुष्य यातना को अपरिहार्य मानता है। इसे वह अपना प्रारब्ध मानकर चलता है। वह अपनी इस यातना को अपनी समझता है। वह निस्सन्देह यातना से जूझता और उसे सीमित और स्थगित करने का ही प्रयास करता है। परन्तु वह अपना समय यातना के कारण, स्वरूप और औचित्य के विषय में सोचकर नहीं व्यर्थ करता है। यातना वस्तुपरक अस्तित्व को समाप्त अवश्य करती है परन्तु वास्तविक अस्तित्व को जागरित करती है।

(iv) प्रत्येक कार्य कुछ परिणामों को उत्पन्न करता है। कर्ता के न चाहने पर भी उसके कार्य कुछ फलों को उत्पन्न करते हैं। वह उन फलों का कारण अपने को मानता है। अतएव उसके अन्दर अपराध-भावना उत्पन्न होती है। हमारा कुछ संभावनाओं का चयन करके उनको यथार्थ बनाना अन्य सम्भावनाओं को हमें ऐसा करने से रोक देता है। इस अपराध भावना से मुक्त होने के लिए हम यह सोच सकते हैं कि हम जगत् में ही न प्रवेश करें। यदि हम कुछ करेंगे ही नहीं तो किसी को भी किसी चीज से वंचित नहीं करेंगे और न सम्भावना का निराकरण ही करेंगे। परन्तु यहाँ हम भूल जाते हैं कि अकर्मण्यता भी एक प्रकार का कार्य है। यदि हम कुछ कार्य कर सकते थे और सचमुच नहीं करते हैं, तो हम अकर्मण्यता के परिणामों के अपराधी हैं। चाहे हम कार्य करें अथवा न करें फल अवश्य उत्पन्न होंगे और प्रत्येक स्थिति में हमें अपराधी होना पड़ेगा।[1] अनाप्त मनुष्य अपने अपराध

1. *Philosophy* Vol. 2 by Karl Jaspers, translated by E. B.

के उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करता हैं। उसका दृष्टिकोण यह होता है कि ऐसा तो होता हो है। चूँकि हम इसको बदल नहीं सकते हैं अतएव हम इसके लिए अपराधी नहीं हैं। वह यह भी कर सकता है कि इस अपराध पर बिल्कुल ध्यान ही न दे। परन्तु आप्त मनुष्य अपने अपराधों के लिए अपने को उत्तरदायी मानता है। यह अपराध अपरिहार्य है। यह न शुभ है और न अशुभ, प्रत्युत् यह एक सोमा-स्थिति है, जिसका वह सामना करता हैं और भोगता हैं।

(v) मृत्यु का सामना सभी को किसी न किसी दिन अवश्य करना पड़ता है। मृत्यु पर अधिक बल देने के कारण ही अस्तित्ववाद पर 'रुग्णता' और निराशावादिता का आरोप लगाया जाता है। परन्तु यह आरोप मिथ्या है। अनाप्त मनुष्य मृत्यु को सम्पूर्ण विनाश मानता है। वह मृत्यु के विचार को टालना चाहता है। वह उसका दमन करना चाहता है। वह उसे भूलना चाहता है। वह उसे जन-साधारण पर समान रूप से घटनेवाला तथ्य मान कर उससे पलायन करना चाहता है। वह इसे वस्तुस्थिति मानकर उसकी गंभीरता को कम करना चाहता है। वह मृत्यु का निराकरण अपने को यह समझा कर करना चाहता हैं कि मृत्यु का भय मरते समय के कष्टों के कारण हो सकता है परन्तु सारा कष्ट और सारी यातनाएँ तो जीवन से सम्बन्धित हैं अतएव यह भय निर्मूल है। वह आत्मा की अमरता की युक्तियों में विश्वास कर सकता है। परन्तु ये सभी युक्तियाँ यास्पर्स के अनुसार दोषपूर्ण हैं। ये सभी असहाय हैं। इसके अतिरिक्त मरणशीलता तो सिद्ध भी की जा सकती है। अनाप्त मनुष्य, स्वर्ग-नरक और दैवी दया इत्यादि में भी विश्वास कर सकता है। परन्तु आप्त मनुष्य मृत्यु को आंतरिक रूप से स्वीकार करता है। वह मृत्यु को निश्चित और हर समय उपस्थित मानता है। यह किसी समय उपस्थित हो सकती है। यह उसे सभी स्थगनों को रोकने के लिए प्रेरित करती है। वह इस उपस्थित क्षण के महत्त्व को पहचानता है। वह इस प्रकार कार्य करता है कि यदि मृत्यु इसी समय आ जाये तो भी उसके जीवन का समग्र मूल्य पूर्ण हो सके। अतएव यास्पर्स की मृत्यु की अवधारणा रुग्णतापूर्ण नहीं है। उसके अनुसार अस्तित्व में मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। मृत्यु केवल वस्तुपरक अस्तित्व को नष्ट कर सकती है। परन्तु अस्तित्व मृत्यु से अधिक है। मृत्यु प्रियजनों को भी समाप्त नहीं कर सकती हैं। वास्तविक प्रेम

Ashton, The University of Chicago press, 1970-71 page 216.

की वस्तु अस्तित्वपरक ढंग से मरणोपरान्त भी उपस्थित रहती है। मेरा उसके साथ संज्ञापन एक शाश्वत सत्य है जिसे मृत्यु भी नष्ट नहीं कर सकती ।

ये सीमा-स्थितियाँ हमारी स्वतंत्रता को निराशा के मोड़ पर ला देती हैं। परन्तु यह निराशा आत्यन्तिक नहीं हो सकती। जब हम इन सीमास्थितियों को स्वीकार कर लेते हैं या उनके प्रति जब हमारा दृष्टिकोण आप्त हो जाता है तो वे हमारे लिए अतिक्रमणता की सीमायें हो जाती हैं। इस प्रकार स्वतंत्रता अतिक्रमणता की ओर ले जाती है। स्वतंत्रता के ही माध्यम से हम अतिक्रमणता के विषय में निश्चित होते हैं :[1] स्वतंत्रता अतिक्रमणता को संभावना का संकेत करती है। हमारी स्वतंत्रता कभी भी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं हो सकती। पूर्ण स्वतंत्र होने की इस असमर्थता में ही हम अतिक्रमणता से सम्बन्धित होते हैं। जिस समय हम स्वतंत्रता का अनुभव करते हैं उसी समय हम यह भी अनुभव करते हैं कि हमारी स्वतंत्रता हमें प्रदान की गयी है।[2] यह हमारे लिए अतिक्रमणता द्वारा प्रदत्त उपहार है। स्वतंत्रता मनुष्य और अतिक्रमणता के बीच की शृंखला है। मनुष्य किसी धार्मिक अधिकार के अन्धानुसरण के कारण नहीं अपितु स्वतंत्रता का जीवन निर्वाह करके अतिक्रमणता का साक्षी और द्रष्टा बनता है, अतएव स्वतंत्रता और अतिक्रमणता घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

अतिक्रमणता सत्ता का एक प्रकार है। वस्तुगत सत्ता (जगत्) आत्मगत सत्ता (मनुष्य) दोनों से भिन्न यह स्वगत सत्ता है। धर्म की भाषा में इसे ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। परन्तु यह किसी व्यक्तिपरक अर्थ में ईश्वर नहीं है। अतिक्रमणता का कोई व्यक्तित्व नहीं होता है। यह हमारी प्रार्थना को सुन-कर कोई प्रतिक्रिया नहीं करता। यह शान्त ईश्वर है। यद्यपि ईश्वर की प्रतीति प्रेम के माध्यम से होती है परन्तु ईश्वर प्रेम नहीं है। यास्पर्स की यह अति-क्रमणता स्वपर्याप्त है जबकि अस्तित्व इत्यादि सत्ता के प्रकार स्वपर्याप्त नहीं हैं। अस्तित्व अतिक्रमणता-प्रदत्त उपहार मात्र है। यह ऐतिहासिक है। हाइडेगर के शब्दों में यह जगत् में परित्यक्त[3] है। अपनी स्वतंत्रता की अनुभूति में क्षण में ही अस्तित्व अतिक्रमणता पर अपनी निर्भरता को भी अनुभव करता है।

---

1. *The Perennial Scope of Philosophy*, p. 66
2. *Way to wisdom*, page 65.
3. Thrown into the world.

अस्तित्व अतिक्रमणता में अधिष्ठित है। यदि अतिक्रमणता न हो तो अस्तित्व नैराश्य के गर्त में गिर जायगा। आप्त अस्तित्व में वस्तुगत सत्ता का उदात्तीकरण तभी होता है जब कि वह अतिक्रमणता का सामना करती है। अस्तित्व सदैव अतिक्रमणता की अपेक्षा रखता है। अस्तित्व मात्र अपने निर्णयों का ही प्रतिफल नहीं है। वह ईश्वर की साक्षात् रचना है।[1] मनुष्य का अस्तित्व अतिक्रमणता-प्रदत्त उसके लिए एक उपहार मात्र है अतिक्रमणता से जब उसका सामना होता है, तभी वह अपने आत्म अस्तित्व की उपलब्धि करता है।[2] किन्तु अस्तित्व और अतिक्रमणता भक्त और भगवान की तरह नहीं सम्बन्धित हैं। वे समान धरातल पर भी नहीं हैं, अस्तित्व पूर्णतया अतिक्रमणता के कारण है। अतिक्रमणता भी केवल अस्तित्व के ही समक्ष उपस्थित होती है। अस्तित्व के अभाव में अतिक्रमणता का अर्थ ग्रहण संभव नहीं है।[3] पर अतिक्रमणता हमारी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं हो सकती है।

अस्तित्व से पृथक् अतिक्रमणता ऐसी सत्ता है, जिसमें कोई संभावनायें नहीं होती हैं। अस्तित्व में अनन्त संभावनायें सन्निहित रहती हैं, परन्तु अतिक्रमणता में सारी सम्भावनायें यथार्थता का रूप धारण कर लेती हैं। अपनी स्वतंत्रता की संप्राप्ति के लिए अस्तित्व अपनी संभावनाओं का साक्षात्कार करता है। अतिक्रमणता के संदर्भ में ऐसी कोई आवश्यकता नहीं होती है। अतिक्रमणता में अस्तित्व की भाँति वरण की सम्भावना भी सन्निहित नहीं रहती है। वरण की सम्भावना एक अभाव को सूचक है। वरण किसी सम्प्राप्ति के लिए और किन्हीं कारणों से प्रेरित होकर किया जाता है। अतिक्रमणता अस्तित्व की तरह स्वतंत्र भी नहीं है। यह स्वतंत्रता का अधिष्ठान है। स्वतंत्रता और अस्तित्व अतिक्रमणता द्वारा प्रदत्त उपहार मात्र हैं।

मनुष्य को जब जगत् की अपर्याप्तता की प्रतीति होती है, तब वह अतिक्रमणता की ओर उन्मुख होता है। यह अतिक्रमणता न तो अस्तित्व कही जा सकती है और न ही 'जगत्'। यह इनसे पूर्णतः भिन्न है। यास्पर्स के इस कथन से प्रत्यक्षवादी और प्रकृतिवादी विचारक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ईश्वर है ही नहीं। इन लोगों की दृष्टि केवल वस्तुपरक जगत् तक ही जाती है। अतएव

1. *The Perennial Scope of Philosophy*, page 52.
2. *Truth and symbol* by Karl Jaspers translated with an introduction by William Kluback and Jean T-Wilde, London-1959. page 11.
3. Ibid, Page 79.

ये लोग अतिक्रमणता की भाषा को अपनी बुद्धि की तथाकथित कोटियों के माध्यम से नहीं समझ पाते। यास्पर्स वस्तुपरक जगत् को मानते हुए भी प्रत्यक्षवादियों और प्रकृतिवादियों से भिन्न मत रखते हैं। यास्पर्स के लिए वस्तुगत जगत् ही सारी सत्ता की सीमा नहीं है। वस्तुगत जगत् अनिवार्यतः अतिक्रमणता की अपेक्षा रखता है।

अतिक्रमणता जगत् में स्थान विशेष पर निर्धारित नहीं की जा सकती है। ऐसा करने के प्रयास को यास्पर्स अन्धविश्वास कहते हैं। परन्तु प्लेटो के प्रत्ययों की भाँति यह अतिक्रमणता जगत् के बाहर किसी अतीन्द्रिय जगत् में भी नहीं रहती है। अतिक्रमणता का अनुभव जगत् के माध्यम से ही किया जा सकता है। देशकाल को सत्ता अतिक्रमणता नहीं है। परन्तु फिर भी अतिक्रमणता का अनुभव उसी के माध्यम से किया जा सकता है। जगत् अतिक्रमणता की भाषा है जिसके माध्यम से ही वह हमसे संलाप करती है। जगत् की वस्तुएँ अतिक्रमणता के संकेत या प्रतीक हैं। इस प्रकार अतिक्रमणता जगत् में व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रहती है। यह अतिक्रमणता युक्तियों के माध्यम से सिद्ध नहीं की जा सकती है। ये युक्तियाँ उसे वस्तुपरक बना देती हैं। यह अन्धकारमय उद्गम[1] है जहाँ पर बुद्धि की कोई भी किरण नहीं जा सकती है। अतिक्रमणता के विषय में उस प्रकार की कोई सार्वभौमिक वैधता नहीं हो सकती है, जैसी कि हमें विज्ञानों में देखने को मिलती है। जो वस्तु बुद्धिपरक ढङ्ग से ज्ञेय है वही सार्वभौमिक रूप से सत्य हो सकती है। इस अतिक्रमणता की अभिव्यक्ति मनुष्यों के पारस्परिक संज्ञापन में ही होती है। बुद्धिपरक कोटियों के माध्यम से अतिक्रमणता की अज्ञेयता को यास्पर्स अवस्तु[2] कहता है। हमारा चिंतन या तो किसी निश्चित वस्तु के विषय में होता है अथवा चिंतन की वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है। यहाँ 'अवस्तुता' और 'अतिक्रमणता' समानार्थक हैं। अतएव यास्पर्स अतिक्रमणता को निश्चित सत्ता[3] से ऊपर रखता है। यहाँ अवस्तुतता सत्ता की समग्रता की सूचक है। यास्पर्स की इस अवस्तुता की तुलना नागार्जुन के शून्य से की जा सकती है। दोनों ही परमसत्ता को बुद्धि की कोटियों के परे मानते हैं।

अतिक्रमणता अवर्णनीय है। इस पर विधिपूर्वक कोई गुण या विशेषता आरोपित नहीं की जा सकती है। इसके वर्णन के लिए यास्पर्स निषेधात्मक

---

1. Dark origin.
2. Nothing.
3. Definite Being.

विधि का आश्रय लेते हैं। वह उपनिषदों की 'नेति-नेति' की भाषा की भाँति अतिक्रमणता का निषेधात्मक वर्णन करते हैं। वह यह बताते हैं कि अतिक्रमणता क्या-क्या नहीं है। यास्पर्स अतिक्रमणता को अर्थ और अर्थहीनता[1] द्रव्य, पर्याय जीवन और मृत्यु, चेतन और अचेतन, देशकालिक और अदेशकालिक आदि की अचिन्त्य अनन्यता मानते हैं। व्यक्तिगत ईश्वर के निराकरण तथा ईश्वर और मनुष्य में साक्षात् संज्ञापन के अभाव के कारण यास्पर्स की कटु आलोचना हुई है। ईश्वर, यास्पर्स के अनुसार, हमारी स्वतंत्रता के माध्यम से ही हमारा पथ प्रदर्शन करता है। अतएव के आलोचकों का यह कहना है कि उनकी अतिक्रमणता में व्यक्तिगत तत्त्व विद्यमान है। यहाँ हम केवल यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि ये त्रुटियाँ उस प्रत्येक प्रयास में होनी निश्चित हैं, जो कि वर्णनातीत का वर्णन करना चाहता है। ये भाषा की सीमाओं के कारण हैं। ऐसे सन्दर्भों में हमें अक्षरों या पदों के स्थान पर केवल उनके भाव को ग्रहण करना चाहिए।

इस वर्णनातीत अतिक्रमणता की अनुभूति कैसी होती है? अतिक्रमणता को व्यक्त करने की बौद्धिक कोटियों की असमर्थता में ही हम अतिक्रमणता या ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करते हैं। यहाँ हमें उसकी सत्ता[2] की प्रतीति मात्र होती है। वह वस्तुतः क्या है?[3] उसका स्वरूप क्या है? इसको हम नहीं जान पाते। सार्त्र की भाँति यास्पर्स जगत् को अर्थहीन, उद्देश्यहीन और व्यर्थ नहीं कहते हैं। अपितु वह अतिक्रमणता या ईश्वर की सांकेतिक भाषा है। इसी के माध्यम से अतिक्रमणता हमसे संलाप करती है और हम तक अभिव्यक्ति होती है। इसके स्वरूप का हम अनुभव कर पाते हैं जब कि इस अतिक्रमणता के संकेतों या प्रतीकों का अध्ययन करना या समझना जान जाते हैं। यास्पर्स बर्कले की भाँति जगत् को ईश्वर की भाषा मानते हैं। अतिक्रमणता का हमें साक्षात् अनुभव नहीं होता है। इसकी हमें परोक्ष अनुभूति होती है। जगत् में स्थित कुछ प्रतीकों के माध्यम से हमें इसकी अभिव्यक्ति होती है। कोई भी वस्तु प्रतीक बन सकती है और अतिक्रमणता की अभिव्यक्ति कर सकती हैं। जब जगत् को हम जितना इन्द्रियों या बौद्धिक कोटियों के माध्यम से जानते हैं उससे अधिक हमें प्रतीत होने लगता है तो वह हमारे लिए प्रतीक बन जाता है। ये प्रतीक सार्वभौमिक सत्य प्रदान नहीं करते हैं। प्रतीकों की भाषा सामान्य नहीं होती है अपितु वह सदैव व्यक्तिपरक होती है। प्राकृतिक वस्तुएँ

---

1. **Absurdity.**
2. **That.**
3. **What.**

और तथ्य सभी के लिए समानरूप से एक जैसे रहते हैं परन्तु प्रतीक तो व्यक्तिपरक होते हैं और बदलते रहते हैं। जो वस्तुएँ या तथ्य मेरे लिए प्रतीक हैं वे आवश्यक नहीं कि अन्य लोगों के लिए भी प्रतीक हों। इसी प्रकार जो वस्तुएँ अन्य लोगों के लिए प्रतीक हैं वे आवश्यक नहीं कि मेरे लिए भी प्रतीक हों। किसके लिए कौन सी वस्तुएँ कब प्रतीक बनेंगी यह उसकी ऐतिहासिक परिस्थिति पर निर्भर करता है। आदिम लोगों के लिए प्रतीकोपाख्यान प्रतीक हैं परंतु हमारे लिए नहीं। इस प्रकार प्रतीकों में कोई सार्वभौमिकता नहीं रहती है। प्रतीकों के माध्यम से हमें अतिक्रमणता की पृष्ठभूमि का अनुभव होता है! प्रतीक यह बताते हैं कि उनकी सतह में कुछ और है जो कि बुद्धि को परिलक्षित नहीं होता है। यास्पर्स के अनुसार दर्शन का सारा इतिहास ही वह प्रतीक है जिसके माध्यम से अतिक्रमणता अभिव्यक्त होती है।[1] यास्पर्स के अनुसार इन प्रतीकों की निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती है। एक ही मनुष्य अपने अनुभव के विभिन्न क्षणों में एक ही प्रतीक से अनेकविध सत्ता की अनुभूति करता है। अतिक्रमणता को कभी भी वस्तुपरक नहीं बनाया जा सकता। हमें अतिक्रमणता या ईश्वर की अनुभूति प्रतीकों से ही होती है। अतिक्रमण प्रतीकों से पृथक् करके कभी भी नहीं जानी जा सकती है। यह प्रतीकों में ही अभिव्यक्त होती है।

ये प्रतीक तीन श्रेणियों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। प्रथम, इन्द्रिय-जगत् की कोई भी वस्तु प्रतीक हो सकती है। दूसरे, कविता और चित्रकला में प्रकृति को प्रायः प्रतीक माना जाता है। यास्पर्स के अनुसार यदि प्रकृति की निश्चित और वस्तुपरक व्याख्या की जायेगी, जैसी कि प्रकृति के दर्शन में की जाती है, तो वह अदार्शनिक व्याख्या होगी। तीसरे, धर्म और उसके प्रतीकोपाख्यान[2] भी प्रतीक बनते हैं, परन्तु धर्म और उसके प्रतीकोपाख्यानों का दार्शनिक मूल्य तभी होता है जब कि उन्हें प्रतीकात्मक या लाक्षणिक ढंग से ग्रहण किया जाता है। कुछ लोगों के अनुसार यास्पर्स प्रतीकोपाख्यानों की अप्रतीकात्मकता[3] के प्रति पक्षपात करते हैं। इस सन्दर्भ में उनकी समग्रता का प्रत्यय उनकी सहायता करता है।[4] परन्तु कुछ लोगों ने यास्पर्स के प्रती-

---

1. *Truth and Symbol*, p. 13.
2. Religion and Mythology.
3. Demythologization.
4. *Philosophy of Karl Jaspers* edited by P. A. Schilpp, Chapter—'Judaism in Jaspers' Thought', p. 662.

कोपाख्यानों की अप्रतीकात्मकता के विरुद्ध कहा है। उनके लिए सारे प्रतीकोपाख्यान अनिवार्यंतः सत्ता के प्रतीक हैं।[1] उक्त दोनों दृष्टिकोण विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु इस विरोध का निराकरण तुरन्त हो जायेगा यदि यह समझ लिया जाय कि यास्पर्स के लिए धर्म के प्रतीकोपाख्यान तभी तक आवश्यक हैं, जब तक कि वे प्रतीकात्मक या लाक्षणिक अर्थ रखते हैं। दर्शन के इतिहास को या उसके विभिन्न सम्प्रदायों को यदि हम उनके शाब्दिक अर्थ में ग्रहण करके अतिक्रमणता का बौद्धिक लेखा जोखा मान लेंगे तो यास्पर्स के लिए वे अर्थहीन हो जायेंगे। दार्शनिक के विचार यदि प्रतीकात्मक न होकर केवल मानसिक उधेड़बुन के उपकरण मात्र हैं तो वे दार्शनिक चिन्तन नहीं हैं।[2] इन दर्शनों को यास्पर्स प्रतीक मात्र मानते हैं। यहाँ यास्पर्स के विचार के० सी० भट्टाचार्य के विचारों से पर्याप्त साम्य रखते हैं। दोनों ही हमारे ज्ञान की प्रतीकात्मकता की बात करते हैं। दोनों के लिए दर्शन उतना तार्किक युक्तियों का विषय नहीं है, जितना कि हमारी चेतना की समग्रता और गहनता की सम्प्राप्ति का प्रयास है। परन्तु जहाँ के० सी० भट्टाचार्य अद्वैत वेदान्त की परम्परा का अनुसरण करने के कारण जगत् की चेतना और हमारी व्यक्तिपरक चेतना को परम सत्ता में विलीनता को मानते हैं, वहाँ यास्पर्स जगत् को निरपेक्ष सत्ता के प्रकाश में पारदर्शी मानते हुए भी उसके विलुप्त होने की बात नहीं करते।[3]

यास्पर्स के अनुसार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से अपरिचित-सा रहता है। वह एक दूसरे को समझने का ही प्रयास नहीं करता। अतएव जगत् में तनाव और संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं। उनके अनुसार मानवता की इस समस्या का समाधान संज्ञापन के द्वारा हो सकता है।[4] परन्तु यास्पर्स के अनुसार यह संज्ञापन न तो वस्तुपरक सत्ता के स्तर पर सम्भव है और न चिन्मात्र और चित् के स्तर पर सम्भव है। यह अस्तित्व के स्तर पर ही सम्भव है। सत्ता के उक्त तीनों स्तरों पर संज्ञापन इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि उन स्तरों पर हमें आत्मोपलब्धि की सम्प्राप्ति नहीं रहती और हम वस्तुमात्र ही रहते हैं।

---

1. Ibid., Chapter--'The Relation of Jaspers' Philosophy to Religion', p. 662.
2 *Truth and Symbol*. p. 13.
3. Vide K. C. Bhattacharya's, *The Subject As Freedom'* The Indian Institute of philosophy, Amalner, 1930.
4. *Way to Wisdom*, p. 106.

दो अस्तित्वों के बीच ही संज्ञापन सम्भव होता है। दोनों अस्तित्व प्रतिनिधि के रूप में नहीं अपितु आवरण रहित होकर एक दूसरे के समक्ष आते हैं। सभी परंपरागत मान्यताएँ और सामान्य समागम के सभी आवरणों का परित्याग इस संज्ञापन में हो जाता है। इसमें एक का स्थानापन्न दूसरा नहीं हो सकता। संज्ञापन और आत्मोपलब्धि साथ-साथ चलते हैं। जब हम संज्ञापन की स्थिति में होते हैं तभी हमें आत्मोपलब्धि भी होती है। आत्मोपलब्धि के लिए दूसरे का होना नितान्त आवश्यक है जिससे कि हम संज्ञापन स्थापित कर सकें। यास्पर्स के अनुसार संज्ञापन के लिए एकाकीपन का अनुभव आवश्यक है, परन्तु बिना मिलाप के संज्ञापन सम्भव नहीं है। संज्ञापन में मनुष्य के इस अनुभूत एकाकीपन का निराकरण हो जाता है। यास्पर्स के अनुसार हम जब तक अपने को अभिव्यक्त नहीं करते तब तक हमें आत्मोपलब्धि नहीं होती। आत्मोपलब्धि हमें संज्ञापन में ही प्राप्त होती है। यास्पर्स के लिए तो संज्ञापन और आत्मोपलब्धि सहगामी हैं। इस आत्मोपलब्धि में केवल हमें अपने स्वरूप की संप्राप्ति ही नहीं होती अपितु दूसरे को भी उसके स्वरूप की सम्प्राप्ति होती है। इस संज्ञापन को प्रेमपूर्ण संघर्ष[1] ही कहा जाता है। संघर्ष इसे इसलिए कहते हैं क्योंकि हम अपनी अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करते हैं। इसे प्रेमपूर्ण इसलिये कहा जाता है क्योंकि अपनी अभिव्यक्ति के संघर्ष के साथ ही साथ हम दूसरे की अभिव्यक्ति भी सम्भव बनाते हैं। यह संघर्ष एक संयुक्त प्रयास है। इसमें सन्निहित दोनों व्यक्ति एक ही नाव पर हैं। या तो वे दोनों डूबेंगे या दोनों बचेंगे। यह एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष नहीं है, अपितु एक दूसरे के लिए संघर्ष है।

इस संज्ञापन के संदर्भ में यास्पर्स ने कतिपय नियमों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार संज्ञापन के लिये वरिष्ठता और अहंमन्यता अपेक्षित नहीं है। संज्ञापन के लिए दोनों व्यक्तियों को एक ही स्तर और श्रेष्ठता का होना चाहिए। यास्पर्स के अनुसार नीत्शे इस अहंमन्यता के ही कारण कोई साथी नहीं प्राप्त कर सका जिसके साथ वह संज्ञापन स्थापित करके अपने एकाकीपन से मुक्ति पा सकता। संज्ञापन के लिये पूर्ण समानता अत्यन्त आवश्यक है। संज्ञापन तभी सम्भव होगा जब कि संज्ञापन में सन्निहित दोनों पक्षों के मध्य होनेवाला कोई प्रश्न निरुत्तर न रहे। दोनों में परस्पर असीम प्रतिक्रिया होनी चाहिए। दोनों में अव्यक्त मैत्री भी आवश्यक है। यह मैत्री उन्हें एक दूसरे के समक्ष आवरणरहित होने में सहायता देती है। स्वपर्याप्त वर्ग के लोगों

---

1. **Loving Struggle.**

के मध्य संज्ञापन सम्भव नहीं है। ये लोग एक दूसरे को सुरक्षा प्रदान करते रहते हैं और उन्हें यह कह करके आश्वस्त भी करते रहते हैं कि उन्हें सत्ता की संप्राप्ति है। अतएव उनके मन में कोई प्रश्न या विवाद उठेगा ही नहीं। फलतः इस प्रकार की मानसिक स्थिति में वे संज्ञापन का प्रयास ही नहीं करेंगे। संज्ञापन के लिये अहंमन्यता, ईर्ष्या और प्रतिकार की भावना पर नियंत्रण करना आवश्यक है। यास्पर्स के अनुसार अतीत के लोगों के साथ भी उनके विचारों के माध्यम से संज्ञापन स्थापित किया जा सकता है। यास्पर्स ने प्लेटों, कांट, किर्केगार्ड और नीत्शे के साथ संज्ञापन स्थापित किया था। यह संज्ञापन, यास्पर्स के अनुसार सदैव एक बार नहीं संस्थापित कर लिया जाता, अपितु यह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इस संज्ञापन के माध्यम से ही अस्तित्व अपनी अनन्त संभावनाओं की अभिव्यक्ति करने में सक्षम होता है। यास्पर्स संज्ञापन-विदारण[1] की भी बात करते हैं। परन्तु संज्ञापन का विदीर्ण होना संज्ञापन के स्रोत का विनाश नहीं है। यह संज्ञापन-विदारण हमारे वस्तुगत अस्तित्व की क्षति के भय के कारण हो सकता है। हम संज्ञापन के विरुद्ध कह सकते हैं कि हम बहुत बच्चे हैं या हम परिवर्तन के लिए बहुत बूढ़े हो चुके हैं या हम घबड़ाने वाली मनःस्थिति के हैं या हम जैसे हैं अब आपको मुझे वैसे ही स्वीकार करना है, हम ऐसे पैदा ही हुए हैं, इत्यादि। परन्तु ये वाक्य हमें परतंत्र मान लेते हैं। यास्पर्स के अनुसार औद्योगीकरण ने भी सामाजिक संज्ञापन के यान्त्रिक स्थानापन्नों का निर्माण करके संज्ञापन को विदीर्ण करने में पर्याप्त योगदान किया है। वास्तविक संज्ञापन मनुष्यों के ही बीच सम्भव है। संज्ञापन के अन्य प्रकारों को, जिन्हें हम अकेले चलाते हैं, उपमामात्र समझना चाहिए। संज्ञापन पारस्परिक आदान-प्रदान[2] है। प्रकृति और अतिक्रमणता के साथ संज्ञापन एकांगी रहता है। प्रकृति, कविता और कला की भाषा केवल प्रतीकों के रूप में हमारे लिए संज्ञापन का विषय हो सकती है। इन सभी में दूसरे पक्ष द्वारा हमारे प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता हैं और संज्ञापन के लिए ऐसा उत्तर अपरिहार्य है।[3]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यास्पर्स का दर्शन न तो जगत् की एक नवीन रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहता है, और न ही मनुष्य के स्वरूप और अवधारणा के विषय में हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि करना चाहता है। इसका लक्ष्य

---

1. Rupture of Communication.
2. Mutual reciprocity.
3. *The Philosophy of Karl Jaspers*, edited by p. A. Schilpp; Chapter–'The Problem of Communication', page 785-787.

तत्व-मीमांसा के किसी नूतन सिद्धान्त का प्रतिपादन भी नहीं है। इसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य को उसके आप्त मानवीय परिस्थिति के प्रति जागरित करना है। हमारे युग को, जिसे औद्योगीकरण ने अत्यधिक यांत्रिक बनाकर विपाक्त कर रखा है, उन्मुक्त करने का एकमात्र उपाय है कि मनुष्य को उसके अस्तित्व की गहनता और समग्रता के प्रति सजग किया जाय और उसे निरन्तर उसके वास्तविक स्वरूप का स्मरण दिलाया जाय। यास्पर्स के दर्शन का सम्यक् बोध हमें तभी होगा जब कि हम उसे अपने अस्तित्व को समग्रता से ग्रहण करने का प्रयास करेंगे। वह मात्र बुद्धि या तर्क की उधेड़बुन का विषय नहीं है। यास्पर्स का दर्शन हमारे अस्तित्व के अन्तराल को स्पर्श करता है। वह हमारा प्रत्याख्यान करके हमें जागरित करता है। हम अपने अस्तित्व की समग्रता से ही जब यास्पर्स के दर्शन को ग्रहण करेंगे तभी मानवता के प्रति उसके संज्ञापन की महत्ता को भलीभाँति समझ सकेंगे।

10. अर्थ-क्रियावाद

प्रैग्मैटिज्म

यहाँ अर्थ-क्रियावाद पद का प्रयोग समकालीन पाश्चात्य दर्शन में प्रयुक्त 'प्रैग्मैटिज्म' शब्द के स्थान पर किया जा रहा है। विलियम जेम्स की 'प्रैग्मैटिज्म' नाम की पुस्तक (1907) से पता चलता है उक्त शब्द यूनानी भाषा के 'प्रैग्मा' शब्द से बना है जिसका अर्थ क्रिया है। इसी शब्द से अंग्रेजी के 'प्रैक्टिस' और 'प्रैक्टिकल' शब्द व्युत्पन्न हुए हैं। इसी सन्दर्भ में विलियम जेम्स ने बताया है कि 1878 में चार्ल्स पियर्स ने पहले-पहल इस शब्द का प्रयोग अपने एक लेख 'हम अपने विचारों को कैसे स्पष्ट बनाएँ' में किया था। किन्तु बीस वर्षों तक किसी ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। 1898 में विलियम जेम्स ने कैलीफोर्निया यूनीवर्सिटी में प्रोफेसर हाविसन के दार्शनिक संघ के सामने भाषण करते हुए इसे फिर प्रस्तुत किया और यह दिखाने का प्रयत्न किया कि पियर्स के दृष्टिकोण को धर्म की समस्याओं को सुलझाने में किस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है।[1]

सम्भवतः चार्ल्स पियर्स—पूरा नाम चार्ल्स सेंडर्स पियर्स—ने विलियम जेम्स द्वारा अपने दृष्टिकोण के सरलीकरण को पसन्द नहीं किया था और 'प्रैग्मैटिज्म क्या है' लेख में, जिस पर सितम्बर, 1904 तिथि दी हुई है, उक्त सरलीकरण का विरोध प्रदर्शित करते हुए अपने 'प्रैग्मैटिज्म' का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था।

उक्त लेख में पियर्स पारिभाषिक पदावली के प्रयोग में कठोर संयम की आवश्यकता का समर्थन करता है। वह चाहता है कि जब एक बार किसी संप्रत्यय को अभिव्यक्ति करने के लिए उपयुक्त तथा पर्याप्त शब्द दिये जा चुके हों तो फिर उन्हीं वस्तुओं को व्यक्त करने के लिए दूसरे शब्द का प्रयोग तब तक न किया जाय जब तक उन वस्तुओं को उन्हीं संबंधों में लिया जाता रहे।[2]

---

1. William James : *Pragmatism*, Lecture II, pp. 46-47.
2. "that once a conception has been supplied with suitable and sufficient words for its expression, no other technical

पियर्स के नामकरण-सम्बन्धी मत को समझने के लिए यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि वह प्रथमतः एक वैज्ञानिक था, जिसने अपना अधिकांश समय प्रयोगात्मक कार्यों में व्यतीत किया था और दर्शन को प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति नपी-तुली भाषा देना चाहता था। इसलिए नामकरण की समस्या से सम्बन्वित विचारों को वह उन्हीं को सम्बोधित करता है जो दर्शन की तत्कालीन स्थिति से असन्तुष्ट थे और उसे प्राकृतिक विज्ञानों की अवस्था में परिवर्तित करना चाहते थे। प्राकृतिक विज्ञानों की कार्य-प्रणाली स्पष्ट करने के लिए वह कहता है "जहाँ शोधकर्ता, दूसरे लोगों के काम को आदि से अन्त तक दिशाभ्रष्ट न बताकर एक दूसरे के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करते हैं और विरोध-मुक्त परिणामों की संख्या बढ़ाते हैं; जहाँ प्रत्येक निरीक्षण बार-बार दुहराया जाता है और एकाकी नीरीक्षणों को नगण्य समझा जाता है; जहाँ प्रत्येक ध्यान देने योग्य परिकल्पना की कठोर किन्तु पक्षपातरहित जाँच की जाती है और उसपर तभी विश्वास किया जाता है जब उससे निर्गत पूर्वकथन अनुभव द्वारा भली-भाँति प्रमाणित हो जाते हैं और तब भी केवल अस्थायी तौर पर।"[1]

---

terms denoting the same things, considered in the same relations should be countenanced."

—William Barrett : *Philosophy in the Twentieth Century* (An Anthology); p. 193.

1. "Concerning the matter of philosophical nomenclature, there are a few plain considerations which the writer has for many years longed to submit to the deliberate judgment of those few fellow-students of philosophy who deplore the present state of that study, and who are intent upon rescuing it there from and bringing it to a condition like that of the natural sciences, where investigators, instead of condemning each the work of most of the others as misdirected, from beginning to end, co-operate, stand upon one another's shoulders, and multiply incontenstable results; where every observation is repeated and isolated observations go for little; where every hypothesis that merits attention is subjected to severe but fair examination, and only after the predictions to which it leads have been

स्पष्ट है कि इतने कठिन परिश्रम से अनेक शोधकर्ताओं ने बार-बार अपने परीक्षणों को दुहराकर यदि किसी परिकल्पना या विचार की स्थापना की है, तो उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि उसे निश्चित शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाय। पियर्स का कहना है कि कोई अध्ययन तब तक वैज्ञानिक नहीं बन सकता जब तक उसे व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त पदावली का प्रत्येक शब्द एक निश्चित अर्थ न देता हो और यह भी कि उस विषय के सभी अध्येता वही अर्थ न समझते हों।[1]

उक्त सन्दर्भ हमें यह सोचने के लिए प्रेरित करते हैं कि चार्ल्स पियर्स की मुख्य समस्या दर्शन के लिए एक ऐसी विधि की स्थापना करने की थी, जिसके द्वारा दर्शन के क्षेत्र में संप्रत्ययों का निधारण ठीक उसी प्रकार क्रमिक एवं सहकारी परीक्षण-चिन्तन द्वारा किया जा सके जैसे प्राकृतिक विज्ञानों में सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है। निर्धारित संप्रत्ययों को अभिव्यक्ति के लिए उचित पारिभाषिक पदावली का चयन और उस पदावली का स्थिरीकरण पियर्स की मुख्य समस्या की सहायक समस्याएँ थीं। किन्तु पियर्स ने कोई ऐसी समस्या नहीं उठा दी थी, जिसकी चर्चा पहले कभी न हुई हो।

दर्शन के पाठक भली-भाँति जानते हैं कि पाश्चात्य दर्शन में विधि के अभाव की घोषणा आधुनिक काल के प्रारम्भ में ही हो चुकी थी। देकार्त (1596-1650) ने विधि पर एक पूरी पुस्तक[2] ही लिख डाली थी, किन्तु उपयुक्त विधि का विकास न कर सका था, क्योंकि उसने अपने दर्शन के मूल संप्रत्यय ('मैं') को व्यक्तिगत प्रतिभा[3] से प्राप्त किया और उसे स्वतः सिद्ध स्वीकार किया, अथवा यह कि वह स्वयं अपने को प्रमाणित करता है।

---

remarkably borne out by experience is trusted at all, and even then only provisionally;........"

Ibid., p. 138.

1. "....no study can become scientific in the sense described until it provides itself with a suitable technical nomenclature. whose every term has a single definite meaning universally accepted among students of the subject,...."

—Ibid., p. 138.

2. *Discourse on Method*, 1637.
3. Personal intuition.

जार्ज बर्कले (1685-1753) विधि की कमी को बहुत ही प्रभावपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया कि "हमने धूल उड़ाई और शिकायत करते हैं कि हमें दिखाई नहीं देता।" ('मानवीय ज्ञान के सिद्धांत')[1]। उसका तात्पर्य यह था कि हमारी ज्ञान प्राप्त करने की शक्तियों में कमी नहीं हैं, कमी उनके 'त्रुटिपूर्ण प्रयोग'[2] में है। उसने जॉन लॉक (1632-1704) के अमूर्त विचारों का खंडन किया था, जो आनुभविक यथार्थ की ओर आँखें खोलने का अच्छा संकेत था। उसका कथन है कि अमूर्त विचारों को स्वीकार कर लेने पर 'पिंड' का अर्थ एक ऐसा पिंड ठहरता है, जिसमें कोई विशिष्ट आकार या चित्र न हो'[3]। इसी प्रकार "निर्बाध गति का अर्थ चलना, उड़ना या रेंगना नहीं हो सकता। फिर भी वह गति होगी, किन्तु कैसी गति, यह समझना आसान नहीं है।"[4] बर्कले के इन अनुभववादी कथनों में संप्रत्ययों को मूल वस्तुओं के सम्बन्धों में समझने का संकेत मौजूद है, किंतु फिर भी वह वास्तविक निरीक्षण-परीक्षण को दार्शनिक विधि में कोई विशेष स्थान न दे सका और विचारों को अन्ततः वस्तुओं का स्थानापन्न बना दिया।

वास्तविक स्थिति यह है कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ स ही विधि की माँग युक्तिवादी तथा अनुभववादी दोनों दलों की ओर से उठती रही, किंतु किसी उपयुक्त अर्थ में वैज्ञानिक विधि की कल्पना दोनों में से कोई भी नहीं कर पा रहा था। और निकट से देखे तो यह मानना पड़ेगा कि धार्मिक चिंतन का अभ्यास दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चिंतनों के अभ्यास से पुराना था। अथवा यूँ कहें कि जैसे सभी सभ्यताओं के प्रारम्भ में, जब मानवीय मन चतुर्दिक् संसार

---

1. ' We have raised a dust, and then complain we cannot see" —A. C. Fraser : *The Works of George Berkeley*, Vol. I, p. 238.
2. "The wrong use we make of them"—Fraser : Works, Vol. I, p. 238.
3. "By body is meant the body without any particular shape of figure........" —Ibid, p. 241.
4. "Spontaneous motion must be neither walking, nor flying, nor creeping; it is nevert he less motion, but what that motion is it is not easy to conceive.

   Ibid., p. 241.

की व्याख्या करने चलता है तो निकटस्थ की व्याख्या करने के लिए दूरस्थ की कल्पना करता है और तमाम अमूर्त एवं अपरिचित सम्प्रत्ययों का निर्माण करता चला जाता है, वैसे ही पाश्चात्य जगत् में भी घटित हुआ।[1] इसे ही हम धार्मिक चिंतन कहते हैं। यह परिस्थिति काफी समय तक बनी रहती है और अवास्तविक संप्रत्यय मानवीय चिंतन में न केवल घर कर लेते हैं, बल्कि आनेवाली पीढ़ियों के लिए संस्कार भी बन जाते हैं।

किंतु उक्त परिस्थिति बहुत काल तक नहीं बनी रह सकती, क्योंकि मनुष्य अपने चारों ओर निगाह दौड़ाता है और उसकी इन्द्रियाँ उसे वास्तविक जगत् की सूचनाएँ देने लगती हैं। पर, उसकी आँखों पर एक पुराना चश्मा चढ़ा होता है, इसलिए वह कुछ ऐसे संप्रत्ययों की रचना करता है, जो न इधर के हैं न उधर के। यूनानी दार्शनिक थेलीज के चिंतन की ओर ध्यान दें तो आशय स्पष्ट होगा। एक ओर तो वह जगत् के निर्माण में व्याप्त प्रथम भौतिक तत्त्व 'जल' की खोज करता है और दूसरी ओर कहता है कि प्रत्येक वस्तु में देवता भरे हुए हैं। यह मूर्त-अमूर्त चिंतन है, जिसे विज्ञान या दर्शन की संज्ञा न देकर दोनों के मूल में रख सकते हैं।

भौतिक अनुसंधानों और अमूर्त चिंतन की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं, फिर कुछ स्पष्ट होने लगती हैं, किंतु बहुत समय तक दोनों का घाल-मेल रहता है, कहीं यह स्पष्ट होती दिखाई देती हैं, कहीं वह, किंतु खींच-तान जारी रहती है। देकार्त, लॉक, बर्कले आदि का समय इसी खींच-तान का समय है। बुद्धिवादी अथवा युक्तिवादी देकार्त अपने समय के वैज्ञानिक प्रभावों से सर्वथा मुक्त नहीं है। वह 'मन' और 'पदार्थ' दोनों को एक साथ द्रव्य स्वीकार करता है और 'प्रतिक्रियावाद' के रूप में दोनों के सम्बन्धों की यान्त्रिक व्याख्या भी उसे मान्य है, किन्तु ईश्वर का हस्तक्षेप फिर भी आवश्यक है। जॉन लॉक अमूर्त विचारों के साथ ही 'जन्मजात' विचारों को स्वीकार नहीं करता। प्रथम की स्थापना और द्वितीय का खण्डन करता है। बर्कले लॉक के अमूर्त विचारों को नहीं मानता है, साथ ही अपने अमूर्त विचारों को वस्तुओं का स्तर प्रदान करता है। इस सबसे यही लगता है कि इस समय के विचारों के मन में संप्रत्ययों की स्पष्टता नहीं थी।

---

1. होमर के 'इलियड' में वर्णित-देवताओं के क्रिया-कलापों, उनके मानवीय संबंधों तथा मानवीय कार्यों के निर्धारण आदि विचारों की ओर संकेत है।
—लेखक

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जाकर स्थिति बहुत कुछ बदलती नजर आती है। लाइबनिज़ (1646-1716) यद्यपि प्रागनुभवीय चिन्तन का तिरस्कार नहीं कर पाता है, किन्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक अथवा अमूर्त और मूर्त चिन्तनधाराओं से वह मूर्त, अथवा आनुभविक चिन्तन का पलड़ा भारी कर देता है, क्योंकि वह 'पर्याप्त युक्ति' के नियम को 'अविरोध' के नियम से वरीयता प्रदान करता है। इसका स्पष्टार्थ यह है कि हम किसी नियम, संप्रत्यय, विचार अथवा सत्य को अन्तिम रूप में स्वीकार नहीं कर सकते, केवल निरीक्षणात्मक तथ्यों के बल पर एक सम्भावना का अन्य बहुतों की अपेक्षा चयन करते हैं।

उक्त शताब्दी के अन्त में, जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट (1724-1804) ने शुद्ध-बुद्धि (1781) तथा व्यावहारिक बुद्धि (1788) की पृथक् समीक्षाएँ प्रस्तुत कर, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्रों के पार्थक्य का प्रभावशाली संकेत किया। किन्तु यह न समझना चाहिए कि कांट कोई व्यक्तिगत विचार व्यक्त कर रहा था। उसने अपने समय की विचारधाराओं में से उस विचारधारा का पक्ष लिया था जो उसके विचार से सबल हो चुकी थी, अथवा होने जा रही थी।

हम यह दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि मानवीय बुद्धि उत्पन्न होते ही अमूर्त, अथवा प्रागनुभवीय चिन्तन के जाले में फँस गई थी और भौतिक परिवेश के अनुभव में वृद्धि होने के साथ-साथ निकलने की कोशिश कर रही थी। उसके कार्य में दो मुख्य कठिनाइयाँ थीं—धार्मिक चिन्तन के रूढ़ संस्कार तथा धार्मिक अनुशासन। इनमें से प्रथम मानसिक थी, किन्तु दूसरी नितान्त बाह्य, जिसके कारण वैज्ञानिक विकास का मार्ग अवरुद्ध था, क्योंकि वैज्ञानिक विचारक उन धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध जिन्हें वे अयुक्त समझते थे, खुलकर कुछ कह नहीं पाते थे। किन्तु, कांट के समय तक, चूँकि उक्त अनुशासन काफी ढीला हो चुका था, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परम्परागत धार्मिक मान्यताओं की छानबीन होने लगी थी।

यह प्रवृत्ति एकदम नवीन न थी। नवीं शताब्दी में स्कोटस एरिजेना ने शाश्वत दण्ड[1] को अस्वीकार किया था, बारहवीं शताब्दी में अबेलार्ड ने यूनानी दार्शनिकों के मतों को पुराने धर्म-संग्रह'[2] से उत्तम बताया और डन्स स्कोटस

---

1. Eternal punishment.
2. Old Testament.

ने तेरहवीं शताब्दी के अन्त में यह घोषित किया कि धर्मशास्त्रियों से दार्शनिकों का इस प्रसंग में मतभेद है कि जो ज्ञान बुद्धि द्वारा प्राकृतिक साधनों से न प्राप्त किया जा सके उसे हम पर-प्राकृतिक चिन्तन से प्राप्त करें।[1] किन्तु इन दार्शनिकों के विचार चार-सौ वर्षों तक दबे पड़े रहे और अब जब अपनी बात कहने की थोड़ी छूट मिली थी खुलकर सामने आ रहे थे।

मोजेज मेंडेल्सन (1729-86) ने तथ्यात्मक तथा प्राकृतिक धर्मों का विरोध कम करने के अभिप्राय से अपनी पुस्तक 'फ्रेडन' (1767) में लिखा—

"प्रकृति के सुखद निरीक्षण द्वारा मानवीय ज्ञान की सभी शाखाओं ने पर्याप्त उन्नति की है। इस विधि से हमने अपनी आत्मा को अधिक अच्छी तरह जानना सीखा है। उनके कार्यों और वांछाओं के यथातथ्य निरीक्षण से बहुत-से प्रदत्त स्थापित किये गये हैं और इनसे स्वीकृत विधि द्वारा उचित निर्णय प्राप्त करना सम्भव है।"[2]

मेंडेल्सन से तीन वर्ष पूर्व जोहेन हीनरीक लैम्बर्ट ने अपनी पुस्तक 'न्यू आर्गेनन' (1764) में यह प्रश्न उठाया कि आकार का ज्ञान कहाँ तक ज्ञान के पदार्थ का ज्ञान करा सकता है।[3] उसने अनुभव से प्रारम्भ करने और संप्रत्ययों

---

1. The philosophers, said Duns Scotus, differ from the theologians as to whether man has any need of acquiring, by supernatural means, knowledge which his reason cannot attain by natural means."

—Weber and Perry : *History of Philosophy*, p. 195.

2. ' By means of a happy observation of Nature, all branches of human knowledge have made considerable progress. In this way have we learnt to know our own souls better. Through a more exact observation of their actions and passions several data have been established, and from these it is possible, by means of an approved method, to draw correct conclusion." —Hoffding : *History of modern Philosophy*, Vol. II, p. 14.

3. "Whether, and if so, how far, knowledge of the form leads to knowledge of the matter of our knowledge."

Ibid, p. 16.

के विश्लेषण में भागों के विश्लेषण की सलाह दी। लेस्सिग् (1721-81) ने अपनी पुस्तक 'डूप्लिक' में प्रयत्न पर बल दिया। उसके कथन का सारांश यह था कि किसी सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है सत्य की खोज में प्रत्यनशील होना। इसी से मनुष्य की शक्तियाँ बढ़ती हैं और वह निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है।[1]

अठारहवीं शताब्दी के इस भाग में, जिसे हम कांट का समय कह सकते हैं, सामान्य चिन्तन का दृष्टिकोण बहुत बदल चुका था। डेविड ह्यम (1711-1776) की पुस्तक, 'मानवीय बोध से सम्बन्वित परीक्षा' (1748), तत्कालीन विचारकों के सामने थी। वे पढ़ रहे थे: "वह दुरूह दर्शन और अध्यात्मविद्या का वाग्जाल, जिसमें जनप्रिय अन्धविश्वासों का मिश्रण है, लापरवाह युक्तिकारों के लिए एक प्रकार से अभेद्य बन गया है और विज्ञान तथा बुद्धिमत्ता की शक्ल में सामने आता है।"[2] लॉक का अनुभववाद, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, स्पष्ट न था, किन्तु दृष्टिकोण इतना चयनात्मक हो चुका था कि लोग उसके इस कथन की ओर कि 'चित्त में वह कुछ नहीं है जो अनुभव में नहीं रह चुका है'[3] ध्यान दे रहे थे। ह्यम की उपर्युक्त परीक्षा 1784 में प्रकाशित हुई थी और उसी वर्ष जेरेमी बेथम (1748-1832) का जन्म हुआ। दर्शन के पाठकों को मालूम है कि कांट की 'व्यावहारिक बुद्धि की परीक्षा' के प्रकाशन के दूसरे वर्ष (1789) बेंथम ने नैतिक आदर्शों और प्रशासन के सिद्धान्तों[4] पर पुस्तक प्रकाशित की थी। इसका मतलब है कि उपयोगिता का विचार परिवेश में तैर रहा था। फलतः विकास की धारा उपयोगी वैज्ञानिक

---

1. "Not the truth which is at the disposal of every man, but the honest pains he has taken to come behind the truth the worth of a man....through the pursuit of truth do his powers increase, and in this alone consists his ever increasing perfection." Ibid., p. 21.
2. "that abstruse philosophy and metaphysical jargon, which, being mixed up with popular superstition, renders it in a manner impenetrable to careless reasoners, and gives it the air of science and wisdom."
   —*An Enquiry Concerning Human Understanding*, Sect. I.
3. "Nihil est in intellectu quod non antea fuerit in sensu."
4. *Introduction to the Principles of Morals and Legislation*

अनुसंधानों की ओर मुड़ जाती है। कांट के तत्कालीन पाठक शुद्ध बुद्धि के विशाल प्रत्यय-वर्गों (कैटेगोरीज) से प्रभावित न होकर शुद्ध बुद्धि की असफलता और व्यावहारिक बुद्धि की सफलता से प्रभावित होते हैं।

कांट के बाद अध्यात्मविद्या (मेंटाफिज़िक्स) का विकास एकदम अवरुद्ध नहीं हो जाता। हेगेल (1770-1831) अपने बुद्धि कौशल से विचार सरणियों का एक पिरेमिड–जैसा निरपेक्ष स्तूप खड़ा कर देते हैं, किन्तु यह विशाल निर्माण डेविड ह्यूम द्वारा पैदा की हुई अध्यात्मविद्या विषयक उपेक्षा को किसी प्रकार भी कम नहीं कर पाता। लगभग आधी शताब्दी के बाद चार्ल्स पियर्स कहता है कि हेगेल के अनुसार चिन्तन की प्रत्येक प्रवृत्ति तार्किक है, यद्यपि यह निश्चित है कि एक प्रति-प्रवृत्ति उसे मिटा देगी। इन प्रवृत्तियों के क्रम को वह एक व्यवस्थित संस्थान मानता है, जिसमें इधर-उधर भटकने के बाद, प्रत्येक सम्मति सही रास्ते पर आ जायगी।[1]

इस निरपेक्षवाद को आगे बढ़ाकर ब्रैडले (1846-1924) ने अपने को एक विचित्र द्विमुख स्थिति में रख दिया। उसने जगत् का स्वभाव सत्यासत्य स्वीकार कर लिया था, इसीलिए अपनी पुस्तक का नाम 'आभास और सत्' (1891) रखा। किंतु अब एक समस्या खड़ी हो जाती है। वह अद्वैतवादी है। अतः सत्य और असत्य को अलग-अलग रख नहीं सकता। रखे भी तो सत्य मात्र एक वस्तुहीन आकार रह जायगा और असत्य निराधार होकर बिल्कुल असत्य हो जायगा। पर, सत्य में असत्य को मिला दें, तो असत्य में सत्य की वृद्धि न होकर सत्य असत्य में बदल जायगा।

बस, इससे अधिक अध्यात्मविद्या को सहन करने के लिए लोगों में सब्र नहीं रह गया था। चारों ओर से चीख-पुकार शुरू हो गई। अर्थ-क्रियावादियों में से विलियम जेम्स ब्रैडले का एक उद्धरण प्रस्तुत किया कि 'परम प्रत्येक

---

1. "The Hegelian system recognizes every natural tendency of thought as logical, although it is certain to be abolished by counter-tendencies. Hegel thinks there is a regular system in the succession of these tendencies, in consequence of which, after drifting one way and the other for a long time, opinion will at last go right."

–C. S. Peirce : *Collected Papers*, Vol. 4, BK. II Paper 4.

असामंजस्य और विविधता से, जिसे वह अपने में समेट लेता है; धनी हो जाता है।'[1] और कहा कि क्लीवलैण्ड के एक मजदूर ने भूख-प्यास से पीड़ित होकर अपने आपको और अपनी पत्नी तथा बच्चों को मार डाला, तो निर-पेक्ष इन सब मरे हुए लोगों से धनी हो गया, यह दर्शन है।[2] एफ़० सी० एस० शिलर ने अपने एक संवाद, 'निरर्थक ज्ञान'[3] में प्लेटो के मुख से कहलाया कि मैंने तुम्हारे आक्सफोर्ड के सोफ़िस्टों की एक किताब में पढ़ा है कि 'असत्य वह है जो सिद्धान्तः अमान्य हो।'[4] इस कथन पर प्लेटो से एक टिप्पणी भी करवाई है कि 'हाँ, ऐसा कोई गर्त नहीं जिसमें ये लोग खुशी से न कूद पड़ें बजाय यह मानने के कि उन्होंने कोई गलत रास्ता पकड़ लिया था।[5]'

विलियम हैमिल्टन (1788-1856) ने तो फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडल के पैदा होने से सत्रह वर्ष पूर्व ही अपनी 'निरुपाधिक का दर्शन' पुस्तक में इस प्रकार की प्रवृत्तियों के विरुद्ध बहुत अच्छी चेतावनी दे दी थी और ब्रैडले महोदय समझदार होने पर यदि उसे ठीक से समझ लेते तो शायद निरपेक्ष-वाद को इतनी धूल न उड़ाई जाती कि 'ब्रैडले असत्य आभास को ऐसे सत्य से जोड़ते हैं, जिसका अस्तित्व नहीं है।'[6] हैमिल्टन ने स्पष्ट कहा था कि निरुपाधिक का

---

1. "The Absolute is the richer for every discord and for all the diversity which it embraces", says F. H. Bradley (*Appearance and Reality*, 204).—William James : *Pragmatism*, p. 30.
2. "He means that these slain men make the universe richer, and that is philosophy,"—Ibid., p. 30.
3. "Useless" knowledge : *Humanism*, II
4. "I found lately in a book by one of your Oxford sophists, ...that "the false is the same as the theoretically untenable.' (Bradley : *Appearence and Reality*, p. 155)—*Humanism*, p. 38.
5. 'Yes, there is no Tartarus to which they would not willingly descend rather than confess that they have started on the wrong track.'—*Humanism*, p. 39.
6. Nothing real could possibly exist" (Bradley) पर अस्तित्व-वादी टिप्पणी।

संप्रत्ययन सम्भव नहीं है। चिंतन का अर्थ उपाधियों से युक्त करना है। हम किसी निरपेक्ष सम्पूर्ण का भी संप्रत्ययन नहीं कर सकते, क्योंकि वह असीम भागों में बांटा जा सकता है और यह सम्भव नहीं है कि उन सबका सर्वेक्षण किया जा सके।[1] यही समझ कर लाइबनिज ने तो बहुत पहले कह रखा था कि आपातिक सत्यों का विश्लेषण केवल ईश्वर के लिए सम्भव है।

बहुत से लोग, जिन्हें अध्ययन तथा अनुसंधान का शौक था, जान लॉक का 'निबन्ध' पढ़कर ही प्रागनुभवीय विधि की अंधेरी राहों को छोड़कर अनुभव के प्रकाश में आने की बात सोचने लगे थे। डेविड ह्यूम और इमैनुएल कांट की 'परीक्षाओं ने भो उसी दिशा में संकेत किया। इन प्रभावों के अतिरिक्त वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसंधानों के निमित्त राजकीय सहायताएँ उपलब्ध होने लगी थीं। वैज्ञानिकों के बीच विचारों के आदान-प्रदान सुलभ करने के लिए यूरोप में कई अकादमियों[2] की स्थापना हो चुकी थी। वैज्ञानिक उपयोगी[3] अनुसन्धानों पर बल दे रहे थे और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने अपनी प्रयोग विधि से बहुत से पुराने विचारों को असिद्ध कर दिया था।

दर्शन के अध्येताओं को मालूम है कि टोलेमी के भूकेन्द्रित विश्व के स्थान पर सूर्य-केन्द्रित विश्व की स्थापना करने के कारण कोपर्निकस (1473-1543)[4] कितना सम्मान अर्जित किया था। इमैनुएल कांट ने जब यह न मानकर कि वस्तुएँ बौद्धिक प्रत्ययों का निर्धारण करती हैं, यह माना कि बौद्धिक प्रत्यय वस्तुओं के

---

1. H. Hoffding : *History of Modern Philosophy*, Vol. II, p. 387.
2. 1560 में इटली के नेपुल्स नगर में 'अकादेमिया सेक्रेतोरम नातुरी', 1603 में रोमनगर में 'अकादेमिया देई लिंचिई तथा 1657 में फ्लोरेंस में 'अकादेमिया देल चीमेंतो' स्थापित हुई। 1666 में चौदहवें लुई ने 'अकादेमी द साइंसेज़' की स्थापना की। 'बर्लिन अकादमी' की स्थापना 1700 में प्रशा के निर्वाचक फ्रेडरिक की संरक्षता में हुई थी।
—Sir James Jeans : *The Growth of Physical Science*, pp. 161-62.
3. Robert Boyle : *The Usefulness of Experimental Science*, 1663-61, p. 163.
4. Ibid., p. 124.

ज्ञात स्वरूप का निर्धारण करते हैं, तो आपने इस नवीन विचार को दर्शन में 'कोपर्निकीय क्रान्ति' की संज्ञा दी।

राबर्ट ब्वाइल (1627-1691)[1] ने यूनानियों के चार तत्त्वों को असिद्ध किया। यूनानियों के अनुसार सभी वस्तुएँ पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि से निर्मित हैं और अग्नि में तपाकर सभी वस्तुओं का इन मूल तत्त्वों में विघटन किया जा सकता है। ब्वाइल ने सोने को तपाकर दिखा दिया कि उसमें से यूनानियों के किसी तत्त्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता। जोजेफ प्रीस्टले (1733-1804)[2] तथा ऐन्टाइन लारेन्ट लेवाइजियर (1743-1794) ने 'आक्सीजन' गैस' को जल से अलग कर प्राचीन तत्त्वदर्शन को नितान्त संदिग्ध सिद्ध कर दिया था। स्वयं इमैनुएल कांट ने अपना विचारक जीवन एक वैज्ञानिक के रूप में प्रारम्भ किया था और 1755 में 'आकाशीय सिद्धान्त' पर विचार करते हुए उसने सर आइजेक न्यूटन के ग्रहों की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों को अमूर्त्त चिन्तन के अवशेषों से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। न्यूटन का ख्याल था कि बिना ईश्वर का हस्तक्षेप स्वीकार किये यह नहीं समझाया जा सकता है कि विभिन्न ग्रह एक-केन्द्रीय वृत्तों में क्यों घूमते रहते हैं। कांट ने इसे प्रकृति के यान्त्रिक नियमों के अनुसार व्याख्येय स्थापित किया।[3] कांट अपने प्रथम काल (1755-69) के विचारों के ही कारण अपने समय के तथा बाद के उन विचारकों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन सका जो दर्शन में वैज्ञानिक विधि तथा चिन्तन का समावेश करना चाहते थे।

कांट के बाद की शताब्दी में वैज्ञानिक अनुसन्धानों में काफी उन्नति हुई किन्तु चार्ल्स डार्विन (1809-1882) को 'जातियों की उत्पत्ति' (1859) तथा हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1902) की 'प्रथम सिद्धान्त' (1862) नामक पुस्तकों के प्रकाशन तक अमूर्त से मूर्त की ओर ले जाने का क्रम पूरा नहीं हो पाया था। इस प्रक्रिया को पूर्ति की ओर ले जाने में आगस्ट काम्ट (1798-1857), तथा जान स्टुअर्ट मिल (1806-1873) और उसके बाद अर्नेस्ट मैक (1838-1916) ने प्रभावशाली योग दिया।

कांट के बाद के दर्शन में एक विशेष अन्तर यह उत्पन्न हो गया था कि दर्शन

---

1. Ibid., p. 213.
2. Ibid., p. 258, 26'.
3. H. Hoffding : *History of Modern Philosophy*, Vol, II, p. 42 पर कांट को "General Physiognomy and Theory of Heavens" (1755) का संकेत।

की समस्याओं के हल विज्ञान में खोजे जाने लगे थे, अथवा यह कहें कि पहले दर्शन विज्ञान को प्रभावित करता था किन्तु अब विज्ञान दर्शन को प्रभावित कर रहा था। चार्ल्स डार्विन, लाइबनिज के इस विचार का खण्डन कर रहा था कि अन्तिम कारणों के बिना यान्त्रिक नियम अधूरे हैं। उसने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि जीवन के लिए संघर्ष में, प्राकृतिक चयन तथा उपर्युक्तता जन्तु की प्रत्येक प्रयोजनात्मक आवश्यकता पूरी करते हैं। इसकी व्याख्या के लिए ईश्वर के पर-प्राकृतिक सम्प्रत्यय की कोई आवश्यकता नहीं।[1]

हर्बर्ट स्पेंसर ने डार्विन के विकास का सरलीकरण करके दर्शन में वैज्ञानिक व्याख्या पद्धति का समावेश किया। उसके अनुसार 'विकास पदार्थ का संगठन तथा गति का सहगामी वितरण है, जिसमें पदार्थ एक अनिश्चित तथा असम्बद्ध समांगता से एक निश्चित तथा सम्बद्ध विषमांगता में परिवर्तित होता है, और जिसमें अवशेष गति का एक समानान्तर रूपान्तर हो जाता है।'[2] इस प्रकार समझने पर वैज्ञानिक विकास-सिद्धान्त सभी समस्याओं पर विचार करने का एक सामान्य नियम बन जाता है

इस दिशा में आगस्ट काम्ट ने बहुत निर्णायक कदम उठाया। उसने चिन्तन के इतिहास पर दृष्टि डाली तो यह पाया कि सबसे पहले ईश्वरवादी चिंतन का प्रादुर्भाव है, फिर अध्यात्मवादी और अन्त में भाववादी या वैज्ञानिक चिन्तन का विकास होता है। पहले स्तर पर निरीक्षणों से कम काम लिया जाता है, कल्पना से अधिक। प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्याएँ काल्पनिक व्यक्तित्वों के हस्तक्षेप में खोजी जाती हैं। दूसरे स्तर पर अमूर्त विचारों, तत्त्वों या शक्तियों से व्याख्याएँ खोजी जाती हैं। विविध घटनाओं को एक महत्तत्व के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया जाता है और समस्याओं के निरपेक्ष समाधान खोजे जाते हैं। किन्तु अन्तिम स्तर पर कल्पनाओं और युक्तियों को निरी-

---

1. Weber and Perry : *History of Philosophy*, p. 458 : 69 : The State of Philosophy in 1860.
2. "Evolution is an integration of matter and concomitant dissipation of motion; during which the matter passes from an indefinite incoherent homogeneity to a difinite coherent heterogenity; and during which the retained motion undergoes a parrallel transformation." (*First principles*, Pt. II, Ch. VII) quoted in Weber and Perry : *History of philosophy*, p. 485.

क्षण के अधीन समझा जाता है। प्रत्येक कथन का सम्बन्ध किसी न किसी तथ्य से जोड़ा जाता है। चिन्तन के इस स्तर को वह भावात्मक (पाजिटिव) संज्ञा देता है। वह अपने भाववाद को अनुभववाद से पृथक करता है, क्योंकि भाववाद अनुभव के तथ्यों को किसी नियम के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न करता है, किन्तु सभी तथ्यों को किसी एक ही नियम के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। अनुभव सर्वत्र एक ही नियम की पुष्टि नहीं करता, किन्तु भाववादी अध्ययन एवं अनुसंधान पद्धति में एकरूपता के लिए स्थान रहता है, क्योंकि सभी अध्येता उसी विधि का प्रयोग करते हैं।[1]

आगस्ट काम्ट के विचार तत्कालीन विचारकों को काफी विश्वसनीय प्रतीत हुए, क्योंकि पाश्चात्य दर्शन का इतिहास काम्ट के स्तर-विभाजन का समर्थन कर रहा था। जान स्टुअर्ट मिल ने इसी विचारधारा का बलपूर्वक समर्थन किया। उसने कहा कि चिन्तन के नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों से भ्रामक विचारों को तब तक नहीं निकाला जा सकेगा जब तक हम यह मानते रहेंगे कि अव्यवहित प्रतिभा[2], अथवा शुद्ध चिन्तन[3] से अनुभव और निरीक्षण से स्वतंत्र सत्यों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार तो किसी सम्मति को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह स्वयं ही अपना प्रमाण है। अतः उसने प्रागनुभवीय युक्तियों का खण्डन किया। जान स्टुअर्ट मिल ने अपने तर्कशास्त्र द्वारा यह प्रदर्शित कर दिया कि निगमन विधि का आधार वाक्य, अथवा दीर्घवाक्य[4] अनुभूत दृष्टान्तों का सरलीकरण है।

स्वतः सिद्ध सत्यों का पूर्वकल्पनाओं में बदल जाना अध्यात्मविद्या की अन्तिम पराजय का स्पष्ट चिह्न था। जान स्टुअर्ट मिल ने देकार्त के विधि-सम्बन्धी सन्देह को उसके स्वतःसिद्धों की ओर मोड़ दिया था और नवीन तर्क-प्रणाली के अनुसार वे अब अनुभव से प्राप्य थे। भावी विचारक जान स्टुअर्ट मिल का सम्मान करने के लिए तैयार थे। 1902 में प्रकाशित शिलर का लेख 'पूर्वकल्पनाओं के रूप में स्वतःसिद्ध'[5] पाश्चात्यदर्शन के पाठक का ध्यान मिल के तर्कशास्त्र की ओर बरबस खींच ले जाता है। चार्ल्स पियर्स ने स्वीकार

1. Hoffding : *History of Philosophy* Vol. II, p. 321.
2. Immediate intuition.
3. Pure thought.
4. Major premiss.
5. "Axioms As Postulates".

किया है कि उसने दो वर्षों तक चांसे राइट के साथ जॉन स्टुअर्ट मिल के दर्शन पर वार्ता किया था।[1] और विलियम जेम्स ने अपनी 'प्रैग्मैटिज्म' पुस्तक मिल को समर्पित की है। समर्पण में उसने लिखा है कि मिल से ही उसे मन का अर्थक्रियावादी खुलापन प्राप्त हुआ था और यदि वह जीवित होता तो हमारा नेता माना जाता।[2]

किन्तु चार्ल्स पियर्स में या तो विलियम जेम्स वाला खुलापन न था, अथवा वह उस खुलेपन के लिए तैयार न था, जिसे अपनाकर अन्य अर्थ-क्रियावादियों के लिए 'हमारा' शब्द प्रयुक्त किया जा सकता था। हम ऊपर उसके विरोध का संकेत कर चुके हैं। 'प्रैग्मैटिज्म क्या है' लेख में वह नामकरण की स्थिरता का समर्थन करते हुए इतना भावुक हो जाता है कि नामकरण की नैतिकता[3] प्रतिपादित करने लगता है और किसी के द्वारा चुने हुए नाम को

---

1. "For about two years, I had long and almost daily discussions with Chancey Wright, one of most acute of the followers of J.S. Mill ..." (Collected papers, Preface)—Philosophy of Recent Times, Vol. I, P. 385.
2. "To the Memory of John Stuart Mill from whom I first leraned the Pragmatic openness of Mind and whom my fancy likes to Picture as our leader were he alive today."
—William James : *Pragmatism*; the Dedication.
3. "It is submitted that the experience of those sciences which have conquered the greatest difficulties of terminology, which are unquestionably the taxonomic sciences, chemistry mineralogy, botany, zoology, has conclusively shown that the one and only way in which the requisite preferences can be brought about is so to shape the canons of terminology that they shall gain the support of moral principle and of every man's sense of decency;........any wresting of them from their original meanings, as not only a gross discourtesy to him to whom philosophy was indebted for each conception, but also as an injury to philosophy itself;...." (What Pragmatism Is).
—Barrett : *Philosophy in the Twentieth Century*, p. 139.

भिन्न अर्थ प्रयुक्त करने को अभद्रता, उस व्यक्ति के प्रति असम्मान तथा दर्शन की क्षति कहता है। इसी प्रसंग को आगे बढ़ाकर वह सूचित करता है : विलियम जेम्स ने पहले इस शब्द को अपनाया क्योंकि जेम्स के विचार से उनका 'उत्कट अनुभववाद' मेरे प्रैग्मैटिज्म की आवश्यकताओं को पूरा करता है। फिर स्पष्ट तथा मेधावी विचारक श्री एफ० सी० एस० शिलर ने अपनाया, जिन्हें पहले यह शब्द अपने 'स्फिक्स की पहेली' के 'नररूपवाद'[1] के लिए उपयुक्त प्रतीत हुआ और बाद में 'मानवतावाद' के लिए भी ठीक लगा। यहाँ तक भी सब ठीक रहा। किन्तु अब साहित्यिक पत्रिकाओं में इसकी निर्दयता के साथ दुर्गति की जा रही है, जैसा कि शब्दों के साथ साहित्यिक पंजों में पड़कर प्रायः होता है।[2] इस सूचना के साथ वह अपने 'प्रैग्मैटिज्म' नामक बच्चे को विस्तृत संसार में विचरण करने के लिए विदा कर देता है और प्रैग्मैटीसिज्म' के जन्म की घोषणा करता है और आशा करता है कि वह इतना कुरूप है कि अपहरणकर्ताओं को पसन्द नहीं आयेगा।[3]

विलियम जेम्स के साथ स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। उसके समर्पण से ही पता चलता है कि खुलापन अथवा मानसिक स्वतन्त्रता अर्थक्रियावाद की पहली शर्त है। वह नाम के चमत्कार को स्वीकार करना पिछड़ापन समझता है : "अध्यात्मविद्या में प्रायः बहुत आदिम ढंग की खोज हुई है। आप जानते हैं कि जादू में शब्दों ने बहुत बड़ा भाग लिया है। सालोमन को सभी फरिश्तों के नाम मालूम थे और उसके नाम जानने के कारण वह उन्हें अपनी इच्छानुसार चलाता था। अतः प्राकृतिक बुद्धि को संसार सदैव एक पहेली लगा है, जिसकी कुंजी किसी चमत्कारी अथवा शक्ति देनेवाले शब्द या नाम में खोजी जानी चाहिए। 'ईश्वर', 'पदार्थ', 'बुद्धि', 'निरपेक्ष', 'शक्ति' आदि हल देनेवाले नाम हैं। आप इन्हें पाकर चैन से बैठ सकते हैं। आपकी अध्यात्मविद्या विषयक खोज

---

1. Anthropomorphism.
2. "But at present, the word begins to be met with occasionally in the literary journals, where it gets abused in the merciless way that words have to expect when they fall into literary cluthes." —Ibid., p. 140.
3. "....he begs to announce the birth of the word "Pragmaticism", which was ugly enough to be safe from kidnappers." —Ibid., p 140.

समाप्त हो जाती है।[1]"

किन्तु, यदि आप अर्थक्रियावादी विधि का अनुसरण करते हैं, तो आपकी खोज किसी ऐसे नाम की प्राप्ति से समाप्त नहीं होती। प्रत्येक शब्द से आपको उसका व्यावहारिक नकद दाम निकालना पड़ता है, आप उसे अपने अनुभव की धारा में काम पर लगा सकते हैं।[2]

विलियम जेम्स के अनुसार किसी शब्द को स्थिर कर देना उसके व्यावहारिक मूल्य को कम कर देना है। अर्थक्रियावादी विधि का कार्य निरंतर अनुभव में अर्थ खोजते रहना है। वह उन सभी लोगों को अर्थक्रियावादी मानता है जो क्रियाओं के अर्थ 'व्यावहारिक परिणामों'[3] में खोजते रहते हैं। चार्ल्स पियर्स को वह अर्थक्रियावाद का संस्थापक स्वीकार करता है। शिलर तथा ड्यूयी में सत्य की अर्थक्रियावादी व्याख्याएँ पाता है, क्योंकि इन्होंने भूशास्त्रियों, जीववैज्ञानिकों तथा भाषावैज्ञानिकों की विधियों का अनुसरण किया है। जेम्स के विवरण से हमें यह प्राप्त होता है कि अर्थक्रियावादी होने के लिए खोज के विषय की समानता अपेक्षित नहीं है, बल्कि दृष्टिकोण तथा विधि की समानता

---

1. "Metaphysics has usually followed a very primitive kind of quest....you know what a great part in magic words have always played Soloman knew the names of all the spirits, and having their names, he held them subject to his will. So the universe has always appeared to the natural mind as a kind of enigma, of which the key must be sought in the shape of some illuminating or power-bringing word or name....'God', 'Matter', 'Reason', 'The Absolute', 'Energy' are so many solving names.' You can rest when you have them. You are at the end of your metaphysical quest." —W. James : *Pragmatism*, pp. 52-53.
2. But if you follow the pragmatic method, you cannot look on any such word as closing your quest. You must bring out of each word its practical *cash-value*, set it at work within the stream of your experience."
—W. James : *Pragmatism*, p. 53.
3. "Practical consequences."

अपेक्षित है। वह किसी सत्य को अन्तिम रूप से स्वीकार नहीं करता है, बल्कि नितनूतन अनुभवों के बीच अपनी पुरानी धारणाओं का परीक्षण करते रहना, उनके व्यावहारिक मूल्यों को आँकते रहना अर्थक्रियावाद है। अतः यह आवश्यक है हम चार्ल्स पियर्स के विचारों को विलियम जेम्स, जॉन ड्यूयी तथा एफ० सी० एस० शिलर के विचारों से अलग प्रस्तुत करें।

चार्ल्स सैंडर्स पियर्स
(1889-1914)

उपर्युक्त विवरण द्वारा चार्ल्स पियर्स को हमने पाश्चात्य समकालीन चिन्तन के एक ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ से वैज्ञानिक की निगाह सीधे दर्शन पर पड़ रही थी। अध्यात्मविद्या की आलोचना करने में पियर्स अकेला न था। 'प्रॅग्मैटिज्म' (अर्थक्रियावाद) का संप्रत्यय तो तब सामने आया जब पियर्स ने इस प्रकार नामकरण किया और विलियम जेम्स ने प्रचार किया, किन्तु यह विचार कि अध्यात्मविद्या के संप्रत्यय अनुभव से कटे हुए हैं और इन्हें जोड़ने का उपाय दर्शन में वैज्ञानिक विधि का समावेश है, प्रायः सभी वैज्ञानिक दार्शनिकों को मान्य था। मेक्स एच० फिश ने होल्म्सकोहेन पत्राचार का एक अंश[1] प्रस्तुत किया है, जिससे पता चलता है कि शताब्दी के उस भाग में, जिसमें पियर्स अपने विचार स्थिर कर रहा था, डार्विन और हर्बर्ट स्पेंसर के विकासवादी मत वायुमण्डल में व्याप्त थे।

पियर्स तथा उसके समय के सभी वैज्ञानिक दार्शनिकों पर डार्विन का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। एक सन्दर्भ में पियर्स कहता है कि "आदि जीव और मनुष्य के बीच का बहुत लम्बा अन्तराल असंवेद्य परिवर्तनों ने भरा होगा।"[2]

---

1. The Origin of Species came out while I was in college—H. Spencer had announced his intention to put the universe into our pockets—I hadn't read either of them to be sure, but as I say it was in the air. I did read Buckla-now almost forgotten—but making a noise in his day....But I think science was at the bottom...."

—Max H. Fisch. (Editor) : *Classic American Philosophers*, General Introduction, p. 9.

2. "The whole vast gap between moner and man must have been bridged over by a sum of insensible variations.

पुराने दार्शनिक बुद्धि को नैसर्गिक मानते थे। पियर्स को तभी इस विचार पर सन्देह हो चुका था जब उसने इमैनुएल कांट का यह वाक्य पढ़ा था: "कितनी वस्तुएँ ऐसी हैं जिन्हें मैं नहीं समझता—किन्तु कितनी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनकी मुझे जरूरत ही नहीं।" डार्विन ने पियर्स के लिए स्पष्ट कर दिया कि बुद्धि भी विकसित होनेवाली वस्तु है। "विश्वास के स्थिरीकरण"[1] में उसने कहा—"व्यावहारिक विषयों से सम्बन्धित तार्किकता (यदि इसे पुराने अर्थ में न समझा जाय किन्तु इसे सुरक्षा एवं चिन्तन की सफलता का सुन्दर योग माना जाय) बहुत उपयोगी गुण है, जो किसी पशु में पाया जा सकता है, और इसलिए यह प्राकृतिक चयन की क्रिया से उपज सकता है।'[2]

डार्विन के सिद्धान्त ने 'विकास' के सम्प्रत्यय को प्रस्तुत कर बहुत बड़ी शिक्षा यह दी थी कि मनुष्य को समझने के लिए उसका इतिहास समझना आवश्यक है। यही शिक्षा आगस्ट काम्ट के भाववाद की थी और यदि इतिहास सामने रखा जाय तो यह नहीं प्रमाणित होता कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति में उत्पन्न किया था, क्योंकि इतिहास उसे अन्धेरे में रेंगते हुए प्राणी के रूप में प्रस्तुत करता है। यदि दूसरी बात सत्य थी तो बुद्धि एवं तार्किकता के गुण अन्य उपयोगी उपकरणों की भाँति प्राकृतिक चयन के माध्यम से आकस्मिक परिवर्तन के रूप में प्रकट हुए होंगे। और फिर अभ्यास से एक आदत बने होंगे। पियर्स इस अन्तिम विचार को भी स्वीकार करता है। यह मन की कोई आदत है, जो हमें उस अनुमति के बजाय यह अनुमति ग्रहण करने में निर्धारित करती है।[3]

(From an unpublished manuscript)—*Classic American Philosophers*, General Introduction, p. 16.

1. Fixation of Belief.
2. Logicality in regard to practical matters (if this be understood, not in the old sense, but as consisting in a wise union of security with fruitfulness of reasoning) is the most useful quality an animal can possess, and might, therefore, result from the action of natural selection;....—*Philosophy of Recent Times*, p. 388.
3. "That which determines us, from given premisses, to draw one inference rather than another, is some habit of mind,...." —Ibid., p. 388

पियर्स इन्हीं विचारों के बीच पैदा हुआ और पला था, क्योंकि उसके पिता बैंजामिन पियर्स अमेरिका के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे। उन्होंने अपने पुत्र चार्ल्स को गणित, प्राकृतिक विज्ञान और दर्शन विषयों की शिक्षा दिलाई थी। उस समय तक विज्ञान और दर्शन का एक साथ अध्ययन सम्भव था। यह भी एक कारण था कि पियर्स ने वैज्ञानिक अनुसन्धानों की विधि से दार्शनिक विधि की तुलना की और यह पाया कि एक ओर वैज्ञानिकों के समूह अनुभव के आधार पर डार्विन के विकास-क्रम की भाँति, धीरे-धीरे उपयोगी सिद्धान्तों की खोज करने में लगे हुए थे और दूसरी ओर एकाकी दार्शनिक प्रागनुभवीय परिभाषाओं का विश्लेषण करना ही दार्शनिक अध्यवसाय का लक्ष्य मान कर चल रहे थे। अतः उसने दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान बनाने का निश्चय किया और इसके लिए उसे एक द्विपक्षीय विधि की आवश्यकता थी : पृच्छा की विधि तथा विचारों को स्पष्ट करने की विधि। उसके अर्थ-क्रियावाद का इतना ही अभिप्राय था। इसे पूरा करने के लिए उसने दो लेख प्रकाशित किये : "विश्वास का स्थिरीकरण" (1877) तथा "विचारों को कैसे स्पष्ट बनाएँ" (1878)।

संदेह-विश्वास सिद्धान्त :

पियर्स के सामने मनुष्य का जो स्वरूप था, उसमें वह एक सतत संघर्ष-रत प्राणी है। वह अहर्निशि समस्याओं का सामना करता रहता है और उन समस्याओं के प्रति सफल क्रियाएँ करने पर ही उसकी सुरक्षा निर्भर है। किन्तु उसे सभी समस्याओं का हल स्वयं नहीं खोजना पड़ता, क्योंकि उक्त संघर्ष आज तो प्रारम्भ नहीं हुआ है। अतः समान परिस्थितियों में उसे मानसिक अभ्यास अथवा आदत के रूप में बना-बनाया हल मिल जाता है और उसे किसी मानसिक संघर्ष में फँसने की आवश्यकता नहीं होती। यह 'विश्वास' की स्थिति है—'विश्वास हमें तुरन्त क्रिया करने के लिए बाध्य नहीं करता, बल्कि हमें ऐसी स्थिति में रखता है कि अवसर आने पर हम किसी निश्चित ढंग का व्यवहार करेंगे।"[1] इसी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए वह नासपाती की सुगन्ध से मुँह में पानी आने का दृष्टान्त प्रस्तुत

---

1. "Belief does not make us act at once, but puts us into such a condition that we shall behave in some certain way when the occasion arises"

—*Philosophy of Recent Times*, Vol. I, Para 373, p. 390.

करता है। उसके अनुसार मानसिक क्षेत्र में विश्वास का वही स्थान है, जो स्नायु संस्थान में स्नायविक सहचारियों का है।''[1] यह एक शान्त और संतोष-प्रद अवस्था है, जिससे हम कतराना नहीं चाहते, अथवा किसी अन्य विश्वास से बदलना नहीं चाहते।''[2]

उक्त स्थिति में पृच्छा की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मनुष्य की सभी क्रियाएँ प्रयोजनमूलक हैं। किन्तु विश्वास की स्थिति से भिन्न स्थिति भी होती है। यह स्थिति 'संदेह' की है, जो असंतोष तथा बेचैनी की अवस्था है। हम इस स्थिति से अपने को मुक्त कर विश्वास की अवस्था में पहुँचना चाहते हैं।[3] पियर्स इस अवस्था की तुलना स्नायु की उस उत्तेजित अवस्था से करता है, जिसमें सहज-क्रिया सम्पन्न होती है।[4] पृच्छा का प्रारम्भ इसी अवस्था में होता है, क्योंकि पृच्छा का प्रयोजन किसी अनिर्णीत अवस्था से निर्णीत अवस्था में पहुँचना है।[5]

इस प्रकार 'संदेह-विश्वास' सिद्धांत पियर्स की पृच्छा की पूर्वपीठिका निर्मित करता है। उसका कथन है कि तार्किक प्रश्न तभी उठता है, जब हम संदेह और

---

1. "For the analogu of belief in the nervous system, we must look to what are called nervous association—for example, to that habit of the nerves in consequence of which the smell of a peach will make the mouth water."—Ibid., Para 373, p. 390.
2. "The latter is a calm and satisfactory state which we do not wish to avoid, or to change to belief in anything else." Ibid., Para 372, P. 390.
3. "Doubt is an uneasy and dissatisfied state from which we struggle to free ourselves and pass into the state of belief....."—Ibid., Para 372.
4. "This reminds us of the irritation of a nerve and the reflex action produced thereby....." —Ibid., Para 373.
5. (i) "The irritation of doubt causes struggle to attain a state of belief. I shall term this struggle Inquiry...." —Ibid., para 374.

   (ii) "That the settlement of opinion is the sole end of inquiry is a very important proposition."—Ibid., para 375.

विश्वास की मानसिक स्थितियों को पूर्व-कल्पित करते हैं तथा यह भी पूर्वकल्पित करते हैं कि संदेह से विश्वास की अवस्था में जाना संभव है और यह कि उक्त अंतरण किन्हीं नियमों के अधीन है, जो सभी मनों को समान रूप से आबद्ध करते हैं।[1]

किन्तु, यह संदेह वास्तविक होना चाहिए। कल्पित संदेह किसी प्रयोजन से उत्प्रेरित नहीं होगा। अतः वह किसी गम्भीर पृच्छा का पोषण नहीं कर सकेगा। पियर्स के मस्तिष्क में विकासात्मक प्रक्रिया है, जिसमें किसी जंतु-जाति का, किसी जीवन-मरण की समस्या को लेकर, अपने परिवेश से भीषण संघर्ष होता है। फलतः संघर्षरत जंतु-जाति के किसी विशिष्ट सदस्य में प्राकृतिक चयन कोई आकस्मिक परिवर्तन उत्पन्न कर देता है और उपयोगिता उस परिवर्तन का अन्य सदस्यों में वितरण करती है। पियर्स केवल डार्विनियन न था। वह लैमार्कियन भी था। अतः उसने विकास-प्रक्रिया को पृच्छा के रूप में संदेह-विश्वास के बीच रखकर, मानसिक जीवन में आकस्मिक परिकल्पना प्राप्त करने की योजना तैयार की, जो भाषा के माध्यम से वितरित और प्रयोगात्मक परिणामों से यथा-सम्भव स्थिर होकर क्रिया-सम्बन्धी मानसिक तत्परता में परिणत होगी।

निश्चय ही वह उन समस्याओं को दार्शनिक चिंतन की समस्याएँ नहीं समझ रहा था, जिनके हल सभी को मालूम हैं—"लगता है, कुछ लोगों को किसी ऐसी बात पर बहस करने का शौक होता है, जिस पर सारा संसार आश्वस्त हो।"[2] वह यह भी आवश्यक नहीं समझता था कि देकार्त की भाँति हम सभी वस्तुओं पर संदेह से पृच्छा का प्रारम्भ करें। कथनमात्र से संदेह नहीं हो जाता—"कुछ दार्शनिकों ने सोचा है कि किसी पृच्छा का प्रारम्भ करने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि मुँह से एक प्रश्न बोला जाय, अथवा उसे कागज पर लिख लिया जाय और यह भी अनुमोदित किया है कि अपने अध्ययनों

---

1. "a variety of facts are already assumed when the logical question is first asked....for instance, that there are such states of mind as doubt and belief—that a passage from one to the other is possible,....and that this transition is subject to some rules by which all minds are alike bound." Ibid., para 369, p. 389.
2. "Some people seem to love to agrue a point after all the world is fully convinced of it." Ibid., para 3763., p. 391.

को प्रारम्भ करने के लिए हम प्रत्येक वस्तु पर संदेह करें।"[1] किंतु कथित संदेहों में ऐसा कोई उत्प्रेरण नहीं हो सकता है, जिससे किसी वस्तुतः उपयोगी हल, परिकल्पना अथवा प्रतिक्रिया का प्रस्फुटन हो। मानवीय प्रतिक्रियाएँ विश्वासों पर आधारित होती हैं—पैर आगे बढ़ाने के लिए यह विश्वास आवश्यक है कि जहाँ कदम पड़ेगा भूमि का वह भाग ठोस है, किंतु भलीभाँति सबकी जानी-पहचानी भूमि पर चलते हुए यह संदेह निरर्थक एवं हास्यास्पद होगा। यही नहीं, संदेहकर्त्ता को भी किसी वास्तविक खोज या पृच्छा के लिए प्रेरित नहीं करेगा। वास्तविक संदेह तभी होगा जब वह किसी ऐसे विश्वास के विरुद्ध हो, जिसका सम्बन्ध मानवीय जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण क्रिया सें हो। पियर्स का कहना है कि "हमारे लिए यही सर्वोत्तम है कि हमारे विश्वास इस प्रकार के हों कि वे सचमुच हमारी किन्हीं ऐसी क्रियाओं का पथ प्रदर्शन करें, जिनसे हमारी इच्छाओं की पूर्ति हो और यह चिंतन प्रत्येक उस विश्वास का तिरस्कार करने के लिए बाध्य कर देगा जिससे इस प्रकार के परिणाम निश्चित रूप से प्राप्त न करने की आशा न होगी।"[2]

अतः पियर्स के अनुसार पृच्छा एक मानसिक संघर्ष या प्रक्रिया है, जिसका प्रारम्भ तभी होता है, जब कोई आवश्यक विश्वास संदेह का विषय बन जाता है। और उस विश्वास पर आधारित क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। पृच्छा का अंत तब होता है, जब कोई दूसरा विश्वास मिल जाता है, जो अवरुद्ध क्रिया के स्थान पर किसी प्रतियोगी क्रिया को स्थापित करने का सैद्धांतिक आधार बन सके। स्पष्ट है कि पृच्छा काल में संदिग्ध विश्वास, विचार या परिकल्पना के स्थान

---

1. "Some philosopher have imagined that to start an inquiry it was only necessary to utter a question whether orally or by setting it down upon paper, and have even recommended us to begin our studies with questioning everything. But the mere putting of a proposition in the interrogative form does not stimulate the mind to any struggle after belief." —Ibid., para 3761, p. 391.
2. "It is certainly best for us that our belief should be such as may truly guide our actions so as to satisfy our desires; and this reflection will make us reject every belief which does not seem to have been so formed as to insure this result"—Ibid., para 375.

पर कोई अन्य परिकल्पना या विचार उत्पन्न होगा, जिसे स्थिर करने के लिए भी किसी विधि की आवश्यकता होगी और वह विश्वास के स्थिरीकरण की विधियों पर विचार करता है।

विकास के स्थिरीकरण की विधियाँ[1] :

इस सन्दर्भ में पियर्स विश्वासों के स्थिरीकरण की तीन पुरानी विधियों का समीक्षापूर्वक तिरस्कार करता है और तब वैज्ञानिक विधि का समर्थन करता है। तिरस्कृत विधियों में से प्रथम को वह हठ-विधि नाम देता है और शेष दो सर्वविदित अनुशासन एवं प्रागनुभवीय विधियाँ हैं।

हठ-विधि :

इस विधि के कथन में पियर्स प्रथम एक मित्र की सम्मत्ति की चर्चा करता है जिसने उसे किसी समाचार पत्र को पढ़ने से इसलिए रोका था कि कहीं स्वतंत्र व्यापार पर उसकी राय न बदल जाय।[2] सोचा जाय तो यह विचार बहुत ही मनोरंजक है कि अपने विचारों को बदलने से बचाने के लिए हम अन्य पक्ष की युक्तियों से अनभिज्ञ रहें। पियर्स को यहीं से मनुष्य की अपने विचारों से चिपके रहने की प्रवृत्ति का संकेत मिलता है। वह अपने चतुर्दिक परिवेश में प्रायः कही-सुनी जानेवाली बातों पर ध्यान देता है—"ओह ! मैं इसे कभी नहीं मान सकता। मान लूँ तो मेरा दुर्भाग्य ही होगा।"[3] इसी प्रवृत्ति को वह दार्शनिक भाषा में सजा हुआ पाता है—"मैं सत्य को मज़बूती से पकड़ता हूँ और सत्य सदैव ग्राह्य होता है।"[4] किंतु, सत्य के प्रति इस आग्रह के पीछे वह सत्य को स्थापित करने की कोई प्रेरणा नहीं पाता। अतः हठ-धर्म के अतिरिक्त वह इसे और कोई संज्ञा नहीं दे पाता। धर्म में उसे इस प्रवृत्ति के और सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे यदि यह मान लिया जाय कि मृत्यु विनाश है, तो यह मानने के लिए बहुत कम गुंजाइश रह जाती है कि जीवन में कुछ

---

1. Methods of Fixing Belief.
2. "I remember once being entreated not to read a certain newspaper lest it might change my opinion upon free-trade." —Ibid., para 377. p. 392.
3. "Oh, I could not believe so-and-so, because I should be wretched if I did." —Ibid., para 377, p. 392.
4. "I hold steadfastly to the truth, and the truth is always wholesome." —Ibid., para 377, p. 392.

साधारण से धार्मिक कृत्य करने वाला सीधा स्वर्ग जायगा। किन्तु बहुत-से लोग ऐसा मानते हैं, सम्भवतः इसीलिए कि उक्त विचार उन्हें सस्ते दामों पर एक लम्बे जीवन का सुख प्रदान करता है।[1]

पियर्स मनुष्यों की अपनी स्थिर आदतों को न बदलने की प्रवृत्ति की तुलना शुतुर्मुग की भयकारक वस्तु के समक्ष बालू में सिर छिपा लेने की आदत से करता है। शुतुर्मुग जब समझ लेता है कि कोई बचाव सम्भव नहीं तो भयकारक वस्तु को आँखों से ओझल करके यह विश्वास कर लेता है कि अब खतरा टल गया। इसी प्रकार मनुष्य अपने पुराने विश्वासों के विरुद्ध सम्मतियों और युक्तियों से अलग हट कर यह मान लेता है कि उसकी अपनी सम्मति ही सर्वश्रेष्ठ है और इस प्रकार वह नये विश्वासों की खोज और उनके अनुरूप आदतों के निर्माण के श्रम से बच जाता है। किन्तु, जिन विश्वासों और सम्मतियों के विपक्ष मौजूद हैं, वे सार्वजनिक नहीं हैं, और कभी न कभी यह तर्क प्रभावित कर सकता है कि दूसरों की सम्मतियाँ उतनी ही अच्छी हो सकती हैं, जितनी कि अपनी। इस विचार के उत्पन्न होते ही हठविधि से अपनाया हुआ व्यक्तिगत विचार सन्देह के पंजे में पड़ जाता है।[2] अतः पियर्स इस नतीजे पर पहुँचता है कि हमारी समस्या ऐसे विश्वासों के स्थिरीकरण की है जो व्यक्तियों को नहीं समुदाय को मान्य हों।[3] हठ-विधि से स्वीकृत विचारों एवं विश्वासों में यह गुण नहीं है।

---

1. "Thus, if it be true that death is annihilation, then the man who believes that he will certainly go straight to heaven when he dies, Provided he has fulfilled certain simple observances in this life, has a cheap pleasure which will not be followed by the least disappointment."

—Ibid., Para 377, p. 392.

2. "The social impulse is against it. The man who adopts it will find that other men think differently from him, and it will be apt to occur to him, in some saner moment, that their opinions are quite as good as his own, and this will shake his confidence in his belief."

—Ibid., para 378, p. 392.

3. "This conception, that another man's thought or sentiment may be equivalent to one's own, is a distinctly new

अनुशासन की विधि :

हठ-विधि का ठीक विपरीत विकल्प अनुशासन द्वारा विश्वासों का स्थिरीकरण है। अर्थात् व्यक्ति अपने लिए विश्वासों का चयन न करें, बल्कि संस्थाएँ व्यक्तियों के लिए विश्वासों के चुनाव का उत्तरदायित्व वहन करें। यह प्रणाली भी काफी पुरानी है—राजनीतिक संस्थाएँ तथा धार्मिक संस्थाएँ व्यक्तियों के राजनीतिक तथा धार्मिक आचरणों को नियन्त्रण करने के निमित्त राजनीतिक एवं धार्मिक विश्वासों को स्थिर करती चली आ रही हैं। पियर्स के ध्यान में रोमन साम्राज्य का उदाहरण था। अतः इस लेख में उसने बताया कि जब अनुशासन द्वारा विश्वासों का स्थिरीकरण होता है, तो यह प्रयत्न किया जाता है कि वे विश्वास बार-बार जनता के सामने रखे जायँ, बचपन से ही उन विश्वासों की शिक्षा दी जाय, तथा विरोधी विश्वासों की शिक्षा, समर्थन और प्रचलन को बलपूर्वक रोका जाय। मानसिक परिवर्तन के सभी कारणों को जनसामान्य से दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। लोगों को अबोध रखा जाता है और उनकी भावनाओं को इस प्रकार वश में कर लिया जाता है कि वे विरोधी सम्मतियों से घृणा करते हैं और उनसे भय मानते हैं। जो लोग नहीं मानते उन्हें भय दिखाकर चुप करा दिया जाता है।[1]

मूलतः उपर्युक्त दोनों विधियों में कोई अन्तर नहीं है। पियर्स की विवेचित

---

step, and a highly important one—so that the problem becomes how to fix belief, not in the individual merely, but in the community. —Ibid., para 378. p. 392.

1. "Let an institution be created which shall have for its object to keep correct doctrines before the attention of the people to reiterate them perpetually, and to teach them to the young; having at the same time power to prevent contrary doctrines from being taught, advocated or expressed. Let all possible causes of a change of mind be removed from men's apprehensions. Let them be kept ignorant, Lest they should learn of some reason to think otherwise than they do. Let their passion be enlisted, so that they may regard private and unusual opinions with hatred and horror. Then, let all mem who reject the established belief be terrified into silence." Ibid., para 379, p. 392.

दोनों विधियों में से एक में व्यक्ति अपने विचारों या विश्वासों के कारण शेष समाज से अलग हो जाता हैं, दूसरी में एक समुदाय शेष समुदायों से अलग हो जाता है। पियर्स इस स्थिति को स्वीकार करता है। जहाँ राज्यों में इतनी शक्ति नहीं होती कि वे पूरे देश में एक ही प्रकार के धार्मिक विश्वासों को प्रचलित कर सकें वहाँ एक धर्म को मानने वाले दूसरे धर्म के मानने वालों को विधर्मी मानकर अपने को उनसे अलग कर लेते हैं।[1]

किन्तु यह स्थिति तभी तक बनी रह सकती है जब तक विचारों का आदान-प्रदान सीमित रहता है। जहाँ यह तर्क समझ में आता है, कि क्यों हमारे विचार दूसरे समुदायों, राष्ट्रों तथा देशों के विचारों से भिन्न हैं, वहीं सामुदायिक होते हुए भी विश्वास सन्देह में बदल जाते है।[2] पियर्स के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वह व्यक्तिगत या किसी समुदाय विशेष में सीमित सम्मतियों, विचारों अथवा विश्वासों की स्थापना का समर्थक नहीं है।[3] वह पृच्छा की ऐसी विधि की योजना बना रहा है, जिससे सत्य अर्थ में सार्वभौमिक विश्वासों की स्थापना सम्भव हो।

प्रागनुभवीय विधि :

इस दृष्टि से वह दार्शनिकों की प्रागनुभवीय विधि पर विचार करता है। 'बुद्धिग्राह्यता' इस विधि का मूलसूत्र है। अन्य दो विधियों की अपेक्षा

1. "If the power to do this be wanting, let a list of opinions be drawn up, to which no man of the least independence of thought can assent, and let the faithful be required to accept all these propositions, in order to seggregate them from the rest of the world."—Ibid., para 379, p. 393.
2. "This imperfection will be no source of weakness so long as men are in such a state of culture that one opinion does not influence another—that is no long as they cannot put two and two together—there is no reason to rate their own views at a higher value than those of other nations and other centuries; thus giving rise to doubts in their minds."
—Ibid., para 381, p. 394.
3. "The wilful adherence to a belief, and the arbitrary forcing of it upon others, must, therefore, both be given up." Ibid., 382, p. 394.

पियर्स इसका अनुमोदन करता है, क्योंकि "बुद्धि के दृष्टिकोण से यह विधि अन्य दो विधियों से कहीं अधिक सम्मान्य है।"[1] किन्तु कमी यह है कि "इसका अर्थ वह नहीं है, जो अनुभव से अनुमोदित हो।"[2] पियर्स का खयाल है कि अनुभव से कट जाने के कारण बुद्धि मात्र व्यक्तिगत रुचि रह जाती है और रुचि कम या अधिक प्रचलन की वस्तु है। यही कारण है कि आध्यात्मिक विचारक कभी एकमत नहीं हो सके हैं।[3] साथ ही अनुभववादियों और बुद्धिवादियों के मतों में भी सहमति नहीं हो पाती। अतः जो लोग तथ्यों से वियुक्त विचारों को संदिग्ध मानते हैं, उनकी दृष्टि में प्रागनुभवी विधि द्वारा स्थापित विश्वास संदिग्ध बने रहते हैं।[4] पियर्स की योजना केवल उन्हीं विश्वासों की स्थापना करने की है, जिन्हें सार्वभौमिक स्वीकृति प्राप्त हो सके। इसलिए वह प्रागनुभवीय विधि का भी समर्थन नहीं करता, बल्कि विधि की खोज में आगे बढ़ता है।

विज्ञापन की विधि :

पियर्स की विधि-सम्बन्धी जिज्ञासा अथवा पृच्छा की तीन आवश्यकताएँ हैं। इस विधि से स्थापित विश्वासों में मानवीय तत्त्व का प्रभाव नहीं

---

1. "This method is far more intellectual and respectable from the point of view of reason than either of the others which we have noticed." —Ibid., 382.
2. "It does not mean that which agrees with experience, but that which we find ourselves inclined to believe." —Ibid., 382.
3. "It makes of inquiry something similar to the development of taste; but taste; unfortunately, is always more or less a matter of fashion and accordingly metaphysicians have never come to any fixed agreement." —Ibid , 383.
4. "Now there are some people, among whom I must suppose that my reader is to be found, who when they see that any of their beliefs is determined by any circumastance extraneous to the facts, will from that moment not merely admit in words that belief is doubtful, but will experience a real doubt of it, so that it ceases in some degree at least to be a belief." —Ibid., 383, p. 395.

होना चाहिए—वे व्यक्तिगत रुचियों पर निर्भर न हों, अर्थात् उनमें बाह्य स्थायित्व होना चाहिए।[1] इस विधि के प्रयोग द्वारा सभी प्रयोगकर्ताओं को एक ही परिणाम प्राप्त करना चाहिए[2] और इस विधि से प्राप्त परिणामों की तथ्यों से सहमति होनी चाहिए।[3] पियर्स के अनुसार विज्ञान की विधि इसी प्रकार की है।

वह इस विधि की मूल परिकल्पना इस प्रकार प्रस्तुत करता है : "संसार में सत्य वस्तुएँ हैं, जिनके स्वभाव उनके सम्बन्ध में हमारी सम्मतियों से स्वतंत्र हैं। ये वास्तविकताएँ हमारी ज्ञानेन्द्रियों को व्यवस्थित नियमों के अनुसार प्रभावित करती हैं और यद्यपि हमारी संवेदनाएँ वस्तुओं से हमारे सम्बन्धों के अनुसार भिन्न होती हैं तथापि प्रत्यक्षीकरण के नियमों से लाभ उठाकर हम उक्तियों द्वारा मालूम कर सकते हैं कि वस्तुएँ वस्तुतः किस प्रकार की हैं और कोई भी मनुष्य, जिसे पर्याप्त अनुभव है, और उसके विषय में पर्याप्त चिंतन करता है, एक ही सत्य परिणाम पर पहुँचेगा।"[4]

---

1. "To satisfy our doubts, therefore, it is necessary that a method should be found by which our beliefs may be caused by nothing human, but by some external permanency—by something upon which our thinking has no effect." (The Fixation of Belief)—*American Philosophy in the Twentieth Century*, p. 58.
2. "Yet the method must be such that the ultimate conclusion of every man shall be the same, or would be the same if inquiry were sufficiently persisted in."—Ibid., 58.
3. "He wishes his opinions to coincide with the fact."
   —Ibid., p. 61.,
4. "Its fundamental,....is this : There are real things, whose characters are entirely independent of our opinion about them; those realities effect our senes according to regular laws, and, though our sensations are as different as our relations to the object, yet, by taking advantage of the laws of perception, we can ascertain by reasoning how things really are, and any man, if he has sufficient expa-

"हम अपने विचारों को कैसे स्पष्ट बनाएँ" लेख में वह चिंतन का उद्देश्य स्पष्ट करता है। और यह आवश्यक प्रसंग है क्योंकि चिन्तन करना मुहावरे का कोई अर्थ नहीं है, जब तक यह न सोचा जाय कि चिन्तन की दिशा क्या है। उक्त लेख में पियर्स बताता है कि "चिन्तन का सम्पूर्ण प्रयोजन क्रिया सम्बन्धी आदतों का निर्माण करना है।"[1] और "वस्तुओं का अर्थ उनमें सम्बन्धित आदतों में निहित रहना है।"[2]

वह एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। मदिरा का कोई संप्रत्ययन नहीं किया जा सकता जब तक विश्वास में यह न सम्मिलित हो कि यह वस्तु अथवा वह वस्तु मदिरा है, अथवा यह कि मदिरा में अमुक धर्म पाये जाते हैं।[3] किन्तु वह पूछता है कि अनुभव और चिन्तन से स्थापित इन विश्वासों का क्या प्रयोजन है? उसका उत्तर है कि "ये विश्वास आत्म-सूचनाएँ हैं कि जिन वस्तुओं को उनके गुणों के आधार पर हम समझते हैं, उनके साथ अवसर आने पर हम एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार कर सकें। इस व्यवहार का अवसर कोई सांवेदिक प्रत्यक्ष होगा और प्रयोजन कोई सांवेदिक परिणाम होगा। इस प्रकार हमारी क्रिया का एकात्मक सन्दर्भ वह है जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करता है, हमारी आदत का वही अभिप्राय है जो हमारी क्रिया का, हमारे विश्वास का अभिप्राय वही है जो हमारी आदत का, हमारे संप्रत्ययन का अभिप्राय वहो है जो हमारे विश्वास का, और फलतः मदिरा का हम कोई ऐसा अर्थ नहीं लगा सकते जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर पड़ने वाले प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभावों से भिन्न हो।"[4]

---

rience and reason enough about it, will be led to the one true conclusion." —Ibid., pp. 58-59.

1. "The whole function of thought is to produce habits of action." —Ibid , p. 69.
2. What a thing means is simply what habits it involves. —Ibid., p. 69.
3. "But we can have no conception of wine except what may enter into a belief, either—
   1. That this, that or the other, is wine; or.
   2. That wine possesses certain properties.—Ibid., p. 69.
4. "Such beliefs are nothing but self-notifications that we should, upon occasion, act in regard to such things as we

पियर्स ने अपनी पृच्छा के संपूर्ण प्रयासों को यथार्थ तथ्यों के वास्तविक धर्मों का निर्धारण करने तथा उन धर्मों के आधार पर उनके सभी व्यवहारों की अपेक्षा करने की प्रक्रिया पर केंद्रित कर दिया है। उसकी विधि-सम्बन्धी सूक्ति इस प्रकार है—

"विचार करें कि वे कौन-से परिणाम हैं, जिनके कुछ व्यावहारिक अभिप्राय हो सकते हों और जिनकी हम अपने संप्रत्ययन की वस्तु में अपेक्षा करते हैं, तो इन परिणामों का संप्रत्ययन वस्तु का सम्पूर्ण संप्रत्ययन होगा।"[1]

"अर्थक्रियावाद क्या है" लेख में अपनी इस सूक्ति का स्पष्टीकरण देते हुए पियर्स बताता है कि परिणामों के संप्रत्ययन को वस्तु का संप्रत्ययन मान लेने पर सत्तात्मक अध्यात्मविद्या[2] का प्रत्येक निर्णय वाक्य[3] निरर्थक सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें एक शब्द को दूसरे शब्दों से और उन्हें फिर बहुत-से दूसरे शब्दों से परिभाषित किया जाता है, किन्तु कभी भी कोई यथार्थ संप्रत्ययन प्राप्त नहीं होता। दर्शन से इस प्रकार के निरर्थक संप्रत्ययनों को निकाल देने पर जो समस्याएं बच रहेंगी उनका वास्तविक विज्ञानों की निरीक्षणात्मक विधि से

---

believe to be wine according to the qualities we believe wine to possess.,The occasion of such action would be some sensible perception, the motive of it to produce some sensible result. Thus our action has exclusive reference to what effects the senses, our habit has the same bearing as our action, our belief has the same as our habit, our cenception the same as our belief, and we can consequently mean nothing by wine but what has certain effects, direct or indirect, upon our senses.—Ibid., pp 69-70.

1. "Consider what effects, which might conceivably have practical bearings, we conceive the object of our conception to have. Then, our conception of these effects is the whole of our conception of the object.

   —American Philosophy in the Twentieth Century, p. 70.
2. Ontological Metaphisics.
3. Proposition.

अध्ययन किया जा सकेगा ।[1]

अतः सबसे पहली बात पियर्स के अर्थक्रियावाद के सन्दर्भ में यही समझनी चाहिए कि वह दर्शन के क्षेत्र में उन्हीं समस्याओं को रखना उचित समझते थे जिन पर प्रयोगात्मक चिन्तन सम्भव हो। वह सत्य को वस्तुगत मानते थे। "सत्य वह है, जिसमें अमुक-अमुक धर्म हों, चाहे उनका होना किसी को मान्य हो, अथवा न हो।"[2] केवल परिभाषात्मक चिन्तन से इस सत्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए दार्शनिक के लिए वह संयुक्त विधि का अनुमोदन करता है, जिसमें चिन्तन प्रयोगात्मक विधि के आधार पर अग्रसर हो। वह कहता है कि "युक्तिसंगत प्रायोगिक तर्क द्वारा नियन्त्रित चिन्तन ही सम्मतियों के स्थिरीकरण की ओर झुकता है।"[3]

किन्तु उसकी विधि का अर्थ विशिष्ट वस्तुओं के धर्म मालूम करना तथा उन धर्मों के आधार पर विशिष्ट व्यवहारों का संप्रत्ययन करना नहीं है। वह परिकल्पना, प्रयोग और चिन्तन की प्रक्रिया द्वारा कम व्यापक सामान्य नियमों से अधिक व्यापक सामान्य नियमों के विकास की कल्पना करता है। वह कहता है कि "अर्थक्रियावादी अपना अन्तिम लक्ष्य क्रिया में नहीं मानता,

---

1. It will serve to show that almost every preposition of ontological metaphysics is either meaningless gibberish—one word being defined by other words, and they by still others, without any real conception ever being reached—or else is down right absurd; so that all such rubbish being swept away, what still remains of philosophy will be a series of problems capable of investigation by the observational methods of true sciences." (What Pragmitism Is.) —*Philosophy in the Twentieth Century*, p. 144.
2. "That is real which has such and such characters, whether anybody thinks it to have those characters or not."
—Ibid., p. 148.
3. "So, thought, controlled by rational experimental logic, tends to the fixation of certain opinions, equally destined, the nature of which will be the same in the end,—" (What Pragmatism Is.) —Ibid., p. 148.

बल्कि विकास की उस प्रक्रिया में मानता है, जिसके द्वारा अस्तित्वान वस्तु शनैः शनैः उन सामान्यों को आत्मसात् करता जाता है, जिन्हें अभी हमने नियत कहा था, जिसका वही अर्थ है जो हम युक्तियुक्त कह कर सूचित करना चाहते हैं।"[1]

पियर्स की प्रक्रिया प्रयोग और चिन्तन की शृंखला द्वारा भौतिक विकास का पीछा करती है और इसी में ज्ञानात्मक विकास होता जाता है। "अवसर, अनियमितता और अनिश्चितता से नियम का विकास होता है[2] और पृच्छा का कार्य इसी विकास को खोजते रहना है। पियर्स के प्रत्ययवर्गों पर दृष्टि डालने से पृच्छा विधि, जो एक सतत प्रयत्नशील प्रक्रिया है, और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

प्रत्ययवर्ग एवं प्रतीक :

वह चिन्तन के सम्पूर्ण प्रत्ययों को तीन वर्गों में विभाजित करता है। 'प्रारम्भ प्रथम है, अन्त द्वितीय तथा मध्य तृतीय'।[3] मन में जो अनायास प्रस्तुत होता है, जैसे परिकल्पना, प्रथम है। अनुभव की वस्तु, जो यथार्थ रूप में ज्ञात होती है, द्वितीय है और चिन्तन, विचार, संप्रत्यय, शब्द, जो उन दोनों को मिलाता है, तृतीर्य है। प्रथमता, द्वितीयता तथा तृतीयता ही उसके तीन प्रत्ययवर्ग हैं।

---

1. "Accordingly, the Pragmaticist does not make the summumbonum to consist in action, but makes it to consist in that process of evolution whereby the existent comes more and more to embody those generals which were just now said to be destined, which is what we strive to express in calling them reasonable" —Ibid., p. 149.
2. "and since law in general cannot be explained by any law in particular, the explanation must consist in showing how law is developed out of pure chance, irregularity and indeterminacy,"
   —Philosophy of Recent Times, Vol. I, p. 432.
3. The begining is first, the end second, the middle third"
   —Ibid., para 337, p. 427.

तृतीयता के ही अन्तर्गत पियर्स के प्रतीक-सिद्धान्त[1] का स्थान है। प्रतीक का कार्य पुनःप्रस्तुतन[2] है। पियर्स शब्द, संप्रत्ययन या भाषा को माध्यम[3] के रूप में स्वीकार करता है, अर्थात् उसके अनुसार इनका प्रयोजन प्रतीकात्मक है। 'प्रतीक किसी वस्तु के लिए स्थित होता है। वह एक अर्थ वहन करता है और एक नवीन विचार उत्पन्न करता है, जो उसका व्याख्येय है।'[4] किन्तु यह प्रक्रिया निरन्तर बढ़ती जाती है। व्याख्येय वस्तु बन जाता है, इसका एक नवीन शब्द या संप्रत्यय प्रस्तुतन होता है और 'पुनः प्रस्तुतन की अनन्त शृंखला बनती जाती है।'[5] तृतीयता का कार्य प्रथमता और द्वितीयता के बीच स्थित होकर उन्हें सम्बद्ध करना है। अतः प्रतीक तृतीयता का वाहक है। इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि चिन्तन की शृंखला विभिन्न स्तरों से गुजरती हुई आगे बढ़ती है। इस शृंखला में से यदि हम दो स्तरों के बीच स्थित इकाई चिन्तन को लें, तो यह पायेंगे कि पिछले चिन्तन का अन्त इसका प्रारम्भ है और इसका अन्त अगले चिन्तन का प्रारंभ है। प्रारम्भ अथवा आधार प्रथमता है, अन्त द्वितीयता और बीच की उन्नति जो दोनों को मिलाती है, तृतीयता है। प्रतीक में त्रिमुख संकेत होता है। वह एक शब्द या संप्रत्यय है, जो किसी अन्त का पुनः प्रस्तुतन करने के साथ ही एक प्रारम्भ का भी संकेत करता है और एक अर्थ भी सूचित करता है जो अगले अन्त तक जाने का मार्ग बनाता है। इस त्रिमुख संकेत की स्वीकृति में हेगेल का प्रभाव स्पष्ट है, पियर्स स्वीकार करें, अथवा न करें।

---

1. Theory of signs.
2. Representation.
3. "The medium or connecting bond between the absolute first and last," *Philosophy of Recent Times*, Vol. I, para 337, p. 427.
4. "That for which it stands is called its object; that which it conveys its meaning; and the idea to which it gives rise, its interpretant."
—Ibid., para 339, p. 428.
5. Finally, interpretant is nothing but another representation to which the torch of truth is handed along; and as representaton, it has its interpretant again. Lo, another infinite series." —Ibid., para 339. p. 428.

पियर्स तृतीयता से सम्बन्धित विचारों में ही सामान्यता और निरन्तरता को भी स्थान देता है।[1] उसका दृष्टान्त कुछ इस प्रकार का है। मान लीजिए मैं सेब का मुरब्बा खाना चाहता हूँ और अपनी भण्डारिन से खाना बनाने के लिए कहूँ तो वह कुछ सेबों का चुनाव करेगी। वे सेब जिन्हें वह चुनती है विशिष्ट हैं, किन्तु वह विशिष्ट सेबों को नहीं, बल्कि एक दिये हुए सामान्य गुण वाले सेबों में से कुछ को चुनना चाहती है।[2] उक्त उदाहरण से हम यह समझते हैं कि किसी व्यावहारिक परिणाम वाले चिन्तन का प्रारम्भ, जिस योजना, कल्पना या विचार से किया जाता है, वह सामान्य होता है, अर्थात् सामान्यता प्रथमता के अन्तर्गत आती है। परिणाम अथवा लब्ध विचार[3] द्वितीयता है और दोनों के बीच स्थित क्रियाएँ और उनके मानसिक प्रतिभाग तृतीयता, माध्यम अथवा निरन्तरता है। पियर्स प्रथमता और द्वितीयता के बीच अलब्ध और लब्ध विचारों का अन्तर मानता है।[4] इसी प्रथमता और द्वितीयता के बीच के अन्तराल में प्रथमता को द्वितीयता में घटित करने के लिए मानसिक और क्रियात्मक प्रयत्न स्थित होते हैं। यह स्थान आकस्मिक चयनों का है।[5]

इस पूरी प्रक्रिया पर विचार करें तो यही मानना पड़ेगा कि पियर्स की विधि

---

1. "Some of the ideas of prominent Thirdness which,....,require attentive study are generality, infinity, continuity, diffusion, growth, and intelligence."

—Ibid., 340, p. 428.

2. "What she desires is something of a given quality, what she has to take is this or that particular apple."

—Ibid., para 341, p. 429.

3. "The object of experience as a reality is a second."

—Ibid., 342, p. 429.

4. "So it is with any law of nature. Were it but a mere idea unrealized–and it is of the nature of an idea–it would be a pure first. The cases to which it applies are the seconds."

—Ibid., 342, p. 429.

5. "And since she has to act, and action only relates to this and that, she has to be perpetually making random selection,—"

—Ibid., 341, p. 429.

परिकल्पना पूर्वक निगमन विधि अथवा आगमन-निगमन विधि है, जिसे उसने जान स्टुअर्ट मिल से प्राप्त किया है। किन्तु वह इस प्रक्रिया को विकासात्मक रूप देता है। उसके आगमन सतत विकासशील रहते हैं। कुछ अनुभवों के आधार पर एक सामान्य परिकल्पना प्रस्फुटित होती है, जिसे प्रत्येक अगला प्रयोग थोड़ा रूपान्तरित कर देता है। इस प्रकार हमारी परिकल्पनाएँ उच्चतर सरलीकरण प्राप्त करती जाती हैं। प्रत्येक प्रयोग एक अनुभवमूलक निगमन है[1] और प्रत्येक प्रयोग प्रयुक्त परिकल्पना या सामान्य नियम के लिए एक नवीन दृष्टान्त है। अतः आगमन विधियाँ सदैव स्थापित प्राकृतिक नियमों में उत्तरोत्तर विकास करती रहती हैं।

अन्य अर्थक्रियावादी

पीछे कहा जा चुका है कि चार्ल्स पियर्स ने अपने 1877 तथा 1878 के लेखों द्वारा अर्थक्रियावाद का प्रथम रूप प्रस्तुत किया था। वह पैग्मैटिज्म' शब्द का आविष्कर्ता था, किन्तु उसके लेखों ने कोई विशेष आकर्षण उत्पन्न नहीं किया, क्योंकि उसका दृष्टिकोण विज्ञान के दबाव से बोझिल हो गया था। बीस वर्षों के बाद विलियम जेम्स ने अपने कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के भाषण में, पियर्स को 'प्रेग्मैटिज्म' के आविष्कर्ता का सम्मान देते हुए उक्त दृष्टिकोण की व्याख्या प्रस्तुत की। पियर्स को विलियम जेम्स का यह कार्य उचित न लगा और उसने अपने मत के लिए 'प्रेग्मैटीसिज्म' नाम चुन लिया। वह विलियम जेम्स तथा शिलर को 'प्रैग्मेटिस्ट' मानने के लिए तैयार न था। जॉन ड्यूयी का उस समय कोई प्रश्न न था, क्योंकि वह तो 1884 तक छात्र ही था। विलियम जेम्स ने इस सबकी कोई चिन्ता न की और अर्थक्रियावाद को एक प्रभावशाली दृष्टिकोण बनाने का सफल प्रयास किया।

1. विलियम जेम्स (1842-1910)

विलियम जेम्स ने चिकित्साशास्त्र में हार्वर्ड से 1869 में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की थी और वहीं 1873 तक शरीर-रचना एवं शरीर-क्रिया विज्ञानों का अध्यापन किया था, किंतु स्वेच्छा से, पहले मनोविज्ञान और फिर दर्शन के अध्यापक बने। 1879 में उन्होंने हार्वर्ड में दर्शनशास्त्र का अध्यापन प्रारम्भ किया था। सम्भवतः चार्ल्स पियर्स के लेखों ने ही विलियम जेम्स को दर्शन की ओर प्रेरित किया था। वह दर्शन के क्षेत्र में कुछ कर दिखाना चाहते थे और पियर्स की अपेक्षा उन्हें एक बहुत बड़ी सुविधा प्राप्त थी—प्रभावपूर्ण भाषा के

1. Empirical Deduction.

प्रयोग की क्षमता। बीस वर्षों तक दर्शन की गतिविधि समझकर जब उन्होंने बोलना प्रारम्भ किया, तो ऐसे अवसरों की कमी न थी। वह प्रथम अमेरिकी विचारक एवं वक्ता थे, जिन्हें गिफर्ड व्याख्यानमाला के लिए चुना गया और वे व्याख्यान 'वेराइटीज़ आव् रिलीजस एक्सपीरिएन्स' शीर्षक से 1902 में प्रकाशित हुए। इस ख्याति के बाद जब उन्हें 1906 के नवम्बर तथा दिसम्बर मासों में बोस्टन के लावेल इंस्टीट्यूट ने तथा जनवरी 1907 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने दर्शन पर जनप्रिय व्याख्यानों के लिए आमंत्रित किया तो उन्होंने अर्थक्रियावाद को अपने आठ व्याख्यानों का विषय चुना। विलियम जेम्स के आठों व्याख्यान 'प्रैग्मैटिज्म' नाम से जून 1907 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। अमेरिका तथा योरोप के विचारकों ने इन्हीं व्याख्यानों की अंतर्वस्तु को 'प्रैग्मैटिज्म' समझा।

वैज्ञानिक सिद्धान्तों का उपगमनात्मक रूप :

चार्ल्स पियर्स की भांति विलियम जेम्स विज्ञान के नाम से आतंकित न थे, यद्यपि वह भी विज्ञान तथा वैज्ञानिक अध्ययन की विधियों से उतना ही परिचित थे जितना कि चार्ल्स पियर्स। जेम्स का कहना है[1] कि पहले-पहल जब गणितीय, तार्किक एवं प्राकृतिक एकाकारताओं अथवा प्रथम नियमों का पता लगा तो लोग उनकी स्पष्टता, सुन्दरता तथा उपलब्ध सरलीकरण के प्रभाव में इस प्रकार बह गये कि उन्होंने यह विश्वास कर लिया कि उन्होंने प्रामाणिक रूप में सर्वशक्तिमान् ईश्वर के विचारों का अर्थ जान लिया था। किन्तु विज्ञानों के विकास के साथ-साथ यह धारणा पुष्ट हुई है कि हमारे अधिकांश नियम, सम्भवतः सभी, मात्र उपगमन हैं।[2] वे यथार्थ का कोई अन्तिम रूप नहीं प्रस्तुत करते, बल्कि यथासम्भव यथार्थ के समीप पहुँचने का प्रयत्न करते हैं।

---

1. When the first mathematical, logical and natural uniformities, the first laws, were discovered, men were so carried away by the clearness, beauty and simplification that resulted, that they believed themselves to have deciphered authentically the eternal thoughts of the Almighty."
—*Pragmatism*, p. 56.

2. "But as the sciences have developed farther, the notion has gained ground that most, perhaps all, of our laws are only approximations."—Ibid, pp. 56-57.

वैज्ञानिक अनुसंधानों का इतिहास विलियम जेम्स के पक्ष में है। कोई भी वैज्ञानिक सिद्धांत अन्तिम रूप से प्रस्तुत नहीं किया गया है। जैसे-जैसे नवीन तथ्य सामने आते हैं, वैज्ञानिक सिद्धांतों में संशोधन, परिवर्धन आदि की आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, विज्ञान की सभी शाखाओं में प्रतियोगी संविन्यास भी प्रस्तावित किये गये हैं, जिससे खोज करनेवालों के मन में यह धारणा बन गई है कि कोई भी सिद्धांत यथार्थ की निरुपाधिक प्रतिलिपि नहीं है, बल्कि उनमें से कोई किसी दृष्टिकोण से उपयोगी हो सकता है।[1]

सिद्धांतों में मानवतत्व :

पियर्स की भाँति, विलियम जेम्स यह नहीं मानता कि वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त मानवीय तत्व से शून्य होने चाहिए। सिद्धान्तों का महत्वपूर्ण कार्य पुराने तथ्यों का संक्षेप करना तथा नवीन तथ्यों की ओर ले जाना है। वे केवल मनुष्य द्वारा निर्मित भाषा अथवा एक संप्रत्यात्मक संक्षेप लिपि हैं—जिनमें हम प्रकृति के विवरण लिखते हैं। और यह सर्वविदित है कि भाषाएँ अभिव्यक्ति के विविध विकल्पों और अनेक बोलियों को खूब सहन करती हैं।"[2] इसी विकल्प को भलीभांति न समझ पाने, अथवा स्वीकार न कर पाने के कारण पियर्स विलियम जेम्स के प्रति काफी कटु हो गया था और उसने 'प्रैग्मैटिज्म' शब्द का ही तिरस्कार कर दिया।

विलियम जेम्स इस तथ्य के प्रति पूरी तरह जागरूक हैं कि मानवीय क्रियाएँ, बहुत सही अर्थ में प्रतिक्रियाएँ, सप्रयोजन अथवा सोद्देश्य होती हैं। बिना किसी प्रयोजन के कोई भी व्यक्ति वस्तुओं अथवा वस्तु-परिवेश की ओर उन्मुख नहीं होता और विविध व्यक्तियों के प्रयोजन भिन्न हो सकते हैं।

---

1. "....and so many rival formulations are proposed in all the branches of science that investigators have become accustomed to the notion that no theory is absolutely a transcript of reality, but that any one of them may from some point of view be useful"—Ibid, p. 57.
2. "Their great use is to summarize old facts and to lead to new ones. They are only a man-made language, a conceptual short hand....in which we write our reports of nature; and languages, as is well known, tolerate much choice of expression and many dialects."—Ibid., p. 75.

अतः यह आवश्यक नहीं है कि सबके विचार, सिद्धांत अथवा सम्प्रत्यय, जो पुराने अनुभवों को संपुटित करने के उपाय हैं, एक हों। पियर्स की भाँति जेम्स का यह आग्रह नहीं है कि उन्हीं सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाय जिन पर वैज्ञानिक सहमत हों और उन्हें एक ही भाषा में सूत्रित किया जाय।

वह कहता है : "हम कहते हैं कि यह सिद्धांत उस सिद्धांत की अपेक्षा इसे अधिक संतोषप्रद रूप में हल करता है, किन्तु इसका अर्थ हुआ हमारे प्रति अधिक सन्तोपप्रद रूप में और सभी व्यक्ति सन्तोषप्रदता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर बल देंगे। इसलिए किसी हद तक यहाँ प्रत्येक वस्तु नमनशील है।"[1] तब क्या सत्य नितांत आत्मगत है, वस्तुगत कुछ भी नहीं ? विलियम जेम्स का संक्षिप्त उत्तर यही है कि 'शुद्ध वस्तुगत सत्य, जिसकी स्थापना में पूर्वानुभव के भागों को नवीन अनुभवांशों से संयुक्त कर, मानवीय सन्तोष प्रदान करने के निमित्त कुछ भी न किया गया हो, कहीं भी नहीं मिलता।'[2]

"प्रैग्मैटिज्म" में संग्रहीत सातवें व्याख्यान में, विलियम जेम्स ने अपने उक्त उत्तर की विस्तृत व्याख्या देते हुए बताया है कि 'सामान्य रूप में यथार्थ' वह है, जिसका विवरण सत्यों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है…………।[3] इस यथार्थ के तीन भाग होते हैं। प्रथम भाग—"संवेदनाओं का प्रवाह"[4] है। इन्हें ग्रहण करने में हम स्वतंत्र नहीं होते—"संवेदनाएँ हमसे बलात् उत्पन्न होती हैं, पता नहीं कहाँ से चली आती हैं। उनके स्वभाव, क्रम तथा परिमाण

---

1. We say this theory solves it on the whole more satisfactorily than that theory; but that means more satisfactorily to ourselves, and individuals will emphasize their points of satisfaction differently. To a certain degree, therefore, everything here is plastic."—Ibid., p. 61.
2. "Purely objective truth, truth in whose establishment the function of giving human satisfaction in marrying previous parts of experience with newer parts played no role whatever, is nowhere to be found."—Ibid., p. 64.
3. 'Reality' is in general what truths have to take account of;………"—Ibid., p. 344.
4. "The first part of reality from this point of view is the flux of our sensations."—Ibid., p. 244.

पर भी हमारा नियंत्रण नहीं के बराबर होता है। वे सत्य अथवा असत्य नहीं होतीं, वे सिर्फ होती हैं।"[1]

यथार्थ का दूसरा भाग संवेदनाओं अथवा हमारे मन में स्थित उनकी प्रतिकृतियों, के बीच प्राप्त होनेवाले सम्बन्ध हैं।[2] इन्हें दो उपभागों में बाँटा जा सकता है—1. आकस्मिक और परिवर्तनशील सम्बन्ध, जैसे तिथि, स्थान आदि; और 2. पदों के आंतरिक स्वभाव में स्थित सम्बन्ध जो स्थिर एवं सारभूत होते हैं।[3]

विलियम जेम्स किसी सीमा तक इन्हें वस्तुगत मानने के लिए तैयार हैं। किन्तु इनके प्रति भी हमारी प्रतिक्रियाएँ स्वेच्छित होती हैं—"संवेदनाओं को ले लीजिए। उनका होना हमारे नियंत्रण से परे है। किन्तु उनमें से किनको ओर हम ध्यान देंगे और किनपर हम अपने निष्कर्षों में बल देंगे, हमारे प्रयोजनों पर निर्भर है।"[4] सम्बन्धों की स्वीकृति में भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। "हम स्वाभाविक सम्बन्धों को भी फेंट डालते हैं और उनकी स्वतंत्रतापूर्वक व्यवस्था करते हैं।"[5] यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि

---

1. "Sensations are forced upon us, coming we know not whence. Over their nature, order and quantity we have as good as no control They are neither true nor false, they simply are"—Ibid., p. 244.
2. The second part of reality....is the relations that obtain between our sensations or between their copies in our minds."—Ibid., p. 244
3. "This part falls into two sub-parts—1. the relations that are mutable and accidental, as those of date and place; and 2. those that are fixed and essential because they are grounded on the inner natures of their terms."—Ibid., p. 244.
4. "Take our sensations. That they are undoubtedly beyond our control; but which we attend to, note, and make emphatic in our conclusions depends on our own interests." —Ibid, p. 245.
5. "We shuffle our perceptions of intrinsic relations and arrange them as freely."—Ibid., p. 247.

हम उन्हें किस क्रम में रखें, किस प्रकार उनका वर्गीकरण करें और उनमें से किसको प्राथमिकता दें जब तक कि वे तर्कशास्त्र, ज्यामिति अथवा अंकगणित का रूप न ले लें। इन सभी शास्त्रों के निर्माण में सम्बन्धों का आकार एवं क्रम मानव निर्मित होता है।[1]

किन्तु यथार्थ का एक तीसरा भाग भी है, जिसे विलियम जेम्स सम्पूर्णतः मानवीकृत मानते हैं। यह भाग पूर्ववर्ती सत्यों का है। इनकी ओर प्रत्येक नवीन पृच्छा को ध्यान देना पड़ता है।[2] हमें भूलना न चाहिए कि विलियम जेम्स, प्रथमतः अपने समय के एक बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक थे। उसी दृष्टि से वह ज्ञानात्मक प्रक्रिया समझा रहे हैं। जीवन का प्रत्येक पल नवीन प्रत्यक्षों से बनता है। इनमें क्या होता है? संवेदनाएँ और उनके सम्बन्ध। इन्हें समझने तथा अर्थ देने के लिए इन्हें पूर्वानुभव द्वारा निर्मित संप्रत्ययों के साथ समन्वित करना पड़ता है। इस प्रकार पूर्ववर्ती अनुभव के अंग बनकर नवीन सत्यों का भी मानवीकरण हो जाता है।[3]

मध्यस्थ विचारों की स्थापना :

यहीं पर पृच्छा या चिन्तन के ऊहापोह का स्थान है। नवीन तथ्यों के प्रत्यक्षीकरण अथवा निरीक्षण से जो विचार उत्पन्न होते हैं उनका पुराने

---

1. "We read them in one serial order or another, class them in this way or that, treat, one or the other as more fundamental, until our beliefs about them form those bodies of truth known as logics, geometrics, or arithmetics, in each and all of which the form and order in which the whole is cast is flagrantly man-made."—Ibid., p. 247.
2. "The third part of reality, additional to these perceptions (though largely based on them), is the previous truths of which every new inquiry takes account."—Ibid., p. 245.
3. "It is therefore only the smallest and recentest fraction of the first two parts of reality that comes to us without the human touch, and that fraction has immediately to become humanized in the sense of being squared, assimilated, or in some way adapted, to the humanized mass already there."—Ibid., p. 248.

विचारों अथवा सिद्धान्तों से विरोध होता है।[1] फलतः एक आन्तरिक द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, किन्तु वह उनमें आमूल परिवर्तन नहीं करना चाहता। यदि ऐसा किया जाता, तो प्रत्येक नवीन अनुभव के साथ पुराना अनुभव सम्पूर्णतः घुलकर साफ हो जाता और हम सदैव अजनबी संसार के सामने खड़े रहते। होता यही है कि कभी एक सम्मति बदली जाती है, कभी दूसरी। तब तक कोई ऐसा विचार सूझ जाता है जो प्राचीन विचार-समूह में न्यूनतम परिवर्तन के साथ सामंजसित हो जाता है। यह नवीन विचार प्राचीन और नवीन के बीच मध्यस्थ बन जाता है।[2] तब इसे सत्य मान लिया जाता है, क्योंकि वह हमें अपने दूसरे अनुभवों के साथ संतोषप्रद सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता करता है।[3]

विलियम जेम्स पुराने विचारों का तिरस्कार नहीं करता। उसका चिन्तन तथ्यात्मक है। हमारे जीवन में प्रतिदित इस प्रकार के तथ्य सामने नहीं आते जो कोई बहुत बड़ी वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर दें।[4] यदि ऐसा होने लगे तो किसी विचार या सिद्धान्त की पुष्टि का कोई साधन न रहेगा।

---

1. "The individual has a stock of old opinions already, but he meets a new experience that puts them to strain." —Ibid., p. 59.
2. "The result is an inward trouble from which he seeks to escape by modifying his previous mass of opinions. He saves as much of it as he can,....So he tries to change first this opinion, and then that (for they resist change very variously), until, at last some new idea comes up which he can graft upon the ancient stock with a minimum of disturbance to the latter, some idea that mediates between the stock and the new experience and runs them into one another most felicitously and expediently." —Ibid., —pp. 59-60.
3. "A new opinion counts as 'true' just in proportion as it gratifies the individual's desire to assimilate the novel in his experience to the beliefs in stock."—Ibid., 63.
4. "Day follows day, and its contents are simply added." —Ibid., p. 62.

कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई इतनी नवीन घटना सामने आ जाती है कि पुराने विचार एकदम डगमगा जाते हैं। विलियम जेम्स ने इस प्रकार की घटनाओं को उदाहृत करने के लिए 'रेडियम' की खोज की चर्चा की है। 'रेडियम' प्राप्त होते ही ऐसा लगा कि शक्ति के संरक्षण का पुराना सिद्धान्त खतरे में पड़ गया,[1] क्योंकि रेडियम अपनी जेब से अनिश्चित रूप से ऊष्मा देता चला जा रहा था।[2] किन्तु जब रैम्जे ने वह सुझाव दिया कि संभवतः रेडियम से प्राप्त होने वाली शक्ति अणुओं में पूर्वस्थित 'स्थानिक शक्ति' है, जिसका अभी तक पता न था तो इस प्रकार पुराने विचारों में थोड़े ही परिवर्तन के साथ शक्ति के संरक्षण का सिद्धान्त बच गया।[3] यदि ऐसा न करें तो उन तथ्यों को अस्वीकार करना होगा, जिनके आधार पर वह पुराना विचार अपनाया गया था। अपने विचारों का संक्षेप करते हुए विलियम जेम्स कहते हैं "मानवीय कारणों से उन्हें भी सत्य कहा गया था। उन्होंने भी अपने पुराने विचारों और उस समय के नवीन निरीक्षणों के बीच मध्यस्थता की थी।"[4]

इस अन्तिम कथन का आग्रह यह है कि हम किसी स्थापित विचार का उसके पुराने पड़ जाने पर भी सम्पूर्णतः तिरस्कार नहीं कर सकते। अभी विलियम जेम्स के साथ विचार करते हुए हमने देखा कि जीवन-संघर्ष में रत मनुष्य अपनी जीवनीय क्रियाओं को आगे बढ़ाने के अभिप्राय से अपने परिवेश

---

1. "Radium came the other day....and seemed for a moment to contradict our ideas of the whole order of nature,...to be identified with what is called the conservation of energy."—Ibid., p. 62.
2. "The mere sight of radium paying heat idefinitely out of its own pocket seemed to violate thet conservation."
—Ibid., p. 63.
3. "If the radiations from it were nothing but an escape of unsuspected 'potential energy', pre-existent inside of the atoms, the principle of conservation could be saved."
—Ibid., p. 63.
4. "They also were called true for human reasons. They also mediated between still earlier truths and what in those days were novel observations." —Ibid., p. 64.

को, अर्थात् सम्पर्क में आने वाले वस्तु-जगत् को, समझना चाहता है। इसी प्रयोजन को लेकर वह वस्तु-परिवेश का प्रत्यक्ष अथवा निरीक्षण करता है। इन प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं अथवा निरीक्षणों को वह अपने प्रयोजनों के अनुकूल अर्थ देना चाहता है। इस व्याख्या कार्य को सम्पन्न करने के लिए उसे संचित ज्ञान-भण्डार से सहायता लेनी होती है, अर्थात् पूर्वनिर्मित संप्रत्ययों के संस्थान की सहायता से नवीन प्रत्यक्ष की वस्तुओं की व्याख्या करनी पड़ती है। उसके नवीन प्रत्यक्ष दो प्रकार के हो सकते हैं। या तो वे 'दिन के बाद दिन'[1] ही आता है के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, और तब उनकी व्याख्या करने वाला कोई संप्रत्यय संचित ज्ञान-भण्डार या पुराने विचार-संस्थान में मिल जाता है। इस दशा में पुराने विचार नवीन प्रत्यक्षों की व्याख्या करते हैं, अथवा यह कहें कि नवीन प्रत्यक्ष पुराने विचारों का परीक्षण कर उन्हें पहले से अधिक पुष्ट कर देते हैं। स्थापित संप्रत्यय नवीन प्रत्यक्षों की व्याख्या देते हैं और नवीन प्रत्यक्ष स्थापित संप्रत्ययों को प्रमाणित करते हैं। दूसरे प्रकार के नवीन प्रत्यक्ष 'रेडियम' की खोज़ जैसे होते हैं और तब पुराने विचार-संस्थान में 'स्थानिक शक्ति'' का नया विचार जोड़ना पड़ता है, जो पुराने 'शक्ति-संरक्षण' के सिद्धान्त को थोड़ा विकसित कर देता है, मिटा नहीं देता। यदि रेडियम के व्यवहार की व्याख्या न करनी हो तो शेष अनुभवों की व्याख्या में पुराना सिद्धान्त अब भी सक्षम है। अतः, उन विचारों, विश्वासों अथवा सिद्धान्तों के सम्पूर्णतः तिरस्कार का कोई प्रश्न नहीं उठता : वह किसी दृष्टिकोण से अब भी सत्य है। नवीन विचार उससे अच्छा कहा जा सकता है, क्योंकि यह कुछ और तथ्यों की व्याख्या कर देता है। किन्तु नवीन विचार ने पुराने विचारों को सम्पूर्णतः खंडित नहीं कर दिया, केवल पुराने में थोड़ा विस्तार कर दिया है। अतः इसने जो मुख्य कार्य किया है, वह समन्वय का कार्य है—प्राचीन और नवीन के बीच समन्वय का कार्य।

जेम्स का अर्थ-क्रियावादी दृष्टिकोण :

विलियम जेम्स ने उपर्युक्त विवरण में चिन्तन-प्रक्रिया को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वही उनके मत से स्वाभाविक प्रक्रिया है। व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षण में वस्तुओं से टकराता है। उनके प्रति सफल क्रियाएँ करने के

---

1. "Truth is what we say about them, and when we say that they have come, truth is satisfied by the plain additive formula."—Ibid. p. 62.

प्रयत्न में संप्रत्यय का विकास हुआ है, जिससे वह अपने विशिष्ट अनुभवों को भावी प्रतिक्रियाओं के निमित्त सुरक्षित रख सके। जैसे-जैसे अनुभव आगे बढ़ता है, कुछ पुराने संप्रत्ययों की पुष्टि होती रहती है, कुछ में संकोच, विस्तार, संशोधन एवं परिवर्द्धन होता रहता है, किन्तु यह सब इस प्रकार से होता है कि स्थापित संप्रत्ययात्मक संस्थान अथवा ज्ञानभण्डार के विभिन्न भागों में संसक्तता बनी रहे। इस कार्य में सामान्य ज्ञान और विज्ञान का कोई अन्तर नहीं है।[1] अन्तर भिन्न प्रयोजनों के कारण भिन्न विषय-वस्तु के चयन और तदनुसार अधिक व्यापक संप्रत्ययों, अधिक संगठित सरलीकरणों के प्रयोग में हो सकता है। अतः चिन्तन का कार्य वास्तविक अनुभवों के आधार पर नवीन और प्राचीन में समन्वय[2] स्थापित करना तथा प्रयोजनों के उपस्थित होने पर स्थापित विश्वासों में से अधिक सफलता का आश्वासन देने वाले विश्वास का चयन,[3] करना है। जेम्स का अर्थक्रियावादी दृष्टिकोण इसके चयनात्मक एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण परस्पर सम्बद्ध हैं।

अर्थक्रियावादी के संस्थापकों ने इसके लिए कोई अपना स्वतन्त्र कार्यक्रम नहीं निर्धारित किया है। इतालवी विचारक पैपिनी के विचार की ओर संकेत करते हुए, विलियम जेम्स ने कहा है कि 'यह हमारे सिद्धान्तों के बीच उसी तरह स्थित है, जैसे किसी होटल का बरामदा"[4] अर्थात् जिसमें सभी

---

1. "Everywhere, these, teachers* say, 'truth' in our ideas and beliefs means the samething that it means in science." —Ibid., p. 58.

   * एफ० सी० एस० शिलर तथा जॉन ड्यूयी

2. "Being nothing essentially new, it harmonizes with many ancient philosophic tendencies. It agrees with nominialism for instance, in always appealing to particulars; with utilitarianism, in emphasizing practical aspects; with positivism in its disdain for verbal solutions, useless questions and metaphysical abstractions." – Ibid., pp. 53-54.
3. "The whole function of philosophy ought to be to find out what definite difference it will make to you and me, with indefinite instants of our life, if this world-formula or that world-formula be the true one."—Ibid., p. 50.
4. "As the young Italian pragmatist Papini has well said, it

कमरे खुलते हैं। तब फिर यदि किसी कमरे का चुनाव करना है, तो यही देखना होगा कि किसमें अधिक सुख-सुविधा है। अन्तिम रूप से भी किसी सिद्धान्त, विचार या मत को नहीं चुना जा सकता, क्योंकि सभी विचार निर्माणवस्था में ही रहते हैं। किसी दिये हुए समय में ही यह प्रश्न उठता है कि हम किस मत या सिद्धान्त का चुनाव करें और यह प्रश्न किसी प्रयोजन से प्रेरित होने पर ही उठता है। अतः प्रश्न का स्वरूप यह होता है कि 'वह क्या है जो हमें आगे बढ़ाने में सबसे अच्छा कार्य करेगा, जीवन के सभी भागों से क्या सबसे अधिक संगत है और अनुभव की वांछाओं के समुच्चय में से किसी भी उपेक्षा किये बिना सबसे अधिक सहयोग दे सकता है।'[1] इस प्रकार अर्थक्रियावादी चयन का आधार समन्वय की आकांक्षा है: अनुभव के विभिन्न अंशों में समन्वय।[2] अतः अर्थक्रियावादी विधि का हृदय इसका समन्वयवादी दृष्टिकोण है।

समन्वयवादी दृष्टिकोण :

विलियम जेम्स अपने अर्थक्रियावादी दृष्टिकोण को पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त रखना चाहते हैं। जीवन के विविध भागों को समन्वित करने में जो सबसे अधिक सहायता करने का आश्वासन दे, वही सत्य है जब तक कि कोई ऐसी घटना घटित न हो, जो किसी जीवन संबंधी प्रयत्नों में बाधक दिखाई दे।[3] इस सत्य के लिए जिसका चयन किया जाता है, आवश्यक नहीं है कि वह किसी विशिष्ट दर्शन-सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो। अर्थक्रियावाद स्वयं किसी विशिष्ट विचार की स्थापना का उत्तरदायित्व नहीं लेता। वह तो मात्र एक

---

lies in the midst of our theories, like a corridor in a hotel."—Ibid., 54.

1. ....what works best in the way of leading us, what fits every part of life best and combines with the collectivity of experience's demands nothing being omitted."—Ibid., p. 80.
2. "It means....that....ideas....become true just in so far as they help us to get into satisfactory relation with other parts of our experience....."—Ibid., p. 58.
3. "I said just now what is better for us to believe is true unless the belief incidentally clashes with some other vital benefit."—Ibid., p. 77.

विधि है[1] और विलियम जेम्स के दर्शन में, चयन की विधि अथवा मूल्यांकन की विधि। अतः, यह किसी भी उस विचार का चयन कर सकता है, जो इसके चयन के आदर्शों की पूर्ति कर सकता हो। ये आदर्श हैं अनुभव के एक अंग को दूसरे अंगों से संबद्ध करना अथवा समन्वित करना, तथ्यों को संतोषप्रद रूप में शृंखलित कर देना, निश्चित रूप से कार्यक्षम होना, प्रयत्नों को सरल एवं न्यून करना। कोई भी विचार वहीं तक सत्य अथवा चयन की वस्तु होगा जहाँ तक वह इन सब वांछाओं की पूर्ति करेगा। भविष्य के लिए वह मात्र एक आश्वासन हो सकता है, क्योंकि हमें अनुभव से ही ज्ञात है कि कभी भी कोई ऐसा तथ्य सामने आ सकता है जो हमें अपने विचारों में आंशिक संशोधन करने के लिए बाध्य करे। किन्तु तब तक कोई भी विचार जो उपयु क्त आदर्शों की पूर्ति करता है, सत्य माना जा सकता है; वह किसी भी विचारधारा से संबंधित क्यों न हो।[2]

विलियम जेम्स के चिन्तन में इस समन्वयवादी दृष्टिकोण के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। जैसे कहा जाता है कि अर्थक्रियावाद का बुद्धिवाद से विरोध है, किन्तु उक्त विरोध इतना ही है कि अर्थक्रियावादी संप्रत्ययों को तथ्यों से पृथक् स्वीकार नहीं करना। उसके लिए वे विशिष्ट तथ्यों के स्मरण के लिए 'संक्षेप लिपि' हैं[3] जबकि बुद्धिवादी संप्रत्ययों के अनुसार वस्तुओं का स्वभाव निर्धारित करने की आकांक्षा रखता है।

---

1. "At the same time it does not stand for any special results. It is a method only."—Ibid,, p. 51.
   (ii) "But, at the outset, at least, it stands for no particular results. It has no dogmas, and no doctrines save its method."—Ibid., p. 54.
2. 'Any idea upon which we can ride, so to speak; any idea that will carry us prosperously from any one part of our experience to any other part, linking things satisfactorily, working securely, simplifying saving, labour; is true for just so much, true in so far forth, true instrumentally." —Ibid., p. 58.
3. "Moreove, she (Pragmatism)* has no objection whatever to the realizing of abstractions, so long as you get about

कुछ उदाहरण हमारे सामने आ चुके हैं, जैसे आत्मगत और वस्तुगत सत्यों की समस्या। विलियम जेम्स का चिंतन मूलतः जैविक संप्रत्ययों पर निर्भर है। चिंतन का आधार मनुष्य है। उसमें संप्रत्यय की क्षमता इसलिए विकसित हुई कि वह परिवेश के प्रति उपयुक्त क्रियाएँ कर सके। चिंतन का स्वभाव करणात्मक[1] है। अतः वह मानवतत्व से शून्य नहीं हो सकता। किन्तु वस्तुगतता से भी मुक्त होना सम्भव नहीं है। मानवीय चिंतन संवेदनाओं द्वारा नियंत्रित होता है। 'सत्य वह है, जो हम उनके विषय में कहते हैं। अतः सत्य आत्मगत-वस्तुगत है। इस संदर्भ से जुड़े हुए तीन आवश्यक प्रसंग हैं—(क) संसार एक है अथवा अनेक, (ख) घटनाएँ निर्धारित हैं अथवा अनिर्धारित तथा (ग) सत्य और शुभ पृथक् हैं अथवा संबद्ध।

एक और अनेक की समस्या :

तथ्यों से दूर होकर अर्थक्रियावादी को बड़ी बेचैनी महसूस होने लगती है।[2] अतः कोई समस्या सामने आने पर वह तथ्यों की खोज करता है। इस प्रसंग में जब वह तथ्यों को खोजता है, तो सबसे पहले 'संसार' शब्द सामने पड़ जाता है। इसे प्रायः एकात्मक वाक्यों का उद्देश्य बनाया जाता है और यदि कोई कह दे कि 'संसार अनेक है' तो अद्वैतवादी चिल्ला उठेगा, "लो, अपने ही मुँह से अद्वैत स्वीकार करता है।" किन्तु, संप्रत्ययों का काम यही है—एक शब्द द्वारा अनेक वस्तुओं का संकेत करना। अनुभववादी बर्कले ने भी स्वीकार किया था कि अनेक विशिष्ट विचारों के प्रतीक बनकर शब्द सामान्य हो जाते हैं।[4] अतः

---

among particulars with their aid and they actually carry you somewhere."—Ibid., p. 72.

* यह कोष्ठक हमने जोड़ा है—लेखक।

1. Instrumental.
2. "Pragmatism is uncomfortable away from facts."—Ibid., p. 67.
3. "It is an odd fact that many monists consider a great victory scored for their side when pluralists say the universe is many. 'The Universe', they chuckle —....He stands confessed of monism out of his own mouth."—Ibid., p. 133.
4. "But is seems a word becomes general by being made the sign, not of an abstract general idea, but of several parti-

'संसार' शब्द एक होकर भी भेद सूचित करता है। एकता की स्थापना के लिए विविध वस्तुओं के बीच सम्बन्ध-सूत्र खोजने पड़ेंगे।

विलियम जेम्स ऐसे अनेक सम्बन्ध-सूत्रों को प्रस्तुत करता है, जो वस्तुओं को एक में बाँधने का प्रयत्न करते हैं। सबसे सरल सूत्र 'परिचय-संस्थान' है। ब्राउन जोन्स को जानता है और जोन्स राबिंसन को और यह सिलसिला यदि दूर तक बढ़ाया जा सके तो घर बैठे चीन की महारानी को संदेश भेजवाया जा सकता है। किन्तु इस प्रयोग में कहीं एक भी गलत आदमी चुन लिया गया तो सिलसिला टूट जायगा।[1] ऐसे ही और बहुत से संस्थान हैं, जैसे डाक-तार व्यवस्था आदि, जिनके द्वारा मनुष्य प्रतिदिन संसार को एक बनाने के प्रयत्न में लगा रहता है,[2] पर कोई ऐसा कृत्रिम संस्थान नहीं है, जो कभी भंग न हो।[3]

यह तो वस्तुओं के बीच बाह्य सम्बन्धों की बात थी। आन्तरिक सम्बन्ध खोजने के भी काफी प्रयत्न हुए हैं। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने सभी वस्तुओं का एक भौतिक उद्‌गम स्थान पा लेने के लिए जल, वायु, यहाँ तक कि अग्नि की प्राथमिकता पर भी विचार किया। अरस्तू ने अपने चार कारणों में वस्तुओं के प्रारम्भ को भी स्थान दिया। धार्मिक विचारधाराओं के विकसित

---

cular ideas, any one of which it indifferently suggests to the mind."—*Principles of Human Knowledge*, Fraser's Edition, p. 244.

1. "Thus men are joined in a vast network of acquaintanceship. Brown knows Jones, Jones knows Robinson etc.; and by choosing your farther intermediaries rightly you may carry a message from Jones to the Empress of China, ...But you are stopped short as by a non-conductor, when you choose one man wrong in this experiment." *Pragmatism*, p. 135.
2. "Human efforts are daily unifying the world more and more in definite systematic ways. We found colonial, postal, consular, commercial systems,...."—Ibid., p. 136.
3. "and there is no species of connexion which will not fail, if, instead of choosing conductors for it you choose non-conductors."—Ibid., p. 137.

होने पर वही स्थान ईश्वर की प्रारम्भिक कल्पना को दिया गया। किन्तु इन सब प्रयत्नों के विरुद्ध अणुवादियों के नित्य तथा आत्मनिर्भर अणुओं के सम्प्रत्यय तथा लाइबनिज के चिद्‌विन्दु-सम्बन्धी विचार उपलब्ध हैं।[1] अतः कारणात्मक एकता की स्थापना निर्विवाद नहीं है।

जातीय एकता[2] की कल्पना से भी कोई विशेष काम नहीं बनता, केवल तर्कशास्त्र सम्भव हो जाता है, क्योंकि यदि यह न मानें कि वस्तुओं का स्वभाव जैसा पहले था, वैसा ही आगे भी होगा, तो तार्किक चिन्तन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। पर, यह तो वैकल्पिक विचार है, अन्यथा नवीन विचारों की सम्भावना ही नहीं रह जाती। मान लें कि सजातीय वस्तुओं के वर्ग हैं, तो भी संसार की एकता स्थापित नहीं होती, क्योंकि वह तो तब होगी जब सभी वर्गों को एक मूल वर्ग में घटित कर सकें,[3] जो अर्थ-क्रियावादी दृष्टिकोण से निरर्थक होगा, क्योंकि प्रतियोगी सम्प्रत्ययों[4] में कोई तथ्यात्मक अन्तर्वस्तु न होगी।

इसी प्रकार प्रयोजनात्मक एकता का विचार[5] हमारे दैनिक कार्यों में किसी सीमा तक सहायता करता है। मनुष्य के बनाये हुए बहुत से संस्थान,

---

1. "Against this notion of the unity of origin of all things there has always stood the pluralistic notion of an eternal self-existing many in the shape of atoms or even of spiritual units of some sort."—Ibid., p. 139.
2. Generic unity : "With no two things alike in the world, we should be unable to reason from our past experiences to our future ones."—Ibid., p. 140.
3. "Absolute generic unity would obtain if there were one summum genus under which all things without exception could be eventually subsumed."—Ibid., p. 140.
4. " 'Beings', 'Thinkables', 'Experiences' would be candidates for this position."—Ibid., p. 140.
5. "An enormous number of things subserve a common purpose. All the man-made systems, administrative, industrial, military, or what not, exist each for its controlling purpose."—Ibid., p. 140.

जैसे शासन-तन्त्र, व्यावसायिक और सैनिक संस्थान, इसी पर आधारित हैं। किन्तु ये संस्थान भी सम्पूर्ण विश्व में एकता के साधन नहीं बनते। हमारे विविध प्रयोजन परस्पर विरोध करते हैं।[1] एक प्रयोजन के निरुपाधिक सम्प्रत्यय मनुष्यों के बीच वास्तविक एकता स्थापित करने में पूर्णतः सफल नहीं हो सकते, क्योंकि अभी तक इनके द्वारा सम्पूर्ण विश्व को एक मंडप के नीचे नहीं लाया जा सका।

यदि कहें संसार भावात्मक एकता द्वारा एक बन सकता है, तो भी अधिक सफलता की आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि 'संसार अधूरी कहानियों भरा हुआ है, जो एक दूसरे के समानान्तर चलती रहती हैं, किन्तु पता नहीं चलता कब शुरू हुई और कब खत्म हो गई।'[2] विलियम जेम्स इन्हें एक रस्से के रेशों की भाँति चौड़ाई में सान्तर और लम्बाई में निरन्तर अथवा संसक्त मानने के लिए तैयार हैं,[3] किन्तु अच्छा होता कि वह इस बात पर भी ध्यान देते कि रस्से के सभी रेशों की लम्बाई बराबर नहीं होती। सबके प्रारम्भ और अन्त पृथक् हैं। इसीलिए यथार्थवादी भारतीय सांख्य पुरुष-बहुत्व स्थापित करने के लिए बाध्य हुआ।

एक ज्ञाता के सिद्धान्त से सभी वस्तुओं और व्यक्तियों को एक विश्व में ग्रथित करना चाहें तो भी उससे अधिक सफलता नहीं मिलेगी जितनी भावात्मक एकता के विचार में विश्व की अगणित जीवन-गाथाओं को एक नाटक मानकर मिली थी। अधूरी कहानियों की भाँति, विविध मानवीय ज्ञाताओं के अधूरे ज्ञान सर्वोपरि ज्ञाता के ज्ञान में समाहित होकर भी उन्हें संपूर्ण विश्व का कोई चित्र न दे सकेंगे।[4] मानवीय ज्ञाताओं के पल्ले छोटी-छोटी एकताएँ पड़ेंगी; विश्व के उन भागों की जिन्हें वह जान सकेंगे।

---

1. "Our different purpose are also at war with each other."
   —Ibid., p. 141.
2. "The world is full of partial stories that run parallel to one another beginning and ending at odd times."
   —Ibid., p. 143.
3. "But the great world's ingredients, so far as they are beings, seem, like the rope's fibers, to be discontinuous crosswise, and to cohere only in the longitudinal direction."
   —Ibid., p. 144.
4. "I must therefore treat the notion of an All-knower simply

अतः विलियम जेम्स एक और अनेक विकल्पों को किसी निरुपाधिक अर्थ में स्वीकार नहीं करते। 'विश्व एक है', जहाँ तक हम उसे विभिन्न सम्बन्ध सूत्रों में ग्रथित पाते हैं—अनेक निश्चित संयोजकों के माध्यम से। वह एक नहीं भी है, क्योंकि हमें अनेक निश्चित वियोजक भी प्राप्त होते हैं। विश्व[1] न तो पूर्णतः एकाकार है, न पूर्णतः अनेकाकार।[2]

निर्धारण तथा अनिर्धारण :

घटनाओं के निर्धारण एवं अनिर्धारण का विवाद मूलतः उन विचारकों ने उत्पन्न किया है जो नैतिक कर्मों के लिए पुरस्कार तथा अनैतिक कर्मों के लिए दण्ड-विधान को सैद्धान्तिक बल देने का प्रयत्न कर रहे थे। अनिर्धारणवादी स्वतन्त्र संकल्प में विश्वास करते हैं और उनकी युक्ति यह है कि यदि मानवीय कर्ता अपनी ओर से कुछ नहीं करते, सभी कुछ पहले से निर्धारित है, वे केवल भूतकाल के आश्वासनों को ही आगे बढ़ाते हैं, तो फिर पुरस्कार या दण्ड किस बात का![3]

निर्धारणवादी इसके विरोध में कहते हैं, यदि स्वतन्त्र कर्म एक नवीन कर्म है, तो फिर यह व्यर्थ ही मेरे सिर बाँधा जाता है, क्योंकि इसे मेरे पूर्ववर्ती 'मैं' ने तो किया ही नहीं। मैं इसके लिए कैसे उत्तरदायी हो सकता हूँ।[4]

---

as an hypothesis, exactly on a par logically with the pluralist notion that there is no point of view, no focus of information extant, from which the entire content of the universe is visible." —Pragmatism, p. 146.

1. "The world is one', therefore, just so far as we experience it to be concatenated, one by as many definite conjunctions as appear. But then also not one by just a many disjunctions as we find."—Ibid., p. 148.
2. "It is neither a universe pure and simple nor a multiverse pure and simple." —Ibid., p. 148.
3. "If our acts were predetermined, if we merely transmitted the push of the whole past, the free-willists say, how could we be praised or blamed for anything." —Ibid., p. 117.
4. "If a 'free' act be a sheer novelty, that comes not from me, the previous me, but ex nihilo, and simply tacks itself on

मेरा कोई निर्धारित स्वभाव होगा तभी तो मैं दण्ड या पुरस्कार पाने तक ठहर सकूंगा ?[1]

इस प्रकार दोनों प्रकार के विचारक एक-दूसरे को दण्ड से मुक्त और पुरस्कार से वंचित कर देते हैं। विलियम जेम्स कहते हैं, जाने दो इन्हें। हम बिना इन सिद्धान्तों के ही पुरस्कार और दण्ड दे लेंगे। जो अच्छा काम करेगा उसे पुरस्कार देंगे और जो बुरा करेगा उसे दण्ड देंगे, चाहे उसने पूर्व-निर्धारित होने के कारण किया हो या स्वेच्छा से।[2] यह सामाजिक मामला है। इसे सीधे प्रवृत्ति और उपयोगिता के आधार पर तय कर लिया जा सकता है।[3]

निर्धारण और अनिर्धारण की समस्याओं पर विचार करने का एक और पहलू है—इन्हें सामान्य घटनाक्रम के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का। विलियम जेम्स यही कहते हैं। उनका कथन है कि हमें यह सोचने का पूरा अधिकार है कि सभी कुछ आमूल परिवर्तित नहीं होगा। अन्यथा, भविष्य पूर्णतः अपरिचित होगा। इस प्रकार विलियम जेम्स न तो संसार की घटनाओं को पूर्णतः निर्धारित मानते हैं, न पूर्णतः अनिर्धारित। अधिकांश निर्धारित मानते हुए भी, उन्नति और सुधार की आशाओं से वह इन्कार नहीं करते।[4]

---

to me, how can I, the previous I, be responsible ?"

—Ibid., p. 117.

1. "How can I have any permanent character that will stand still long enough for praise or blame to be awarded ?"

—Pragmatism p. 117.

2. "If a man does good acts we shall praise him, if he does bad acts we shall punish him,—anyhow, and quite apart from theories as to whether the acts result from what was previous in him or are novelties in a strict sense."

—Ibid., p. 118.

3. "Instinct and utility between them can safely be trusted to carry on the social business of punishment and praise."

—Ibid., p. 118.

4. (i) "Free-will pragmatically means novelties in the world, the right to expect that in its deepest elements as well as

अभी तक हमने जेम्स के अर्थक्रियावादी दृष्टिकोण का जितना अध्ययन किया है, उससे यह समझें हैं कि अर्थक्रियावाद, विचारों, संप्रत्ययों अथवा सिद्धांतों को कोई स्वतंत्र घटना नहीं मानता। चिंतन की मूल वस्तु जीवन है। जीवन-प्रक्रिया में संलग्न मनुष्य में चिंतन उसकी सहायता के लिए विकसित हुआ है। अतः यह मानने की कोई गुंजाइश नहीं है कि हम चिंतन द्वारा कोई ऐसा सत्य, निरपेक्ष सत्य खोज लेंगे, जो जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में काम देगा। हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण किसी न किसी अनुभव से संबद्ध होता है, अर्थात् पुराने अनुभव के आधार पर किसी एक वस्तु से किसी दूसरी वस्तु तक पहुँचने की क्रिया से। सत्य और असत्य का प्रश्न इसी यात्रा से सम्बन्वित है। यदि परिचित वस्तुओं के परिचय-सम्बन्धी विचार तथा अन्य वस्तुओं से उनके सम्बन्धों के विचार सत्य हैं, तो हम अपने प्रयोजनों से संबंधित वस्तुओं के बीच से होते हुए आगे बढ़ते जायेंगे।[1]

पीछे एक उदाहरण आ चुका है कि यदि ब्राउन जोन्स को, और जोन्स राबिसन को जानता हो और इसी तरह से परिचय का क्रम चीन की महारानी तक लगा हो तो संदेश अमेरिका से चीन तक बढ़ता चला जायगा। जहाँ तक संदेश आगे बढ़ता जायगा, व्यक्तियों और उनके बीच के सम्बन्धों के विचार सत्य सिद्ध होंगे। यदि एक भी व्यक्ति गलत हुआ तो संदेश वहीं रुक

---

in its surface phenomena, the future may not identically repeat and imitate the past. That imitation en masse is there, who can deny ?" —Ibid., p. 119.

(ii) "But nature may be only approximately uniform; persons in whom knowledge of the past has bred pessimism (........) may naturally welcome free-will as a melioristic doctrine." —Ibid., p. 119.

1. "They lead us, namely, through the acts and other ideas which they instigate, into or upto, or towards, other parts of experience with which we feel all the while—such feeling being among our potentialities—that the original ideas remain in agreement. The connexions and transitions come to us from point as being progressive, harmonious, satisfactory." —Pragmatism, p. 201.

जायगा। यहीं पर कोई असत्य विचार स्थित है, जो संदेश-वहन की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर देता है।

लगभग यही बात सभी अनुभव-प्रक्रियाओं के लिए सही है। ये सत्य विचार वे हैं, जो अनुभवों के क्रम को आगे बढ़ाते हैं, असत्य वे हैं जो इस क्रम को तोड़ देते हैं। अतः 'सत्य विचार वे हैं, जिन्हें हम आत्मसात् कर सकते हैं।'[1] इसी अर्थ में कहा जाता है कि 'सत्य विचारों की यथार्थ से सहमति होती है।'[2] अर्थात् उसकी सहायता से हम वांछित वस्तुओं को पा लेते हैं।[3] यहाँ हमें अपने सत्य सम्बन्धी विचार में थोड़ा संशोधन करने की आवश्यकता है। प्रायः यह माना जाता है कि जो विचार एक बार सत्य सिद्ध कर लिया गया वह हमेशा के लिए सत्य है। अर्थक्रियावादी जेम्स यह मानते हैं कि परिस्थितियों में थोड़ा भी उलटफेर होने पर वह असफल हो जायगा। अतः सत्य विचार बैंक के नोट की तरह साख पर चलते हैं, जब तक कोई उन्हें लेने से इंकार नहीं करता तब तक चलते रहते हैं।[4] जैसे, जंगल में चलते हुए कोई रास्ता भूल जाता है और वह गो-पथ को देखकर उसके अन्त में किसी घर की मानसिक प्रतिमा बनाता है, तो यदि उस गो-पथ पर चलते हुए उसे चिंतित घर मिल जाता है, तो उसके विचार का सत्यापन या प्रमाणीकरण हो जाता है।[5] अतः सत्य विचारों की सत्यता उपयोगी वस्तुओं अथवा शुभों की प्राप्ति से सम्बद्ध है। विलियम जेम्स

---

1. "True ideas are those that we can assimilate, validate. corroborate and verify."—Ibid., p. 201.
2. "—just such consequences, being what we have in mind whenever we say that our ideas 'agree' with reality.' Ibid., p. 201.
3. The possession of truth, so far from being here and end in itself, is only a preliminary means towards other vital satisfactions."—Ibid., p. 203.
4. "Truth lives in fact, for the most part on a credit system. Our thoughts and beliefs 'pass', so long as nothing challenges them just as bank-notes pass so long as nobody refuses them." —Ibid., p. 207.
5. Following our mental image of a house along the cow-path we actually come to see the house; we get the image's full verification. Ibid., p. 206.

का कथन है कि चाहे यह कहें कि 'यह उपयोगी है क्योंकि यह सत्य है' अथवा 'यह सत्य है क्योंकि यह उपयोगी है' कोई अन्तर नहीं पड़ता।[1]

किंतु हमें दूसरा ही वाक्य अधिक सही मालूम होता है, क्योंकि सत्य विचार एक ही बार सत्यापित हो जाने पर सदा के लिए सत्य प्रमाणित नहीं हो जाता। वह सदैव प्रमाणीकरण की प्रक्रिया के लिए प्रस्तुत रहता है।[2] विलियम जेम्स अपने इस विचार में भी बहुत कठोर नहीं हैं। वह यह स्वीकार करते हैं कि जीवन में अधिकांशतः ऐसे विचारों से काम पड़ता है जो प्रायः सही उतरते रहते हैं और ऐसे विचारों को प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।[3] बल्कि यह कहें कि निरन्तर प्रयोग में आने वाली वस्तुओं से सम्बन्धित विचार बराबर प्रमाणित होते रहते हैं, अतः उनके प्रति हमें संदेह नहीं होता और हम उन्हें पूर्णतः, अथवा अपने इन्द्रियानुभव द्वारा प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं समझते।

विलियम जेम्स ने कुछ अन्य स्थितियों का संकेत किया है, जिनमें भी प्रत्यक्ष प्रमाणीकरण की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे, "आप किसी वस्तु का मेरा प्रमाणीकरण स्वीकार करते हैं, किसी अन्य वस्तु का मैं आपका स्वीकार करता हूँ।"[4] इसी तरह 'हम एक दूसरे के सत्य पर चलते हैं।'[5] इससे जीवन में कुछ सुविधा भी होती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति पर प्रत्येक विचार के परीक्षण का भार आ पड़े तो कितना जीवन परीक्षण करते-करते बीत जायगा।

---

1. "You can say of it then either that 'it is useful because it is true or that 'it is true because it is useful.' Both these phrases mean exactly the same thing,...."—Ibid., p. 201.
2. "For one truth-process completed there are a million in our lives that function in this state of nascency."
—Ibid., p. 207.
3. "They turn us towards direct verification; lead us into the surroundings of the objects they envisage; and then, if every thing runs on harmoniously, we are so sure that verifications possible that we omit it, and are usually justified by all that happens."—Ibid., p 207.
4. "You accept my verification of onething, I yours, of another." —Pragmatism, p. 208.
5. "We trade on each other's truth." --Ibid., p. 208.

प्रमाणीकरण में कुछ न्यूनता इसलिए भी हो जाती है कि हमारे संसार की वस्तुएँ एकाकी न होकर जाति-वर्गों में बँटी हुई हैं। इसलिए एक प्रकार की वस्तु से सम्बन्धित विचारों का परीक्षण उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के लिए काम आता है।[1] तार्किक एवं गणितीय सम्बन्धों की स्थापना कर लेने से भी पूर्ण परीक्षण की प्रक्रिया न्यून हो जाती है। इन सम्बन्धों की स्थापना करने में वस्तुओं से संबंधित अमूर्त विचारों को संबद्ध कर लिया जाता है, अतः आवश्यकता होने पर नियमित सम्बन्धों से अनुसार विशिष्ट वस्तुएँ प्राप्त कर ली जाती हैं।[2]

अन्ततः विलियम जेम्स प्रमाणीकरण की प्रक्रिया को एक सामाजिक के रूप में देखते हैं। हम सभी मिलकर प्रमाणित विचारों का संस्थान निर्मित करते हैं।[3] यदि ऐसा न मानकर सभी कुछ स्वयं प्रमाणित करने का प्रयत्न करें, तो प्राचीन इतिहास का क्या होगा ? वर्तमान से संगत होकर ही भूतकाल प्रमाणित होता है।[4] अतः सत्य विचार वही हैं, जो हमें उपयोगी भाषिक तथा

---

1. Another great reason—beside economy of time–for waiving complete verification in the usual business of life is that all things exist in kinds and not singly."—Ibid., p. 208.
2. "We relate one abstract idea with another, framing in the end great systems of logical and mathematical truth. under the respective terms of which the sensible facts of experience eventually arrange themselves, so that our eternal truths hold good of realities also." Ibid., p. 210.
3. "All human thinking gets discursified; we exchange ideas; we lend and borow verifications; get them from one another by means of social intercourse. All truth thus gets verbally built out, stored up, and made available for every one." —Ibid., p. 214.
4. (i) "The overwhelming majority of our true ideas admit of no direct or face-to-face verification-those of past history, for example...."—Pragmatism, p. 214.

   (ii) "That Past time, itself was, is guaranteed by its

संप्रत्ययात्मक क्षेत्रों में ले जाते हैं तथा प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी ऐंद्रिक लक्ष्यों की प्राप्ति कराते हैं ।[1] विलियम जेम्स का विचार बहुत ही व्यापक है। वे सभी विचार सत्य हैं, जो जीवन धारा को आगे बढ़ाने में समर्थ हैं। प्रश्नचिह्न वहीं उपस्थित होता है, जहाँ विचार के कारण धारा अवरुद्ध होने लगती है। निरपेक्षवाद से उसका विरोध आमूल नहीं है। उन संप्रत्ययों की आवश्यकता को वह स्वीकार नहीं करते, जो वास्तविक तथ्यों की व्याख्या न करते हों। विलियम जेम्स निरुपाधिक रूप में न किसी विचार को स्वीकार करते हैं और न तिरस्कार ही। विचारों के सहारे जीवन-पथ पर चलना है। अतः आँखें खोलकर चलना होगा।

धर्म सम्बन्धी विचार :

विलियम जेम्स का यह विचार कि बँधे हुए सूत्रों से काम नहीं चलता, बल्कि प्रत्येक विचार का मूल्यांकन उसकी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार किया जाना चाहिए, धर्म के अन्तर्गत मोक्ष की समस्या को लेकर और अधिक स्पष्ट हो जाता है। सभी लोग मोक्ष चाहते हैं और इसीलिए धर्म की ओर अग्रसर होते हैं। कुछ मोक्ष की कठिनाइयों को देखकर बीच में ही बैठ जाते हैं और यह मान लेते हैं कि मोक्ष सम्भव नहीं है।[2] कुछ आशावादी यह मान कर चलते हैं कि मोक्ष, अवश्यंभावी है,[3] केवल किसी मोक्षदायक सूत्र को अपना लेना ही पर्याप्त होगा।

अर्थक्रियावादी दृष्टि इन दोनों के बीच की है—इसके अनुसार मोक्ष न तो असम्भव है और न अवश्यंभावी। वह सम्भव है।[4] इसका अर्थ यह है कि संसार

---

choherence with everything that's present, True as the present is, the Past was also."—Ibid., p 215.

1. "True ideas lead us into useful verbal and conceptual quarters as well as directly upto useful sensible termini." —Ibid., p. 215.
2. "Nevertheless there are unhappy men who think the salvation of the world is impossible. There is the doctrine known as pessimism."—Ibid., p. 285.
3. "Optimism in turn would be the doctrine that thinks the world's salvation inevitable."—Ibid., p. 285.
4. "Meliorism treats salvation as neither necessary nor impossible." —Ibid., p. 286.

के मोक्ष की कुछ उपाधियाँ उपस्थित हैं और यदि शेष उपाधियाँ भी घटित हो जायँ तो मोक्ष प्राप्त हो जायगा।[1] किन्तु, प्रश्न यह है कि ये पूरक उपाधियाँ कैसे उत्पन्न होंगी ? विलियम जेम्स का उत्तर है कि घटनाओं की मिली-जुली दशा में, अर्थात् साधक तथा अवरोधक परिस्थितियों के क्रम में, हमें सतर्क रहकर अपने मोक्ष का अवसर खोजना होगा। मौका मिला कि हम कूदे और निकल गये।[2]

इस प्रकार मोक्ष किसी नुस्खे पर निर्भर नहीं करता। आजीवन अवसर खोजते रहने और उपयुक्त कर्म करने से मोक्ष निर्मित होगा। इस दृष्टि के अन्तर्गत सामूहिक मोक्ष की बात नहीं आती। प्रत्येक व्यक्ति को अपना मोक्ष अर्जित करना होगा।[3] विलियम जेम्स उन लोगों को, जो आँख मूँद कर कोई धर्म अपना लेते हैं और समझते हैं कि अब मोक्ष उनकी पकड़ में है, दुर्बल मन वाला[4] समझते हैं। उनके हिसाब से मनुष्य को साहसी[5] होना चाहिए, और 'रचयिता के संकल्प से अपने संकल्प को जोड़कर मोक्ष का निर्माण करना चाहिए।[6] किन्तु सभी लोग ऐसे संसार को पसन्द नहीं करते, जिसमें सुरक्षा का अवसर संघर्ष पर निर्भर करता हो।[7]

---

1. "Some conditions of the world's salvation are actually extant....and should the residual conditions come, salvation would become an accomplished reality."
Pragmatism, p. 286.
2. "What now are the complementary conditions ? They are first such a mixture of things as will in the fullness of time give us a chance, a gap that we can spring into, and, finally, our act."....Ibid., p. 287.
3. "What we were discussing was the idea of a world growing not integrally but Piecemeal by the contributions of its several parts."—Ibid., p. 290.
4. Tender-minded.
5. Tough-minded.
6. "Add our fiat to the fiat of the creator."—Ibid., p. 291.
7. "For there are morbid minds in every human collection, and to them the prospect of a universe with only a fighting

इस प्रसंग में विलियम जेम्स का निर्णय यह है कि विश्वास तर्क द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता ।[1] प्रत्येक व्यक्ति को अपने मोक्ष के निमित्त अपने विश्वास का चयन करना होगा । भले ही इस दृष्टि से मोक्ष प्राप्त करना अवसर के उचित उपयोग और व्यक्तिगत प्रयत्नों पर निर्भर करे, किन्तु वास्तविक अर्थ-क्रियावादी वही है, जो कठिन विश्व को स्वीकार कर अपने मोक्ष का दायित्व अपने ऊपर लेता है ।[2]

विलियम जेम्स के दर्शन से अंग्रेज विचारक फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडले बहुत अप्रसन्न हुए थे और उन्होंने जेम्स को शाप दे डाला था कि 'उनका नाम चिन्तन के इतिहास में स्थान नहीं पायेगा ।' किन्तु, शाप उल्टा पड़ गया । आज कुछ पुराने विचारों के लोगों को छोड़कर ब्रैडले के 'न मालूम कैसे'[3] के दर्शन को कोई महत्त्व नहीं देता, जबकि विलियम जेम्स के दर्शन की आत्मा उन सभी स्थलों पर विद्यमान है, जहाँ जीवन को महत्त्व दिया जाता है, जहाँ सहिष्णुता और जनतान्त्रिक विचारों को प्रोत्साहन मिलता है ।

(2) फर्डिनैंड कैनिंग स्काट शिलर
(1864-1937)

विलियम जेम्स के दर्शन की गूँज यूरोप पहुँची और आक्सफोर्ड तक सुनाई दी ।[4] इस समय, शिलर एक ऐसे दर्शन की खोज में थे जो नैतिक प्रयत्न को आश्रय दे सके, अथवा कम से कम उसे पंगु तो न बनाए ।[5] उनका खयाल

---

chance of safety would probably make no appeal."

—Ibid., pp. 291-92

1. "In the end it is our faith and not our logic that decides such questions, and I deny the right of any pretended logic to veto my own faith."....Ibid., p. 296.
2. "It is then perfectly possible to accept sincerely a drastic kind of universe from which the element of 'seriousness, is not to be expelled, whoso does so is, it seems to me' a genuine pragmatist."....Ibid., p. 297.
3. 'Somehow'.
4. Varieties of Religious Experience.
5. "It therefore becomes an urgent need to find a philosophy which will support, or at least will not paralyse, moral effort."—Humanism, p. 5.

था कि 'सभी कारगर नैतिक प्रयत्न अन्ततः सम्पूर्ण जीवन के प्रति एक निश्चित अभिवृत्ति की मांग करते हैं।'[1] विलियम जेम्स की गिफर्ड व्याख्यानमाला के प्रकाशन से उन्हें वांछित दर्शन के प्रारम्भ का आश्वासन मिला और ह्यूमैनिज्म की भूमिका में उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि यदि अर्थक्रियावाद के विरुद्ध भ्रामक धारणाओं का निराकरण कर दिया जाय तो इससे बहुत लाभान्वित हुआ जा सकेगा।[2] इसी आशय से उन्होंने 'ह्यूमैनिज्म' में संकलित लेख प्रकाशित किये थे।[3]

अर्थ क्रियावाद के विरुद्ध मुख्य आक्षेप यह था कि यह शुद्ध बुद्धि के आदेशों को नहीं मानता। किन्तु शिलर शुद्ध बुद्धि के संप्रत्यय को ही भ्रामक मानता है।[4] वह पूछता है कि जीवन के अन्य क्रियाकलापों से पृथक् बौद्धिक व्यापारों का क्या अर्थ हो सकता है?[5] बुद्धि का विकास जीवनीय व्यापारों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए हुआ है।[6] अतः अर्थक्रियावाद का मुख्य उद्देश्य उन

---

1. "That all effective ethical effort ultimately demands a definite attitude towards life as a whole,...."—Ibid., p. 4.
2. "But Pragmatism is no longer unobserved; it has by this time reached the 'strike, but hear me! strange, and as the misconceptions due to sheer unfamiliarity are refuted or abandoned it will rapidly enter on the era of profitable employment." —Ibid., Preface, II, p. XIII.
3. "It was this latter probability which formed one of my chief motives for publishing these essays." —Ibid., Preface, II, p. XIII.
4. "I should rather say 'the traditional notion of beliefs determined by pure reason alone is wholly incredible, For is not "pure" reason a myth?"—Humanism, p. 7.
5. "How, that is, can we so separate our intellectual function from the whole complex of our activities, that it can operate in real independence of practical considerations?" —Ibid., p. 7.
6. "I cannot but conceive the reason as being, like the rest of our equipment, a weapon in the struggle for existence and a means of achieving adaptation."—Ibid., p. 7.

दार्शनिक प्रवृत्तियों का विरोध करना है, जो अपने चिन्तन और यथार्थ सम्बन्धी मतों में वास्तविक चिन्तन की प्रयोजनात्मकता को कोई स्थान नहीं देतीं और न जीती जागती वस्तुओं का जीवन के व्यावहारिक उद्‌देश्यों से कोई सम्बन्ध जोड़ती हैं।[1]

सच कहें तो अर्थक्रियावाद परम्परागत दर्शन का विरोध नहीं करता, बल्कि एक बहुत आवश्यक संशोधन प्रस्तुत करता है। यह मान लेना कि चिन्तन ही जीवन का ध्येय है, कोई वास्तविक उपलब्धि नहीं, भ्रम है। जीवन है, इसलिए चिन्तन करना पड़ता है, जीवन को किसी गन्तव्य तक पहुँचने में चिन्तन से सहायता मिलती है। किन्तु यह स्वीकार करते ही नीतिशास्त्र मुख्य और तर्क तथा तत्त्वविद्या उसके सहायक अंग बन जाते हैं।[2]

शिलर इसी प्रकार सोचता है और वह सत्य, यथार्थ तथा शुभ के सम्बन्धों के विचार में विलियम जेम्स से भी थोड़ा आगे बढ़ जाता है। विलियम जेम्स ने सत्य और शुभ को परिवर्तनीय माना था, किन्तु शिलर सत्य और यथार्थ को शुभ के अधीन मानता है। सत्य और यथार्थ का विचार उन्हीं को करना पड़ता है, जो किसी शुभ की प्राप्ति में संलग्न हैं। तभी यथार्थ और सत्य के प्रतियोगियों में से एक को चुनने का प्रश्न उठता है।[3] यदि कोई प्रयोजन न हो तो चयन क्या, किसी वस्तु को जानने और उसके सम्बन्ध में चिन्तन की आवश्यकता ही नहीं है।

यहाँ शिलर अनुभववादी विचारक बर्कले की भाँति सोचने लगता है।

---

1. "It is a systematic protest against the practice of ignoring in our theories of thought and Reality the purposiveness of all our actual thinking, and the relation ot all our actual realities to the ends of our practical life."—Ibid, p. 8.
2. "At a blow it awards to the ethical conception of Good supreme authority over the logical conception of True and the metaphysical conception of Real."—Ibid., p. 8.
3. "Our apprehension of the Real, our comprehension of the True, is always affected by beings who are aiming at the attainment of some Good, and Choose between rival claimants to reality and truth according to the services they render."—Hum anism, pp. 8-9.

हम सभी वस्तुओं को जानने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उन्हीं को जो हमारे किसी प्रयोजन की पूर्ति कर सकती हैं। इसीलिए, कितनी ही वस्तुएँ अज्ञात एवं अयथार्थ रह जाती हैं।[1] किन्तु इस प्रकार सोचने पर, सभी ज्ञान की वस्तुएं जो यथार्थ बनकर ज्ञान में सम्मिलित होती हैं, शुभ अथवा 'मूल्य' स्वीकृत होकर आती हैं।[2] इस प्रकार, मूल्य का संप्रत्यय यथार्थ अथवा तथ्य के संप्रत्ययों से अधिक आधारभूत ठहरता है और नीतिशास्त्र तत्त्वविद्या के लिए निर्णायक सिद्ध होता है।[3]

विलियम जेम्स के अर्थक्रियावाद में शिलर का यही मुख्य योगदान है। वह जीवन की सोद्देश्यता अथवा प्रयोजनात्मकता को सभी कर्मों में वितरित करता है, चिन्तन को कर्म का पूर्ववर्ती सहकारी तथा मूल्य के निर्णय को सत्य और यथार्थ के निर्णयों का निर्धारक मानता है और तर्कशास्त्र एवं तत्त्वविद्या को नीतिशास्त्र का पोषक। शिलर का ख्याल था कि वह दार्शनिक नवनिर्माण में जेम्स से आगे जा रहा था।[4] 'जीवन के शुभ का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के चिन्तन का विषय होना चाहिए।'[5] और इस विचार को दर्शन से उखाड़ फेंकना चाहिए कि उसकी थका देने वाली पारिभाषिकताएँ किसी व्यावहारिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं करातीं।[6]

---

1. "All other realities or aspects of Reality, which there is no attempt to know, necessarily remain unknown, and for us unreal, because there is no one to look for them."
—Ibid., p. 10
2. "Our 'Facts' when analysed turn out to be 'Values', and the conception of 'Value' therefore becomes more ultimate than that of 'Fact'.—Ibid., p. 10.
3. "If then there is no knowing without valuing, if knowledge is a form of Value, or,....a factor in a Good,....the foundations of metaphysics have actually been found to be in ethics."—Ibid., p. 10.
3. "But even Pragmatism is not the final term of philosophic innovation...."—Ibid., Preface, III, p. XIX.
4. "The final theory of life ought to be every man's concern' ...."—Ibid., Preface, p. XX.
5. "We can dispel the notion that the tiresome technicalities

इन परिणामों की ओर शिलर का झुकाव तभी हो चुका था जब उसने 'रिडिल्स आफ द स्फिंक्स' (1891) में यह स्थापित किया था कि दर्शन जो कि जीवन का सिद्धान्त है, व्यावहारिक विषय है, कोरा सैद्धान्तिक नहीं है।[1] उसको मानवतावाद की ओर मोड़ने में विलियम जेम्स का भी थोड़ा हाथ मालूम होता है, क्योंकि 'माइण्ड' के जनवरी, 1903 के अंक में 'व्यक्तिगत प्रत्यय-वाद'[2] की समीक्षा लिखते हुए जेम्स ने शिलर के मत को 'नररूपवाद' की संज्ञा दी थी, जिसे उपयुक्त न मानकर शिलर ने 'मानवतावाद'[3] पसन्द किया था। मानव केन्द्रित दर्शन के लिए यह शब्द कुछ अनुपयुक्त भी नहीं लगता और न मानव-केन्द्रित होना कोई दोष ही कहा जा सकता है, जैसा कि रेल्फ बार्टन पेरी ने 'आत्म केंद्रित पूर्वाग्रह'[4] कह कर सूचित किया है। यह आपत्ति तभी अर्थपूर्ण हो सकती है, जब हम पियर्स की भाँति चिन्तन के उचित या सत्य होने के लिए उसका 'निष्काम'[5] होना आवश्यक समझें। यदि नहीं तो स्वतंत्र अथवा शुद्ध बुद्धि तथा स्वतंत्र तर्क खंडित होकर अर्थक्रियावाद और मानवतावाद का खंडन करने में ही अक्षम हो जाते हैं। शिलर स्पष्ट रूप से कहता है कि मानवतावाद साधारण ज्ञान का दार्शनिकीकरण है और वह मनुष्य को उसी रूप में स्वीकार करता है जिसमें वह पाया जाता है और मनुष्य के अनुभव जगत् को भी अपने प्रकृत रूप में ही स्वीकार करता है।[6] इसके आगे अभी कुछ कहने की गुञ्जाइश

---

of Philosophy lead to nothing of the least practical interest—Humanism, Preface, p XX.

1. "Philosophy as the theory of life is a practical and not a speculative affair,...."—Metz : Hundred Years of British Philosophy, p. 455.
2. Personal Idealism.
3. Humanism.
4. 'Ego-centric Predicament.'
5. Disinterested.
6. Humanism, like Commonsense, of which it may fairly claim to be the philosophic working out, takes Man for granted as he stands, and the world of man's experience as it has come to seem to him."
—Humanism, preface, p. XXI.

नहीं है। यह दर्शन मनुष्य के चिन्तन तथा शुभाशुभ के निर्णय के अधिकारों की पुष्टि करता है।

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिलर के अर्थक्रियावाद में तर्क का कोई स्थान नहीं है, अथवा सत्य और भूल का कोई सिद्धान्त नहीं है। यह नवीन तर्क का ही प्रभाव है कि किसी सत्य को औपचारिक अथवा निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर उपलक्षण दोष[1], अथवा फल की स्वीकृति[2] का दोष होगा। अर्थक्रियावादी पुष्टि में सत्य भावी तथ्यों या घटनाओं के प्रति एक अपेक्षा व्यक्त करने वाला विचार है, जो उतना ही सत्य हो सकता है, जितना वह है, अथवा जितना उसे बनाया जा सकता है। विकासशील जगत् में, जहाँ सभी घटनाएँ सोपाधिक हैं, कोई भी सत्य की प्रतिज्ञा निरपेक्षतः किसी वांछित तथ्य तक नहीं पहुँचा सकती।[3] हम अनुसंधान और आविष्कार के जगत में रहते हैं।

3. जॉन ड्यूयी
(1859–1952)

जॉन ड्यूयी अमेरिका के वर्माण्ट नामक स्थान में 1859 में पैदा हुए थे। उसी वर्ष चार्ल्स डार्विन की पुस्तक 'द ओरिजिन ऑफ स्पिशीज' प्रकाशित हुई थी। अन्य अर्थक्रियावादियों की भाँति वह भी डार्विन के विकास-सिद्धांत से प्रभावित थे। उन्होंने 1910 में 'दर्शन पर डार्विन का प्रभाव'[4] शीर्षक से

---

1. "A premiss may be true in general and yet false for the special purpose in hand." (F. C. S. Schiller)—Hastings, Encyclo, Vol. X, pp. 1 + 9 – 50.
2. "Successful verification never amounts to 'valid proof', because it involves the formal defect of affirming the consequent". — Ibid., pp. 149-50.
3. "A bonafide truth-claim is supposed by its maker to be as true as he can make it at the time; but it may nevertheless fail subsequently and be declared false, nor is its formal truth-claim any protection against this fate." —Ibid., pp. 149-50.
4. Influence of Darwin on Philosophy and other Essays in contemporary Thought.

एक पुस्तक ही प्रकाशित की थी। चार्ल्स पियर्स के व्याख्यान उन्होंने 1882 में जॉन्स हॉप्किस विश्वविद्यालय में सुने थे, जहाँ उस समय वह शोध-छात्र थे। ड्यूयी पियर्स के दृष्टिकोण से काफी प्रभावित थे। इसीलिए अपने करणात्मकतावाद[1] में उन्होंने वैज्ञानिक विधि को एक निश्चित स्थान देने का प्रयत्न किया था। किन्तु विलियम जेम्स के साथ वह इस बात में सहमत हैं कि अनुसंधान और परीक्षण विधि को ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में प्रयुक्त किया जा सकता है।[2]

जॉन ड्यूयी को लम्बी आयु मिली थी। 1884 में उन्होंने जॉन्स हॉप्किस से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की और 1929 तक संयुक्त राज्य अमेरिका के मिनेसोटा, मिशिगन, शिकागो तथा कोलंबिया विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य किया। अध्यापकीय सेवाओं से निवृत्त होने के बाद भी उन्हें अपने अध्ययन, चिन्तन तथा लेखन कार्यों को जारी रखने के लिए तेइस वर्षों का लम्बा अवकाश मिला। वह चिन्तन के विविध विषयों पर एक बहुत बड़ा साहित्य छोड़ गये हैं, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में उनकी चार पुस्तकें बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती हैं—प्रयोगात्मक तर्कशास्त्र पर निबन्ध' (1916)[3] जिसमें एक निबंध है : 'व्यावहारिक से अर्थक्रियावाद का क्या अभिप्राय है[4] 'निश्चितता की खोज'[5] (1929), जिसके पहले अध्याय में परम्परागत दर्शन में सिद्धान्त और व्यवहार के पार्थक्य का कारण सांस्कृतिक धारणाओं का आग्रह बताया गया है। 'तर्कशास्त्र : पृच्छा का सिद्धान्त'[6] उन्यासी वर्ष की आयु में प्रकाशित यह पुस्तक उनकी काफी प्रौढ़ कृति है, जिसमें पृच्छा के स्वरूप तथा

---

1. Instrumentalism : कुछ लेखकों ने इसे 'निमित्तवाद' द्वारा सूचित किया है।
2. "Nothing is said about the nature of consequences; they may be aesthetic, or moral, or political, or religious in quality—anything you pleas. ("What Pragmatism Means by the Practical".)—American Philosophy in the Twentieth Century, p. 178.
3. "Essays in Experimental Logic."
4. "What Pragmatism Means by the practical."
5. "The Quest for Certainty."
6. "Logic : The Theory of Inquiry."

उससे सम्बद्ध समस्याओं का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है। और 'दर्शन में पुनर्रचना'[1] (1920) जिसे पढ़कर बहुत अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि अर्थक्रियावादी आन्दोलन केवल परम्परागत सिद्धान्तों के विरुद्ध न था, बल्कि दर्शन में कुछ मौलिक परिवर्तनों की माँग कर रहा था, जिसका कारण आधुनिक विज्ञान का परिप्रेक्ष्य था।

व्यावहारिक का अर्थ :

पीछे के विवरणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि अर्थक्रियावादी 'व्यावहारिक' पर बल देकर विश्रृंखल व्यवहारों का पोषण नहीं कर रहे थे। उनका कहना था कि ऐसे सत्यों का पोषण नहीं किया जा सकता, जो किसी क्रियात्मक व्यवहार द्वारा पुष्ट न हों। संसक्तता का दृष्टिकोण तो सभी अर्थक्रियावादी अपना रहे थे, क्योंकि असंसक्त होने पर सत्य का वैकल्पिक स्वभाव उसे कभी भी खतरे में डाल दे सकता है। किन्तु परम्परागत चिंतक जो व्यवहार को हेय समझने के आदी हो चुके थे, अर्थक्रियावाद को 'रोटी-और-मक्खन' का दर्शन कर रहे थे, भारतीय पदावली में, 'दाल-रोटी' का दर्शन। जॉन ड्यूयी ने इस प्रकार की समीक्षाओं का विरोध किया और कहा कि पियर्स या विलियम जेम्स का अभिप्राय दार्शनिक चिंतन को उपभोग की वस्तुओं तक सीमित करने का नहीं है। जब पियर्स व्यावहारिक परिणामों की ओर संकेत करते हैं तो उनका अभिप्राय चिंतन के परिणामों की जाँच के लिए ऐसी कसौटी खोजना होता है, जिससे मात्र भाषिक विवादों को शांत किया जा सके।[2] इसी प्रकार विलियम जेम्स जब सामान्य धारणाओं को 'दामों में भुनाने' की बात करते हैं, तो उनका अभिप्राय यही होता है कि विचारों को परीक्षण के योग्य विशिष्ट वस्तुओं में अनूदित किया जा सके। सिद्धांत की माँग केवल यह है कि चिंतन के परिणामों को किसी प्रकार वस्तु-व्यापारों से संबद्ध किया जाना चाहिए।[3]

---

1. "Reconstruction in Philosophy."
2. "When he refers to their empirical character it is only to indicate a criterion by which to avoid purely verbal disputes."—American Philosophy in the Twentieth Century, p. 179.
3. "When he said that general nations must "cash in", he meant of course that they must be translatable into verifiable specific things." —Ibid., p. 179.

चिंतन का करणात्मक स्वभाव :

इसी प्रसंग में जॉन ड्यूयी अपने करणात्मकतावाद का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए, उसे चिंतन और ज्ञान की प्रक्रियाओं का व्यवहारवादी सिद्धांत बताते हैं। इसके अन्तर्गत 'ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ कुछ करना है'।[1] ऊपर यह कहा जा चुका है कि अर्थक्रियावादी दृष्टि से जीवन-प्रक्रिया में संलग्न मनुष्य की सहायता के लिए चिंतन विकसित हुआ है। उसके सामने समय-समय पर विविध उलझनें, अथवा समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं और वह उनके हल खोजने के लिए बाध्य होता है। चिंतन मार्ग प्रस्तावित करता है। जॉन ड्यूयी ने अपनी एक अन्य पुस्तक, 'दर्शन में पुनः रचना'[2] में कुछ अन्य मानसिक प्रक्रियाओं की चर्चा की है, जो उचित समाधान न प्राप्त कर पाने की स्थिति में उलझनों से बचने का उपक्रम करती हैं। इनके अन्तर्गत बहुत-सी मानसिक अव्यवस्थाएँ,[3] भ्रम, हिस्टीरिया रोग आदि गिनाए जा सकते हैं। ये सभी तथ्य मानसिक व्यापारों के करणात्मक स्वभाव पर प्रकाश डालते हैं।

ड्यूयी ने अनेक सन्दर्भों में इस बात पर खेद प्रकट किया है कि विचारों के प्रयोजनात्मक व्यापार को परंपरागत दार्शनिकों में से न तो प्रत्ययवादियों[4] ने स्वीकार किया और न अनुभववादियों ने। प्रत्ययवादियों ने विचारों के रचनात्मक या संगठनात्मक स्वभाव को स्वीकार किया, किंतु वे यह न मान

---

1. "It means that knowing is literally something which we do...." —Ibid., p. 179.
2. Reconstruction in Philosophy (1920).
3. "According to modern psychology, many systematized delusions and mental disorders, probably hysteria itself, originate as devices for getting freedom from trouble some conflicting factors " (Reconstruction)–philosophy of Recent Times, Vol. II., p. 224.
4. 'The rationalist school....saw clearly that "facts" apart from ideas are trivial, that they acquire import and significance only in relation to ideas. But at the same time it failed to attend to the operative and functional nature of the latter."—American Philosophy to the Twentieth Century, p. 186.

सके कि भावी व्यापारों में उनका कोई सहयोग है। अनुभववादियों[1] ने उन्हें वस्तुओं की प्रतिकृति स्वीकार किया, किन्तु वे भी उन्हें किसी प्रयोजन के साधक व्यापार से संयुक्त न कर सके। ड्यूयी का कथन है कि दोनों ही प्रकार के दार्शनिक विचारों को स्थिर तथा अपरिवर्तनीय मानते हैं। इसीलिए उन्हें पृच्छा और निरीक्षण के मानसिक व्यापारों से पूर्व रखते हैं।[2]

विचारों का स्वभाव[3] :

ड्यूयी का अभिप्राय समझने के लिए यह भलीभाँति समझना पड़ेगा कि विचार नाटक के पात्रों की भाँति अनायास आते और जाते नहीं रहते, बल्कि तभी प्रस्तुत होते हैं, जब हम सक्रिय रूप से किसी समस्या से उलझते हैं, अथवा किसी अनिर्धारित परिस्थिति को निर्धारित परिस्थिति में बदलना चाहते हैं। ऐसा दशा में हम उस परिस्थिति में पाये जानेवाले कुछ तथ्यों का, जो निर्धारित हैं, निरीक्षण करते हैं, क्योंकि यदि कुछ इस प्रकार के तथ्य न हों, तो परिस्थिति को बदलने या समस्या हल करने की कोई योजना बन ही नहीं सकती। अब निरीक्षण से किसी संभावना का संकेत मिलता है। प्रथमतः यही विचार है, जिसके सहारे हम कोई व्यापार करते हैं और अनिरीक्षित तथ्य सामने आते हैं, विचार अथवा अन्तिम व्यापार-सम्बन्धी प्रस्ताव उत्तरोत्तर स्पष्ट होता जाता है और यह क्रम तब तक आगे बढ़ता रहता है, जब तक समस्या का हल नहीं निकल आता अथवा अनिर्धारित परिस्थिति नहीं ले लेती।

ड्यूयी की व्याख्या के अनुसार स्वतन्त्र विचार एक भ्रामक कल्पना है

---

1. "The traditional empiricistic theory reduced them....to mental copies of physical things and assumed that they were perse identical with ideas. Consequently it ignored the function of ideas in directing observation and in ascertaining relevant facts." —Ibid., p. 186.
2. "The common essence of all these theories, in short, is that what is known is antecedent to the mental act of observation and inquiry, and is totally unaffected by these acts, otherwise it would not be fixed and unchangeable." —The Quest for Certainty, Ch. I, p. 23.
3. Logic : The Theory of Inquiry, Ch. VI, pp. 104–107.

तथ्यों के निरीक्षण से विचार उत्पन्न होते हैं[1] और ये विचार एक साथ दो कार्य करते हैं। एक ओर तो किसी परिणाम की अपेक्षा करते हैं और दूसरी ओर किसी व्यापार का संकेत करते हैं, जिसके द्वारा उस परिणाम की प्राप्ति की संभावना हो।[2] संकेतित व्यापार किया जाता है, कुछ अभी तक अनिरीक्षित तथ्य भावी निरीक्षण के विषय बनते हैं। ये निरीक्षण विचार को और विकसित करते हैं, विकसित विचार पहले की अपेक्षा अधिक निश्चित व्यापार प्रस्तावित करते हैं।[3] इस प्रकार, विचार और निरीक्षण एक दूसरे से सहसंबंधित होकर समस्या के निर्धारण की ओर बढ़ते हैं—विचार हल प्राप्त करने की संभव विधि प्रस्तुत करते हैं जबकि निरीक्षण समस्या का स्थानीकरण करता है और विवरण देता है।[4]

पृच्छा में तर्क का स्थान :

चूंकि पृच्छा का कार्य समस्या का निर्धारण है और यह कार्य उपर्युक्त विधि से निरीक्षणों और विचारों के संयुक्त प्रयास से विकसित होता है, यह विकासोन्मुख प्रक्रिया ही पृच्छा है, जो वहीं अवरुद्ध हो जाती है, जहाँ किसी संकेतित अर्थ को तुरन्त स्वीकार कर लिया जाता है,[5] अर्थात् बिना संकेतित

---

1. 'The possible solution present itseif, therefore, as an idea, just as the terms of the problem (which are facts) are instituted by observation." (Logic : The Theory of Inquiry)—American Philosophy in the Twentieth Century, p. 185.
2. "Ideas are anticipated consequences (Forecasts) of what will happen when certain operations are executed under and with respect to observed conditions."
—Ibid., p. 185.
3. "Observation of facts leads to clearer ideas and they make operations more definite." Ibid., p. 185.
4. "In logical fact, perceptual and conceptual materials are instituted in functional correlativity with each other, in such a manner that the former locates and describes the problem while the latter represents a possible method of solution."
—Ibid., p. 185.
5. "When a sugested meaning is immediately accepted in-

अर्थ को व्यापार का प्रेरक बनाए हुए। इसे आगे बढ़ाने का उपाय तर्क करना है, जिसका अर्थ है 'अर्थ के रूप में अर्थ की परीक्षा करना।'

इस समस्या को थोड़ा और ऊपर से देखना होगा। किसी भी पृच्छा का प्रारम्भ तभी होता है, जब कोई समस्यात्मक परिस्थिति[1] सामने आती है। अर्थात् ऐसी परिस्थिति जिसमें कुछ तथ्य ज्ञात होते हैं, और कुछ अज्ञात।[2] ज्ञात तथ्य अज्ञात तथ्यों को समझने या जानने के लिए क्रियात्मक संकेत प्रस्तुत करते हैं और इन अर्थ-संकेतों की सामर्थ्य या प्रतिज्ञा की परीक्षा के लिए क्रिया या व्यापार किया जाता है। यह व्यापार संकेत को स्पष्ट करता है, जिसका अर्थ है कि साक्ष्य प्रस्तुत करता है, किन्तु व्यापार के माध्यम से हम अन्य तथ्यों के सम्पर्क में आते हैं। फिर कुछ अज्ञात अथवा अनिर्धारित तथ्य उद्घाटित होते हैं, और इसी प्रकार एक ओर प्राकृतिक ज्ञान बढ़ता जाता है और दूसरी ओर संप्रत्ययात्मक ज्ञान। किन्तु यह प्रक्रिया कम से कम दो अवस्थाओं में अवरुद्ध हो जा सकती है। एक यह कि अपेक्षित क्रिया या व्यापार इतने स्पष्ट हों कि उनकी उपेक्षा ही पर्याप्त साक्ष्य प्रतीत हो और दूसरी यह कि और आगे के आपादनों या अन्तर्भावों को हम न देख सकें। पहली अवस्था कुछ मान कर बैठ जाने की अवस्था है। इसी के कारण बहुत साधारण सिद्धान्त कभी-कभी एक जमाने तक अतर्कित रह जाते हैं। दूसरी अवस्था ही वास्तविक अवरोध का कारण है और इससे मुक्ति पाने का उपाय आपादनात्मक अनुमान है।[3] कोई अनिर्धारित आपादान सामने आते ही क्रियात्मक परीक्षण की आवश्यकता महसूस होगी और पृच्छा का मार्ग खुल जायगा।

ड्यूयी की पृच्छा प्रयोग शृंखला के साथ चलने वाला चिन्तन है। इसमें

---

quiry is cut short." —Ibid., p 187.

1. "A problem represents the partial transformation by inquiry of a problematic situation into a determinate situation."—(The Theory of Inquiry).—American Philosophy, p. 183.
2. "The conjunction of problematic and determinate chara-rcters in nature renders every existence, as well as evey idea and human act, an experiment *in* fact, though not in design."

—Experience and Nature (1925), p. 61.

3. "Thrrouhg a series of intermediate meanings, a meaning is

चिन्तन का कार्य समस्या को समझना, सम्बद्ध तथ्यों का निरीक्षण करना, निरीक्षित तथ्यों के आधार पर परिकल्पना बनाना और उसे सिद्ध करने के लिए प्रयोग का चयन करना तथा प्रयोगात्मक परीक्षा करना अर्थात् अपेक्षित परिणाम प्राप्त करना है। इसी प्रक्रिया का वह मानसिक विवरण प्रस्तुत करते हैं। कहें कि इसमें तर्क या युक्ति का कोई स्थान नहीं है, तो यह सत्य न होगा। चिन्तन क्रियात्मक व्यापारों के साथ चलता है, अतः वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता, निरोक्षणों से नियन्त्रित रहता है, किन्तु आपादनों का अनुमान करते रहना और तथ्यों को व्यवस्थित करने के लिए सम्बद्ध विचारों को शृंखलित करते रहना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा पृच्छा प्रक्रिया उत्तरोत्तर विकसित होकर वांछित परिणामों तक पहुँचेगी कैसे! यह बात अवश्य है कि इसमें आकारिक तर्क के निरुपाधिक निर्णयों की आवश्यकता नहीं है। यहाँ क्रिया को नियन्त्रित करने के लिए मूल्यात्मक निर्णयों की अधिक आवश्यकता है।[1]

क्रियात्मक सिद्धांत :

यह नहीं कहा जा सकता कि ड्यूयी ने अपनी पृच्छा के विवरण में विचारों को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया है। वे ही प्रयोगात्मक व्यापारों के मार्गदर्शक हैं। वे पहले संकेत के रूप में प्रस्फुटित होते हैं और बराबर दिशा-निर्देश करते रहते हैं, जब तक अपेक्षित परिणामों की प्राप्ति से पुष्ट होकर परिकल्पना सिद्धान्त में नहीं परिवर्तित हो जाती। तथ्यों से सह-सम्बन्वित होकर विचारों का, अथवा चिन्तन का, जो विचारों की व्यवस्था का यन्त्र है, मूल्य नहीं घटता। नियंत्रित चिन्तन का अपना महत्त्व है। किन्तु चिन्तन ही नियंत्रित नहीं होता। वह व्यापारों को भी नियन्त्रित करता है—अपने मार्गदर्शन द्वारा।

---

finally reached which is more clearly relevant to the problem in hand than the originally suggested idea. It indicates operations which can be performed to test its applicability,....In other words, the idea or meaning when developed in discourse directs the activities which, when excuted, provide needed evidential material."

—Ibid., p. 187.

1. "But to consider whether it is good and how good it is, is to ask how it, as if acted upon, will operate in promoting a course of action." (Theory of Inquiry)–American Philosophy, p. 194.

ड्यूयी का यह विचार क्रियात्मक सिद्धान्त[1] कहा जाता है। ड्यूयी तथ्यों को भी क्रियात्मक मानते हैं, क्योंकि वे निरीक्षण के व्यापारों से प्राप्त परिणाम ही बन कर नहीं रह जाते। उपलब्ध तथ्य प्रत्येक स्तर पर प्रतिक्रियाएँ करते रहते हैं। इसलिए व्यापार की दिशा के निर्देश में उनका भी योगदान होता है।[2] वे ही विचारों के साक्षी हैं और वे ही उन्हें सिद्ध अथवा प्रमाणित करते हैं।[3] चूंकि पृच्छा में प्रत्यक्षों और उनके संप्रत्ययनों के क्रियात्मक तथा प्रतिक्रियात्मक व्यापारों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वह सम्पूर्ण पृच्छा को ही क्रियात्मक मान लेते हैं।

जॉन ड्यूयी ने 1917 में अपने अर्थ-क्रियावाद को करणात्मक कहा था, किन्तु 1938 तक आते-आते उन्होंने क्रियात्मक सिद्धान्त अपना लिया। संभवतः दोनों में कोई विरोध नहीं है। परिणामों को वे अब भी विचारों का प्रमाण मानते हैं, किन्तु सिद्धान्त तो एक परिणाम से दूसरे परिणाम तक झूलता है,[4] जहाँ क्रिया है। अतः उनके सिद्धान्त को क्रियात्मक मानने से संभवतः करणात्मकता का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाता है।

सामान्य ज्ञान तथा विज्ञान :

ड्यूयी ने प्रयोग विधि को अपने दर्शन में पर्याप्त स्थान दिया है। किन्तु

---

1. "Ideas are operational in that they instigate and direct further operations of observations, they are proposals and plans for acting upon existing conditions to bring new facts to light and to organize all the selected facts into a coherent whole." —Ibid., p. 188.
2. "They are not merely results of operations of observation ...., but they are the particular facts and kinds of facts that we link up with one another in the definite ways that are required to produce a definite end." —American Philosophy, p. 188.
3. "Facts are evidential and are tests of an idea in so far as they are capable of being organized with one another." —Ibid., p. 188.
4. "But the vine of pendant theory is attached at both ends to the pillars of observed subject-matter." —Experience and Nature, p. 2.

सामान्य दैनिक व्यवहार में भी इसी विधि की व्याप्ति की कल्पना की है। सामान्य जीवन के अनुभवों से ही वैज्ञानिक विधि का विकास हुआ है, इसे ड्यूयो मानते हैं। पर, वह ऐसा भी नहीं मानते कि सामान्य अनुभव और विज्ञान, अथवा दर्शन में कोई अन्तर नहीं है। दैनिक जीवन में जो भी निरीक्षण-परीक्षण होता है, उसका सम्बन्ध अधिकतर उपभोग की वस्तुओं से होता है। अतः दैनिक जीवन का सम्प्रत्ययात्मक संस्थान विज्ञान की भाँति विशेषीकृत नहीं होता। सामान्य विचार संस्थान व्यावहारिक अधिक होता है, बौद्धिक कम।[1] इसका विकास समूहों के सांस्कृतिक जीवन-क्रम में, विविध परम्पराओं, व्यवसायों, तकनीकों, रुचियों तथा स्थापित संस्थाओं के माध्यम से होता है और यह ज्ञान समूह की सामान्य भाषा के माध्यम से वितरित होता है।[2]

विज्ञान, इसके विपरीत, अपनी विकसित विधियों द्वारा सम्बन्धों का संस्थान निर्मित करता है, वस्तुएँ गौण हो जाती हैं, अथवा साधनों के रूप में ही स्वीकृत होती हैं, और सम्बन्ध पृच्छा के विषय बन जाते हैं।[3] इस प्रकार विज्ञान को अनुच्चयात्मकता उसे दैनिक जीवन के अधिक तथ्यात्मक विचार-संस्थान से अलग कर देती है। ड्यूयो भी इसे स्वीकार करते हैं कि सामान्य दैनिक जीवन से विज्ञान में प्रवेश करने पर गुणात्मकता और प्रयोजनात्मकता पीछे छूट जाती है, अगुणात्मक तथा अप्रयोजनात्मक सम्बन्धों का संस्थान निर्मित

---

1. "They form a system but the system is practical rather than intellectual." —American Phil., p. 190.
2. "It is constituted by the traditions, occupations, techniques, interests, and established institutions of the group. The meanings that compose it are carried in the common everyday language of communication between members of the group." —Ibid., p. 190.
3. "In science, since meanings are determined on the ground of their relation meanings to one another, relations become the objects of inquiry and qualities are relegated to a secondary status, playing a part as far as they assist in institution of relations." —Ibid., p. 190.

हो जाता है।[1]

विलियम जेम्स और शिलर को भी इस स्थिति की चेतना थी। इसीलिए जेम्स ने प्रत्यक्षात्मक परीक्षण पर बल दिया और शिलर ने कहा कि अर्थक्रियावाद सामान्य अनुभवों का दार्शनिकीकरण है। किन्तु जॉन ड्यूयी ने यह स्वीकार करते हुए कि सामान्य अनुभव तथा वैज्ञानिक चिन्तन में मूर्त और अमूर्त का भेद है, आगे कुछ सोचने का मार्ग निकाला है। सामान्य मनुष्य के अनुभव तथा वैज्ञानिक अध्ययन की मूल सामग्री में कोई अन्तर नहीं रहता। भेद यह है कि सामान्य मनुष्य का ज्ञान विशिष्ट गुणों तक सीमित रह जाता है। अतः अनुभव की वस्तुओं को कोई व्यापक अर्थ नहीं मिल पाता। विज्ञान सम्बन्धों का अनुचय[2] करके व्युत्पन्न सम्बन्धों का संस्थान निर्मित करता है और जब वही वस्तुएँ इस संस्थान को दृष्टि से देखी जाती हैं, तो व्यष्टि न रहकर वे एक समष्टि का अंग बन जाती हैं और उन्हें पहले से अधिक व्यापक अर्थ प्राप्त हो जाता है।[3]

अर्थक्रियावादी दृष्टि के साथ किसी अनिष्ट अनुचयवाद[4] की सृष्टि का कोई भय नहीं, क्योंकि वह स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब अनुचयित विचार को उसके मूल वस्तु-सन्दर्भ से अलग कर लिया जाता है। यही सोचकर अंग्रेज अनुभववादी

---

1. There is a change "from qualitative and teleological to non-qualitative and non-teleological relations."
—Ibid., p. 191.
2. Abstraction.
3. "Directly, in immediate contact it may be just what it was before-hard, colourd, odorous, etc. But when the secondary objects, the refined objects, are employed as a method or road for coming at them, these qualities cease to be isolated details; they get the meaning contained in a whole system of related objects; they are rendered continuous with the rest of nature...."—Experience and Nature, p. 8.
4. "What is called false or vicious abstractionism signifies that the function of the detached fragment is forgotten and neglected so that it is esteemed barely in itself as something of a higher order than the muddy and irregular concrete from which it was wrenched."
—Reconstruction in Philosophy, pp. 124-25.

बर्कले ने अपने बन्धु जॉन लॉक के अनुचयित विचारों के मत का विरोध किया था। जॉन लॉक का ख्याल था कि बिना वस्तु-सन्दर्भ से मुक्त हुए विचार सामान्य नहीं हो सकते, किन्तु बर्कले ने सूचित किया कि विचारों की सामान्यता उनके व्यापक प्रयोग पर निर्भर है। जॉन ड्यूयी की क्रियात्मक दृष्टि से इन दोनों में कोई विरोध नहीं। अनुचय और सरलीकरण एक दूसरे के पूरक हैं।[1] अनुचय जिन विचारों को उनके विशिष्ट सन्दर्भों से मुक्त करता है, सरलीकरण उन्हें अन्यत्र प्रयुक्त करता है। अर्थक्रियावाद किसी भी स्तर के विचारों को अन्तिम नहीं मानता। वे वैकल्पिक तथा व्यावहारिक क्रियाओं द्वारा परीक्ष्य होते हैं, तो फिर वैज्ञानिक निष्कर्षों का तिरस्कार कर दर्शन को निम्नस्तरीय बनाने की क्या जरूरत।

मूलभूत सिद्धान्त : परिवर्तन

परम्परागत दर्शनों के पाठक को अर्थक्रियावादी विचार बहुत उल्टे-पुल्टे लग सकते हैं : कुछ भी स्थिर नहीं है। ऊँचे-से-ऊँचा विचार परीक्षा के लिए प्रस्तुत है। तब हमारे शाश्वत् नियमों, निरपेक्ष आदर्शों तथा परमशुभ के नैतिक प्रयासों का क्या होगा? किन्तु ये प्रश्न तभी उठते हैं जब हम हेराक्लितस पर पार्मेनिदिस की विजय स्वीकार करते हैं। 'पुनः-रचना' में जॉन ड्यूयी ने इसके विरुद्ध संकेत किये हैं। बहुत समय तक पार्मेनिदिस को ही जीता हुआ समझा जाता था, किन्तु आधुनिक विज्ञान ने विश्व के केन्द्र में स्थित अचला को केन्द्र से हटा कर चल कर दिया और अब भूमंडल स्वर्ग को परिधि से घिरा हुआ नहीं है।[2] वह खुला हुआ संसार है। आज के वैज्ञानिक की दृष्टि परिवर्तनों के पीछे छिपे हुए किसी स्थिर सत्य को नहीं खोजती।[3]

---

1. Abstraction and generalization have always been recognized as close kin....Abstraction sets free some factor so that it may be used. Generalization is the use."
—Reconstruction., p. 125.
2. "One important incident the new science was the destruction of the idea that earth is the centre of the universe. When the idea of a fixed centre went, there went with it the idea of a closed universe and a circumscribing heavenly boundary." —Reconstruction, p. 70.
3. "Modern science no longer tries to find some fixed form or essence behind each process of change."—Ibid., p. 101.

उसका ध्यान परिवर्तनों की ओर है, जो नवीन सम्भावनाओं, नवीन लक्ष्यों तथा किसी स्वर्णिम प्रभात का संकेत करते हैं। अब परिवर्तन का अर्थ पतन नहीं उन्नति है।

अतः अर्थक्रियावाद की माँग विश्व के स्वभाव-सम्बन्धी विचार में परिवर्तन करने की है : विश्व एक स्थिर सत्य नहीं, प्रक्रिया है। यह स्वीकार कर लेने पर परमार्थ, परमशुभ, निरपेक्ष, शाश्वत आदि स्थिर संप्रत्यय तथा उनके पोषक संस्थान निरर्थक सिद्ध होते हैं। किन्तु, उक्त दशा में दर्शन के लिए कोई कार्य बचेगा, अथवा नहीं ? बचेगा, ड्यूयी भी इसे मानते हैं।[2] काल्पनिक आदर्शों के फेर में न पड़कर, दर्शन इसी जगत् के उच्चतम सम्भव सामाजिक एवं नैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के प्रयत्नों में लगकर मनुष्य की बहुत सहायता कर सकता है।

●

---

1. "Change becomes signficant of new possibilities and ends to be attained; it becomes prophetic of a better future. Change is associated with progress rather than with lapse and fall." —Ibid., p. 102.
2. "Would it not encourge philosophy to face the great social and moral defects and troubles from which humanity suffers, to concentrate its attention upon clearing up the causes and exact nature of these evils and developing a clear idea of better social possibilities, in short upon projecting an idea or ideal which, instead of expressing the notion of another world or some far away unrealizable goal, would be used as a method of understanding and rectifying specificl social ills ?" Ibid., p; 10.7

11. कार्ल मार्क्स

(1818–1883)

दार्शनिक जगत् में मार्क्स के दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। यद्यपि अभी तक दर्शन के अध्ययन-अध्यापन में मार्क्स के दर्शन को उसका यथोचित स्थान नहीं मिल पाया है फिर भी अधुनातन शोधों से यह बात शनैः शनैः उभर कर सामने आ रही है कि यदि हमें 21 वीं॰ सदी के कगार पर खड़े मानव को अमानवीय स्थिति से मुक्त कराना है तो हमें मार्क्स के दर्शन की मूलधारा का भी अध्ययन करना होगा। यह आवश्यक नहीं है कि हम उनसे पूर्णतः सहमत हों।

मार्क्स का दर्शन चिन्तन मात्र नहीं है अपितु वह चिन्तन-प्रक्रिया का प्रयोग उन मूलभूत कारणों का विश्लेषण करने के लिए करता है जो मनुष्य की अमानवीय स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं तथा जिससे विश्व में परिवर्तन लाया जा सके एवं मानव अपनी समस्त गरिमा एवं उदात्तता के साथ जीवन व्यतीत कर सकें। "थीसिस आन फायरबाख" में मार्क्स की उद्‌घोषणा की कि अभी तक दार्शनिकों ने केवल विभिन्न ढंगों से विश्व की व्याख्या की है। जबकि आवश्यकता उसे परिवर्तित करने की है।[1] मार्क्स के दर्शन को उसके मूल रूप में समझने के लिए हमें दो बिन्दुओं को ध्यान में रखना होगा। प्रथम यह कि मार्क्स का प्रमुख उद्देश्य विश्व की व्याख्या प्रस्तुत करना नहीं था अपितु विश्व में परिवर्तन लाना था और द्वितीय यह कि परिवर्तन कैसा होना चाहिए? परिवर्तन सही दिशा में हुआ है या नहीं? इस सारे प्रश्नों का निर्धारण मानव की भौतिक स्थिति करेगी। यदि मानव की स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन नहीं आता है तो हम समाज में चाहे जो भी बाह्य परिवर्तन कर दें वह कुछ समय बाद समाज के लिए प्रतिगामी एवं अवरोधकारी सिद्ध होगा। सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप एवं दिशा ऐसी होनी चाहिए जिससे मनुष्य के एकाकीपन एवं अलगाव का अतिक्रमण हो सके एवं मनुष्य अपनी क्रियात्मकता[2] के केन्द्र में स्थापित हो सकें। हम तो यह समझते हैं कि मार्क्स का दर्शन "दर्शन के इतिहास" के अन्तर्गत मात्र अध्ययन का एक विषय नहीं है अपितु यह मानव की कालजयी सतत क्रियात्मकता

1. Marx-Engels, "The German Ideology" Moscow, Progress pub., 1976 p. 620.
2. Praxis.

से सम्बन्धित है जो निरन्तर हमें इस बात से अवगत कराता है कि मनुष्य अपना एवं प्रकृति का द्वंद्वात्मक निर्माण एवं विकास कैसे कर रहा है।

दर्शन का स्वरूप एवं कार्य

मार्क्स की दर्शन की अवधारणा दर्शन के परम्परागत स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। परम्परागत दर्शन के विरुद्ध मार्क्स की प्रमुख शिकायत यह है कि वह केवल विश्व की व्याख्या ही प्रस्तुत करता है अर्थात् पारम्परिक दर्शन के सभी प्रकार सैद्धांतिक समस्याओं तक ही सीमित रहते हैं और इसीलिए वे मनुष्य की भौतिक एवं सांसारिक समस्याओं का वास्तविक निदान प्रस्तुत करने में असफल रहे हैं। मार्क्स की यह स्थापना है कि यदि हमें मानव की सांसारिक समस्याओं का हल खोजना है तो हमें उन समस्याओं के उत्तरदायी भौतिक कारणों को खोजना होगा, क्योंकि बिना सही कारण जाने किसी रोग का इलाज नहीं हो सकता। मनुष्य अभी भी अमानवीय स्थिति जीने को अभिशप्त है, यह इस बात का प्रमाण है कि अभी तक इसके जो भी कारण दार्शनिक या अन्य स्तर पर खोजे गये वे वास्तविक एवं मूल कारण नहीं थे। मार्क्स का दर्शन, क्रियात्मक दर्शन है जो मानव की अमानवीय स्थिति का मूल भौतिक कारण खोज कर उसे परिवर्तित करना चाहता है। मार्क्स की ज्ञानमीमांसा एवं द्वंद्व न्याय का सिद्धांत उसकी अपनी दर्शन की विशिष्ट अवधारणा से निःसृत होता है।

ज्ञान की खोज एवं अभिलाषा से प्रेरित हो दार्शनिकों ने सत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयास किया। उनकी यह मान्यता थी कि सत्ता अपने मूल में शाश्वत् एवं अपरिवर्तनीय है तथा वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। इसे केवल शुद्ध बुद्धि, चेतना अथवा संबोध द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। इन दार्शनिकों ने विश्व के समस्त पदार्थों में से उन चीजों को अपकर्षित करने का प्रयास किया जो परिवर्तनीय थी। फलस्वरूप अपकर्षण की प्रक्रिया के उपरान्त उन्हें कुछ शाश्वत् कोटियों की प्राप्ति हुई, जो वस्तुतः विचार-सत्ता[1] ही थी। तत्पश्चात् उन्होंने यह उद्घोषणा किया कि यही शाश्वत् कोटियां या विचार सत्ताएँ ही जगत् के नानात्मक पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इन दार्शनिकों की यह भी मान्यता थी कि सत्ता का स्वरूप प्रत्ययात्मक है। फलतः दर्शन प्रमुखतः प्रत्ययों का अध्ययन मात्र ही रह गया था। जो दार्शनिक या दार्शनिक सम्प्रदाय प्रत्ययों एवं जगत् के नानात्मक पदार्थों की जितनी ही सुसंगत एवं तार्किक व्याख्या प्रस्तुत कर पाने में समर्थ होता वह उतना ही उच्च स्तर पर अपने को स्थापित कर पाने में समर्थ होता था।

1. Thought-entity.

दर्शन के उद्देश्य को परिभाषित करते हुए उसका कहना है कि 'दर्शन का अंत' ही उसका उद्देश्य है। "दर्शन के अन्त' का मार्क्स की पदावली में एक विशेष अर्थ है। इससे मार्क्स प्रत्यक्षवाद का समर्थन नहीं कर रहा है....अर्थात् वह यह नहीं कह रहा है कि ज्ञान को स्वतंत्र, निरपेक्ष शाखा के रूप में दर्शन के अस्तित्व की कोई आवश्यकता नहीं है, इसे विज्ञान के अधीन होना चाहिए।

प्रारम्भ में मार्क्स, कांट एवं फिक्टे के दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे लेकिन शीघ्र ही उनका झुकाव हीगल के दर्शन के प्रति हो गया। यद्यपि यह एक प्रकार के प्रत्ययवाद से दूसरे प्रकार के प्रत्ययवाद के प्रति झुकाव था लेकिन फिर भी यह झुकाव अथवा परिवर्तन अत्यन्त महत्वपूर्ण था। कांट एवं फिक्टे, दोनों ही आदर्श एवं यथार्थ 'चाहिए' एवं 'है' को काफी अलग मानते थे और दर्शन का संबंध प्रथम से मानते थे। लेकिन हीगल के प्रभाव के कारण मार्क्स ने 'आदर्श को यथार्थ में ही' खोजने का प्रयास किया।[1] हीगल ने अपने दर्शन में आदर्श एवं यथार्थ के बीच एकता स्थापित किया, जिसकी भिन्न व्याख्या ने उनके समर्थकों को दो ग्रुप में विभक्त कर दिया। उन लोगों को जिन्होंने यथार्थ पर बल दिया और कहा कि यही आदर्श है वे 'दाहिने हीगलवादी'[2] कहलाये। यह लोग परम्परावादी थे। उन लोगों ने जिन्होंने यह कहा कि यथार्थ, आदर्श को प्रतिरूप नहीं है वे 'बांयें हीगलवादी' कहलाये। ये लोग प्रगतिवादी विचार के थे एवं यथास्थिति से संतुष्ट नहीं थे। इनका घोषित उद्देश्य था आलोचना द्वारा दर्शन को अनुभूत करना, जिससे यथार्थ को आदर्श के अनुरूप बनाया जा सके।[3]

मार्क्स की यह स्थापना है कि यथार्थ एवं आदर्श के द्वन्द्व, को दार्शनिक स्तर पर मात्र आलोचना से दूर नहीं किया जा सकता। दार्शनिक फायरबाख की चर्चा करते हुए मार्क्स कहते हैं कि फायरबाख ने हीगल के दर्शन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य किया लेकिन वे शिकायत भरे स्वर में कहते हैं कि फायरबाख के दर्शन का क्षेत्र सीमित था क्योंकि वे, दर्शन को सामाजिक, राजनैतिक क्रिया या परिवर्तन का अस्त्र बनाने में असफल रहें। मार्क्स कहते हैं कि फायरबाख का यह विश्लेषण कि धार्मिक जगत् का वास्तविक

1. देखिए मार्क्स का पत्र, अपने पिता के नाम, दिनांक 10/11 नवम्बर 1837. उद्धृत Marx-Engels, collected works, Vol. 1, Progress Pub. 1975, p 18.
2. Right Hegelians.
3. Left Hegelians.

आधार धर्मनिरपेक्ष जगत् है, सही है लेकिन भौतिक जगत् से स्वतन्त्र धार्मिक जगत् के अस्तित्व की व्याख्या भौतिक जगत् से अन्तर्निहित विरोधाभासों एवं द्वन्द्वों से ही सम्भव है। अतः आवश्यकता भौतिक जगत् के विरोधाभासों एवं द्वन्द्वों को समझने की है और उसे व्यवहार में दूर करने की है। मार्क्स कहते हैं कि फायरबाख इस बात को समझने में असफल रहे कि धार्मिक भावना स्वयं में एक सामाजिक उत्पाद है और जिस अमूर्त व्यक्ति का विश्लेषण वे करते हैं वह एक विशिष्ट प्रकार के समाज से सम्बन्धित है।[1]

मार्क्स आगे कहते हैं कि यद्यपि फायरबाख धर्म आलोचना को उसके तार्किक परिणति तक में जाने में असफल रहे अर्थात् धर्म को एक सामाजिक उत्पाद के रूप में वे समझने में असफल रहे फिर भी उनके विश्लेषण का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है क्योंकि वह मनुष्य के भ्रम को तोड़ता है और उसे इस योग्य बनाता है कि वह यथार्थ को जैसे का तैसा स्वीकार करने में समर्थ हो सके क्योंकि जब तक ऐसा नहीं होता है मनुष्य एक कल्पना लोक के प्राणी के समान धार्मिक कल्पना जगत् में भ्रमण करता है।[2] मार्क्स कहते हैं कि धार्मिक जगत् की भ्रांति के उद्घाटन के पश्चात् दर्शन का कार्य भौतिक जगत् से सम्बन्धित भ्रम का उद्घाटन करना है।[3]

---

1. Feuerbach starts out from the fact of religious selfestrangement of the duplication of world in to a religious world and a secular one. His work consists in resolving. the relegious worked into its secular basis. But that the secular basis lifts off from itself and establishes itself as an independent realm in the clouds can only be explained by the inner strife and intrinsic contradictoriness of this secular basis." "Feuerbach failed to See", that the religous sentiment is itself a social product and that the abstract individual which he analyses belongs to a particular form of society. The German Ideology, pp. 616, 617.
2. Religion is only the illusory sun which revolves around man as long as he does not revolve around himself.' The Early Writing (Tr. by Rodney Living Stone, p. 244.
3. Ibid. p. 244. "It is the immediate task of Philosophy, which is in service of history, to unmask self-estrangment in its unholy forms once the holy form of human selfstrangment has been unmasked."

मार्क्स के अनुसार दर्शन जब भौतिक जगत् की वास्तविकता को अनावृत्त करने का प्रयास करता है तब उसकी स्वयं की प्रकृति भी अनावृत्त हो जाती है। दर्शन का स्वरूप, उसकी सत्यता का रहस्य राजनीति के विश्लेषण करने पर हमारे समक्ष उभर कर सामने आता है क्योंकि जगत् समाज एवं मनुष्य से सम्बन्धित दार्शनिक अवधारणाएँ एवं विचार किसी न किसी रूप में राजनैतिक प्रश्नों एवं उद्देश्यों से सम्बन्धित रहते हैं। मार्क्स की युवा हीगल वादियों के प्रति प्रमुख शिकायत यही है कि वे दर्शन की मूल अवधारणाओं पर आलोचनात्मक विचार किये बिना ही दर्शन को अनुभूत करना चाहते हैं। मार्क्स कहते हैं कि उनकी इस असफलता का प्रमुख कारण हीगल के दर्शन पर उनकी निर्भरता है। वे हीगल के दर्शन की जकड़न से अपने को मुक्त नहीं कर पाते।

इतना ही नहीं, युवा हीगल वादी दर्शन और समाज के बीच स्थापित द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को भी समझ पाने में असफल रहते हैं। यही कारण है वे हीगल के दर्शन को उसकी समग्रता में समझ पाने में असफल रहते हैं। यही कारण है वे हीगल के दर्शन को उसकी समग्रता में समझ पाने में असमर्थ रहते हैं। मार्क्स के अनुसार दर्शन का अतिक्रमण उसके अनुभूत किये जाने से ही सम्भव है। मार्क्स के दर्शन में सिद्धान्त एवं व्यवहार की एकता पाते हैं जिसके मूल में अतिक्रमणता की अवधारणा व्याप्त रहती है जो स्वयं में सिद्धान्त एवं व्यवहार, यथार्थ एवं आदर्श की एकता को समेटे हुए हैं और स्वयं में यह भूत एवं वर्तमान की मानवीय क्रियाशीलता में निर्धारित एवं नियन्त्रित होती है लेकिन इसकी दिशा भविष्य की ओर होती है। मार्क्स हीगल के दर्शन का विरोध इसी बिन्दु पर करते हैं और कहते हैं कि वह विकास के इसी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का नकार करता है इसलिए उसमें किसी मानवीय क्रियाशीलता के लिए न तो प्रोत्साहन ही रहता है और न ही सम्भावना। हीगल का दर्शन किसी भी मानवीय क्रिया की सम्भावना से इसलिए इंकार करता है क्योंकि वह इतिहास की पराकाष्ठा वर्तमान में कर देता है और 'इतिहास चक्र के अन्त' की उद्घोषणा कर देता है। इसलिए मार्क्स के लिए यह दिखाना अत्यन्त आवश्यक था कि कोई भी दर्शन किसी विशिष्ट परिस्थितियों में ही उत्पन्न होता है, वह अपने समय की भौतिक परिस्थितियों का प्रकाशन होता है।[1] मार्क्स कहते हैं कि किसी भी दर्शन के उद्भव

---

1. **Philosophers do uot spring up like mushrooms out of ground, they are product of their time, of their nation, whose most subtle valuable and invisible juices flow in the ideas of philosophy.**

की उत्तरदायी भौतिक परिस्थिति का विश्लेषण करने के उपरान्त ही हम उस दर्शन के वास्तविक एवं मूल आशय को जान सकते हैं। यदि हम किसी भी दर्शन को समझने का प्रयास मात्र दर्शन के आधार पर (भौतिक परिस्थितियों से पृथक्) करने का प्रयास करेंगे तब हम कभी उस दर्शन के वास्तविक अर्थ को नहीं समझ पायेंगे।

अतः मार्क्स यह उद्घोषणा करते हैं कि दर्शन का लक्ष्य स्वयं दर्शन की समाप्ति है अर्थात् व्यवहार में दर्शन को अनुभूत करने की[1] प्रक्रिया में दर्शन स्वयं अपना अतिक्रमण कर देता है।

मार्क्स द्वारा दर्शन के अन्त की उद्घोषणा वास्तव में परिकल्पनात्मक, व्यवस्थित एवं अमूर्त दर्शन के अन्त की घोषणा है। जब मार्क्स यह कहते हैं कि दर्शन का अन्त (उद्देश्य) उसका अन्त (समाप्ति) है तब इसका अर्थ यह नहीं है कि दर्शन का इस प्रकार लोप हो जाएगा कि मानों उसका कभी अस्तित्व ही न रहा हो। बल्कि उनका अभिप्राय यह है कि परम्परागत दर्शन की तकनीकी समाप्ति के उपरान्त भी दार्शनिक पद्धति, आलोचना एवं मूल को जानने की प्रवृत्ति विद्यमान रहेगी एवं चिन्तन में हमारा दिशा निर्देशन करेगी। मार्क्स कहते हैं द्वन्द्वात्मक न्याय की पद्धति में सतही ज्ञान एवं आभास को नष्ट करने एवं नकारने की शक्ति होती है जिससे कि हम सत्ता को आवरणों से रहित उसके मूल रूप से जान सकने में समर्थ होते हैं। इसी स्थिति में यह आश्वासन एवं सामर्थ्य प्राप्त होती है कि हम उस विश्व को परिवर्तित कर सकते हैं जो मानवीय शक्ति एवं सार के सम्पूर्ण प्रस्फुटन में अवरोध उत्पन्न करता है और तत्पश्चात् ही मानवीय सम्भावनाओं के अनन्त पुष्प, पुष्पित एवं पल्लवित हो सकते हैं।

इस प्रकार मार्क्स के दर्शन में हमें विशिष्ट भौतिक परिस्थितियों के ऊपर ही प्रत्ययों एवं विचारों की निर्भरता परिलक्षित होती है। हेगलीय प्रत्ययवाद के विरुद्ध इसमें विचारों, सिद्धान्तों एवं प्रत्ययों की स्वतन्त्र वस्तुगत सत्यता से इंकार किया गया है किसी विचार, सिद्धान्त अथवा प्रत्यय को हम मनुष्य एवं समाज के

Marx, Karl, "Leading article in no. 179 of Kolnische Zeitung" tn collected works. Vol. I, Progress Pub., Mascow, 1975, p. 195.

1. For a detailed discussion on this point see "The German Ideology". pp. 67-74.
   Also see The Review of Metaphysics. Dec. 1972, Vol-XXVI, no. 2, pp. 233-259.

सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में ही विश्लेषित एवं समझ सकते हैं और जैसे-जैसे मनुष्य अपनी क्रियात्मकता के द्वारा अपने एवं समाज में परिवर्तन करता है वैसे ही विचार, सिद्धान्त एवं प्रत्यय में भी परिवर्तन आ जाता है। कोई भी विचार एवं सिद्धान्त मात्र सैद्धान्तिक प्रतिपादन तक ही न तो सीमित रह सकते हैं और न ही सन्तुष्ट। उपरोक्त का अभिप्राय यह है कि मार्क्स के दर्शन में विचारों एवं संप्रत्ययों की प्राथमिकता के बजाय भौतिक परिस्थितियों की प्राथमिकता एवं महत्त्व है। वस्तुगत वास्तविकता भौतिक परिस्थितियों की है, विचारों एवं प्रत्ययों की नहीं। यही पारम्परिक दर्शन विशेषतः प्रत्ययवाद (आइडियालिज्म) से उसका विरोध है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पारम्परिक दर्शन (तत्त्वमीमांसा) का विरोध करते हुए मार्क्स दर्शन की नयी विधा का सूत्रपात कर रहे हैं। पारम्परिक दर्शन का विरोध तो तर्कीय प्रत्यक्षवादियों तथा अस्तित्ववादियों ने भी किया है लेकिन मार्क्स के विरोध का रंग दूसरा ही है। दर्शन न तो मात्र भाषा एवं पदों का विश्लेषण है (जैसा कि तर्कीय प्रत्यक्षवादी कहते हैं) और न ही मानवीय अस्तित्व तथा सत्ता एवं अनुभव की व्याख्या (जैसा कि अस्तित्ववादी तथा फेनामेनालाजोवादी कहते हैं), दर्शन प्रथमतः भौतिक परिस्थितियों एवं सामाजिक संरचनाओं को समझने और उन्हें परिवर्तित करने का साधन है।

'दर्शन के अन्त' की अपनी अवधारणा द्वारा मार्क्स सिद्धान्त एवं व्यवहार, विचार एवं क्रिया की एकता स्थापित करते हैं और एक के अभाव में दूसरे की एकांगिता एवं मूल्यहीनता पर बल देते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि विचार एवं सिद्धान्त का वह कौन सा स्वरूप है जो हमें क्रिया एवं व्यवहार करने को प्रेरित करता है ? स्पष्टतः दर्शन उसी समय एक भौतिक अस्त्र में परिवर्तित हो जाता है जब वह अपने समय की भौतिक परिस्थितियों को वास्तविक भौतिक रूप से परिलक्षित करने में समर्थ होता है। तभी उसकी जनसाधारण के ऊपर पकड़ बनती है[1] और ऐसा दर्शन ही जनसाधारण को यह आश्वस्त कर पाने में समर्थ

---

1. Theory also becomes a material force once it grasps the masses. Theory is capable of gripping the masses when it demonstrates *ad hominem*, and it demonstrates *ad hominem* as soon as it becomes radical. To be radical is to grasp things by root. But for man the root is man himself.

   Critique of Hegel's Philosophy of Right, Introduction in Early Writings, p. 251.

होता है कि वे अपनी क्रियात्मकता द्वारा अवरोधक या बाधक भौतिक परिस्थितियों को दूर कर अपनी वास्तविक मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। मार्क्स यह निर्विवाद रूप में स्थापित कर देना चाहते हैं कि मात्र क्रान्ति का विचार या दर्शन अपने में व्यर्थ है क्योंकि कोई भी क्रान्ति केवल विचारक या दार्शनिक के कलम से नहीं हो सकती। क्रान्ति के लिए आवश्यक है कि दर्शन या विचार जनसाधारण या सामान्य मनुष्यों का दर्शन या विचार हो जाय और वह उन्हें उनकी मुक्ति का रास्ता दिखायें। दर्शन को मानव की मुक्ति के व्यवहारिक भौतिक प्रयासों में एक ईमानदार, समर्पित पथ प्रदर्शक की भूमिका का निर्वाह करना ही होगा। केवल एक वास्तविक दर्शन या विचार ही हमें व्यवहार में दिशा निर्देशन कर सकता है और व्यवहार में ही उस दर्शन की कमियों एवं कमजोरियों का पता चलता है और उसे दूर किया जा सकता है। सर्वहारा की मुक्ति को दर्शन के अतिक्रमण एवं अनुभूति के साथ एकीकृत कर स्वयं मार्क्स ने अपने दर्शन को एक भौतिक शक्ति में परिणत कर दिया।

मार्क्स के दर्शन के स्वरूप के विश्लेषण दो विचार हमारे समक्ष उभर कर सामने आता है (1) दर्शन स्वयं में कुछ भी व्याख्या नहीं कर सकता, इतना ही नहीं उसकी स्वयं की व्याख्या उसके उद्भव की उत्तरदायी भौतिक परिस्थितियों से सम्भव है, (2) यदि दर्शन जनसामान्य के ऊपर अपनी पकड़ स्थापित कर ले तब वह एक भौतिक शक्ति हो जाने के कारण विश्व को परिवर्तित करने की सामर्थ्य रखता है। उपर्युक्त दोनों ही निष्कर्ष परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं और हमें यह निष्कर्ष निकालने को बाध्य करते हैं, मार्क्स का दर्शन के स्वरूप का विचार आत्मविरोधी है। लेकिन गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि दोनों पक्ष वास्तव में दो भिन्न एवं विरोधी विचार न होकर वास्तव में एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मार्क्स जब यह कहते हैं दर्शन कुछ भी व्याख्या नहीं करता तो यह बात उसने परिकल्पनात्मक एवं अमूर्त विचार या दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कही है जो यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि उसकी प्रतिस्थापनाएँ देशकालातीत एवं सार्वभौमिक हैं। जब किसी भी दर्शन के उद्भव को भौतिक परिस्थितियों से अलग रखकर समझने का प्रयास किया जाता है तभी वह कुछ व्याख्या करने में असमर्थ होता है। कोई दर्शन अपने उद्भव के विशिष्ट देशकाल के सन्दर्भ में ही वैधता एवं प्रामाणिकता रखता है। जब वह अपनी इस सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयास करता है तभी समस्या खड़ी हो जाती है। यदि दर्शन जनसामान्य के ऊपर अपनी पकड़ स्थापित कर लेता है तब वह मनुष्य को उसकी व्यवहारिक एवं क्रियाशीलता में दिशा निर्देशन कर भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन कर पाने में सक्षम एवं समर्थ होता है और तब यह मात्र

दर्शन या विचार नहीं रह जाता अपितु स्वयं वास्तविकता में परिणत हो जाता है। व्यवहार में यह न केवल अनुभूत हो जाता है अपितु इसका अतिक्रमण भी हो जाता है क्रिया के बिना विचार खोखला होता है और विचार बिना क्रिया अन्धी होती है—इस सनातन विचार को ही मार्क्स तर्कसंगत भौतिक एवं व्यवहारिक रूप में स्थापित करते हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आत्मनिर्भर, व्यवस्थित, शाश्वत अमूर्त एवं परिकल्पनात्मक दर्शन के लिए मार्क्स के दर्शन में कोई भी स्थान नहीं है। विश्व को परिवर्तित करने में जो भी दर्शन समर्थ हैं वही मार्क्स के अनुसार दर्शन के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

लेकिन इस दर्शन को भी हम दर्शन की परम्परागत परिभाषा के अन्तर्गत नहीं समझ सकते। इस दर्शन के लिए मार्क्स ने 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है। मार्क्स के अनुसार जहाँ परिकल्पना समाप्त होती है वही वास्तविक जोवन का प्रारम्भ होता है परिणामतः वहीं से व्यावहारिक क्रियाशीलता को निर्देशित करने वाले वास्तविक भावात्मक विज्ञान का प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में चेतना के बारे में खोखली प्रतिस्थापनाओं का अन्त हो जाता है और वास्तविक ज्ञान का जन्म होता है। ऐसी अवस्था में आत्मनिर्भर अमूर्त दर्शन हेतु कोई भी स्थान नहीं रहता है परम्परागत दर्शन अधिक से अधिक मनुष्य को ऐतिहासिक विकास-श्रृङ्खला के अवलोकन से प्राप्त अति सामान्य निष्कर्षों तक ही सीमित होता है। इन सामान्य निष्कर्षों का वास्तविक इतिहास से अलग कुछ भी मूल्य नहीं होता।[1]

विज्ञान की अवधारणा

दर्शन की उपरोक्त अवधारणा से यह स्पष्ट है कि मार्क्स एक ऐसे 'विज्ञान' को स्थापित करना चाहता था जो हमें क्रिया[2] में ले जा सके। बहुत से व्याख्या-

---

1. Where speculation ends, where real life starts, there consequently begins real, positive science, the expounding of the practical activity of the practical process of development of man. Empty phrases about consciousness end, and real knowledge has to take their place. When the reality is described, a self sufficient philosophy loses its medium of existence. The German Ideology, p. 43.
2. Praxis.

कारों एवं टीकाकारों का मानना है कि मार्क्स प्राकृतिक विज्ञानों के समान ही किन्हीं शाश्वत सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं प्रणयन करना चाहता है जिनकी सार्वभौमिक वैधता एवं मान्यता हो। लेकिन मार्क्स की विज्ञान की परिकल्पना एव प्राकृतिक विज्ञानों में विज्ञान को अवधारणा में जमीन-आसमान का अन्तर है। जे० बी० स्वाइटजर को दिनांक 24 जनवरी 1865 को लिखे पत्र में मार्क्स ने प्रूधों एवं अन्य कल्पनाशील दार्शनिकों की आलोचना करते हुए स्वयं द्वारा प्रयुक्त विज्ञान शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। मार्क्स कहता है कि प्रूधों इत्यादि दार्शनिक सामाजिक प्रश्नों के हक के लिए प्रागनुभविक सूत्र के रूप में तथाकथित विज्ञान की खोज करना चाहते हैं। ये लोग ऐतिहासिक आन्दोलन के आलोचनात्मक ज्ञान के द्वारा विज्ञान का विकास नहीं करना चाहते, इनके लिए विज्ञान वैज्ञानिक सूत्रों के आविष्कार तक ही सीमित है। मार्क्स के अनुसार ये लोग मनुष्य के मुक्ति के पथप्रदर्शक न होकर सूत्रों के प्रतिपादन तक ही अपने को सीमित रख लेते हैं।[1]

उपरोक्त पत्र में जिस विज्ञान की तरफ मार्क्स इंगित करना चाहते हैं वह परम्परागत विज्ञान की अवधारणा से भिन्न हैं। मार्क्स किसी भी समस्या के समाधान हेतु ऐतिहासिक आंदोलन का विश्लेषण करना चाहता है। किसी भी समस्या के हल के लिए मार्क्स का आग्रह उस समस्या के लिए उत्तरदायी मूल भौतिक शर्त का विश्लेषण करने से हैं क्योंकि उसका यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक किसी समस्या के मूल जड़ को भली-भाँति नहीं समझा जायेगा तब तक उसका सही निदान असम्भव है। इसी प्रसंग में अर्थात् मूल जड़ तक पहुँचने की प्रक्रिया के अर्थ में मार्क्स ने विज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। मार्क्स ने विज्ञान

---

1. Proudhon and other utopians "——are hunting for a so-called 'Science' by means of which they want to derive a-priori a formula for the 'Solution of social question insted of deriving their science from a critical knowledge of the historical movement, a movement which itself produces the material conditions of emancipation–Science for him reduces itself to the slender proposition of a scientific formula; he is a man in search of formula" Marx, Karl, "The Poverty of Philosophy" Moscow, Progress Pub., 1978, p. 183.

शब्द का प्रयोग किया है। मार्क्स के विज्ञान की अवधारणा को समझने के लिए आवश्यक है कि हम किसी समस्या एवं उसके लिए उत्तरदायी भौतिक अवस्था के बीच व्याप्त द्वंद्वात्मक सम्बन्ध को समझें। सर्वहारा की समस्या एवं आंदोलन की चर्चा करते हुए मार्क्स कहता है कि प्रारम्भिक अवस्था में जब समस्या और आंदोलन के रूप बहुत सुस्पष्ट नहीं थे गरीबी को मात्र गरीबी समझा गया उसमें छिपी क्रांतिकारिता को नहीं समझा गया। मार्क्स कहता है : जब गरीबी के साथ उसमें छिपी क्रांतिकारिता, जो गरीबी उत्पन्न करने वाली भौतिक परिस्थिति को उलट देने की सामर्थ्य रखती है, को हम समझ लेते हैं तब उसी क्षण से ऐतिहासिक आंदोलन से उत्पन्न एवं सम्बद्ध विज्ञान सैद्धान्तिक न रहकर क्रांतिकारी हो जाता है। दूसरे शब्दों में वह विश्व को परिवर्तित करने के हमारे व्यावहारिक प्रयासों का मार्गदर्शक एवं गवाह हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब हम द्वन्द्वात्मक अथवा आलोचनात्मक ढंग से किसी समस्या या स्थिति का विश्लेषण करते हैं तब हम पाते हैं कि नकारात्मक स्थिति में भी उसका एक भावात्मक पक्ष है। मार्क्स का विज्ञान भविष्य निर्माण में हमारी सहायता करता है। यह हमारे व्यवहार में सच्चे पथ प्रदर्शक के दायित्व का निर्वाह करता है। यह क्रांतिकारी विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित विज्ञान की अवधारणा अपने आप में विशिष्ट एवं अनूठी है क्योंकि उन्होंने कहीं भी शाश्वत, सार्वभौम एवं अमूर्त नियमों या सिद्धान्तों को न तो खोजने और न ही स्थापित करने का प्रयास किया है।[1] इसी सन्दर्भ में जार्ज लिचहीम ने कहा है कि प्राचीन समाज के भग्नावशेषों से यूरोपीय सामंतवाद के उद्भव को मार्क्स ने कहीं भी तार्किक अनिवार्यता नहीं माना है।[2] दूसरे शब्दों में लिचहीम यह कहना चाहते हैं कि मार्क्स ने यह कहीं

---

1. Marx, Karl, "Theories of surplus—value" Vol. I, Moscow, Progress Pub., 1975, p. 45.
   Here Marx has distinguished between twe types of law. (1) Material law (2) Abstract law, and he emphasizes the importance of material law in this concern and hope that we should not view any phenomena in isolation from the social condition in which they appeared.
2. It is by no means the case that the emergence of European feudalism from the wreckage of ancient society was treated by Marx as a matter of logical necessity.'

भी नहीं स्थापित किया है कि प्राचीन समाज के गर्भ से यूरोपीय सामंतवाद का जन्म होना ही था। मार्क्स ने उन टीकाकारों के प्रति जिन्होंने इसके ऐतिहासिक क्रम को तार्किक क्रम या अनिवार्यता के रूप में ग्रहण किया है, लिचहीम का कहना है कि उन्होंने मार्क्स के दर्शन-विज्ञान की अवधारणा को भली-भाँति और उसकी सम्पूर्णता में नहीं समझा है।

यहाँ यह उल्लेख करना अनिवार्य है कि मार्क्स के अनुसार होने वाली घटनाओं के 'सार' या आधारभूत कारणों का अन्वेषण एवं विश्लेषण विज्ञान का मूलभूत कार्य है। किसी भी वस्तु या घटना को उसकी सम्पूर्णता में उसके समस्त अंतर्निहित अनिवार्य सम्बन्धों के साथ समझने में विज्ञान हमारी सहायता करता है।[1] जब हम किसी वस्तु को उसके सम्बन्धों की बहुलता के अंतर्गत समझते हैं तभी हम उसके सार या आधारभूत सम्बन्ध को समझ पाने में समर्थ होते हैं और यही मार्क्स के विज्ञान का मूल मंतव्य है।[2] लेकिन मार्क्स यहीं पर हमें सचेत करते हैं। सार तत्त्व को खोजने या जानने का आशय यह नहीं है कि हम किन्हीं प्रागनुभविक, शाश्वत, अमूर्त, चिरस्थायी सार तत्त्व को खोजना चाहते

Lichtheim, George, 'On the interpretation of Marx's thought' in Marx and the western world, ed. Nicholas Lobkowicz (Notre Dam 1967), reprinted in Lichtheim, from Marx to Hegel (New York : Seabury 1974, p. 63-80.

1. 'The bourgeois economist whose narrow mind is unable to separate the from of appearance from the things that appears'—Marx Karl, Capital, Vol. I, Moscow, Pro. Pub. 1977, p. 533. On page 507 of the same book we find that bourgeois economists deals with 'phenomenal form' such as 'value and price of labour' 'a wages' while the science should discover the 'hidden substratum' the essential relations which are manifested in them. See also the Poverty of Philosophy, p. 98.
2. See the article by Manninem, Juha, entitled 'The dialectical method and its 'Rational Kernel' I, in Sosiologia, 1975, pp. 23-31 for the elaborate discussion of this point.

हैं। मार्क्स के विज्ञान की अवधारणा की एक सबसे महत्त्वपूर्ण अनिवार्य स्थापना यह है कि किसी भी वस्तु का सार या मूल तत्त्व परिवर्तनीय है[1] मार्क्स का विज्ञान "अपने-आप-में"[2] किसी अमूर्त दर्शन का भाग नहीं है। वास्तविक सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक घटनाओं के सन्दर्भ में ही इसे भली-भाँति समझा जा सकता है और उन्हीं के सन्दर्भ में इसकी पद्धतिमूलक वैधता होती है।[3] चूँकि प्रत्येक घटना या वस्तु का अलग-अलग सन्दर्भ या परिपेक्ष्य होता है इसलिए हमें उन सब घटनाओं को अलग-अलग उनके विशिष्ट सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करना होगा और सतह पर दिखाई देने वाली वस्तु के अन्दर दृष्टिपात करना पड़ेगा तभी हम सतह से नीचे आधार में छिपे हुए मूलतत्व या कारण को जान पायेंगे। मार्क्स का विज्ञान भूत तथा वर्तमान का विश्लेषण करने में समर्थ है और यह हमें सम्भाव्यः भविष्य का चित्र दिखाने में समर्थ है। प्रत्ययवादी दार्शनिकों, स्वप्नजीवी साम्यवादियों, बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के विपरीत मार्क्स प्रत्येक घटना या वस्तु के अन्तर्निहित सार को अलग-अलग मानते हैं एवं तदनुसार ही उसे मानने का प्रयास करते हैं। यही कारण है परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण एक ही घटना या वस्तु का अन्तर्निहित सार अलग-अलग होता है। इसीलिये मार्क्स ने स्वयं किसी वस्तु के सार को सपाट एवं सामान्य ढंग[4] से प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया है। मानव सार की चर्चा करते समय वे इसे कभी क्रिया, कभी सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर तो कभी मनुष्य द्वारा अभिगृहीत प्रकृति के सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं।[5] वास्तव में मनुष्य के सार को

---

1. This point is elaborated in the article by Nowak, Leszek entitled; 'On the structure of Marxist Dialectics' (an attempt towards a categorical interpretation) in 'Erkenntnis' 1977, 11, 3, Nov. pp. 341-363.
2. Of–itself.
3. For a detailed discussion of this point, see the article by Oittinen, Vesa, entitled 'Of the history of theory' in 'Sosiologia', 1975, 9, 1, pp. 32-33.
4. Marx himself never tries to depict the essence of any thing in a flat and general term.
5. In 'Economic & Philosophical manuscript–1844', Marx writes, 'The whole character of a species, its species character, resides in the nature of its life activity'. Early wri-

उसकी सम्पूर्णता में समझने के लिए सभी वर्णित उपादानों की आवश्यकता होती है।

जब हम यह भली-भांति समझ लेते हैं कि सतह पर दिखाई देने वाली वस्तुएँ एवं घटनाएँ वास्तव में अन्तर्निहित, आवृत्त धरातल, आधार, सार के परिणाम हैं, उनके आभास हैं। सार या आधार, शाश्वत न हों, परिवर्तनीय हैं, तब हम इस बात से आश्वस्त हो जाते है कि व्यावहारिक मानवीय प्रयासों द्वारा हम आधार, सार को परिवर्तित कर सकते हैं। इसी तथ्य को मार्क्स सबसे सशक्त रूप में स्थापित करते प्रतीत होते हैं जिससे कि शोषित, पीड़ित गरीबी में जकड़े हुए मानव-सर्वहारा वर्ग को विश्वास दिलाया जा सके कि वह अपने मानवीय प्रयासों द्वारा उस भौतिक परिस्थिति को बदल सकने में समर्थ है जो उसकी भौतिक दुर्दशा, अमानवीय दशा एवं कंगाली के लिए उत्तरदायी हैं। एल० कुगेलमान को 11 जुलाई 1868 के लिखे अपने पत्र में मार्क्स कहते हैं कि एक बार जब घटनाओं एवं उसकी उत्तरदायी परिस्थितियों के बीच सम्बन्ध को भली-भांति समझ लिया जाता है तब वर्तमान दशा के शाश्वत अस्तित्व की अनिवार्यता के ऊपर से विश्वास सबसे पहले उठ जाता है तत्पश्चात् व्यावहारिक रूप में उनका पतन सम्भव होता है।[1] जब हम किसी घटना या वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में प्रत्यक्ष करते हैं तब हमें आभासी, सतह पर दृश्यमान वस्तु या घटना एवं उसके अन्तर्निहित सार, आधार में स्पष्ट विरोध दिखाई पड़ता है। उदाहरण के जिस सतह पर हमें माल, पूँजी एवं धन एक वस्तु के रूप में प्रतीत होती है जबकि वास्तव में वे एक सामाजिक सम्बन्ध हैं।[2] मार्क्स कहते हैं कि यदि हम अपने दैनिक अनु-

---

tings–328.

In 'Theses on Feuerbach' he writes that the essence of man 'is the ensemble of the social relation', The German Ideology p. 616. Again in 'E. P M., he writes 'Man appropriates his integral essence in an integral way. 'Early writing p. 351.

1. 'Once the interconnection is grasped, all theoretical belief in the permanent necessity of existing conditions collapses before their collapse in practice.' Marx, Engels, 'Selected Works' Vol. II, Moscow Pro. Pub., 1976, p. 419.
2. For a detailed elaboration of this point by Marx, see the chapters 'Fetishism of commodities', 'Circulation', in Ca-

भवों के आधार पर वैज्ञानिक सत्यों को तौलेंगे तो वे सदैव विरोधाभास से युक्त प्रतीत होंगे क्योंकि अपने दैनिक अनुभव में हम वस्तुओं के आभासित स्वरूप को ही पकड़ पाते हैं।[1]

मार्क्स की विज्ञान की अवधारणा हमें बार-बार मूल सार की तरफ ले जाने का प्रयास करती है जिसमें कि हम सतह पर दृश्यमान वस्तु की छद्म वास्तविकता के चंगुल में न फँस सकें। यही कारण है कि मार्क्स का विज्ञान जहाँ प्राकृतिक विज्ञान की अवधारणा एवं प्रत्यक्षवाद से नितान्त भिन्न है वहीं पर यह हमें जगत् को परिवर्तित करने की मानवीय क्रिया में पथ प्रदर्शक का भी कार्य करता है। "जगत् को परिवर्तित करने" के स्थापित लक्ष्य से अलग हट कर अपने आप में इस विज्ञान का कोई भी अर्थ नहीं है। यही कारण है कि मार्क्स विश्व के सम्बन्ध में कोई नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने का दावा नहीं प्रस्तुत करते विज्ञान की यह विशिष्ट अवधारणा उसी समय तक वैध एवं विश्वसनीय है जब तक वस्तुओं का बाह्य आभासी स्वरूप और उसके अन्तर्निहित सार में एकरूपता नहीं हो जाती।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि मार्क्स ने अमूर्त एवं पूर्ण दर्शन (जैसे हीगल) की कटु आलोचना और किसी भी दर्शन के उद्भव को उस समय की भौतिक परिस्थितियों से इसलिए जोड़ा, जिससे कि वे निर्विवाद रूप से यह स्थापित कर सकें कि कोई भी दर्शन शाश्वत नहीं है और न ही पूर्ण सत्य को उद्घाटित करता है इतना ही नहीं जब हम यह जान लेते हैं कि कोई भी दर्शन अपने समय की माँग से उत्पन्न होता है तभी हम यह आस्वस्त होते कि यदि उस दर्शन को अनुभूत कर लिया जाए तो उसका अतिक्रमण हो जाता है। मार्क्स ने हीगल के दर्शन एवं सामान्य दार्शनिक चेतना की आलोचना तत्कालीन जर्मन सामाजिक एवं राजनैतिक दशा की अबौद्धिकता[2] को प्रकट करने के लिए किया

---

pital, Vol. I and chapter on money in 'Grundrisse' (Trans. by Martin Nicolous) Great Britain, Penguin Books, 1975.

1. 'Scientific truth is always paradox, if judged by every day experience, which catches only the delusive appearance of the thing.' Marx karl, 'Wages, Price and Profit', in selected works, Vol. III, p. 54.
2. Irrationality.

था। उसका प्रयास इन लोगों को जबरदस्त चोट पहुँचाना था और एक क्षण के आत्मतोष को उनके लिए कष्टदायक बनता था[1] यदि दार्शनिक चेतना की कटुतम कठोर आलोचना नहीं की जाएगी तो हम कभी भी वर्तमान दशा की अबौद्धिकता को नहीं पहचान पायेंगे। मार्क्स को विज्ञान की अवधारणा वर्तमान राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक वास्तविकता की अबौद्धिकता को उद्घाटित करने का भावात्मक कार्य करती है। मार्क्स का विज्ञान हमारे सामान्य दृष्टिकोण की सत्यता के भ्रम को तोड़ता है क्योंकि प्रायः हम सामान्य दृष्टिकोण को ही सत्य मान लेते हैं। जबतक यह भ्रम नहीं टूटता तब तक हम अबौद्धिक स्थिति, दशा को अबौद्धिक स्वीकार करने को भी नहीं तैयार होते क्योंकि हम अबौद्धिकता के आदी हो चुके होते हैं।[2]

मार्क्स की विज्ञान की विशिष्ट अवधारणा हमारे सामान्य दृष्टिकोण की सत्यता के भ्रम को तोड़ता है और हमें वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था की अबौद्धिकता के प्रति सचेत करता है एवं अवगत कराता है जहाँ पर प्रत्येक वस्तु उल्टी अवस्था में या रहस्य से युक्त हैं। यह हमें उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराकर यह आशा करता है कि हम अपने व्यावहारिक प्रयासों द्वारा उनसे संघर्ष करें एवं परिवर्तित करें।

---

1. His aim was 'to hit' them and did not 'permit the German a single moment of self-deception or resignation. The actual burden must be made even more burden some by creating an awareness of it. The humiliation must be increased by making it public .-Critique of Hegel's Philosophy of right-introduction, in Early writings, p. 247.
2. The reconcialation of irrational forms in which certain economic relations appear and assert themselves in practice does not concern the active agents of these relations in their every day life. And since they are accustomed to move about in such relations; they find nothing strange therein. A complete contradiction offers not the least mystery to them. They feel as much at home as a fish in water among manifestations which are separated from their internal connections and absurd when isolated in themselves, what Hegel says with reference to certain

क्रिया की अवधारणा

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मार्क्स का विज्ञान एक ज्ञानमीमांसा नहीं है जो सतज्ञान की कसौटी एवं स्वरूप को परिभाषित करती है बल्कि वह मानवीय क्रिया में मार्गदर्शक की भूमिका का निर्वाह करता है। लेकिन अपने इस कार्य में भी वह वास्तविक की कोई प्रागनुभाविक रणनीति नहीं निर्धारित करता। अर्थात् विज्ञान वास्तविक क्रिया के पूर्व हो उस क्रिया के स्वरूप लक्षण इत्यादि के बारे में कुछ भी नहीं बता सकता। अतः हम इसे क्रिया का दर्शन भी नहीं कह सकते हैं।

मार्क्स की क्रिया की अवधारणा प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् हैं :

सर्वप्रथम क्रिया इंद्रिय जगत् की पुनर्स्थापना करती है क्योंकि मानवीय क्रिया का कोई भौतिक आधार, मंच होना चाहिए।[1] इसी बिंदु पर मार्क्स द्वारा भौतिकवाद एवं प्रत्ययवाद की आलोचना के कारणों का रहस्य भी छिपा है। "थीसिस आन फायरबाख" में मार्क्स कहते हैं कि सभी पूर्ववर्ती भौति वादों की प्रमुख त्रुटि यह है कि उन्होंने वस्तुओं तथा वास्तविकता को या तो वस्तुओं या विचार के आकार रूप में समझा, वे इसे मनुष्य की ऐंद्रिक क्रियाशीलता के रूप में समझ पाने में असमर्थ रहे। भौतिकवाद के विपरीत प्रत्ययवाद ने अमूर्त ढंग से क्रिया पक्ष को विकसित किया क्योंकि वह वास्तविक मानवीय क्रिया के स्वरूप को नहीं समझ पाती है।[2]

---

mathematical formulas applies here : that which seems irrational to ordinary common sense is rational and that which seems rational to it is itself irrational. Capital Vol. III, p. 779.

1. Lefebvre, Henri, 'The sociology of Marx', London, Allen Lane, the Penguin Press, 1968 (trans. by Norbert Guterman), pp. 25-58.
2. '....the chief defect of all previous materialism (that of Feuerbach included) is that things (Gegenstand) reality, sensuousness are conceived only in the form of the object or of contemplation but not as sensuous human activity, practice, not subjectively. Hence, in contradistinction to materialism the active side was setforth abstractly by idealism-which, ofcourse does not know real, sen-

परम्परागत दार्शनिक भौतिकवाद भौतिक वस्तुओं की तत्वमीमांसीय सत्ता को स्वीकार करती हैं। वह यह मानती है कि मन, चेतना एवं विचार भौतिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित है। भौतिक वस्तुओं की सत्ता विचार से स्वतंत्र होती हैं। केवल इसी बिन्दु पर मार्क्स भौतिकवाद का समर्थन करते हैं। लेकिन वे विचार को भौतिक प्रक्रिया के स्तर तक ही सीमित नहीं करते। इसलिए मार्क्स के भौतिकवाद को अवव्याख्यावाद (रिडक्शनिज्म) नहीं रहा जा सकता।[1] इस बात में कोई शंका नहीं है कि विचार अपने उद्भव एवं अस्तित्व के लिए भौतिक प्रक्रिया पर निर्भर करते हैं लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वे उनके समान हैं। विचार एवं उसको उत्पन्न करने वाली भौतिक प्रक्रिया—इन दोनों को मार्क्स विषम कोटि का मानते हैं। मार्क्स की यह सुस्पष्ट स्थापना है कि भौतिक वस्तुएँ मानवीय क्रिया द्वारा अपने वस्तुगत स्वरूप को प्राप्त करती है। वस्तुएँ अपनी वस्तुत्व हेतु मानवीय क्रिया पर निर्भर होती है। मार्क्स दुःख के साथ कहते हैं कि भौतिकवाद सत्ता, वास्तविकता के इस आत्मनिष्ठ पक्ष में समझ पाने में पूर्णरूपेण असफल रहा है। भौतिकवाद की यह असफलता उसकी ज्ञानमीमांसा में प्रतिबिम्बित होती है। मार्क्स कहते हैं कि भौतिकवाद जब भौतिक वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार कर लेता है और उनके बारे में ज्ञान एवं विचार को ऊपर आश्रित मानता है तब उसके समक्ष विचार या ज्ञान की वैधता की समस्या खड़ी होती है। परम्परागत भौतिकवाद विषयी एवं विषय के एकात्मक सम्बन्ध को समझ पाने में असफल रहा है। इतना ही नहीं वह उन दोनों के बीच एक ऐसी खाई खोद देता है जिसे कभी भी भरा नहीं जा सकता। यही कारण है कि यह ज्ञान की सम्भावना की व्याख्या नहीं कर पाता। मार्क्स की यह दृढ़ मान्यता है कि विषयि एवं विषय का अमूर्त द्वैतवाद मानवीय क्रियाशीलता अज्ञानता पर आधारित है। विषयि एवं विषय को तत्वमीमांसीय विभेद के कारण भौतिकवाद, अनुभववादी ज्ञानमीमांसा को स्वीकार करती है जिसकी

---

suous activity as such. Feuerbach wants sensuous object, really distinct from conceptual objects, but he does not conceive human activity itself as objective activity. Hence he does not grasp the significance af 'revolutionary'. or 'practical-critical' activity". German Ideology, p. 615.

1. See Edgley, Roy's essay entitled 'Philosophy in 'Marx' : The first hundred years' edited by David McLellan, Great Britain, Fontana, Paperbacks 1983, p. 265.

तार्किक परिणति संशयवाद में हो जाती है।

विषयि एवं विषय के तत्वमीमांसीय विभेदों को मार्क्स पूर्णरूपेण नकारते हैं और कहते हैं कि उनके बीच द्वंद्वात्मक सम्बन्ध होता है। विषयि के स्थान पर वे मनुष्य को एवं विषय के स्थान पर प्रकृति को रखते हैं। प्रकृति में मनुष्य[1] पद मार्क्स के अनुसार दोनों के बीच के सम्बन्ध की सही-सही व्याख्या करता है। मनुष्य अपनी उत्पादक क्रिया द्वारा प्रकृति का अधिग्रहण अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु करता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया में मनुष्य व्यावहारिक रूप से वस्तुगत जगत का निर्माण करता है। अर्थात् प्रकृति में आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करता है। इसी प्रक्रिया में स्वयं मनुष्य की प्रकृति भी निर्मित एवं परिवर्तित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य इस सांसारिक रंगमंच का केवल लेखक मात्र न होकर इसका अभिनेता भी है। अतः भौतिकवाद की मान्यता कि मनुष्य (विषयि) का सीधा सम्बन्ध भौतिक वस्तु (विषय) से होता है और उसको चेतना में वस्तुएँ निष्क्रिय रूप से प्रतिबिम्बित होती हैं, त्रुटिपूर्ण हैं और मानवीय व्यक्तित्व के साथ न्याय कर पाने में असमर्थ हैं।

द्वितीय मार्क्स स्वीकार करते हैं कि हीगलीय ज्ञानमीमांसा, भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा की तुलना में सुसंगत एवं तर्कपूर्ण है। जैसे हीगल ने विषयि एवं विषय के द्वैत को नकारा। हीगल चेतना के अतिरिक्त किसी की भी सत्ता नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार वस्तुओं का स्वरूप प्रत्ययात्मक है जिनका उद्भव चेतना की विषयीकरण की प्रक्रिया[2] से होता है। हीगल इस प्रक्रिया को अलगाव (ऐलीनेशन[3]) की संज्ञा देते हैं। अलगाव की अवधारणा द्वारा हीगल परम्परागत ज्ञानमीमांसा की समस्या का निदान प्रस्तुत करते हैं। उसी व्याख्या के अनुसार परम्परागत ज्ञानमीमांसा की यह समस्या कि हम अपने से परे एवं बाह्य भौतिक पदार्थों को कैसे जानते हैं, उत्पन्न ही नहीं होती है क्योंकि भौतिक वस्तुएँ मन (आत्मा) की अपनी ही क्रिया द्वारा उत्पन्न होती हैं।

हीगल की प्रशंसा करते हुए मार्क्स कहते हैं कि उन्होंने ऐंद्रिक चेतना[4] को अमूर्त न मान कर मानवीय माना है और धर्म, धन, राज्य इत्यादि मानवीय

---

1. "Man in nature".
2. Process of objectification, 'entausserung'.
3. Alienation.
4. Sensuous consciousness.

वस्तुतीकरण से विलगित[1] वास्तविकताएँ हैं। लेकिन तुरन्त ही मार्क्स शिकायत-पूर्ण लहजे में कहते हैं कि हीगल स्वयं अपनी इस अन्तर्दृष्टि को उसके तार्किक परिणति तक न ले जा सके। मार्क्स कहते हैं कि हीगल की यह समझ कि मनुष्य अपने आत्म-निर्माण की प्रक्रिया में वस्तुतीकरण द्वारा जगत का निर्माण करता है, सही है लेकिन क्योंकि हीगल ने जगत निर्माण में होने वाले श्रम को केवल बौद्धिक श्रम माना है अतः उनके दर्शन में मनुष्य वास्तविक इतिहास का कर्त्ता, रचयिता, न होकर इतिहास का एक अमूर्त, तार्किक, प्रत्ययात्मक कोटि मात्र रह जाता है।[2]

मार्क्स की क्रिया की अवधारणा विषयि एवं विषय को उनके वास्तविक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध में प्रतिष्ठित करती है और उस वास्तविक भौतिक मनुष्य, जिसका पाँव ठोस जमीन पर मजबूती से जमा है, को केन्द्र में प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकार का मनुष्य वस्तुनीकरण द्वारा अपने वास्तविक, वस्तुगत एवं अनिवार्य शक्ति को विलगित वस्तु के रूप में स्थापित करता है। मार्क्स कहते हैं: वस्तुगत सत्ता, वस्तुगत रूप से क्रिया करने में सक्षम हैं। यदि वस्तुगतता उसकी अनिवार्य प्रकृति का अन्तर्निहित तत्व नहीं है तो वह कभी वस्तुगत क्रिया करने में सक्षम नहीं हो सकतीं। मनुष्य वस्तुओं का निर्माण करता है; उन्हें स्थापित करता है क्योंकि वह स्वयं वस्तुओं द्वारा स्थापित होता है।[3]

इस प्रकार मार्क्स भौतिकवाद दोनों को ही जगत की व्याख्या मात्र करने वाले दर्शन के रूप में नकारते हैं क्योंकि दोनों ही मनुष्य की सृजनात्मक, व्याव-

---

1. Estranged.
2. Marx appreciates Hegel for his 'recognition that sensuous consciousness is not abstractly sensuous consciousness, but human sensuous consciousness; that religion, wealth etc. are only the estranged' reality of human objectification, of human essential powers born into work and therefore, only the way to true human reality—', but—' he conceives them only in their thought form—.' They are entities of thought, and therefore simply an estrangment of pure i. e. abstract philosophical thought. Therefore, entire movement ends with absolute knowledge.' E. P. M., Early Writings, pp. 385 and 384.
3. Ibid, p. 389.

हारिक, उत्पादक क्रियात्मकता को सही-सही ढंग से समझ पाने में असमर्थ रहते हैं। मार्क्स ज्ञान के सामाजिक-व्यावहारिक पक्ष को सामने रखते हैं इसलिए उनके दर्शन में परम्परागत भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा में पायी जाने वाली ज्ञान की प्रामाणिकता की समस्या उत्पन्न नहीं होती। क्रिया से अलग ज्ञान की वस्तुनिष्ठता की समस्या स्वयं में छद्म एवं अमूर्त समस्या है। मार्क्स प्राकृतिक विज्ञान को भी अमूर्त कहते हैं क्योंकि वह इतिहास एवं उसकी प्रक्रिया से अछूती है।[1]

क्रिया कि अवधारणा की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त इसकी अन्य विशेषताएँ संक्षेप में निम्नवत हैं :—

1. यह मनुष्य को प्राकृतिक, भौतिक एवं वस्तुनिष्ठ सत्ता के रूप में स्थापित करती है। मनुष्य का प्रकृति के साथ निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है और वह अपनी उत्पादक क्रिया द्वारा प्रकृति का अधिग्रहण (एप्रोप्रिएट) करता है और अपने इस प्रयास में वह न केवल प्रकृति को परिवर्तित एवं परिवर्धित करता है बल्कि अपनी स्वयं की प्रकृति को भी परिवर्तित करता है। मनुष्य की भौतिक क्रिया में विचार एवं शारीरिक क्रिया दोनों का मेल होता है। अपने एक निबन्ध में मार्क्स कहते हैं कि मनुष्य अपने इतिहास का निर्माता होता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह इसका निर्माण जैसा चाहे वैसा कर दें क्योंकि इसके निर्माण को परिस्थितियों का चुनाव वह स्वयं नहीं कर सकता बल्कि वे भूतकाल के द्वारा उसे प्रदत्त एवं हस्तान्तरित होती है। वर्तमान भूत से प्रभावित एवं नियन्त्रित होता है।[2] क्रिया की अवधारणा भूतकाल के महत्व को नहीं नकारती क्योंकि हमारी समस्त भूतकाल की क्रियाएँ वर्तमान क्रिया को नियन्त्रित एवं रेखांकित करती हैं।

2. क्रिया की अवधारणा मनुष्य की दैहिक भौतिकता को उसके मन, चेतना से युक्त करती है। क्रिया स्वयं में एक उद्देश्यमूलक क्रिया है इसलिए मनुष्य

---

1. Capital Vol. I, p. 352 (foot note 2)
2. Men make their own history, but they do not make it just as they please, they do not make it under circumstances chosen by themselves, but under circumstances directly encountered, given and transmitted from the past. 'The tradition of all dead generations weights like a nightmare of the brain of the living.' The eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte', Selected works Vol. I, p. 398.

सर्वप्रथम अपने समक्ष एक उद्देश्य प्रस्तुत करता है तत्पश्चात् ही उसकी प्राप्ति, क्रिया में संलग्न होता है। क्रिया को इस अवधारणा से मार्क्स के भौतिकवाद का भी अर्थ स्पष्ट होता है। यह मानना त्रुटिपूर्ण है कि मार्क्स ने भौतिक तत्व को सत्ता मीमांसीय स्तर पर स्थापित किया है और उनके दर्शन में प्रकृति को मनुष्य से अलग अपने-आप में अवस्थित सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] मार्क्स बार-बार हमें सचेत करते हैं कि मनुष्य से अलग, असम्पृक्त अमूर्त, स्थिर, शाश्वत प्रकृति का मनुष्य के लिए कोई अर्थ नहीं है।[2]

3. क्रिया की मार्क्सवादी अवधारणा हमें पूँजीवादी विश्व को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझने में सहायता करती है। पूँजीवादी में सभी कुछ अपनी उल्टी अवस्था में पाया जाता है। वहाँ मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध के रूप में प्रकट होता है। अपनी पुस्तक 'ग्रनड्रीस' में 'धन' शीर्षक वाले अध्याय में मार्क्स धन की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह एक सामाजिक सम्बन्ध है। पूँजीवाद में यह सामाजिक सम्बन्ध एक वस्तु के रूप में स्थापित हो जाता है।[3] क्रिया के स्तर पर जब हम किसी भी पूँजीवादी कोटि की व्याख्या करते हैं तब हमें उसके प्रकट रूप से अलग उसका विरोधी रूप दिखायी देता है। क्रिया की अवधारणा पूँजीवाद के वास्तविक अर्थात् शोषणकारी, दमनकारी तथा गरीबी और अमानवीय स्थिति को उत्पन्न करने वाला रूप दिखायी देता है।

4. क्रिया की अवधारणा मन से स्वतन्त्र एक जगत या प्रकृति के अस्तित्व को पहले से स्वीकार करती है यद्यपि यह दूसरी बात है कि हम उस जगत, प्रकृति को क्रिया में ही एवं क्रिया द्वारा ही भली भाँति समझ सकने में समर्थ होते हैं। मार्क्स प्रकृति के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु कोई तर्क नहीं देते क्योंकि इसका अस्तित्व स्वयं स्पष्ट है। स्वतन्त्र जगत या प्रकृति को मानने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसकी सत्तामीमांसा के स्तर पर कोई अस्तित्व है।

भौतिक जगत् के स्वतन्त्र अस्तित्व को मार्क्स इसलिए नहीं स्वीकार करते हैं क्योंकि ऐसा मानना व्यवहार की दृष्टि से उचित है। इसके ठीक विपरीत क्रिया की अवधारणा में प्रत्यक्षवाद के कोई भी लक्षण नहीं दिखाई देता है।

---

1. Capital Vol. I, p. 174
2. For a detailed discussion of the point see the book by David-Hillel, 'Marxism, and materialism—a study in marxist theory of knowledge', Great Britain, The Harvester Press Ltd., 1979.
3. 'Grundrisse' pp. 156-158, 164-165.

मार्क्स कहते हैं कि हमारा सामाजिक जीवन अनिवार्यतः क्रिया परक, व्यावहारिक है। वे सभी रहस्य जो सिद्धान्त को रहस्यवाद तक ले जाते हैं अपना बौद्धिक हल मानवीय क्रिया एवं इस क्रिया के चिन्तन में पाते हैं।[1] यह कथन क्रिया या अन्य किसी सिद्धान्त द्वारा बाह्य जगत के अस्तित्व में हमारे विश्वास का कोई दार्शनिक प्रमाण नहीं देता। मार्क्स बाह्य जगत के विश्वास का कोई दार्शनिक प्रमाण इसलिए नहीं देता क्योंकि यह सदैव रहस्यवाद की तरफ ले जाता है। लुडोविको गेमांट यह स्थापित करते हैं कि क्रिया की अवधारणा प्रत्यक्षवाद का प्रकार नहीं है[2] क्रिया की अवधारणा स्वयं में सत् की कोई परिभाषा नहीं प्रस्तुत करती बल्कि यह केवल सत् असत् की कसौटी को हमारे समक्ष रखती है।[3]

अन्त में, क्रिया की अवधारण के सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह मनुष्य की व्यावहारिक उत्पादक क्रिया के ही परिप्रेक्ष्य में किसी भी मूर्त समस्या पर वस्तु के अध्ययन एवं विश्लेषण पर जोर देती है। यह स्वयं क्रिया के बारे में कुछ भी नहीं कहती है कि कौन सी क्रिया सही है और कौन गलत। अतः क्रिया पर बल देने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि मार्क्स का दर्शन क्रिया का दर्शन मात्र है। यदि हम क्रिया को मूर्त परिस्थितियों से विलगं कर देखेंगे तो हम हीगल के समान भ्रम में पड़ जायेंगे।

द्वन्द्वन्याय की अवधारणा एवं द्वन्द्वात्मक पद्धति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :

ज्ञान एवं क्रिया के विश्लेषण से मार्क्स की द्वन्द्वन्याय की अवधारणा निःसृत होती है। वास्तव में यह दोनों ही एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं क्योंकि जब हम ज्ञान को उसके वास्तविक परिप्रेक्ष्य—सामाजिक एवं व्यावहारिक, सन्दर्भ में विश्लेषित करते हैं तब हमारी विश्लेषण की पृष्ठभूमि में द्वन्द्वन्याय की अवधारणा रहती है एवं द्वन्द्वन्याय के विश्लेषण ज्ञान का सामाजिक एवं व्यवहारिक पक्ष पृष्ठभूमि में रहता है, द्वन्द्वन्याय का विश्लेषण ज्ञान के सामाजिक एवं व्यावहारिक पक्ष को अनावृत्त करता है। द्वन्द्वन्याय पद्धति का प्रतिपादन ग्रीक दार्शनिकों ने किया था। "डाइलेक्टिक" शब्द दो पदों डायो एवं लॊगोस[4] से बना है, डायो

---

1. 'Theses on Feuerbach', German Ideology p. 617.
2. Geymonat, Ludovico, 'Neopositivist Methodology and Dialectical Materialism' Science and Society, Summer, 1973, pp. 178-194.
3. 'Theses on Feuerbach', op-cit, p. 615.
4. Dia and Logos.

का अर्थ है कि किसी वस्तु को दो परस्पर एवं विरोधी भागों में विभक्त करना तथा लोगों का अर्थ तर्क करना होता है, इस प्रकार तर्क करने की जो पद्धति जिसमें हम किसी पद या वस्तु के बारे में उसके पक्ष एवं विपक्ष को सामने रखकर निर्णय करते हैं, द्वन्द्व न्याय कहा जाता है। इसी पद्धति के आधार पर ग्रीक दार्शनिकों ने प्रकृति में व्याप्त परिवर्तन एवं गति की व्याख्या प्रस्तुत किया।

महान जर्मन दार्शनिक हीगल ने इस पद्धति को अपने दर्शन में अपनाया। हीगल ने उस स्थान से अपने दर्शन का प्रारम्भ किया जहाँ पर कांट ने अपने दर्शन को छोड़ा था। कांट अपने दर्शन का अन्त "स्वयं-में-वस्तु"[1] की अवधारणा में करते हैं। हीगल कहते हैं कि कांट की यह मान्यता कि परम्परागत तर्कशास्त्र के सिद्धान्त-तादात्म्य का नियम, व्यघात का नियम एवं मध्यम परिहार का नियम प्रपंचात्मक (पेन्नोमेनल) जगत के ऊपर ही प्रयोग किये जा सकते हैं उचित है लेकिन इस तर्क शास्त्र के सिद्धान्त की तत्वमीमांसा के क्षेत्र में असपन्नता से जो निष्कर्ष कांट ने निकाला है वह त्रुटिपूर्ण था। कांट ने मानवीय ज्ञान की मूलभूत संरचना का विश्लेषण किया जिससे उन्होंने ज्ञान की प्रयोग सीमा भी निर्धारित की। उन्होंने यह दिखाया कि इन्द्रियानुभविक क्षेत्र की अवहेलना करके ज्ञान के अतिक्रामी प्रयोग के क्या परिणाम होते हैं उनके अनुसार यह प्रयोग अनुभवातीत भ्रांति को जन्म देता है अतएव यह वर्जित है। इस प्रकार कांट ने अतिक्रामी तत्त्वमीमांसा (ट्रांसेन्डेन्ट मेटा फिजिक्स) की असम्भावना को स्थापित किया। कांट के अनुसार ईश्वर आत्मा, विश्व जैसी अनुभवातीत सत्तायें ज्ञान का विषय नहीं है हीगल कांट के इसी निष्कर्ष से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं।[2]

---

1. Thing-in-itself.
2. "The exoteric doctrine of Kantian Philosophy that understanding can not go beyond experience, because if so the faculty of cognition would be a merely theoretical intelligence which could by itself produce nothing but idle fancies of the brain : this doctrine has given a scientific justification to the renunciation of speculative thought.... Philosophy and crude common sense playing thus into each other's hands for the downfall of metaphysics there was presented the strange spectacle of a cultured people having no mataphisics....Hegel, G. W. F. "Science of

हीगल कहते हैं कि कांट ने स्वयं यह माना है कि तर्क बुद्धि (अन्डर स्टैंडिग) सम्वेदना द्वारा प्राप्त सामग्री की व्याख्या और व्यवस्था करती हैं। कांट ने माना कि कुछ सम्प्रत्यय ऐसे भी है जो न तो अनुभव जन्य हैं और न ही उस अर्थ में प्रागनुभविक हैं, जिसमें कारणता आदि के सम्प्रत्यय हैं। इन्हें कांट ने प्रत्यय में (आइडिया) कहा है और इन्हें बुद्धि (रीजन) जन्य माना है हीगल कांट के इस विभेद को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि कांट तक बुद्धि एवं बद्धि के अन्तर के महत्व को पूर्णरूपेण नहीं समझ पाये जिसके कारण ही उनके दर्शन में अतिक्रामी तत्त्व मीमांसा का निषेध मिलता है।

हीगल मानते हैं कि बुद्धि का सर्वोच्च का परम-प्रत्यय, विचार के सम्बन्ध के परिकल्पनात्मक ज्ञान है। वे आगे कहते हैं कि यदि हम अपने को सामान्य बुद्धि एवं प्रपंच तक ही सीमित रखेंगे तो हम न केवल परमार्थ (नाउन्मेना) परम् संत्ता को समझ पाने में असमर्थ होंगे बल्कि हम प्रपंचात्मक जगत को भी ठीक-ठीक नहीं समझ पायेंगे। हीगल का मानना है कि परम सत्ता को समझने में परम्परागत तर्क शास्त्र हमारी सहायता कर पाने में असमर्थ है क्योंकि सीमित-असीमित, विशेष-सार्वभौम, अंश-पूर्ण विरोधाभास से युक्त है। इनके विरोधाभास को बुद्धि की उच्चतर सत्ता में तिरोहित करना होगा। असीमित, सार्वभौम एवं पूर्ण अपने में सीमित, विशेष एवं अंश को समाहित कर ही अपनी वास्तविकता को प्राप्त कर पाता है। बुद्धि में तर्क बुद्धिस्तर के समस्त विरोधाभासों का अतिक्रमण हो जाता है। हीगल जब बुद्धि के क्षेत्र में सामान्य तर्क शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रयोग को निषेध करते हैं तो वह उनकी वैधता के ऊपर प्रश्न चिह्न नहीं लगाते अपितु उनकी सीमा का संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि बुद्धि के क्षेत्र में परम्परागत तर्कशास्त्र के स्थान पर द्वन्द्व न्याय की पद्धति का प्रयोग समीचीन है क्योंकि इसमें पक्ष एवं विपक्ष के विरोधाभासों का संश्लेषण हो जाता है।[1]

द्वंद्वन्याय की सहायता से हीगल विश्व की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार विश्व में प्रत्येक चीज गतिमान अवस्था में है, जो निरन्तर परिवर्तित, रूपान्तरित एवं विकसित हो रही है। गति एवं परिवर्तन के आन्तरिक रहस्य का भेदन द्वन्द्वन्याय द्वारा सम्मत होता है। विश्व में ऊपर से जो स्थिरता एवं अपरिवर्त-

---

Logic'' (trans. Johnston & struthers), London, Allen & unwin, 1929, pp. 33-34.

1. Stace, W. T., "The Philosophy of Hegel'', U. S. A., Dover Pub. Inc. 1955, p. 94.

नीयता प्रतीत होती है, वह छद्म है, क्योंकि शान्त, स्थिर धरातल के नीचे गति एवं परिवर्तन पाया जाता है। इलेक्ट्रॉनों की अतिशय गति के उपरान्त भी भौतिक वस्तुएँ ऊपर से शान्त एवं स्थिर प्रतीत होती हैं। परिवर्तन एवं गति की सतह पर व्याप्त स्थिरता, अपरिवर्तनीयता को हीगल डासांप, (प्रेजेन्स) 'उपस्थित'[1] कहते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए हीगल ने इसे धरातल के नीचे विरोधों की 'एकतरफा अपरोक्ष एकता का आकार'[2] कहा है। हीगल ने सतह पर अवस्थित स्थिरता, शान्ति के परे जाकर अन्दर विद्यमान विरोधाभासों को समझने पर अत्यधिक बल दिया है। हीगल की इसी अन्तर्दृष्टि को मार्क्स खुले दिल से स्वीकार करते हैं।

द्वंद्वन्याय की व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए हीगल कहते हैं कि यह नकारात्मक से सकारात्मक को पकड़ना है जिसमें नकारात्मक की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उनके अनुसार समस्त प्रत्ययात्मक ज्ञान इसी में निहित है।[3] द्वंद्वन्याय में हम किसी भी वस्तु या घटना को उसकी विशिष्टता में नहीं लेते बल्कि उसकी व्याख्या सम्पूर्णता के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। किसी भी वस्तु को उसके ध्रुवीय विरोधों-भावात्मक या नकारात्मक के रूप में नहीं समझा जा सकता क्योंकि व्याख्या में रंचमात्र के परिवर्तन से सकारात्मक नकारात्मक में एवं नकारात्मक सकारात्मक में परिवर्तित हो जाता है।[4]

मार्क्स हीगल की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि उन्होंने इस सही सिद्धान्त से अपने दर्शन का श्रीगणेश किया कि जगत जैसा सतह प्रतीत होता है वैसा नहीं है; कि इंद्रियाँ अपने प्रत्यक्ष में वस्तुओं के केवल आभासी रूप को ही पकड़ पाती है। लेकिन मार्क्स अतिशय दुःख के साथ कहते हैं कि हीगल ने एक सही सिद्धान्त की हत्या उसके जन्म के साथ ही उस समय कर दी जब उन्होंने यह मान लिया कि केवल मन की तार्किक कोटियाँ ही वास्तविक हैं। हीगल ने इस तर्क से कि जो कुछ इंद्रिय प्रत्यक्ष है वह आभास है, यह निष्कर्ष निकाला कि भौतिक वस्तुएँ अस्तित्ववान नहीं है। हीगल ने आभास की अवास्तविकता को भौतिक वस्तुओं की अवास्तविकता मान लिया। वे इसलिए असत् है

---

1. Dasein or presence.
2. "Form of one-sided immediate unity."
3. Hegel's Science of Logic (trans. A. V. Miller), London, Allen & Unwin, 1969, p. 56.
4. Ibid pp. 435-436.

क्योंकि वे प्रत्ययात्मक नहीं हैं। प्रत्ययात्मकता या बौद्धिकता को उन्होंने सत्य की कसौटी माना। भौतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष अस्तित्व की तर्कसंगत व्याख्या करने के लिए उन्होंने यह कहा कि वे वास्तव में परम-सत्ता या आत्मा के अभिव्यक्त रूप हैं।

मार्क्स यहीं हीगल की कठोर आलोचना करते हुए कहते हैं कि उनके द्वारा स्थापित सत् एवं विचार के तादात्म्य में उलट् क्रिया (इनवर्जन) दिखायी देती है, जिसे मार्क्स ने तार्किक रहस्यवाद की संज्ञा देते हैं। मार्क्स कहते हैं कि सर्व-प्रथम हीगल सत्ता को विचार में न्यूनीकृत कर देते हैं और भौतिक वस्तुओं की सत्ता को नकार देते हैं। सीमित विशिष्ट वस्तुएँ जिस रूप में होती हैं उन्हें उस रूप में न समझकर उस रूप में समझा जाता है जो वे नहीं होती। इस प्रथम उलट-क्रिया के कारण वस्तुएँ विचार मानी जाने लगती हैं। दूसरी उलट-क्रिया के द्वारा स्वयं में विशिष्ट सम्पूर्णता युक्त एवं विरोधाभासों को अपने में संजोए रखने वाली बुद्धि को एक अमूर्त सत्ता में रूपान्तरित कर दिया जाता है। अब वे वस्तुओं के अस्तित्व को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से यह घोषणा करते हैं कि सीमित, विशिष्ट वस्तुएँ वास्तव में अलगाव की प्रक्रिया से पूर्ण सत्ता द्वारा अपने व्यक्त, प्रकट स्वरूप को प्राप्त होती है।

इस प्रकार मार्क्स के अनुसार हीगल के दर्शन में हमें उद्देश्य एवं विधेय को उलटने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। हीगल के दर्शन को मार्क्स 'अनालोचनात्मक प्रत्यक्षवाद एवं अनालोचनात्मक प्रत्ययवाद'[1] से ग्रस्त घोषित करते हैं। इसी बात को 'कैपिटल' के दूसरे संस्करण में मार्क्स ने यह कह कर व्यक्त किया है। कि हीगल के दर्शन में द्वन्द्वन्याय सिर के बल खड़ा है जिसे अपने पैरों पर उसी समय खड़ा किया जा सकता है जब हम रहस्यवाद में आवृत्त तार्किकता को खोज सकने में समर्थ होते हैं।[2] हीगल के दर्शन का प्रत्ययवादी पक्ष ही रहस्यवाद में लिप्त वह खोल है जिसके द्वारा मानव मस्तिष्क की जीवन्त प्रक्रिया को विचार की स्वतंत्र सत्ता में परिणत कर दिया जाता है और जिसे वास्तविक जगत् का जन्मदाता मान लिया जाता है; फलस्वरूप वास्तविक जगत्, प्रत्यय या विचार का बाह्य; प्रपंचात्मक स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता है।

मार्क्स के द्वन्द्वन्याय की अवधारणा को ठीक से समझने के लिए हमें उसकी दर्शन, विज्ञान एवं क्रिया सम्बन्धी विशिष्ट अवधारणाओं को पृष्ठभूमि में रखना

---

1. "Economic and Philosophical Manuscripts-1844", Early writings, pp. 384-85.
2. Capital. Vol. I, p. 29.

होगा। प्रसिद्ध '1857 की प्रस्तावना' में मार्क्स कहते हैं कि वास्तविक एवं मूर्त से प्रारम्भ करना उचित प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए अर्थशास्त्र के अध्ययन में हम जनसंख्या से प्रारम्भ करते हैं क्योंकि जनसंख्या ही उत्पादन की समस्त सामाजिक क्रिया का आधार है। किंतु जनसंख्या क्या है ? सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात होता है कि यदि इसका निर्माण करने वाले वर्गों को छोड़ दिया जाय तो स्वयं जनसंख्या अमूर्त एवं रिक्त शब्द मात्र रह जाएगी। इसी प्रकार वर्ग के अर्थ को भी समझना होगा। श्रम, पूँजी, वेतन आदि वर्ग के कारक तत्त्व हैं, इनके अभाव में वर्ग भी मात्र अमूर्त परिकल्पना है। श्रम, पूँजी और वेतन आदि भी विनिमय, श्रम-विभाजन तथा कीमतों आदि पर निर्भर होते हैं क्योंकि मूल्य, मुद्रा, श्रम आदि के बिना पूँजी का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार जब हम जनसंख्या से प्रारम्भ करते हैं तो प्रारम्भ में वह सम्पूर्ण तत्त्व की एक अस्त-व्यस्त अवधारणा होगी। इसकी पूर्ण अवधारणा तक पहुँचने के लिए हमें विश्लेषण के द्वारा सरलतर प्रत्ययों तक पहुँचना होगा। इस प्रक्रिया द्वारा हम पुनः जनसंख्या की अवधारणा तक पहुँचेंगे जो कि अपने सम्पूर्ण निहितार्थों से सम्पन्न जनसंख्या की मूर्त अवधारणा होगी।[1] इस प्रकार मार्क्स अमूर्त से मूर्त तरफ अग्रसर होने की पद्धति को द्वंद्वन्याय की पद्धति मानते हैं। मार्क्स द्वारा 1857 की प्रस्तावना में वर्णित द्वंद्वन्याय के स्वरूप की कटु आलोचना हुई है। हमारी समझ से यह आलोचनाएँ उपरोक्त प्रस्तावना को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण हुई है, क्योंकि मार्क्स इसमें मुख्यतः पद्धतिमूलक प्रश्न उठाते हैं जिसमें ज्ञानमीमांसीय प्रश्न भी अन्तर्निहित है। वे किसी भी देशकाल की प्रदत्त वास्तविकता को सही रूप में समझने की पद्धति को स्पष्ट करना चाहते हैं वे यह नहीं जानने का प्रयास करते हैं कि ज्ञात सत् किसी प्रागनुभविक विचार से उत्पन्न होता है या नहीं। क्योंकि उनकी भौतिकवादी दृष्टि से यह स्पष्ट है कि मूर्त वास्तविक वस्तुएँ वास्तविकता, अवलोकन एवं अवधारणा में प्रस्थान बिंदु हैं। लेकिन मूर्त का मात्र प्रत्यक्ष या अवलोकन उसके चरित्र के बहुआयामी पक्ष को अनावृत्त करने में अक्षम हैं। इसीलिए इसे इसके सरलतर अमूर्त स्वरूप से समझने का प्रयास करते हैं।

अमूर्त से मूर्त की तरफ बढ़ने की मार्क्सीय पद्धति मार्क्स की भौतिकवादी ज्ञानमीमांसा के अनुरूप है जो यह मानती है कि भौतिक वस्तुएँ मन से स्वतंत्र होती हैं। भौतिकवाद एवं प्रत्ययवाद की एकांगिता को दूर करने हेतु मार्क्स का

---

1. 1857—Introduction, Grundrisse, p. 100.

द्वंद्वन्याय मानवीय क्रिया की सहायता से ज्ञान के सामाजिक एवं व्यावहारिक चरित्र को समझने की आवश्यकता पर बल देता है।

मार्क्स का साम्यवाद

मार्क्स के साम्यवाद की चर्चा वर्तमान परिस्थितियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गयी है। आज पूरे विश्व में यह प्रचार व्याप्त है कि मार्क्सवाद 21वीं सदी के कगार पर खड़े मानव के लिए अनुपयोगी एवं अप्रासंगिक हो गया है। तर्क के लिए प्रायः रूस एवं पूर्वी यूरोप के कतिपय देशों में हुए परिवर्तनों की तरफ इंगित किया जाता है और कहा जा रहा है कि यह पूँजीवाद की ओर परिवर्त है। पूँजीवादी देश इन देशों में हुए परिवर्तन को पूँजीवाद की जीत एवं साम्यवाद की पराजय मानते हैं। दूसरी तरफ मार्क्सवाद के प्रति रूढ़िवादी धर्म के समान विश्वास करनेवाले उसके समर्थक एवं चिन्तक हतप्रभ हैं कि इस परिवर्तन की व्याख्या मार्क्सवाद के आधारभूत सिद्धान्तों के आधार पर यह कैसे की जाय ? अपनी वैचारिक बौद्धिक हताशा में वे कभी इसे पुरोगामी संशोधन कहते हैं तो कभी यह आशा व्यक्त कर रहे हैं कि शीघ्र ही सब कुछ ठीक हो जाएगा। हमारा सुविचारित मत इन दोनों से भिन्न है। हमारें विचार में पूँजीवादी विजयोन्माद एवं साम्यवादी हताशा एवं निराशा दोनों ही मार्क्सवाद की भ्रमात्मक अवधारणा से उत्पन्न है। वर्तमान ऐतिहासिक परिवर्तन को उसके वास्तविक निहितार्थों में समझने के लिए आवश्यक है कि हम मार्क्सवाद को उसको सम्पूर्णता में समझें। तभी साम्यवाद की भी एक सही समझ विकसित हो पायेगी।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में बार-बार कहा गया है कि मार्क्स इस विश्व की कोई नवीन व्याख्या न प्रस्तुत कर इसे परिवर्तित करना चाहते हैं। परिवर्तन की आवश्यकता एवं अपरिहार्यता को निर्विवाद रूप से स्थापित करने हेतु मार्क्स दर्शन एवं विज्ञान का एक सर्वथा विशिष्ट एवं नवीन आयाम हमारे सम्मुख रखते हैं एवं मानवीय क्रिया का विश्लेषण कर ज्ञान के सामाजिक एवं व्यावहारिक चरित्र को प्रस्तुत करते हैं। द्वंद्वन्याय की पद्धति द्वारा सतह एवं धरातल के विरोधाभास को अनावृत्त कर यह स्थापित करते हैं कि पूँजीवाद में सतह पर व्यक्त आभास विकृत वास्तविकता होती है जिसे मानवीय क्रिया द्वारा ही परिवर्तित किया जा सकता है। वास्तविक मनुष्य ही मार्क्स के चिन्तन का केन्द्र है। उसका दर्शन मनुष्य से उत्पन्न होता है एवं उसकी प्रासंगिकता मनुष्य के लिए है।

मार्क्स के साम्यवाद में वास्तविक मनुष्य की अमानवीय स्थिति केन्द्र में

अवस्थित है। मनुष्य की मानवीय स्थिति को व्यक्त करने के लिए मार्क्स अलगाव (एलीनेशन) शब्द का प्रयोग करते हैं जो कि उसके दर्शन की प्रमुख अवधारणा है। ऐलीनेशन की अवधारणा की सहायता से मार्क्स ने पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था के मनुष्य के ऊपर विनाशकारी प्रभाव को व्यक्त किया है। ऐलीनेशन का पूर्ण अर्थ ऐलीनेशन के अभाव के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। जिस प्रकार यदि हमारे पास स्वास्थ्य की कोई अवधारणा न हो तो रोग के लक्षण एवं अवस्था सामान्य प्रतीत होंगे। अलगाव एवं अलगाव का अतिक्रमण, रोग एवं स्वास्थ्य के समान ही परस्पर सम्बन्धित है एवं एक दूसरे के अर्थ को स्पष्ट करते हैं।

मार्क्स की मानव की अवधारणा के मूल में उसकी यह मान्यता है कि मनुष्य प्रकृति का विशिष्ट भाग है और उसका प्रकृति के साथ निरन्तर सम्पर्क एवं समागम होता है। मानवीय प्रकृति को स्पष्ट करने में मार्क्स ने आवश्यकता (नीड्स) की अवधारणा का प्रतिपादन किया। वे कहते हैं कि मनुष्य की आवश्यकता ऐतिहासिक सभी चीजों के पूर्व है। आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वह उत्पादन करने को बाध्य है। उसके उत्पादन का साधन चाहे मशीनें हों या उसके दो प्रकृति प्रदत्त हाथ। इसलिए मार्क्स उस प्रारम्भिक, आदिम मनुष्य को भी उत्पादक की श्रेणी में रखते हैं जो हाथ से फल तोड़कर खाता था। यहीं से मनुष्य की विकास यात्रा प्रारम्भ हुई जो आज तक अनवरत जारी है और भविष्य में भी जारी रहेगी, अधिक-से-अधिक उत्पादन का स्वरूप परिवर्तित होता रहेगा। इस प्रकार मार्क्स मनुष्य को एक प्राकृतिक सत्ता (नेचुरल बीइंग) मानते हैं जो जातीय सत्ता (स्पीसीज बीइंग) से युक्त हैं। मनुष्य अपनी प्राकृतिक सीमित सत्ता का अतिक्रमण जातीय सत्ता को अनुभूत कर, करता है। इसी के द्वारा वह अपने सीमित अस्तित्व का अतिक्रमण कर सार्वभौम अस्तित्व को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसी के फलस्वरूप विभिन्न संस्थाओं—परिवार, समाज, राज्य, धर्म इत्यादि का जन्म होता है इसी जातीय सत्ता को वह अपनी उत्पादन क्रिया में भी अनुभूत करता है। उत्पादन क्रिया उसके जाति सत्ता का प्रमुख तत्त्व है, यह क्रिया उद्देश्यमूलक होती है। इसके द्वारा वह अपनी विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रकृति का अधिग्रहण करता है। मनुष्य की क्रिया द्वारा न केवल प्रकृति का निर्माण एवं परिवर्तन होता है अपितु उसकी स्वयं की प्रकृति का भी निर्माण एवं परिवर्तन होता है।

मार्क्स की उपर्युक्त मानव की अवधारणा से ही उसकी अलगाव की अवधारणा विकसित होती है। अलगाव, मानव की प्रकृति का नकारात्मक पक्ष

है। इसे वे एक दोष मानते हैं जो नहीं होना चाहिए।[1] मार्क्स मानते हैं कि पूँजीवाद की विशिष्ट उत्पादन-व्यवस्था के कारण निम्न प्रकार के अलगाव उत्पन्न होते हैं—

1. मनुष्य अर्थात् श्रमिक अपनी क्रिया या उत्पादकता से पृथक हो जाता है। उसका अपनी क्रिया पर कोई अधिकार नहीं रहता जिसके कारण मनुष्य का अपनी उत्पादक क्रिया से अलगाव हो जाता है।

2. मनुष्य या श्रमिक का अपने स्वयं के उत्पादन या सृजन पर कोई नियंत्रण नहीं रहता फलतः उसका अपने उत्पादन एवं प्रकृति से अलगाव हो जाता है।

3. पूँजीवाद प्रतियोगिता एवं वर्गीय शत्रुता को जन्म देता है जिससे मनुष्य-मनुष्य के बीच सहयोग असम्भव हो जाता है। सहयोग द्वारा ही मनुष्य अपने सहयोगी से सम्बन्ध स्थापित करता है। इसकी सम्भावना के अभाव में मनुष्य का मनुष्य से अलगाव हो जाता है।

4. उपर्युक्त तीनों अलगावों के कारण मनुष्य का अपने जातीय सत्ता (स्पीसीज बीइंग) से भी अलगाव हो जाता है।

अलगाव के उपर्युक्त प्रकारों के कारण धर्म, समाज, राज्य एवं वैचारिक स्तर पर भी विकृति उत्पन्न हो जाती है। अलगाव के ही कारण मनुष्य-मनुष्य का सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता बल्कि उनके बीच कोई मध्यस्थ या दलाल का अस्तित्व स्थापित हो जाता है—आर्थिक क्षेत्र में धन, धार्मिक क्षेत्र में पण्डित, मौलवी एवं पादरी, राज्य के क्षेत्र में राजनीतिज्ञों इत्यादि।

मार्क्स की स्थापना है कि जब मनुष्य अपनी ही क्रिया द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था को परिवर्तित कर दिया जाएगा तो तुरन्त ही साम्यवाद का जन्म नहीं होता बल्कि बीच में एक संक्रमण काल भी होता है जिसे उसमें 'सर्वहारा की तानाशाही' कहा है। इस संक्रमण काल की अवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था के भग्नावशेषों को हटाकर नवीन व्यवस्था की नींव डाली जाती है। संक्रमण काल में पूँजीवादी व्यवस्था के चिह्न विद्यमान रहते हैं इसलिए इसमें वितरण 'सबको उसकी क्षमतानुसार' होता है, इस संक्रमण काल में ही साम्यवाद के उद्भव की आवश्यक परिस्थितियों का जन्म होता है। साम्यवाद के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

1. साम्यवाद में मनुष्य के अलगाव का अतिक्रमण हो जाता है। उसकी अमानवीय तथा नकारात्मक स्थिति का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। साम्यवाद

---

1. "Economic and Philosophical Manuscripts"—Early writings, p. 399.

में मनुष्य न केवल अपनी सत्ता की पूर्ण अभिव्यक्ति में समर्थ होता है बल्कि उसकी पूर्णता को भी अनुभूत करने में समर्थ होता है। साम्यवाद ही एक पूर्ण मानव के आविर्भाव का मार्ग प्रशस्त करता है। ऐसा मनुष्य ही जातीय मनुष्य होता है क्योंकि वह पूर्ण मनुष्य के रूप में अस्तित्ववान् है। उसकी स्वतन्त्रता एवं पूर्णता में कोई भेद या अन्तर नहीं होता।

2. उत्पादन एवं वितरण की अमानवीय, अनियन्त्रित एवं अबौद्धिक पूँजीवादी व्यवस्था का स्थान मानवीय, नियन्त्रित एवं बौद्धिक साम्यवादी व्यवस्था ले लेती है। पूँजीवादी व्यवस्था अपने तमाम दावों के उपरान्त भी सीमित क्योंकि इसमें पूर्व मानव समाज की कोई भी भागीदारी नहीं होती। इसके विपरीत साम्यवाद के उत्पादन के सर्वथा भिन्न असीमित आयाम अनावृत्त होता है क्योंकि इसमें प्रत्येक मनुष्य की भागीदारी होती है। वितरण भी अपने प्रारम्भिक स्वरूप 'सबको उसकी क्षमतानुसार' को त्यागकर 'सबको उसकी आवश्यकतानुसार' में परिणत हो जाता है।

3. साम्यवाद में ही मनुष्य वास्तव में सम्पत्तियुक्त होता है क्योंकि सम्पत्ति मनुष्य के जातीय अस्तित्व को अनुभूत करने का अनिवार्य उपादान है। यह दूसरी बात है कि उत्पादन के साधन किसी व्यक्ति या समूह के स्वामित्व में नहीं रहते बल्कि इन्हें सम्पूर्ण समाज के स्वामित्व में माना जाता है।

4. राज्य अपने वर्तमान स्वरूप में लुप्त हो जाता है। "मनुष्यों पर शासन करने के स्थान" पर "वस्तुओं का प्रबन्ध" ही इसका प्रमुख कार्य क्षेत्र होता है।

5. साम्यवाद में ही वास्तविक समाज या समुदाय का आविर्भाव होता है। ऐसे समाज में मनुष्य अपने अस्तित्व को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है। मार्क्स का 'समुदाय' कोई अमूर्त या प्रागनुभविक आदर्श या प्रत्यय नहीं है और यह अन्तिम उत्पाद भी नहीं है अतः इसको पहले से ही रेखांकित करना सम्भव नहीं है। अधिक से अधिक हम इसकी बाहरी रूपरेखा को ही इंगित कर सकते हैं। भविष्य के स्वरूप का निर्धारण भविष्य की क्रिया करेगी। अतः साम्यवाद की एक झलक मात्र ही प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि यह कोई आदर्श नहीं है जिसके अनुरूप यथार्थ को समायोजित होना है। साम्यवाद एक वास्तविक मानवीय आन्दोलन है जो अमानवीय यथास्थिति से संघर्ष कर उसे परिवर्तित करने की व्यावहारिक चेष्टा करता है। अतः यह मानवीय विकास की अन्तिम सीढ़ी न हो केवल अगली सीढ़ी मात्र ही है।

मार्क्स के दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट है कि साम्यवाद अमानवीय, अलगाववादी यथास्थित को परिवर्तित करने का एक वास्तविक मानवीय प्रयास एवं

आन्दोलन है। अतः यह तब तक समाप्त नहीं होगा या इसकी पराजय नहीं होगी, जब तक कि अमानवीय एवं अलगाव की स्थिति में मनुष्य जीवित रहने को बाध्य है। हाल ही के वर्षों में तथाकथित साम्यवादी देशों में हुए परिवर्तन भी यही बात स्थापित करते हैं। उन देशों में साम्यवाद के आविर्भाव की अनिवार्य स्थिति नहीं उत्पन्न हो पायी थी। इसके अतिरिक्त अमानवीयता, अलगाव, वस्तु का मनुष्य के ऊपर आधिपत्य था। इससे संघर्ष होना ही था और उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन अपरिहार्य था, भले हम उसे अपनी बौद्धिक रूढ़िवादिता के कारण स्वीकार कर पाये या न कर पाये। हम अनुभव करते हैं कि हाल ही के वर्षों में साम्यवादी देशों में हुए परिवर्तन मार्क्स के चिन्तन एवं निष्कर्ष की पराजय अथवा अप्रासंगिकता नहीं प्रमाणित करते। वे उनके दर्शन की जीवन्तता को ही पुष्ट एवं प्रमाणित करते हैं। जब तक मनुष्य, अमानवीय एवं अलगाव की स्थिति में रहने को अभिशप्त है तब तक मार्क्स का चिंतन जीवित, प्रासंगिक है। आशा है कि वर्तमान में होने वाली उथल-पुथल से मार्क्सवाद का शुद्ध रूप निखर कर उभरेगा।

ग्रन्थ सूची

1. *Allen E. L.* : Existentialism from within, Rout-ledge and kegan paul Ltd. London 1953.
2. *Ambrose* : The problem of linguistic.
3. *Aristotle* : Metaphysics book zeta, I.
4. *Austin, J. L.* : Philosophical Papers, The Meaning of a Word, Sense and sensibilia
5. *Ayer, A. J.* : Language, Truth and Logic.
6. *Ayer, A. J.* : "Demonstration of the Impossibility of metaphysics."
7. *Bahm, V.* : Introduction to Paris Lectures.
8. *Balfour* : Green's Metaphysics of Knowledge, Mind, vol. I, 1884.
9. *Barnes, Hazel,* E. : The Literature of Possibility.
10. *Barrett (ed.)* : Philosophy in the Twentieth Century.
11. *Barret W.* : Irrational Man, New York, Double day anchor Books, 1962.
12. *Bergson, H.* : Time and Free-will, Creative Evolution.

13. *Blackham, H. J.* : Six Existentialistic Thinkers.

14. *Blanshard, B.* : The Nature of Thought, Vol. I (London, 1948.)

15. *Bosanquet, B.* : Principle of Individuality and Value, (London, 1912.)

16. ,, The Meeting of Extremes in contemporary Philosophy (London, 1921).

17. ,, Logic, second edition, (Oxford U. Press, 1911).

18. *Boyle, R.* : The Usefulness of Experimental Science.

19. *Bradley, F. H.* : Appearance and Reality, (Oxford, 1930).

20. *Carnap, R.* : Unity of Science.

21. *Cerf, Walter* : Review of How to Do with things in Symposium.

22. *Chappel* : Ordinary Language

23. *Cohen, L.I.C.* : "Do Illocutionary Forces Exist'? in Symposium.

24. *Copleston Frederick S J.* : Contemporary Philosophical Studies of Logical Positivism and Existentialism, London, Burnskoates, 1956.

25. *Cunningham, G Watts.* : Idealistic Arguments in Recent British and American Philosophy (New York, 1933).

26. *Datta, D. M.* : Chief Currents of Contemporary Philosophy (cal 2nd edition).

27. *Dewey, J.* : Influence of Darwin on Philosophy, Essays in Experiental Logic. The Quest of Certainity Logic. : The Theory of Inquiry Reconstruction in Philosophy Experience and Nature.

28. *D. R. Chapman* : Dictionary of Science, E. W. Uvarov, Alan, Isaacs, Penguin Books, 1971.

29. *Dutt K. C.* : Existentialism and Indian Thought, Philosophical Library, New York 1960

30. *Edward, P.* : The Encyclopaedia of Philosophy.

31. *Farber, M.* : Aims of Phenomenology.

32. *Fisch, M.* : Classic American Philosophers.

33. *Frazer* : Works Vol. I.

34 *Greene M .* : Introduction to Existentialism Phoonix Books, The University of Chicago Press, 1965.

35. *Green*, T. *H.* : Prolegomena to Ethics, Edition V (1906).

36. *Haldane, R. R.* : The Reign of Relativity (London, 1922).

37 *Haldar, H.* : Neo-Hegelianism (London, 1927).

38. *Hans Reichenbach* : Modern Philosophy of Science, London, 1959.

39. *Heinemann F. H.* : Existentialism and the Modern Predicament Adam and Charles Black, London, 1958.

40. *Heidegger M.* : Being and Time translated by John Macquarreic and Edward Robinson Harper and Row Publisher, New York and Evanston, 1962.

41. *Herbert Feigl & Grover Maxwell* : Current Issues in the Philosophy of Science, New York, 1961.

42. *Hoffding* : History of Modern Philosophy.

43. *Hume* : An Inquiry Concerning Human Uuderstanding.

44. *Husserl, Edmund* : Idea of Phenomenology.

45. *Husserl Edmund* : Paris, Lecturer Cartesian Meditations.

46. *James, W.* : Pragmatism.

47. *Jaspers K.* : Man in the Modern Age, trans Eden and Cedar Paul, London, 1962.

48. *Jaspers K* : Truth and Symbol, trans. J. T. Wilde, W. Kluback and W. Kimmel, Vision, London, 1959.

49. *Jaspers K.* : The Perennial Scope of Philosophy trans. Ralph Manheim, Routledge and Kegan Paul Ltd.–1950.

50. *Jaspers K.* : Way to Wisdom, trans. Ralph Manheim, New Heaven, Yale University Press 1960.

51. *Jaspers K.* : Reason and Existence, trans. William Earle, Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1958.

52. *Jaspers K.* : The Future of Mankind, trans. E. Ashton, University af Chicago Prees.

53. *Jaspers K.* : Philosophy 3 Vols. trans. E. B. Ashoton, The University of Chicago Press 1970–71.

54. *Jaspers K.* : The Great Philosophers, 2 Vols. trans. Ralph Manheim, New York.

55. *Jaspers K.* : Nietzache Introduction to the Understanding of his Philosophical Activity, trans. C.F. Wallraff and F.J. Schmitz Tueson Arizona. University of Arizona Press, 1965.

56. *Jeans J.* : Growth of Physical Science.

57. *Kierkegaard S.* : The Concluding Unscientfiic Post-Script, trans. D. Swenson and W. Lourie. Princeton University Press, Princeton, 1944.

58. *Kierkegaard S.* : Fear and Trembling, trans. Robert Payne, London, 1969.

59. *Kierkegaard S.* : The Diary of Soren Kierkegard, trans, Gerda H. Kndsrson, Philosophical Library, New York, 1960.

60. *Lofthous W. P.* : F. H. Bradley (The Epworth Press, London, 1949).

61. *Manser, A. L.* : Sartre : A Philosophic Study.

62. *Marsh R. C.* : Logic and Knowledge.

63. *Marshall Walker.* : The Nature of Scientific Thought New Delhi, 1963.

64. *Marxw Wartofsky* : Conceptional Foundations of Scientific Thought, The Macmillan Company, New York, 1968.

65. *M. Rosenthal & P. Yudin. (ed.)* : Dictionary of Philosophy, Moscow, 1967.

66. *Metz, Rudoll* : A Hundred years of British Philosophy (Second Impression London, 1950).

67. *Molina, F.* : Existentialism as Philosophy.

68. *Moore G. E.* : Principia Ethica.

69. *Narcek G.* : Being and Having, trans. A. Farror, The Beacon Press, Boston, 1951.

70. *Nettleship* : (ed.) Green's Works vol. I, (1908).

71. *Passmore, J.* : A Hundred years of Philosophy.

72. *Pattison, Pringle* : Idea of God, Second Edition, 1920.

73. *Petter Caws* : The Philosophy of Science, Princeton, 1963.

74. *Ponty M.* : Sense and Non-Sense.

75. ,, ,, : Phenomenology and Perception.

76. *Rintelen*, J. *V.* : Beyond Existentialism trans. Hild Graef. Allen and Unwin Ltd. London, 1961.

77. *Roberts, D. E.* : Existentialism and Religious Belief, Oxford University Press, New York, 1957.

78. *Roubiczek I.* : Existentialism For and Against, Cambridge University Press, 1966.

79. *Russell, B.* : Mysticism and Logic.

80. ,, ,, : On our Knowledge of External World.

81. ,, ,, : My Philosophical Development.

82. ,, ,, : Introduction to Mathematical Philosophy.

83. ,, ,, : Philosophical Essays.

84. ,, ,, : The Problems of Philosophy.

85. *Russel*, *B.* : Principles of Mathematics.

86. ,, : Human Knowledge.

87. ,, : An Inquiry into Meaning and Truth.

88. *Ryle*, G. : Concept of Mind.

89. *Ryle*, G. : The Revolution in Philosophy.

90. *Ryle*, G. : The Later Philosophy of Wittgenstein.

91. *Sartre*, J. *P.* : Existentialism and Humanism, trans. Philip Mairet Methuan, London, 1965.

92. *Sartre*, J. *P.* : Being and Nothingness, trans. Hazel K. Barnes Metnuen & Co. Ltd. London, 1966.

93. *Sartre J. P.* : Existentialism and Humanism.
94. ,, ,, : The Republic of Silence.
95. ,, ,, : Nausea.
96. ,, ,, : Existentialism and Human Emotions.
97. ,, ,, : The Transcendence of the Ego.
98. ,, ,, : Being and Nothingness.
99. ,, ,, : Search for a Method.
100. *Schihp P. A. (Ed)* : The Philosophy of Karal Jaspers Tubor Publishing Company, New York, 1957.
101. *Schick M.* : Positivism and Realism.
102. *Schilpp (Ed)* : The Philosophy of G. E, Moore.
103. *Shankara* : Brhadaranyaka upnisad Bhasya.
104. *Shankara* : Shariraka Bhasya.
105. *Sharma, C. D.* : A Critical Survey of Indian Philosophy.
106. *Solomon, R. C.* : From Rationalism to Existentialism.
107. ,, *(ed)* : Phenomenology and Existentialism.
108. *Speigeleberg, H* : Phenomenological Movement, 2 vols.
109. *Srinivasan C.* : The Existentialist Concept and Hindu Philosophical Systems, Udayana Publications, Allahabad, 1907.
110. *Stephen, Toulmin* : The Philosophy of Science, London, 1953.
111. *Schiller* : Humanism
112. *Sinari R.* : Reason in Existentialism, Popular Prakashan, Bombay, 1966.
113. *Tarasky* : Introduction to Logic, Oxford Press, Newyork.
114. *Urmson* : How To Do with Words.

115. *Waber and Perry* : History of Philosophy.

116 *Wallraff C. F.* : Karl Jaspers-An Introduction to His Philosophy, Princeton University Press Princeton, New Jersey, 1970.

117. *Warnock M.* : Existentialist Ethics, Newyork, 1967.

118 *Warnock* : British Philosophy Since 1900.

119. *Wild*, J. : Existence and the World of Freedom.

120. *Wittgenstein.* : Philosophical Investigations.

121. *Wittgenstein* : Tractatus Logico Philosophicus.

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

दर्शनशास्त्र विषयक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
• पाश्चात्य दर्शन	डॉ० ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल	70.00
• चार्वाक दर्शन	आचार्य आनन्द झा	152.00
• भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	100.00
• योग दर्शन	डॉ० सम्पूर्णानन्द	86.00
• प्रतीक शास्त्र	परिपूर्णानन्द वर्मा	150.00
• पतन की परिभाषा	डॉ० परिपूर्णानन्द वर्मा	85.00
• पश्चिमी दर्शन	डॉ० दीवान चन्द्र	75.00
• ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	रमाकान्त त्रिपाठी	40.00
• सौन्दर्यशास्त्र एक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	100.00
• समकालीन भारतीय दर्शन	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	144.00
• ललित विस्तर	मू० भगवान बुद्ध की वाणी अनु०प्रो० शान्ति भिक्षु शास्त्री	135.00
• कांट का दर्शन	प्रो० सभाजीत मिश्र	64.00
• नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त	डॉ० लक्ष्मी सक्सेना	96.00
• भारतीय दर्शन	डॉ० देवराज	120.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-81-89989-31-6

मूल्य : रु० 130=00